

मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ

उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग की
पी—एच. डी. (हिन्दी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

शोधार्थी
धनंजय कुमार साव

शोध निदेशक
डॉ. मनीषा झा

कला-संकाय
हिन्दी विभाग
उत्तर बंग विश्वविद्यालय
राजा राममोहनपुर, जिला—दार्जिलिंग
दिसम्बर, 2014

DECLARATION

I declare that the thesis entitled 'मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ' (Markandeya ki kahaniyon mein gramini jeevan ka yathartha) has been prepared by me under the guidance of *Dr. Manisha Jha*, Associate Professor of Department of Hindi, University of North Bengal. No Part of this thesis has formed the basis for the award of any degree or fellowship previously.

Date 07/12/2014



Dhananjay Kumar Shaw

Research Scholar

Department of Hindi

University of North Bengal

Raja Rammohanpur

District - Darjeeling

CERTIFICATE

I certify that *Dhananjay Kumar Shaw* has prepared the thesis entitled 'मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ' (Markandeya ki kahaniyon mein gramin jeevan ka yathartha), for the award of Ph.D degree of the University of North Bengal, under my guidance. He has carried out the work at the department of Hindi, University of North Bengal.

Date 7.12.2014

M. Jha
7.12.2014

Dr. Manisha Jha

Associate Professor,
Department of Hindi
University of North Bengal
Raja Rammohanpur
District- Darjeeling

विषय-सूची

पृ. सं.

प्राक्कथन

प्रथम अध्याय- यथार्थ: अवधारणा और स्वरूप

1-49

1.1 यथार्थ: अर्थ एवं परिभाषा

1.2 यथार्थवाद

1.2.1 अवधारणा

1.2.2 दर्शन और साहित्य का परिप्रेक्ष्य

1.2.3 स्वरूप

1.2.4 यथार्थवाद का उदय: पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ

1.3 यथार्थ और मार्कण्डेय

द्वितीय अध्याय- हिंदी कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ:

50-85

विकास और परंपरा

2.1 यथार्थ और कथा साहित्य

2.2 हिंदी कहानी में ग्रामीण जीवन का यथार्थ : विकास के चरण

2.2.1 प्रेमचंद पूर्व हिंदी कहानियाँ

2.2.2 प्रेमचंद युगीन हिंदी कहानियाँ

2.2.3 प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानियाँ

तृतीय अध्याय- मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ

86-217

3.1 मार्कण्डेय की कहानियाँ : एक परिचय

3.2 ग्रामीण जीवन की संकल्पना

- 3.2.1 ग्राम पद की व्युत्पत्ति
- 3.2.2 ग्राम की परिभाषा
- 3.3 मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ : विश्लेषण
 - 3.3.1 सामाजिक जीवन
 - 3.3.2 राजनीतिक जीवन
 - 3.3.3 आर्थिक जीवन
 - 3.3.4 धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन

चतुर्थ अध्याय— मार्कण्डेय के समकालीन कहानीकार और ग्रामीण

218-274

जीवन का यथार्थ

- 4.1 भैरव प्रसाद गुप्त
- 4.2 विवेकी राय
- 4.3 शिवप्रसाद सिंह
- 4.4 फणीश्वरनाथ 'रेणु'
- 4.5 रामदरश मिश्र

पंचम् अध्याय- मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामेतर जीवन का यथार्थ

275-307

- 5.1 ग्राम-ग्रामेतर का संदर्भ
- 5.2 स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य और मध्यवर्ग
- 5.3 मार्कण्डेय की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ
 - 5.3.1 निस्संगता, अकेलापन और मध्यवर्ग
 - 5.3.2 व्यक्तित्व का दोहरापन और मध्यवर्गीय जीवन

5.3.3 स्त्री और मध्यवर्ग

5.3.4 मध्यवर्गीय जीवन और दाम्पत्य संबंध

5.3.5 पूँजीवादी सभ्यता, पितृसत्तात्मक सोच और मध्यवर्ग

षष्ठ अध्याय- मार्कण्डेय की दस कहानियाँ: विशेष अध्ययन

308-353

6.1 गुलरा के बाबा

6.2 जूते

6.3 कल्याणमन

6.4 दौने की पत्तियाँ

6.5 हंसा जाई अकेला

6.6 आदर्श कुक्कुट-गृह

6.7 भूदान

6.8 घुन

6.9 एक काला दायरा

6.10 बीच के लोग

सप्तम अध्याय— मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प पक्ष

354-394

7.1 शिल्प संबंधी मार्कण्डेय के विचार

7.1.1 कथा संयोजना

7.1.1.1 कथानक

7.1.1.2 चरित्र

7.1.2 भाषा संयोजना

- 7.1.2.1 पात्रानुकूलता
- 7.1.2.2 ग्रामीण शब्द-ध्वनि प्रयोग
- 7.1.2.3 ग्रामीण मुहावरा-लोकोक्तियाँ-उपमान
- 7.1.3 शैली संयोजना
 - 7.1.3.1 चित्रात्मकता
 - 7.1.3.2 सांकेतिकता
 - 7.1.3.3 व्यंग्यात्मकता

उपसंहार	395-404
परिशिष्ट	405-419
संकेत-सूची	
संदर्भ ग्रंथ सूची	
अनुक्रमणिका	

प्रथम अध्याय
यथार्थः अवधारणा और स्वरूप

यथार्थ:अवधारणा और स्वरूप

साहित्य की सम्यक पहचान हेतु यथार्थ रूपी पदबंध को समझना आवश्यक है। यथार्थ की परिभाषा, उसका अर्थ, उसकी व्याख्या करने वाले साहित्यिक संश्लेषण-यथार्थवाद की अवधारणा, उसके स्वरूप तथा उसके स्रोत की सम्मिलित परख किसी कलाकार (कहानीकार) को बेहतर ढंग से समझने की एक सुनियोजित प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के अंतर्गत मार्कण्डेय का कहानीकार भी पहचाना जाता है। यहाँ निम्न बिंदुओं के आलोक में यथार्थ की अवधारणा और उसके स्वरूप को समझा जा सकता है।

1.1 यथार्थ: अर्थ एवं परिभाषा

‘यथार्थ’ दो पदों की संधि से निर्मित है: ‘यथा’ और ‘अर्थ’। ‘यथा’ अव्यय है जिसका हिंदी समानार्थी पद है ‘जैसा’। अर्थ के प्रमुख हिंदी समानार्थी पद हैं ‘वस्तु’, ‘द्रव्य’, ‘पदार्थ’ आदि। ‘अर्थ’ ज्ञानेन्द्रियों का विषय है। ज्ञानेन्द्रियों के विषय पाँच माने गये हैं- रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द।¹ यहाँ वैशेषिक दर्शन में मन संबंधी व्याख्या अनुसार कहा जाए तो “रूप”, “रस”, “गंध”, “स्पर्श”, और “शब्द” आदि वस्तुएँ ‘अर्थ’ की सीमा में आएँगी। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त उनका स्वामी मन है जो अनुभव करता है। मन ही ज्ञान बोध या प्रत्यय (**Perception and cognition**) को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करता है और उन्हें आत्मा तक पहुँचाता है।² इसी प्रकार वेदान्तसार में अंतःकरण संबंधी व्याख्यानुसार –“ मस्तिष्क की ही एक शक्ति बुद्धि है, जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त बोधों को स्मृति की सहायता से एकत्र, संश्लेषित और विश्लेषित करके नये और मौलिक निष्कर्ष प्राप्त करती है।”³ जिसके संक्षेपानुसार यह कहा जा सकता है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि के द्वारा प्राप्त बोधों, अनुभवों और निष्कर्षों को उनके वास्तविक रूप में, अर्थात् वे जैसे हैं, उसी रूप में (यथा-अर्थ) प्रस्तुत करना यथार्थ है।

पर यथार्थ विषयक उक्त दृष्टिकोण ही सर्वमान्य परिभाषा या अर्थ है, ऐसी बात नहीं है। साहित्य जगत् के विभिन्न विद्वानों की मान्यताओं तथा कोशों में भी यथार्थ शब्द के अर्थ सुनिश्चित करने का प्रयास हुआ है। श्याम सुन्दर दास द्वारा संपादित ‘हिंदी शब्द सागर’ के आठवें भाग के 4058 वें पृष्ठ में यथार्थ का अर्थ कुछ इस प्रकार किया गया है। यथार्थ—“जैसा ठीक होना चाहिए, वैसा, ज्यों का त्यों। जैसे का तैसा।”⁴ अर्थात् जिस रूप में है उसकी अविकल

प्रस्तुति। इसी प्रकार डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित साहित्यकोश (मानविकी खण्ड) के 431 वें पृष्ठ में यथार्थ की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गयी है। यथार्थ—“ जिसका अस्तित्व वास्तव में है। जो वस्तु में अंतर्निष्ठ हो प्रत्यक्ष हो जो अब घटित हो रहा हो। अतीत नहीं है भावी व सैद्धांतिक भी नहीं है। जो सुनिश्चित है, प्रामाणिक है, खरा और तथ्यपरक है।”⁵ कहने का तात्पर्य जो प्रत्यक्ष तथा वर्तमान में है। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि यथार्थ की परिभाषा को सुनिश्चित करने की एक लंबी प्रक्रिया है और वह वर्तमान में भी जारी है।

यथार्थ का यथार्थवाद से एक आत्यांतिक संबंध है। पश्चिम जगत् में भी ‘यथार्थ’ की अवधारणा ‘यथार्थवाद’ संबंधी चिंतन के प्रसंग में अब तलक व्याख्यायित होती आयी है। अंग्रेजी में ‘यथार्थवाद’ के लिए रियलिज़्म जैसे शब्द का प्रचलन है, जिसका समानार्थी शब्द यथार्थ के रूप में मिलता है। इस संदर्भ में डॉ. सत्यकाम भी लिखते हैं—“ यथार्थवाद की धारणा यूरोपिय चिंतन की देन है और अंग्रेजी में इसके लिए ‘रियलिज़्म’ पद प्रयुक्त होता है। संस्कृत में इसके समानार्थी शब्द ‘सत्य’, ‘वास्तव’, ‘तथ्य’, ‘यथार्थ’ आदि हैं। इनमें ‘यथार्थ’ ही रियलिज़्म का समानार्थी बनने में समर्थ हुआ है।”⁶ यथार्थवाद यथार्थ को व्यापक फलक से जोड़ने का कार्य करता है। जिसे हावर्ड फास्ट के निम्न कथन में समझा जा सकता है—“यथार्थवाद ही वह साहित्यिक संश्लेषण है, जो चुनाव और सृजन के द्वारा यथार्थ के बार में पाठक की समझ को बढ़ाता है।”⁷

अतः यहाँ यह सहज ही कहा जा सकता है कि कथा साहित्य को समझने की प्रक्रिया में यथार्थ को समझना जरूरी लगता है और यथार्थ को समझने हेतु ‘यथार्थवाद’ को समझना अति आवश्यक।

1.2 यथार्थवाद

यथार्थवाद वह साहित्यिक संश्लेषण है, जो यथार्थ की प्रकृति को स्पष्ट करता है। उसके प्रति सही समझ विकसित करता है। पश्चिम ही नहीं, भारतीय साहित्य में भी यथार्थ को यथार्थवाद के विश्लेषण के अंतर्गत समझने का प्रयास हुआ है। यहाँ यथार्थवाद की अवधारणा, स्वरूप तथा उसके उदय के स्रोत को समझने की प्रक्रिया ‘यथार्थ’ को विस्तार में समझने की ही एक कड़ी है।

1.2.1 अवधारणा

यह एक सच्चाई है कि साहित्यिक पद वैज्ञानिक पद की तरह नहीं होते, क्योंकि ये सुनिश्चित अर्थ के द्योतक नहीं होते हैं। इसलिए इसकी व्याख्या और पुनःव्याख्या की प्रक्रिया अविरल चलती है। साहित्यिक पदों की परिभाषा की प्रक्रिया में विद्यमान खतरों को भाँपते हुए ही जे. एफ. कड्डन यहाँ तक कह डालते हैं कि—“यथार्थवाद इतना आपवादिक रूप से लचीला अनेकार्थी और अनिश्चित पद है कि हमारा काम इसके बिना भी चल सकता है।”⁸ यद्यपि इस उद्धरण में ‘यथार्थवाद’ पद की व्याख्या या उसे परिभाषित करने के दौरान हुए खिलवाड़ का संकेत तो मिलता है तथापि इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इसके वगैर हमारा काम चल सकता है। ‘यथार्थवाद’ खासकर कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में अनिवार्य- सा लगता है। इसलिए इस पर हुयी विचारणा को देखना और समझना अति-आवश्यक है।

साहित्य के पारिभाषिक शब्दों के अपने कोश में यथार्थवादी विचारणा को स्पष्ट करते हुए शिल्पे ने उसे तीन भूमियों पर अलग-अलग समझने की आवश्यकता पर बल दिया है:

“क. चित्रण को अधिक समर्थ, पूर्ण तथा प्रभावशाली बनाने के हेतु वस्तुस्थिति के एक-एक ब्यौरे को एकदम सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास।

ख. एक प्रेरक सिद्धांत अथवा सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करने वाले एकमात्र सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान अथवा लक्ष्य के रूप में उसकी स्वीकृति।

ग. वह आंदोलन, जो दूसरी स्थिति से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ।”⁹

शिल्पे द्वारा व्याख्यायित यथार्थवाद की पहली स्थिति आद्यान्त साहित्य और कला रूप पर प्रत्येक युग में देखी जा सकती है। हाँ, दूसरी और तीसरी स्थिति ने यथार्थवाद को एक वाद का रूप दिया जिसके अंतर्गत साहित्यकार एक प्रेरक सिद्धांत अथवा सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करने वाले सौन्दर्य शास्त्रीय प्रतिमान के रूप में उसको स्वीकार करता है। इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र लिखते हैं—“यथार्थवाद की यह दृष्टि मूलतः दार्शनिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर स्थित एक शुद्ध दृष्टि है। इस दृष्टि से युक्त रचनाकार केवल सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए

यथार्थ स्थितियों के आदर्शीकरण का न केवल विरोध करता है, अभिव्यक्ति की एक ठोस वस्तुगत शैली तथा विषय वस्तु के चुनाव में अतिमानवीय, अतिप्राकृतिक तथा विज्ञान द्वारा अमान्य घटनाओं, स्थितियों तथा तथ्यों के सम्पूर्ण बहिष्कार की माँग भी करता है।¹⁰ शिप्ले द्वारा यथार्थवाद की उपर्युक्त व्याख्या तथा डॉ. शिवकुमार मिश्र द्वारा उसके विश्लेषण से जो मुख्य बातें छन कर आती हैं, वे कुछ इस प्रकार हैं। पहला, यथार्थवाद: एक प्रभावशाली चित्रण का पक्ष (जहाँ वस्तुस्थिति के सापेक्ष में कला का सटीक प्रस्तुतीकरण किया जाता है)। दूसरा, यथार्थवाद: एक प्रेरक और प्रतिष्ठित (19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद) प्रतिमान (जो सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करता है)। तीसरा, यथार्थवाद : अप्राकृतिक, अतिमानवीय तथा नकार स्थितियों, वस्तुओं और घटनाओं से निर्लिप्ति दृष्टि।

उल्लेखनीय है कि अर्नस्ट फिशर यथार्थवाद के प्रति एक अलग राय रखते हैं। उनके मतानुसार कला के क्षेत्र में यथार्थ सम्बंधी धारणा बड़ी लचीली और अस्पष्ट है। यह कभी एक शैली या पद्धति के रूप में व्याख्यायित होता है तो कभी एक दृष्टिकोण के रूप में। उनके अनुसार बाह्य यथार्थ और कलाकृति में प्रस्तुत होने वाला यथार्थ अलग-अलग चीजें हैं—“...वह कलाकार केवल एक संवेदी अवयव का सहायक ही नहीं है, जो कि बाह्य जगत को ग्रहण कर रहा है, वरन वह एक ऐसा मनुष्य है जो कि वर्ग, युग तथा राष्ट्र विशेष से सम्बद्ध है। उसका अपना विशिष्ट स्वभाव तथा चरित्र है...ये सब मिलकर एक ऐसे यथार्थ का निर्माण करते हैं जो बाहर उपस्थित पेड़ों, चट्टानों तथा बादलों आदि से वृहत्तर हैं...।”¹¹ जाहिर है कि अर्नस्ट फिशर की उपर्युक्त मान्यता अन्य यथार्थवाद चिंतकों से निराली है। उनकी इस मान्यता से मार्क्सवादी कला चिंतकों को सदा गुरेज रहा है। इस संबंध में मार्क्सवादी चिंतक साफ शब्दों में यह कहते हैं—“कला के अन्तर्गत स्थान पाने वाला यथार्थ बाह्य यथार्थ से विशिष्ट होते हुए भी अन्ततः उसी का अविच्छिन्न अंग है।”¹² जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि अर्नस्ट फिशर की यथार्थ संबंधी मान्यता में बाह्य यथार्थ और कलागत यथार्थ के अंतर के भ्रम को अन्य यथार्थवादी चिंतक पुरजोर ढंग से निराकरण करते हैं।

लूकाच की यथार्थवाद संबंधी अवधारणा में कलागत वैशिष्ट्य के रक्षा-भाव के साथ पद्धति और दृष्टिकोण-दोनों रूपों में यथार्थ को स्वीकृति मिलती है। रोहिताश्व इस संबंध में उनके मत को उद्धृत करते हैं—“जार्ज लूकाच के अनुसार भी यथार्थवाद की केन्द्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय समस्या

सम्पूर्ण मानव व्यक्ति का पर्याप्त मात्रा में समुचित प्रस्तुतीकरण है। एक यथार्थवादी कलाकार वास्तविकता और सत्य चित्रण को ईमानदारी और निष्ठा से करता है, और इसके लिए कोई भी शैली, शिल्प और वस्तु का चुनाव कर सकता है। परंतु, किसी भी यथार्थवादी रचनाकार के लिए यह सतर्कता आवश्यक होती है कि यथार्थ के नाम पर किए जाने वाले समस्त विद्वेष और विरूप चित्रण तथा धिनौने और कुरूप के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम सिखानेवाले चित्रण को अपनी रचनाओं में स्थान दें।¹³ जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लूकाच यथार्थवादी चित्रण के अंतर्गत मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में अर्थात् परिवेश और परिस्थितियों की संश्लिष्टता में प्रस्तुत करने की हिमायत करते हैं। वे कलाकार की वस्तु और शिल्प चुनने की स्वतंत्रता तो देते हैं, किंतु यथार्थ के अंतर्गत उससे अविचिछन्न अपना कुछ प्रक्षेपित करने पर गलत ठहराते हैं।

ध्यातव्य हो कि अनेक साहित्यिकों, चिंतकों, तथा कला-मनीषियों ने समय-समय पर यथार्थवाद की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उसे सैद्धांतिक आधार प्रदान करना चाहा है, किंतु इस परिप्रक्ष्य में मार्क्सवादी चिंतकों का विशेष योगदान रहा है, जैसा कि ऊपर भी उल्लिखित है। उन्होंने यथार्थवाद के नवीन तथा क्रांतिकारी पक्ष का भी उद्घाटन किया है। उदाहरणस्वरूप सेंट साइमन, आगस्टी काम्टे, फायरबाख, द्रोवो ल्यूबोव, डार्विन, मार्क्स, एंगेल्स, वैंलेस्की, हर्जन, चर्निश्वस्की जैसे दार्शनिक मनीषियों का नाम लिया जाता है, जिन्होंने साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी दृष्टि के निर्माण में अपना अप्रतिम योगदान किया है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी यथार्थवाद की अवधारणा संबंधी चर्चा मिलती है, जो यथार्थवादी साहित्य को सुस्पष्ट करने की एक प्रक्रिया मालूम पड़ती है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संबंध में अपनी बात कहते हैं। वे 'यथार्थवाद' में कलाकार की परिवेश के प्रति सजगता के साथ-साथ उसके चुनाव की स्वतंत्रता पर विशेष बल देते हैं। इस संबंध में वे लिखते हैं—“यथार्थवादी रचनाकार बाह्य व्यापक परिदृश्य के बीच से आवश्यक वस्तु का चुनाव करता है, जीवनानुभवों को तराशता है और उन्हें कलात्मक रूप प्रदान करता है। अतः जो सृष्टि सामने आती है, बाह्य जगत् अथवा वास्तविकता का प्रतिरूप होकर नहीं आती उसका ईमानदार किंतु कुछ निखरा हुआ रूप होती है।... यह रूप यथार्थ की संगति में होता हुआ भी उसकी 'फोटोग्राफिक' अनुकृति नहीं होता और ना ही उस प्रतिबिम्ब के समान होता है, जिसे दर्पण ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देता है।”¹⁴ जिससे स्पष्ट

होता है कि यथार्थवाद न तो पूर्ण एवं निर्दोष मानव के चित्रण की अपेक्षा करता है, और ना प्रेम अथवा साहस के मनोरंजक क्रिया-कलाप प्रस्तुत करता है। यह न तो जीवन की ज्यों की त्यों अनुकृति होती है, और ना ही उसका पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बन। बल्कि, यहाँ जीवन को उसके यथावत् में चित्रित करने का एक ईमानदार संकल्प होता है, जो उसे प्रत्यक्षतः वस्तु जगत् की सत्ता से जोड़ता है और परोक्षतः वर्तमान के यथावत् चित्रण से। किंतु, यह यथावत् रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प न तो यथास्थितिवाद को सही ठहराता है और ना ही वर्तमान को एक पृथक सत्ता अर्थात् उसे, अतीत और संभाव्य भविष्य से विच्छिन्न मानता है। अर्थात् यथार्थवाद में वर्तमान केन्द्र में रहते हुए भी उसकी सम्पृक्ति अतीत से बनी रहती है, तथा यह भविष्य को भी भाषित करता है। रघुवीर सहाय इस संदर्भ में स्पष्ट कहते हैं—“ यथार्थ का कोई भी अनुभव आज के अतीत और आज के भविष्य से विच्छिन्न करके यथास्थितिवादी ही देख सकता है, क्योंकि समाज को बेहतर, न्यायपूर्ण और मानवीय बनाने के लिए जितना विध्वंस आवश्यक है, वह मानवीय मूल्यों के सहारे ही और उनके हेतु ही किया जा सकता है। उस विध्वंस के साधन यथास्थितिवादी के पास नहीं होते।”¹⁵ जिसका साफ तात्पर्य यथास्थितिवाद को नकाराने में दिखता है।

यहाँ इस प्रसंग में यह उल्लेख करना जरूरी लगता है कि ‘यथार्थवाद’ की अवधारणा को स्पष्ट करने के क्रम में कुछ विद्वान इसे एक तटस्थ तथा निरपेक्ष दृष्टि मान लेते हैं। डॉ. रामचंद्र वर्मा का इस संबंध में कहना है—“ यथार्थवाद में आदर्शों का ध्यान छोड़कर उसी रूप में कोई चीज या बात लोगों के सामने रखा जाता है जिस रूप में वह नित्य या प्रायः सबके सामने आती रहती है। इसमें कर्ता न तो अपनी ओर से टिप्पणी करता है न अपना दृष्टिकोण बतलाता है और निष्कर्ष निकालने का काम दर्शकों या पाठकों पर छोड़ देता है।”¹⁶ यहाँ, इस बात को भली-भाँति समझा जा सकता है कि वे वस्तु के स्वतंत्र एवम् ठोस अस्तित्व को प्रमुखता देना चाहते हैं। साथ ही साथ वे आदर्श से दूर हट कर वस्तु को सम्पूर्णता में देखने के आग्रह को भी महत्त्व प्रदान करते हैं। अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में दिखायी देती है, उसी रूप में शब्दों के माध्यम से उसे इस प्रकार चित्रित करना चाहिए कि उसका रूप मूल रूप से भिन्न न गोचर हो। किंतु, ऐसा करने की प्रक्रिया वे तटस्थ तथा निरपेक्ष-पूर्ण मान लेते हैं। जबकि, वास्तविकता कुछ और ही है। ‘यथार्थवाद’ को एक निरपेक्ष दृष्टि मान लेने में उसकी शक्ति का कुंठित हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। सच्चाई यह है कि जो कलाकार जितना यथार्थवादी होता है उतना ही प्रतिबद्ध और सम्पृक्त भी होता है। डॉ.

रमेश कुंतल मेघ के अनुसार यथार्थता कभी भी तटस्थ या असम्पृक्त नहीं हो सकती है। विशेषकर वर्गीय समाज में तो यह और भी जटिल तथा भ्रामक हो जाती है। अतः सामाजिक यथार्थता ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण सत्य का प्रदर्शन तथा असत्य का उन्मूलन करती है अर्थात् यह सत्य को अचल तथा तटस्थ न मानकर उसे इतिहास-प्रवाह में गतिमान तथा पर्यवेक्षक के ज्ञान के कारण पक्षधर मानती है।¹⁷ यहाँ यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि यथार्थवादी दृष्टि कलाकार की सत्य या यथार्थ के प्रति प्रतिबद्धता की माँग करती है। कलाकार यथार्थ की गति से सम्पृक्त रहता है। इसी अर्थ में, वह यथार्थ को यथातथ्य रूप में ग्रहण नहीं करता है, बल्कि उसके संभाव्य को भी झलकाता है। यथार्थवाद का वर्तमान इसी प्रकार अतीत और भविष्य से अपनी अविच्छिन्नता कायम करता है। लूकाच भी मानते हैं कि सामाजिक यथार्थ के चित्रण मात्र से ऊपर उठकर उस यथार्थ की आलोचना प्रस्तुत करने में ही लेखन की सार्थकता है, जिससे कि उसे यथार्थ के परे की संभावना को झलकाया जा सके। तभी तो इस संदर्भ में अलेक्जेंडर फायदेव अपनी पुस्तक 'सोशलिस्ट रियलिज़्म इन लिटरेचर एण्ड आर्ट' में कहते हैं कि – "यथार्थ मात्र वह नहीं है, जो हमारी समझ अथवा हमारे चारों ओर विद्यमान है। वह भी उतना ही जीवित यथार्थ है जो कि वर्तमान के गर्भ से उसकी ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक परिणति के रूप में सामने आता है।"¹⁸ जो स्पष्टतः 'यथार्थवाद' में भविष्य-दृष्टि के भाषित होने का बोध कराता है। किंतु, वह यथार्थ में प्रक्षेपित न होकर ऐतिहासिक बोध लिए हुए वर्तमान के गर्भ से निःसृत होता है।

इस प्रकार समग्रता में उपर्युक्त विचारणा से कई पहलू निकलते हैं, जो प्रमुखतया इस प्रकार हैं। 'यथार्थवाद' साहित्य, विशेषकर कथा-साहित्य के चित्रण को प्रभावी तथा वास्तविक बनाने वाली एक पद्धति विशेष होने के साथ-साथ एक प्रेरक सिद्धांत है, जो एक सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमान की तरह सम्पूर्ण साहित्यिक अनुशासन को अपना लक्ष्य बनाता है। यह वस्तु जगत् की सत्ता को महत्त्व देते हुए वर्तमान को केन्द्रीयता प्रदान करने वाली एक दृष्टि है, जो वास्तविकता को गतिशील रूप में अर्थात् उसको वर्तमान, अतीत और संभाव्य भविष्य की संश्लिष्टता में देखती है। यह अपने तर्क वास्तविकता को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की संकल्पना के बावजूद भी यथास्थितिवाद का समर्थन नहीं करता है। यह एक प्रतिबद्ध दृष्टि है, जो वर्ग-संघर्ष हेतु जीवन-संघर्षी चरित्रों तथा स्थितियों को संश्लिष्टता में उकेरती है, ताकि जिसके माध्यम से परिवर्तनकारी संभाव्य को झलकाया जा सके। यह पश्चिम जगत् में 19 वीं सदी में एक प्रेरक कला-आंदोलन

के रूप में प्रतिष्ठित होने वाली एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि है, जो समूचे विश्व साहित्य पर अपनी विशेष छाप छोड़ती है। यह एक गतिशील तथा सर्वांगपूर्ण जीवन-दृष्टि है, जो अपनी गतिमानता में समय-समय पर विभिन्न रूपों और शक्तियों में साहित्य के समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज करती है। अतः इस प्रकार यथार्थ तथा यथार्थवाद से सम्पूर्णता में परिचित होने हेतु उसके विभिन्न परिप्रेक्ष्य, विभिन्न रूपों पर विचार करना अति आवश्यक है।

1.2.2 दर्शन और साहित्य का परिप्रेक्ष्य

आधुनिक युग में विज्ञान की अधिकाधिक उन्नति ने दार्शनिक और साहित्यिक चिंतन में क्रांतिकारी परिवर्तन घटित किया है। इसी प्रक्रिया में 'यथार्थवाद' एक सर्वांगपूर्ण जीवन-दृष्टि तथा कला-दृष्टि के रूप में उभरा, जो आद्योगिक प्रगति एवम् दर्शन की प्रखर निष्पत्तियों से अनुप्रेरित तथा प्रतिफलित था। दार्शनिक धरातल पर समझा जाए तो यथार्थवाद के मूल में भाववाद या आदर्शवाद का विरोध काम कर रहा था- "आदर्शवाद का अंतिम चरण यथार्थवाद का प्रथम चरण था।... जनसाधारण ने आदर्शों की ओर से दृष्टि मोड़कर अपने ही समीप ओर प्रत्यक्ष में अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटनाओं को देखा।"¹⁹ जो मनुष्य के दृष्टि बोध के नए रूप को सूचित करता है। यह एक सच्चाई है कि सदियों मनुष्य ने जीवन को आदर्शवाद की ऐनक से देखने का प्रयास किया। उसे पाप-पुण्य की कसौटी पर कसा। परंतु अठाहरवीं शती तक आते-आते सभ्यता के सतत विकास ने मनुष्य को जीवन को बुद्धिपरक, वस्तुपरक तथा विवेकपूर्ण ढंग से देखने-समझने के लिए बाध्य कर दिया। जिसका नतीजा यह हुआ कि दर्शन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में यथार्थवाद एक नवीन जीवन-दृष्टि या कला-आंदोलन साबित हुआ।

प्रथमतः साहित्य में यथार्थवाद की अवस्थिति एक 'वाद' अथवा कला-आंदोलन के रूप में न होकर चित्रण को अधिक पूर्ण, वातावरण को अधिक सजीव तथा रचनाशीलता को अधिक स्वाभाविक और सार्थक बनाने वाली एक सहज नैसर्गिक रुझान के रूप थी। किंतु, 19वीं शताब्दी के बाद स्थिति में परिवर्तन होता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं- "19 वीं शताब्दी के मध्य बल्कि कुछ बाद को वह स्थिति सामने आयी, जबकि यथार्थ के प्रति इस स्वाभाविक अभिरुचि तथा निष्ठा ने एक दार्शनिक वैज्ञानिक आधार प्राप्त किया और एक वाद या आंदोलन के रूप में अपनी अभिव्यक्ति की।"²⁰ जो यथार्थवाद के उक्त अभिनव रूप (कला-

आंदोलन) को भली-भाँति प्रतीकित करता है।

ध्यातव्य है कि 'यथार्थवाद' का सम्बंध दर्शन और साहित्य दोनों से है; क्योंकि दोनों के केन्द्र में जीवन प्रमुख और विचारणीय रहा है। 'यथार्थवाद' इन दोनों ही क्षेत्रों में अपनी पैठ सशक्त ढंग से बनाते हुए उसमें आमूल-चूल परिवर्तन को संभव बनाता है। इस संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र लिखते हैं—“बाह्य जगत् का हमारे मन अथवा हमारी इच्छा-अनिच्छा से परे एक ठोस वस्तुगत अस्तित्व है। साहित्य और कला का संबंध भी इसी बाह्य जगत् और उसके नानारूप व्यापारों से है। यथार्थवादी दर्शन और यथार्थवादी कला चिंतन दोनों का ही एक लंबा और सम्पन्न इतिहास है, जिसके क्रम में यथार्थवादी दर्शन और यथार्थवादी साहित्य चिंतन और कला के न केवल समय-समय पर अनेक पहलू उद्घाटित हुए हैं, एकदम नई मान्यताएँ भी सामने आती रही हैं।”²¹ जिससे यह बात उभर कर आती है कि 'यथार्थवाद' दर्शन और साहित्य में नई संभावनाओं को जन्म देने में सफल साबित होता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं लगता है कि मनुष्य की बुद्धिपरकता तथा उसके जागृत विवेक ने ही उसे समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ होने का दर्जा हासिल करवाया है। इसी बुद्धिपरकता की दम पर उसने प्रकृति के कई अनछुए पहलुओं को जाना है। सभ्यता के कई मिहिर द्वार खोले हैं। वाजिब भी है, कि जो कुछ विद्यमान है, अवस्थित है, उसकी सत्ता बुद्धि भला कैसे नकार सकती है। इसी प्रत्यक्षदर्शी बुद्धि ने 'यथार्थवाद' को जन्म दिया है। इसी कारण इसे एक स्वतःस्फूर्त होने वाला स्वभाव भी कहा गया है। 'वेसिस ऑव रीयलिज़्म' में पी.सी. अलेक्जेंडर ने इसी बात पर बल दिया है—“ यथार्थवाद की प्रकृति वस्तु को पौरणिक ध्वंशावेषों से बाहर ले आता है।... एक ओर 'यथार्थवाद' भौतिक वस्तुओं को मन के द्वारा उन पर चढ़ा दिए गए रंग से मुक्त करता है तो दूसरी ओर उन्हें मन की भाँति अपने अस्तित्व का मौलिक दर्प भी दिखलाता है। इस तरह यथार्थवाद स्वाभाविक है।”²² इसी प्रत्यक्षदर्शी बुद्धि की ओर उन्मुख यथार्थवाद का आधुनिक परिप्रेक्ष्य मध्ययुगीन महान विचारकों के ईश्वर संबंधी धारणाओं, सामाजिक विश्वास के रूप में प्रतिष्ठापित अंधविश्वासों तथा विज्ञान की पूर्व संकल्पनाओं को खण्डित करने में सक्षम होता है।

थोड़ा अतीत में जाकर देखा जाय तो रेनेसां से पूर्व पश्चिम में चर्चों में पोप का अधिपत्य होता था। आम जनता ही नहीं, राष्ट्र को दिशा देने वाली राजनीति भी उसके गिरफ्त में रहती थी। बड़े-

से-बड़े अपराध, अत्याचार और पाप का निराकरण पोप द्वारा दिए गए शुद्धिपत्र खरीदकर कर लिया जाता था। किंतु, रेनेसां अर्थात् पुनर्जागरण काल में पूर्व स्थापित मान्यताओं को फिर से खंगाला जाता है। बदले में, नई मान्यताएँ निकल कर आती हैं। धर्म, राजनीति, समाज, व्यक्ति सभी पर वैज्ञानिक (बुद्धिपरक) तरीके से विचार किए जाने की पहल होती है। पोपवाद में निहित सड़ी-गली मान्यताओं का जमकर विरोध होता है। रेनेसां काल में एक वैज्ञानिक क्रांति का सूत्रपात होता है जिसकी चरम परिणति मार्क्सवाद में होती है। क्योंकि, मार्क्सवाद ने जिस भौतिकवाद की स्थापना की उसका यथार्थवाद से एक प्रत्यक्ष संबंध होता है। जॉन पैसमोर अपनी पुस्तक 'दर्शन के सौ वर्ष' में लिखते हैं— जे. डिण्टेल, टी. एच. हक्सले तथा डब्लू. के. किर्सफर्ड आदि प्रभृति लोगों ने विज्ञान को श्रमिक वर्ग तक पहुँचाया और विज्ञान के साथ ही ईश्वर संबंधी विधर्मि विचारों को भी, जो पहले बौद्धिक लोगों के सीमित दायरे में ही प्रचलित थे।... इस तरह विज्ञान तेजी से अपनी जड़े कायम कर रहा था।... जिनके कारण ईश्वर में विश्वास करना आवश्यक नहीं रह गया था।”²³ आगे चलकर दर्शन की यह भौतिकवादी निष्पत्ति मार्क्स और एंगेल्स की नितान्त भौतिकवादी जीवन-दृष्टि से सम्वेष्टित हो जाती है। इन्हीं निष्पत्तियों की बावत कालांतर में मार्क्सवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) तथा यथार्थवाद एक-दूसरे के लिए सहयोगी सिद्ध होते हैं।

डॉ. प्रेमलता जैन का यह मत उक्त संदर्भ को भली-भाँति पुष्ट करता है— “मार्क्सवाद के सिद्धांत पूर्णतः यथार्थवादी हैं। यथार्थवाद और मार्क्सवाद एक-दूसरे के पूरक और सहयोगी सिद्ध होते हैं।”²⁴ संक्षेप में कहा जाए तो, 19वीं शताब्दी के अंत के बाद 'यथार्थवाद' दर्शन और साहित्य में एक ऐसे बौद्धिक गुण के रूप में अपनी स्थिति को प्रतिष्ठापित करने की ओर आगे बढ़ता है, जिससे हर कोई सम्पृक्त रहना चाहता है। पश्चिमी चिंतक हाकिन्स के विचार इस संदर्भ में देखने लायक हैं। अपनी पुस्तक 'दर्शन के प्रकार' में वे लिखते हैं— “आधुनिक काल की सीमा तक यथार्थवाद किसी बहुत्ववादी विश्व का एक प्रकार का अपरोक्ष, उन्मुक्त संक्षिप्त भोग (अनुभव) प्रतीत होता है, जिसकी विविधता में वही संतुष्टि मिलती है, जो शेक्सपीयर, तोल्सतोय अथवा विलियम जेम्स में उपलब्ध होती है। यह एक प्रकार का ऐसा बौद्धिक गुण है जिसके लिए कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से यह स्वीकार नहीं करेगा कि वह उससे विहीन है, और इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति यथार्थवादी है।”²⁵ जिसका साफ मतलब यह है कि आधुनिक काल में यथार्थवाद दर्शन और साहित्य के आगे अपनी विविधता तथा असीम संभावनाओं को प्रस्तुत कर देता है।

भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में यदि यथार्थवाद की ही बात की जाए तो यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इसकी प्रवृत्ति जीवन को यथार्थ रूप में देखने को मिलती है, किंतु यथार्थवाद के आधुनिक रूढ़ अर्थ के रूप में नहीं। भारतीय दार्शनिकों ने सांख्य, न्याय, वैशेषिक व्याकरण जैसे दर्शनों में बुद्धि विलास किया। उनका 'पूर्व मीमांसा'— कर्मकाण्डी दर्शन भी यथार्थवादी या अयथार्थवादी दर्शन में विभाजित या परिभाषित नहीं होता है। जैसे कोई वस्तु मन से पृथक रहकर भी अस्तित्व में रह सकती है। वैसे ही, मन से जुड़कर भी अस्तित्व में रह सकती है। विशेषिकों का पदार्थ का ज्ञान 'सिद्धांत', सांख्य का तंत्रमात्र और महाभूत का संबंध या व्याकरणशास्त्र का नाम आदि भेद इस बात का परिचायक है कि भारतीय दर्शनों में 'यथार्थवाद' जैसा प्रश्न ही मौजूद नहीं होता है। भारतीय दर्शन में जगत् की सत्ता और जगत् के ज्ञान का दृष्टिकोण यथार्थवादी होने के बावजूद भी भारतीय दर्शन मूलतः अध्यात्मवादी ही रहता है। वहाँ, यह प्रमुख बात देखने को मिलती है कि आत्मा ही चरम सत्य या उपलब्धि है। उसके प्राप्त करना ही जीवन का मूल ध्येय है। वहाँ, इस बात की मान्यता है कि जीवन दुःखमय है। किंतु इस दुःख का निवारण उनके यहाँ, यथार्थ की भूमि पर नहीं बल्कि अध्यात्म के धरातल पर ही है। वहाँ, दुःखों का कारण भी अविद्या या अज्ञान है, जो समस्त दुःखों को जन्म देती है। इसी दुःख को दूर करने हेतु स्वर्ग और तदुपरांत मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण की कल्पना की जाती है, जो भारतीय दर्शन की वास्तविकता पर सवालिया निशान लगा देती है। सच बात तो यह है कि दुःख का निवारण भी वास्तविक भूमि पर ही संभव होता है। शारीरिक-कष्ट भी चिकित्सा से दूर होता है। अध्यात्मवाद से दुःखों का नाश होना दुर्लभ है। कहा जाए तो भारतीय दर्शन की अध्यात्मवादिता उसके यथार्थवादी रुझान को विपरीत दिशा में खींचता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि यथार्थवाद का आधुनिक परिप्रेक्ष्य पश्चिमी चिंतन की देन है, जो विज्ञान की ओर उन्मुख मनुष्य की प्रत्यक्ष-दर्शी बुद्धि से अनुप्रेरित है। 19वीं शताब्दी के बाद से इसकी आधुनिक अवधारणा मार्क्सवाद के साथ जुड़कर और भी सशक्त बनती है, जो कला और दर्शन में असीम संभावनाओं को जगाती है। यह अवधारणा एक ऐसी स्वतःपूर्ण बौद्धिक गुण सम्पन्न दृष्टि के रूप में उभरती है, जिसकी जड़ में हर चेतनशील व्यक्तित्व आना चाहता है।

1.2.3. स्वरूप

यथार्थ तथा यथार्थवाद के साहित्यिक और दार्शनिक परिप्रेक्ष्य एवम् उसकी अवधारणा पर हुयी विचारणा और विश्लेषण के तदुपरांत यह कहना स्वाभाविक लगता है कि यह एक गतिशील जीवन-दृष्टि है, एक प्रेरक साहित्यिक सिद्धांत या प्रतिमान है। जिसने कला के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसकी गतिमानता को लाक्षित करते हुए ही डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है – “ कला क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरंतर अवस्था के अनुरूप परिवर्तित और रूपायित होती रही है।”²⁶ जो इसके गतिमान स्वरूप पर प्रकाश डालता है। यथार्थवाद अपनी गतिमानता के अनुरूप ही विभिन्न अभिधानों में अभिहित होकर अपनी आधुनिक अवधारणा के विविध सोपानों को अभिव्यक्त करता रहा है। जिससे इसकी आधुनिक अवधारणा तथा उसके बदलते स्वरूप का विवेचन भी प्रासंगिक हो जाता है। यहाँ उसके विविध स्वरूप का विवेचन निम्नवत है:

1.2.3.1. सामाजिक यथार्थवाद

सामाजिक यथार्थवाद में समाज की यथार्थता को प्रमुख स्थान दिया जाता है। सामाजिक यथार्थवादी समाज की यथार्थता का ऐसा चित्रण करते हैं जिससे पाठक को समाज में घटित होने वाले विभिन्न कार्य-व्यापारों का ज्ञान सुगमतापूर्वक हो सके।

सामाजिक यथार्थवाद के संबंध में डॉ. त्रिभुवन सिंह लिखते हैं– “ समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ चित्रण सामाजिक यथार्थवाद का प्रमुख लक्षण है। परंतु साहित्य में किसी भी वस्तु का तद्वत चित्र उतार कर रख देना श्रेष्ठ साहित्य के लिए हानिकारक होता है। साहित्यिक चित्र कैमरे द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता है जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुन्दर रंग ढले होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक विषमताओं , भ्रष्टाचारों तथा वैयक्तिक स्वार्थों से आक्रांत -पीड़ित समाज की दयनीय परिस्थितियों को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है।”²⁷ ध्यान दिया जाय, तो यहाँ इस बात को भली-भाँति समझा जा सकता है कि सामाजिक यथार्थवादी समाज का यथावत् चित्र खींचना चाहता है। अर्थात् वे समाज में व्याप्त स्वार्थ, ईर्ष्या, घृणा, क्षुद्रता, कामुकता, विपन्नता दयनीयता, शोषण, पाशविक वृत्तियाँ, सामाजिक -आर्थिक वैषम्य, अंधविश्वास, कुसंस्कार एवम्

कुरीतियाँ आदि का एक तरफ चित्रण करता है तो दूसरी ओर इनके बरक्स स्नेह, सहानुभूति करुणा, प्रेम, परोपकार, त्याग आदि सद्गुणों का अभिव्यंजन भी करना चाहता है। वह समाज के यथार्थ रूप का चित्रण करने के साथ-साथ मानवीय (रागात्मक) संबंध की व्यंजना भी जरूरी समझता है। किंतु, वह इन दोनों (मानव और समाज) संबंधों की जटिलताओं तथा अन्तर्द्वन्द्वों को उभार नहीं पाता है, क्योंकि उसके पास सामाजिक जीवन के वस्तुगत संदर्भों को आलोचनात्मक तरीके से देखने की दृष्टि का अभाव होता है। वह समाज के वस्तुगत संदर्भ का यथावत् रूप उतार देने में ही अपना लक्ष्य पूर्ण मान लेता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक यथार्थवाद 'यथार्थवाद' से जुड़ा हुआ एक अहम रूप होता है। जहाँ, सामाजिक जीवन को यथावत् प्रस्तुत करने का संकल्प तो अवश्य रहता है, किंतु वहाँ आलोचनात्मक विवेक और वस्तुगत संदर्भों से संभाव्य झलकाने का विज्ञान नदारद रहता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद 'यथार्थवाद' के एक अहम पहलू को प्रकाशित तो करता है, परंतु उक्त पहलू एक सर्वांगीण दृष्टि नहीं बन पाता है।

1.2.3.2 आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

आदर्शवाद अंग्रेजी शब्द 'आइडियलिज्म' की तर्ज पर गढ़ा गया है। इसकी उत्पत्ति आइडिया (Idea) विचार से हुयी है। इस कारण भी यह विचारवाद के रूप में जाना जाता है। साहित्य में आदर्श शब्द का प्रयोग दर्शन और नीति की अपक्षेया वृहत्तर रूप में हुआ है, क्योंकि मानव समाज के लिए जो भी भव्य, महान और उदात्तपूर्ण हो सकता है, साहित्यकार उन सभी को साहित्य में निरूपित करने का प्रयत्न करता है। जार्ज इलियट इस संदर्भ में कहते हैं— " नैतिक एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों की विषय निष्ठता तथा अपरिहार्यता को महत्व देने वाली साहित्यिक कृति अथवा साहित्यकार आदर्शवादी होता है।"²⁸ डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार— " वह धारणा जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार ऐसे चिन्ह अथवा ऐसी परिस्थितियों का चित्रण करता है, जो समाज के लिए अनुकरणीय है (यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण रूप में देखी और सुनी जाए) साहित्य में आदर्शवादी कहलाता है।"²⁹

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों को देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का आदर्शवाद मानव जीवन के आंतरिक पक्ष पर जोर देता है। और जब ऐसे आदर्शात्मक समाज की

प्रतिष्ठापना हेतु समकालीन समाज की यथार्थ अवस्था का दिग्दर्शन होता है तो उसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जाता है।

प्रेमचंद भी अपने कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में स्वयं को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर झुका हुआ मानते थे, क्योंकि उनकी नज़र में यथार्थवाद की अपनी सीमाएँ थीं-“यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशवादी बना देता है, मानव चरित्र से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई नज़र आने लगती है।”³⁰ जिससे साफ समझा जा सकता है कि प्रेमचंद यथार्थवाद का अर्थ प्रकृतवाद समझ लेते हैं, जिसे यथार्थवाद का खंडित रूप समझा जाता है। इस प्रसंग में डॉ. सत्यकाम के निम्न विचार उल्लेखनीय हैं-“यदि हम प्रेमचंद की यथार्थ ‘संबंधी अवधारणा का विश्लेषण करें तो उसमें अनेक असंगतियों, चिंतन की अपरिपक्वता और तत्कालीन विश्व साहित्य में यथार्थवादी आंदोलन के विकास के प्रति प्रेमचंद का अपरिचय दिखाई पड़ेगा। वस्तुतः प्रेमचंद जिस ‘यथार्थवाद’ को इतना नापसंद करते हैं वह यथार्थवाद का एक विशेष रूप ‘प्रकृतिवाद’ या ‘नेचुरलिज़्म’ है, जिसे अनेक विचारक ‘यथार्थवाद’ की संज्ञा देना भी पसंद नहीं करता।”³¹ यही कारण है कि प्रेमचंद आदर्श की ओर उन्मुख यथार्थ चित्रण की दृष्टि की सराहना करते हैं-“आदर्श और यथार्थ की अति से ऊबकर मनुष्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर मुड़ जाता है, जहाँ उसे एक प्रकार से आह्लाद मिलता है।...यह मानव स्वभाव है कि वह जिन छल-छद्मों तथा कुरूपपूर्ण परिस्थितियों से स्वयं घिरा रहता है, उसका बार-बार विवरण नहीं सुनना चाहता, वह थोड़ी देर के लिए संसार से जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को कुत्सित भावों से नज़ात मिले, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का प्रधान नहीं हो।”³² जिससे समझा जा सकता है कि यहाँ जिस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का जिक्र किया गया है, उसके अन्तर्गत आदर्श और यथार्थ, एक-दूसरे की परस्परता तथा पूरकता में चित्रित किए जाते हैं। जब आदर्श के साथ यथार्थ की संगति मिलती है, उसका सामंजस्य होता है, और इन दोनों विरोधी प्रवृत्तियों के सामंजस्य से निःसृत एक तीसरा बोध या अनुभव प्रस्तुत किया जाता है, वही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जाता है।

प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के लिए कहते हैं "**Realism** (यथार्थवाद) यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।”³³ तात्पर्य

यह है कि आदर्शोन्मुख यथार्थवादी साहित्य में मानव हताश होते हुए भी आशावान दिखायी देता है। जीवन की आवश्यकताओं को दरकिनार कर अपने उज्ज्वल भविष्य को गढ़ने हेतु सदा कार्यरत दिखाई देता है। डॉ. त्रिभुवन सिंह भी इस प्रसंग में कहते हैं—“आदर्शोन्मुख यथार्थवाद मानव को दयनीय एवं कुरुपताओं से भरी हुई परिस्थितियों को वास्तविक कठोरता में चमकने वाला वह काल्पनिक आलोक है जिसके द्वारा जीवन से निराश परिस्थितियों की मार से घबराए हुए रास्ते में हताश मानव के अन्दर आशा और विश्वास का संचार हो जाता है। इसके द्वारा ही मानव समाज अपने जीवन की अनेक असफलताओं के बीच निरंतर संघर्ष पर भी निराश नहीं होता और भविष्य में जीवन की सफलता की बराबर कामना करता है।”³⁴ जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि उपर्युक्त उद्धरणों में प्रयुक्त ‘मनोरम स्थान’ तथा ‘काल्पनिक आलोक’ जैसे शब्द आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की उस वास्तविकता की ओर इशारा करते हैं, जहाँ समाज में होने वाले वर्ग-संघर्ष, परिवर्तन कामी शक्तियों की पहचान तथा विषमता-पूर्ण समाज-व्यवस्था को बदलने वाली इच्छा शक्तियों के बरक्स अन्ततः सब कुछ स्वतः और स्वयं ठीक हो जाने की कल्पना, मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों के अचानक जागृत हो जाने, उसके हृदय-परिवर्तन हो जाने जैसी भावनाओं आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में यथार्थ परिवेश, परिस्थिति तथा वस्तु का यथावत् चित्रण तो हो जाता है, किंतु वह एक जीवन-दृष्टि नहीं बन पाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए, तो वह जीवन में यथार्थ से पलायन करने वाला आदर्शवादी मूल्य बन जाता है। जिससे की यथार्थवाद की आधुनिक अवधारणा खंडित होती है।

1.2.3.3 प्रकृतवाद (प्रकृतवादी यथार्थवाद)

‘यथार्थवाद’ के विविध सोपानों में इसे भी अनुचित तरीके से शामिल कर लिया गया है, जबकि इसकी प्रवृत्ति ‘यथार्थवाद’ के तेज को निस्तेज करने वाली है। डॉ. सत्यकाम के अनुसार इसके उत्थान और उपरांत की कहानी कुछ इस प्रकार है—“ऐतिहासिक दृष्टि से ‘प्राकृतिकवाद’ का आंदोलन ‘यथार्थवाद’ के आंदोलन के बाद शुरू हुआ और इसी कारण कुछ लोग प्राकृतिकवाद को ‘यथार्थवाद’ का विकास मानते हैं। पर यह भ्रम है। क्योंकि एक तो जिस समय ‘प्राकृतिकवाद’ का थोड़ा जोर था उस समय ‘आलोचानात्मक यथार्थवाद’ की धारा अपने उत्कर्ष पर थी, दूसरे

‘प्राकृतिकवाद’ यथार्थवाद’ के एक गौण और सतही पक्ष का अनावश्यक और अतिशयोक्तिपूर्ण विस्फोट था, जो बाद में स्वयं अपनी मौत मर गया।”³⁵ स्पष्ट है कि प्रकृतवाद की प्रकृति ‘यथार्थवाद’ की जीवन-दृष्टि के मेल में न थी तथापि यह उसकी एक प्रवृत्ति या सोपान के रूप में प्रचलित हो गयी।

हिंदी में इस ‘नेचरलिज़्म’ को विविध अभिधानों से अभिहित किया गया—“ ‘प्रकृतवाद’ ‘प्रकृतवादी यथार्थवाद’, ‘प्राकृतिकवाद’, ‘निम्न यथार्थवाद’, ‘नग्न यथार्थवाद’ ‘तथ्यवाद’ आदि। प्रकृतवाद शब्द का साहित्य में प्रथम प्रयोग फ्रेंच उपन्यासकारों द्वारा किया गया था, जो अपने को फ्लाबेयर का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते थे।”³⁶ यद्यपि इसको नेतृत्व प्रदान करने में ज़ोला और मोपासॉ का महत्त्वपूर्ण योगदान है, विशेष रूप से ज़ोला का—“यों प्राकृतिकवादी आंदोलन के पुरस्कर्ता एमिल ज़ोला माने जाते हैं पर स्पष्ट आंदोलन का रूप धारण करने के पूर्व यह विचारधारा छिटपुट रूप से उसके पूर्व से ही चली आ रही थी।”³⁷ ज़ोला शुद्ध शरीर शास्त्री और प्रकृतवादी होने का दावा करते थे। वे एक वैज्ञानिक की भाँति, जो कुछ है, उसे कहना और उसमें निहित कारणों की खोज करना अपना दायित्व और उद्देश्य समझते थे। उन्होंने सन् 1880 और 1881 के मध्य प्रकाशित अपने लेखों में प्रकृतवाद को स्पष्ट करने की कोशिश की है। उनकी यह मान्यता थी—“साहित्यकार का दायित्व है कि वह जीवन के यथातथ्यों को प्रस्तुत करे, चाहे वह तथ्य कितने ही कुरूप, वीभत्स, अश्लील, ग्लीज़ एवं गंदे क्यों न हों, मानवीय सत्य निरावृत्त सत्य होना चाहिए।”³⁸ जो इस तथ्य पर बल देना चाहती है कि मानव का निपट व्यक्ति सत्य ही सब कुछ होता है। जो यह भी मानती है कि मानव का अस्तित्व समाज में उसी भाँति निरावृत्त है, जिस प्रकार प्राकृतिक पशुओं का। उनकी मान्यता के अनुसार—“प्रकृतवाद उन परिस्थितियों एवम् वातावरण के अनुसार जन्मा था, जो व्यक्ति की पूर्णता एवं सत्ता निश्चित करती है। ...प्रकृतवादियों ने मनुष्य को उसके वातावरण में ज्यों का त्यों बिना कोई आवरण डाले या श्लीलता या अश्लीलता का ध्यान रखे या लज्जा एवं संकोच का महत्त्व समझे चित्रित कर दिया। प्रकृतवादियों ने वातावरण पर विशेष जोर दिया, इसलिए उन्होंने पात्रों के मनोविश्लेषण पर विशेष बल नहीं दिया।...मानव के प्रति इस प्रकार प्रकृतिवाद का विशेष दृष्टिकोण है, जो लज्जाहीनता, नग्नता, संकोचहीनता, अनैतिकता एवं अनाचार के साथ स्वतंत्र वासना को प्रश्रय देता है।”³⁹ जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनका उद्देश्य यथार्थवाद को व्यक्तिवादी स्वभाव के अधीन बताना है। जहाँ, समाज गौण ठहराया जाता है तथा

व्यक्ति के आत्मिक विकास में ही उसकी पूर्णता देखी जाती है। और तो और व्यक्ति सत्य के नाम पर कुंठाजन्य निराशा का प्रतिपादन ही उसका प्रधान लक्ष्य समझा जाता है। यही नहीं, यह तो साहित्य जगत् की कथ्य एवं कथन संबंधी सभी पूर्व मानदण्डों एवम् धारणाओं को नकारता है। यह कथ्य के नाम पर मनुष्य की आदिम वासनाओं तथा उसकी कुत्सित चेष्टाओं के निरूपण पर विशेष ध्यान देता है। जिस कारण प्रकृतवादी साहित्य युग सत्य का वाहक बनने के बजाए मनुष्य मन की दमित वासनाओं का जीवित प्रतिबिम्ब बन जाता है।

‘यथार्थवाद’ की प्रकृति से ‘प्रकृतिवाद’ की समानता एवं भिन्नता को डॉ. सत्यकाम ने निम्नवत सुझाया है –“ध्यानपूर्वक देखें तो ‘प्रकृतिवाद’ ‘यथार्थवाद’ का विरोधी विचारधारा नहीं है। उसकी यह मान्यता कि जिस चीज का भी अस्तित्व है वह प्रकृति का अंग है और उसकी व्याख्या प्राकृतिक और भौतिक कारणों से की जा सकती है, अतिभौतिक आध्यात्मिक या इतर सामान्य कारणों से नहीं, यथार्थवाद में भी स्वीकृत है। ‘यथार्थवाद’ सामाजिक परिवेश के महत्त्व को भी स्वीकार करता है। ‘वस्तुतः ‘प्रकृतिवाद और यथार्थवाद का अन्तर यह है कि जहाँ ‘प्राकृतिकवाद’ अपने को मानव जीवन के सत्य के एक संकुचित और संकीर्ण पक्ष-जीवशास्त्रीय, आनुवांशिक और पारिवेशिक से जोड़कर अपना क्षेत्र सीमित कर लेता है, वहाँ यथार्थवाद मनुष्य के सम्पूर्ण भौतिक यथार्थ की रचानात्मक प्रस्तुति के प्रति समर्पित है।”⁴⁰ जिससे यह मालूम पड़ता है कि ‘प्राकृतिकवाद’ यथार्थवाद के खंडित सत्य का ही वाहक बन पाता है। यह अपनी सम्पूर्णता में ‘यथार्थवाद’ से कोसो दूर चला जाता है। ‘यथार्थवाद’ न तो आनुवांशिकता और प्राकृतिक परिवेश को नकारता है और ना ही उसे अतिरंजित महत्त्व प्रदान करता है। ‘यथार्थवाद’ में सामाजिक परिवेश के वैज्ञानिक तथ्यों के विवरण की जगह उसकी गहराई में, उसकी संश्लिष्टता में पैठने की कोशिश होती है। ‘प्रकृतिकवाद’ जहाँ मानवीय सत्य को अंतिम सत्य समझकर इसके बहाने मनुष्य के पशुवत या न्यूरोटिक स्वभावों के अश्लील निरूपण को प्रमुखता देता है, वहाँ यथार्थवाद समाज और व्यक्ति के जटिल द्वन्द्वात्मक संबंधों का निरीक्षण-परीक्षण करता हुआ उसका कलात्मक अभिव्यंजन करता है। ‘प्रकृतवाद’ अपनी सम्पूर्णता में ‘यथार्थवाद’ जैसी सृजनधर्मी जीवन-दृष्टि नहीं बन पाता है। यथार्थवाद की प्रकृति से कुछ समानता होने के कारण भले ही इसे इसके एक सोपान के अर्थ में ग्रहण कर लिया जाता है तथापि इसकी प्रवृत्ति ‘यथार्थवाद’ का स्खलन ही ज्यादा करती है— “वास्तव में प्रकृतवाद एक ऐसे प्रभात के समान है जो यथार्थवाद से कोसो दूर है और ऐसे कथाकार

का यथार्थ कला की सृजन-प्रक्रिया नहीं होती है।”⁴¹

अतः यह कहा जा सकता है कि ‘प्रकृतवाद’ यथार्थवाद की विभिन्न प्रावस्थाओं में चर्चा का एक कारण जरूर बनता है पर वह यथार्थवाद की सर्वांगपूर्ण दृष्टि को खंडित ही करता है।

1.2.3.4 आलोचनात्मक यथार्थवाद

आलोचनात्मकता यथार्थवाद की मूल प्रवृत्ति है। सत्यकाम लिखते हैं- “आलोचनात्मक यथार्थवाद’ पद के औचित्य के सम्बंध में कुछ आलोचकों को आपत्ति है। उनका कहना है कि ‘यथार्थवाद’ तो आलोचनात्मक होता है। आलोचनात्मक होना यथार्थवाद की मूल प्रवृत्ति है, फिर उसके पूर्व आलोचनात्मक पद के प्रयोग का क्या औचित्य है? यह कहना कुछ हद तक सही भी है। पर दिक्कत यह है कि यथार्थवाद आंदोलन की कई प्रावस्थाएँ रही हैं, जिन्होंने ‘यथार्थवाद’ पद के अर्थ को विस्तृत या संकुचित किया है।”⁴² जिससे जाहिर होता है कि आलोचनात्मकता ‘यथार्थवाद की मूल प्रवृत्ति है। यहाँ, यह भी साफ होता है कि यथार्थवाद की विभिन्न प्रावस्थाओं, उसके विविध सोपानों ने, उस पर अपना ऋणात्मक और धनात्मक दोनों प्रभाव डाला है। यहाँ आलोचनात्मक पद यथार्थवाद की दृष्टि को उन्हीं प्रावस्थाओं के मध्य अलग से विविचित करने का प्रयास करता है।

इस संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र कहते हैं -“मैक्सिम गोर्की ने सन् 1934 में समाजवादी यथार्थवाद के नाम से यथार्थवादी कला आंदोलन में जिस नए यथार्थवाद का उद्घोष किया, जरूरी समझा गया कि उसे समाजवादी दृष्टिकोण से रहित प्रचलित यथार्थवाद (प्रकृतिवाद से भिन्न) से अलगाने के लिए, उसकी अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए...उसे आलोचनात्मक यथार्थवाद नाम दिया।”⁴³ सामान्यतः आलोचनात्मक यथार्थवाद से साहित्य में उस प्रवृत्ति का बोध होता है जिसमें समाज की जघन्य प्रवृत्तियों की विवेचना और आलोचना की जाती है। आलोचनात्मक यथार्थवादी रचनाकार केवल आलोचना के माध्यम से किसी आदर्श को स्थापित नहीं करता बल्कि जीवन की जिस कुत्सितता की आलोचना करते हुए यथार्थ चित्रण करता है, वह यथार्थवादी होता है और आलोचनात्मक भी। मैक्सिम गोर्की ने आलोचनात्मक यथार्थवाद को बुर्जुआ यथार्थवाद और क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद का भी नाम दिया और इसकी शक्तिमत्ता की भी सराहना की है। उनके अनुसार आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे, जो पूँजीपति वर्ग हितों

से जुड़े हैं और उनके अंतर्विरोधों को चित्रण करते हुए भी उन्हीं का गौरवगान करते हैं। द्वितीय वे, जो अपने वर्गहितों और स्वार्थों का अतिक्रमण करते हुए अपने वर्ग की खरी आलोचना भी करते हैं। डॉ. सत्यकाम अपनी पुस्तक 'आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद' की भूमिका में आलोचनात्मक यथार्थवाद को स्पष्ट करने की कोशिश की है। उनके अनुसार-'आलोचनात्मक यथार्थवाद' यथार्थवाद का वह रूप है जो इन्द्रियग्राह्य बोध को आधार मानकर व्यक्ति और समाज की वास्तविकताओं का उद्घाटन और विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्री अनुभवों के रूप में करता है। वह जीवन की सच्चाईयों का तटस्थ अवलोकन भी करता है, पर 'प्राकृतिकवाद' की तरह अपने को इतने ही तक सीमित नहीं कर लेता। वह केवल समाज और व्यक्ति के जीवन के निम्न, ऋणात्मक, निंदनीय और गर्हित पक्षों को ही अपना चित्रणीय विषय नहीं बनाता, वरन् जीवन के उज्ज्वल और उदात्त पक्षों पर भी बल देता है। उसकी दृष्टि और पद्धति आलोचनात्मक होती है तथा वह केवल सतह पर तैरते हुए यथार्थ का चित्रण न कर उसकी गहराइयों में प्रवेश करता है और यथार्थ के भीतरी पर्तों को भेदकर सामाजिक सत्य का उद्घाटन करता है।⁴⁴ जिससे यह भली-भाँति स्पष्ट होता है कि आलोचनात्मकता 'यथार्थवाद' की एक अनिवार्य विशेषता है, जो यथार्थवाद' की आधुनिक अवधारणा को संपूर्णता में पकड़ने की कोशिश करती है।

आलोचनात्मक यथार्थवाद में व्यक्ति और समाज के सतही सत्यों के पार जाकर उसकी गहराई में छिपी संश्लिष्टता को उजागर करने की चेष्टा दिखती है। यह केवल व्यक्ति सच की एकांगिता तथा उसके निन्दनीय पक्षों पर जोर न देकर व्यक्ति और समाज के अन्तर्द्वन्द्वों की पहचान करता है। जिसके कारण ही आलोचनात्मक यथार्थवाद 'यथार्थवाद' की विभिन्न प्रावस्थाओं में काफी लोकप्रिय तथा ग्राह्य होता है। विशेषकर कथा-साहित्य को इसके माध्यम से एक शक्तिशाली रचना दृष्टि प्राप्त होता है। कार्ल मार्क्स के अभिमान में यह स्थापना मिलती है कि-"आलोचनात्मक यथार्थवाद के रचनाकारों ने पूँजीवादी समाज की असंगतियों का उद्घाटन करते हुए जीवन-संघर्षी चरित्रों की रचना की, समाज की निमर्म आलोचना पात्रों के माध्यम से की। इस कारण 'यथार्थवाद' के इतिहास में 'यथार्थवाद' की आलोचनात्मक विधा प्रचलित हुई।"⁴⁵ स्पष्ट है कि यथार्थ का यह आलोचनात्मक रूप यथार्थ को केवल पद्धति विशेष नहीं, बल्कि एक मजबूत रचना-दृष्टि का स्वरूप भी प्रदान करता है। किंतु, यह अपनी शक्ति, गरिमा और उपलब्धियों के बावजूद एक तथ्य पर आकर कमजोर पड़ जाता है। और वह है 'भविष्य की निर्मित का अभाव', जो संभावना सापेक्ष के

रूप में यथार्थ के गर्भ से निःसृत होता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद अपने युग के यथार्थ का जीवंत और मार्मिक चित्रण करने के बावजूद भी अपने युग के जीवन पर अपना मौलिक पक्ष न रखकर विकृतियों के प्रति महज आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। इसी बिंदु पर आलोचनात्मक यथार्थवाद समाजवादी यथार्थवाद से अलग हो जाता है। यही कारण है कि समाजवादी यथार्थवादी रचनाकार आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों के भविष्य बोध के प्रति सकारात्मक रूख की कमी पाकर इसकी संभावनाओं तथा विरासत पर प्रश्न उठाते हैं—“नई वास्तविकताओं को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए पॉजिटिव सक्रिय तथा रचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, उसका आलोचनात्मक यथार्थवाद में सर्वथा अभाव है, अतएव विरासत के रूप में संभव नहीं है।”⁴⁶ पर इन सबके बावजूद, यथार्थवादी लेखक इसकी अपरिहार्यता को स्वीकार कर ही अपनी सृजनात्मकता को कलात्मक एवम् प्रभावी बनाने में सक्षम महसूस करता है। अतः कहने का आभिप्राय यही निकलता है कि इसकी शक्ति को साथ लेकर ही यथार्थ के पथ पर प्रशस्त हुआ जा सकता है। यथार्थवादी लेखक लूकाच भी समाजवादी यथार्थवाद के साथ इसकी संधि की कामना में ही ‘यथार्थवाद’ का उज्ज्वल भविष्य देखते हैं—“लूकाच ने सही ही कहा है कि यथार्थवादी कला का भविष्य आलोचनात्मक ‘यथार्थवाद’ की कलागत उपलब्धियों तथा प्रकृति से ‘समाजवादी यथार्थवाद’ के विरोध में नहीं, दोनों की गहरी संधि में उज्ज्वल होगा।”⁴⁷

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आलोचनात्मक यथार्थवाद ‘यथार्थवाद’ कला आंदोलन तथा इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सोपान सिद्ध होता है। इसका मूल धर्म- यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक रवैया-यथार्थवाद का भी अनिवार्य गुण-धर्म कहलाता है। यह ‘यथार्थवाद’ की अन्य प्रावस्थाओं की तरह एकांगी पक्ष पर जोर न देकर यथार्थ को सम्पूर्णता में पहचानने और उसकी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति करने की हिमायत करता है। यह व्यक्ति और समाज के जटिल संबंधों तथा उनके अंतर्द्वन्द्वों का कलात्मक अंकन करने की चेष्टा करता है। कथा-साहित्य तो विशेषकर इसकी उपलब्धियों को अपनाकर ही सृजनधर्मी होना चाहता है। संक्षेप में, कहा जाए तो यह ‘यथार्थवाद’ की दृष्टि को संपूर्णता में पकड़ने की कोशिश करता है।

1.2.3.5 ऐतिहासिक यथार्थवाद

‘यथार्थवाद’ के विविध सोपानों में ऐतिहासिक यथार्थवाद की भी चर्चा मिलती है।

‘यथार्थवाद’ के आगे ऐतिहासिक पद का योग इस बात को संकेतित करता है कि इसमें वर्तमान को इतिहास प्रवाह की अविच्छिन्नता में ग्रहण किया जाता है। ‘यथार्थवाद’ में वर्तमान भले ही केन्द्रीयता प्राप्त करता है तथापि इसकी सम्पृक्तता अतीत से बनी रहती है। और वह भी साभिप्राय। ‘ऐतिहासिक ‘यथार्थवाद’ का मूल विषय ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित होता है, जिसमें यथार्थ को कलागत सीमाओं के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। इसमें लेखक या रचनाकार अपने व्यक्तिगत जीवनानुभवों तथा अपनी कल्पना शक्ति द्वारा अतीत कालीन वातावरण का रंग चढ़ाकर घटनाओं को ऐतिहासिक धरातल पर बड़ी विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत करता है तथा ऐतिहासिक संगति की रक्षा (उसे अक्षुण्ण रखते हुए) अतीत को वर्तमान के हित में चित्रित करता है।

डॉ. त्रिभुवन सिंह इस संदर्भ में लिखते हैं—“ऐतिहासिक ‘यथार्थवाद’ के अन्दर बीते हुए काल की सामाजिक एवम राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्रण उपस्थित किया जाता है। परंतु इतिहास और ऐतिहासिक ‘यथार्थवाद’ एक-दूसरे के लिए प्रयुक्त किए गए शब्द नहीं हैं। बल्कि दोनों में अन्तर है। इतिहास तिथियों, घटनाओं तथा परिणाम का ठीक-ठीक वर्णन उपस्थित करता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के अर्न्तगत स्थितियों तथा घटनाओं की सहायता पर इतना अधिक जोर नहीं दिया जाता, इससे अधिक उस समय की सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों को उभारकर रखने के प्रति आग्रह दिखलाया जाता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि ऐतिहासिक यथार्थवाद की धारणा साभिप्राय होती है। इसके द्वारा साहित्यकारों को ऐसे चरित्रों का निर्माण करना पड़ता है कि जो वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सके तथा उस समय की परिस्थितियों को इस प्रकार उभारकर सजीव रूप में रखना चाहता है कि जिससे परिणाम के आधार पर हम वर्तमान समाज की उसके दोषों तथा दुर्बलताओं से बचा सकें।”⁴⁸ जिससे निम्न बातें स्पष्ट होती हैं। ऐतिहासिक यथार्थवाद में इतिहास की मूल चेतना या दृष्टि को आत्मसात कर यथार्थ के वर्तमान पहलू को साभिप्राय देखा जाता है। तथापि इसका इतिहास से अंतर होता है। यहाँ, इतिहास की तरह ऊपरी तथ्यों, तिथियों या घटनाओं को सटीक ढंग से उल्लेख करने के बजाय इसकी तह में जाकर उसकी संश्लिष्टता को उभारा जाता है। यहाँ, अतीत के प्रेरणादायी चरित्रों और घटनाओं को वर्तमान को सहेजने या उसे दुरुस्त करने की मंशा से महत्त्व प्रदान किया जाता है।

किंतु, जैसा कि हर बीते हुए युग या समय की अपनी कुछ विशिष्टताएँ होती हैं। और हर बीते हुए युग की राष्ट्रीय सामाजिक और धार्मिक परिवेश की पहचान उस युग के वर्तमान को ही

आलोकित करता है जिसका कि ऐतिहासिक यथार्थवाद भी समर्थन करता है। तथापि यहाँ ऐतिहासिकता के प्रति स्पष्ट ईमानदार तथा पूर्वाग्रहविहीन दृष्टि की आवश्यकता होती है ताकि ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखा जा सके। अतः ऐतिहासिक यथार्थवाद में वर्तमान के संदर्भ में इतिहास को ग्रहण करने के प्रति एक विशेष सावधानी अपेक्षित होता है। इस संदर्भ में डॉ. त्रिभुवन सिंह भी लिखते हैं- ऐतिहासिक यथार्थ की एकमात्र कसौटी है, लेखक की निष्पक्ष दृष्टि का होना। यदि लेखक ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण करते समय अपने वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाता है तो उसकी रचना में विकार होना स्वाभाविक है।⁴⁹ ध्यातव्य है कि यहाँ निष्पक्षता इतिहास के प्रति पूर्वाग्रह विहीन दृष्टिकोण को ही व्यक्ता करता है, जिस कारण ऐतिहासिकता अक्षुण्ण रहती है।

इस प्रकार 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' की आधारशिला लेखक की कल्पनाशीलता उसके स्पष्ट वैज्ञानिक इतिहास बोध तथा पूर्वाग्रह विहीन कलात्मक प्रतिभा के सम्यक संतुलन पर ही खड़ी होती है। इस संतुलन के डिगने से 'यथार्थवाद की दृष्टि खंडित हो जाती है। संक्षेप में, कहा जाए तो, यह अपने संतुलित तथा संयत रूप में 'यथार्थवाद' को एक सर्वांगीण दृष्टि के रूप में विकसित होने में अपना धनात्मक योग देता है, किन्तु अपने असंतुलन में 'यथार्थवाद' की मूल प्रेरणा को गुमराह भी कर देता है।

1.2.3.6 मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' में ज़ाहिरा तौर पर मनोविज्ञान को प्रमुख माना जाता है। पाश्चात्य विद्वान युंग इस संबंध में कहते हैं- "मनोविज्ञान मानव की मानसिक क्रिया के अध्ययन का प्रमुख साधन है। मानव मन सभी प्रकार के विज्ञान और कला का आगार होता है। वह एक ओर सृजन की व्याख्या करता है तो दूसरी ओर इसके मूलभूत कारणों पर प्रकाश डालता है।"⁵⁰ मनोविज्ञान के इसी प्रकाश को अपना आधार मानकर मनोवैज्ञानिक, यथार्थवादी साहित्य में अपनी सृजनधर्मिता का निर्वहन करने का प्रयास करता है।

यहाँ, यह उल्लेख करना अति आवश्यक प्रतीत होता है कि जहाँ यथार्थवाद, मनुष्य के बाह्य एवं अन्तर दोनों ही सत्ताओं के सम्मिलित चित्रण को अपना लक्ष्य बनाता है, वहाँ "मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद" यद्यपि बाह्य जगत की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता तथापि मानवीय

अन्तर्जगत उसकी बौद्धिकता एवं भावनात्मकता को ही अधिक बल प्रदान करता है। वह व्यक्ति चेतना की गहनता की माप एवं चेतन मन के आधारभूत उपचेतन एवं अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन करता है।⁵¹ क्योंकि, उसकी यह मान्यता है कि मानवीय उपचेतन एवं अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा ज्यादा शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण होते हैं। जिन्हें समझना- समझाना या उनका कलात्मक अभिव्यंजन करना मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी के लिए 'यथार्थ' को सम्पूर्णता में पकड़ने या समझने का प्रयास मालूम पड़ता है। किंतु, वे व्यक्ति के सच के बहाने एक नकार एवं निराशा के भाव को प्रश्रय देते हैं। डॉ. सुरेश सिन्हा इस संदर्भ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—“यह मनुष्य की परिकल्पना व्यक्ति रूप में करके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल एवं विषम ग्रंथियों को सुलझाने का कार्य करता है, पर इससे सबसे बड़ी हानि यह हुई कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने मानव को अर्द्ध-विक्षिप्त, कामलोलुप और मानसिक विकारों से ग्रस्त रोगी के रूप में परिणत कर दिया और जीवन के अशोभन एवं अवांछनीय तत्त्वों के चित्रण पर बल दिया जाने लगा।⁵² जो यह दर्शाता है कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आत्मान्वेषण तथा आत्मपोलब्धि के बहाने मनुष्य के आत्मतत्त्व को पूर्व निश्चित, पशुधर्मी और अनिवार्यतः विकृत प्रवृत्तियों से परिपूर्ण मानकर मनुष्य के अत्यंत घृणास्पद चित्र उकेरता है, जो यथार्थ या यथार्थवाद की दृष्टि को खंडित कर देता है।

अतः इस प्रकार 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' न तो यथार्थ के सर्वांगीण रूप को प्रस्तुत करता है और ना ही मनुष्य की सम्पूर्ण अवधारणा को प्रकाशित करता है। यह अवचेतन, उपचेतन मन के बहाने मनुष्य के अस्वस्थ तथा खंडित स्वरूप को ही परोसने का कार्य करता है। हाँ, इस संदर्भ में यह कहना प्रासांगिक लगता है कि आधुनिक मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं है। उसमें भी वासना, पाप, घृणा और अविश्वास की भावनाएँ हैं। इस सत्य से कोई भी साहित्य मुँह नहीं मोड़ सकता है। यथार्थवादी साहित्य भी नहीं। किंतु, मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी साहित्य यथार्थ के रूप में मनुष्य की अन्य इच्छाओं तथा उसके अपने बाह्य जगत् के साथ संश्लिष्ट संबंधों को छोड़ मात्र काम इच्छाओं एवं उनके हनन से जन्म लेने वाले दुष्परिणामों का रसमय चित्रण करता है, जो यथार्थवादी साहित्य को कामशास्त्र की रचना बना डालता है। यह यथार्थवाद की दृष्टि के लिए अवांछनीय सिद्ध होता है। सारतः कहा जाए तो यह यथार्थवाद रूपी सर्वांगीण दृष्टि के एकपक्षीय पहलू का खंडित रूप ही व्यक्त करता है।

1.2.3.7 अतियथार्थवाद

‘अतियथार्थवाद’ अंग्रेजी के सुर्रियलिज्म का हिंदी पर्याय है। साहित्य और कला के क्षेत्र में, एक आंदोलन के रूप में इसका जन्म प्रथम विश्वयुद्धोत्तर फ्रांस में हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध के भीषण नर-संहार एवं आर्थिक हास ने यूरोपीय समाज को अव्यवस्था, अराजकता, विवेकशून्यता तथा नकार भावना से परिपूर्ण कर दिया था। जिसका प्रतिफलन यह हुआ कि कला एवं साहित्य की ओर रुझान रखने वाले लोग कठोर यथार्थ के आघातों से निराश होकर अवचेतन मन की रहस्यमय गुफाओं में सैर करने लगे, और धर्म, समाज, कला एवम् साहित्य की पूर्वमान्यताओं को प्रश्नों के कठघरे में खड़ा करने लगे।

अतियथार्थवादी आंदोलन की पृष्ठभूमि में फ्रायड की अचेतन मन संबंधी धारणा, हीगेल का समन्वयवादी चिंतन, मार्क्स चिंतन आधारित तत्कालीन अर्थव्यवस्था के खोखलेपन के प्रति वितृष्णा आदि अवधारणाओं ने प्रर्याप्त प्रभाव डाला है। इस पर फ्रायड के दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा है। डॉ. सुरेश सिन्हा इस संदर्भ में लिखते हैं—“फ्रायड के अनुसार चेतना के स्पंदन गंभीर कामनाओं के रूप में प्रस्फुटित होते हैं और कुंठाजन्य परिस्थितियाँ, पीड़ाएँ, असंतोष एवं अतृप्त वासनाएँ उन्माद के रूप में परिणत हो जाती हैं, जिससे एक नए वाद का जन्म होता है, जो ‘अतियथार्थवाद’ है।”⁵³ जिससे इसके नकारवादी पहलू को समझा जा सकता है। इस नकार प्रवृत्ति को विकसित करने में ‘दादावाद’ की प्रमुख भूमिका रही है। डॉ. सत्यदेव मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं—“अतियथार्थवाद दादावाद से सर्वाधिक प्रभावित था। किन्हीं अर्थों में दादावाद अतियथार्थवाद का जनक है। दादावाद (1916) ट्रिस्टन जारा (**Tristan tzare**) के द्वारा प्रवर्तित ऐसा आंदोलन था... आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य सभी प्रकार के नैतिक एवम् कलात्मक मूल्यों और प्रतिमानों को विध्वंस करना था।”⁵⁴ वे आगे कहते हैं...“अतियथार्थवाद की परिभाषा देते हुए इस शब्द का वर्तमान अर्थ में प्रयोग सबसे पहले फ्रांसीसी साहित्यकार आंद्रे ब्रेतां ने 1924 में अपने घोषणापत्र मैनिफेस्टो आन सुर्रियलिज्म में किया।”⁵⁵

अतियथार्थवाद को एक कला आंदोलन के रूप में विकसित करने में आंद्रेब्रेतां का पहला और दूसरा घोषणापत्र काफी महत्त्वपूर्ण रहा है, जहाँ उन्होंने मानव मन की विमुक्ति को क्रांतिकारी साहित्य से जोड़ने के प्रयास किए। उन्होंने इसके उद्देश्य को भी काफी हद तक स्पष्ट करने की

कोशिश की। आन्द्रेबेतां ने इसके उद्देश्य को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है“ ...अतियथार्थवाद का उद्देश्य मानव-मन की किसी भी प्रकार के बंधन से विमुक्ति दिलाना तथा आंतरिक और बाह्य सत्य को एकाकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अतियथार्थवादी चेतन-अचेतन विवेकपूर्ण एवं विवेकहीन दोनों का संबद्ध असंबद्ध वर्णन प्रस्तुत करते हैं। उनकी धारणा है कि अचेतन मन की वास्तविक स्थितियों का उद्घाटन एवं विश्लेषण तथा मानव-मन की विवेक के बंधन से विमुक्ति इसी प्रकार संभव है।”⁵⁶ जिसका साफ अर्थ यह होता है कि अतियथार्थवादी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पूरा बल देते हैं। वे मनुष्य की स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं और अपने पूर्ण सामर्थ्य से इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि इसके समर्थन में मनुष्य के अचेतन मन की विवेकहीन, हिंसात्मक एवम् न्यूरोटिक प्रवृत्तियों को भी प्रश्रय देते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जो सामान्य जगह से परे जगत् है, वही अधिक यथार्थ है, उसका रूपायन ही कलाकार का दायित्व है। यही वजह है कि अतियथार्थवादी स्वप्नों, विभ्रमों, अर्धजाग्रत अवस्थाओं की खोजबीन में अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। डॉ. सत्यदेव मिश्र लिखते हैं-“अतियथार्थवादी साहित्य के प्रमुख विषय प्रेम, (Love) विद्रोह, (Revolt) अद्भुत (The marvellous) और स्वातंत्र्य (Freedom) हैं।”⁵⁷ किंतु अतियथार्थवादी लेखक प्रेम के नाम पर स्त्री-प्रेम के रत्यामत्क तथा कामोद्दीपक पक्ष को ही उठाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो उनकी प्रेम-स्वच्छंदता यौन-लिप्साओं के खुले तथा अविवेकपूर्ण चित्रण में गोते लगाती हैं। वे विद्रोह की आड़ में विवेक-अविवेक के प्रश्न को दरकिनार करते हुए समाज, धर्म, नीति आदि संबंधी सभी पूर्वमान्यताओं तथा परंपराओं को विध्वंस कर देना श्रेयस्कर समझते हैं। इसी विद्रोह तथा स्वतंत्रता के नाम पर वह सभी पूर्व मान्यताओं को खारिज कर दैनंदिन व्यवहारपरक जीवन में नवीन मूल्य एवं मान्यताओं की खोज तथा प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यही उनकी अद्भुत अथवा विलक्षण की खोज है। वे जीवन को असंगतियों का पुंज मानते हैं। उनके लिए“ ...असंगति ही मानव-मन अथवा जीवन का असली यथार्थ है (Absurdity of mind is the super reality)। जीवन की इन असंगतियों के चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि अवचेतन मन की मुक्त अभिव्यक्ति हो सके और अनुभूति को यथावत् प्रस्तुत किया जा सके।”⁶⁸ जिसका तात्पर्य जीवन की असंगतियों, बेहुदगियों एवं विदूषताओं को यथार्थ और साहित्य के नाम पर परोसने से होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अतियथार्थवाद अपने नाम से यथार्थवाद के चरम

रूप का भ्रम उत्पन्न करने के बावजूद यथार्थवाद से पूर्णतः भिन्न धरातल पर खड़ा दिखायी देता है। जहाँ, यथार्थवाद मानव तथा समाज की संश्लिष्टता को प्रधानता देता है, वहाँ अतियथार्थवाद मानवजीवन और समाज के कठोर यथार्थ से पलायन कर मानव मन से अचेतन रूप को तरजीह देता हुआ मनुष्य की मुक्ति तथा स्वतंत्रता का परचम लहराता है। एक विशेष परिस्थिति में जन्मा यह अतियथार्थवाद अपने साथ एक नकार प्रवृत्ति को आत्मसात किए हुए रहता है। जो साहित्य में नकारात्मक यथास्थितिवाद को प्रश्रय देता है। जो यथार्थवाद की मूल-भावना से भिन्न ठहरता है। यथार्थवाद, जहाँ मानव जीवन को सम्पूर्णता में देखते हुए समाज के संदर्भ में उसका अस्तित्व निर्धारण करता है, वहाँ अतियथार्थवाद मानव जीवन के खंडित पक्ष को ही अधिक या अति यथार्थ मानता है। संक्षेप में, कहा जाए तो अतियथार्थवाद लेखक या रचनाकार को सृजनात्मक दृष्टि प्रदान करने के बजाए उसे अधिक गुमराह ही करता है।

1.2.3.8 समाजवादी यथार्थवाद

समाजवादी यथार्थवाद 'यथार्थवाद' की अपनी लंबी यात्रा में तथा उसके विभिन्न स्वरूपों या प्रावस्थाओं में एक नव्यतम एवम् महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। इसके मूल में मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की विकासमूलक विचारधारा निहित है, जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास रखती है। तभी तो, इसे मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में सर्वोच्च साहित्यिक एवं कलात्मक प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्सवादी दर्शन से जुड़ कर 'समाजवादी यथार्थवाद' निखरे हुए रूप में उभर कर आता है। डॉ. प्रेमलता जैन के ये शब्द उक्त बात की पुष्टि करते हैं—“मार्क्सवाद एक आशावादी दर्शन है, जो वैज्ञानिक सत्यों पर खड़ा है। मार्क्सवादी दर्शन से पुष्ट 'समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी आंदोलन के विकास की नव्यतम मंजिल है।”⁵⁹

उल्लेखनीय है कि सबसे पहले मैक्सिम गोर्की ने 'समाजवादी यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग किया। सोवियत लेखकों की पहली, कांग्रेस में मैक्सिम गोर्की ने इसकी रूपरेखा स्पष्ट की। तब से लेकर अब तक की सुदीर्घ चर्चा में इसे अनेक कोणों से देखा और परखा गया। इस चर्चा के क्रम में ही यह बात निकल कर आती है कि भले समाजवाद या साम्यवाद से 'समाजवादी यथार्थवाद' को अलग नहीं माना जा सकता है, परंतु दलीय भूमिका एवं राजनीतिक कट्टरता में ही उसे सीमित न कर एक कला-दृष्टि के रूप में उसे पहचानने और प्रस्तुत करने की जरूरत है।

‘समाजवादी यथार्थवाद’ की अवधारणा में जार्ज लूकाच तथा अन्य मार्क्सवादी चिंतकों की व्याख्याओं में अवश्य अंतर देखा जाता है। किंतु, कुल मिलाकर समाजवादी यथार्थवादी की उसी अवधारणा को उसका प्रमाणिक स्वरूप स्वीकार किया जाता है, जिसके पुरस्कर्ता जार्ज लूकाच तथा मैक्सिम गोर्की आदि प्रभृति चिंतक हैं।

समाजवादी यथार्थवाद का मूल आग्रह वस्तुगत यथार्थ का समाजवादी समझ की अनुकूलता में चित्रण करने से होता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं—“समाजवादी यथार्थवाद का आग्रह है कि लेखक वस्तुगत यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में उभारकर प्रस्तुत करे। विरोधी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को जितनी ही विशदता, सजीवता तथा तीव्रता के साथ वह चित्रित करेगा, उस संघर्ष को जितने ही आयामों में वह देखेगा, उसकी कला भी उतनी शक्ति सम्पन्न होगी। उसका कार्य जड़ यथार्थ को नहीं क्रांतिकारी विकास की भूमिका में बदलते हुए यथार्थ को इस प्रकार मूर्त करना है कि वह शक्ति जो प्रगति की विधायिका शक्ति है, अपनी सारी क्षमताओं के साफ और ठोस रूप में सामने आ सके।”⁶⁰ जिसका तात्पर्य यह है कि समाजवादी यथार्थवाद मनुष्य, समाज तथा उसके जीवन-यथार्थ को सम्पूर्णता में देखने की हिमायत करता है। यह वर्ग-संघर्ष एवं क्रांति में अपनी आस्था कायम रखता है। यह लेखक या कलाकार से उस ऐतिहासिक समझ की भी अपेक्षा करता है, जो उसे वर्ग-संघर्ष को सामाजिक संबंधों की संश्लिष्टता में देखने और पहचानने में मदद करती है। जो उसे भविष्य की रचनात्मक शक्तियों की पहचान करते हुए परिवर्तन कामी स्वर को बुलंद करने हेतु आग्रही भी बनाती है।

‘समाजवादी यथार्थवाद’ यथार्थवाद की विभिन्न प्रावस्थाओं से उसका सार तत्त्व ग्रहण करते हुए यथार्थवाद के सर्वांग रूप का परिचय देता है। शैली और चित्रण के धरातल पर ‘समाजवादी यथार्थवाद’ आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों को स्वीकार करता है। किंतु, कथ्य के स्तर पर वह उससे अत्यंत आगे निकल जाता है। गौरतलब है कि ‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ समाजवादी यथार्थवाद से घनिष्ठ रूप में सम्पृक्त रहता है। अधिकतर समाजवादी मानते हैं कि ‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ में स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे समाजवादी प्रवृत्तियाँ प्रवेश करती जाती हैं। शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लूकाच के हवाले से कहते हैं—“आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखक समाजवादी समाज की स्थापना के साथ एकदम रूपांतरित न हो जाएँगे, वरन यथार्थ के विकासशील आयामों की संगति में, शनैः-शनैः अपने मानस में नये संस्कारों की प्रतिष्ठा

करेंगे।...‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ भी चूंकि सत्य का आग्रही है, और वस्तुगत यथार्थ को ही केन्द्रीयता प्रदान करता है, अतः जैसे-जैसे समाजवादी समाज में यथार्थ का रूपांतरण होता जाएगा समाजवाद अपनी संभावनाओं को साकार करता हुआ मूर्त होने लगेगा। आलोचनात्मक यथार्थवाद के लिए जरूरी हो जाएगा कि वह इस समाजवादी वास्तविकता का रूपायन करे।...‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ के लेखक भी इस प्रकार समाजवाद के निकट आते जाएँगे और एक क्षण वह आयेगा जब नये समाजवादी समाज में नयी समाजवादी मानसिकता की आत्मसात् करते हुए वे अन्तर्भूत हो जाएँगे। ...यह आलोचनात्मक यथार्थवाद की ‘समाजवादी यथार्थवादी’ परिणति होगी।”⁶¹ जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि लूकाच जैसे चिंतक यथार्थवादी कला का भविष्य आलोचनात्मक यथार्थवाद की कलागत उपलब्धियों तथा प्रकृति से ‘समाजवादी यथार्थवाद’ की गहरी संधि में उज्ज्वल होते देखते हैं। वे ही नहीं, ‘समाजवादी यथार्थवाद’ के प्रवर्तक मैक्सिम गोर्की ने भी समाजवादी यथार्थवादी की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए नयी पीढ़ी के समाजवादी आस्था वाले लेखकों तथा कलाकारों से आग्रह किया था कि वे आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों को एक मूल्यवान विरासत के रूप में स्वीकार करें। समाजवादी यथार्थवाद मनोविज्ञान की मुख्य उपलब्धियों को भी स्वीकार करता है। पर इन सबके बावजूद, वह इस तथ्य से गुरेज रखता है कि “मानव चिंतन की तमाम प्रक्रियाओं या मानव मन के तमाम परिवर्तनों की कुंजी मात्र-रतिग्रंथी या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के शस्त्रागार में ग्रंथियों की दुर्जेय सेना में से किसी अन्य में खोजी नहीं जा सकती है।”⁶² मनोविज्ञान को आधार मानने वाला मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, जहाँ प्रकारांतर से मनुष्य की सामाजिक भूमिका को अस्वीकार करता है। वहाँ, समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत मनुष्य के जिस यथार्थ पर जोर दिया जाता है, वह एक सामाजिक प्राणी का यथार्थ होता है। अर्थात् वहाँ समाज सापेक्ष व्यक्ति का यथार्थ प्रधानता पाता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं—“समाज सापेक्ष व्यक्ति का वह यथार्थ अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी यथार्थ के बीच कृत्रिम विभाजन को मिटाने में सफलता प्राप्त करता है।”⁶³ कहने का तात्पर्य यही है कि समाजवादी यथार्थवाद मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की तरह व्यक्ति के एकांगी रूप का नहीं अपितु उसके दुहरे संघर्ष (अंतर्मुखी-बहिर्मुखी) का चित्र उपस्थित करता है।

‘समाजवादी यथार्थवाद’ कलात्मकता का विरोधी नहीं है, बल्कि वह विचार और कला के परिष्कार के संगम का पोषणकर्ता है। इसी कारण डॉ. शिव कुमार मिश्र बल देते हुए यह कहते

हैं—“समाजवादी यथार्थवाद विचारधारा की परिष्कृति तथा कला की परिष्कृति, दोनों को एक साथ लेकर चलता है। मात्र विचारधारा की परिष्कृति जहाँ उसे विचारधारा के सतही प्रचार का माध्यम बना देती है वहाँ मात्र कलात्मक परिष्कृति विचारधारा के तेज से वंचित करते हुए उसे रूपवाद की सीमाओं में भटका ले जा सकती है। समाजवादी यथार्थवाद की सार्थकता उसके उपर्युक्त द्विआयामी रूप की अन्तर्ग्रथित समग्रता में ही है।”⁶⁴ समाजवादी यथार्थवाद वस्तु या यथार्थ के प्रति अपने समग्रतापरक दृष्टिकोण का ही महत्त्व प्रदान करता है। समाजवादी यथार्थवाद रचनाकार की भविष्य-दृष्टि अर्थात् लेखक के विज्ञान को यथार्थ विरोधी नहीं मानता है। बल्कि, वह यह स्वीकार करता है कि रचनाकार की यह भविष्य-दृष्टि लेखक की समाज विकास संबंधी वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक समझ के अनुकूल साकार हाने वाली वह सच्चाई होती है जिसका आधार-उत्स वर्तमान का यथार्थ होता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—“समाजवादी यथार्थवाद’ यथार्थवाद की समग्र दृष्टि है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यथार्थ को पूरी समग्रता में देखने के साथ उस भविष्य का रूप भी उद्घाटित करती है जिसका जन्म वर्तमान के बीच से ही होना है, जिसके बीज वर्तमान व्यवस्था ही में छिपे हैं। समाजवादी यथार्थवाद जहाँ वस्तुगत यथार्थ को उसकी सारी सजीवता, सच्चाई तथा तीव्रता के साथ चित्रित करने का आग्रह करता है, वहाँ इस बात पर भी जोर देता है कि यथार्थ का चित्र, उस यथार्थ के बीच सक्रिय मनुष्य का चित्र उसकी सम्पूर्ण भूमिका में उभरे।...केवल समाज की गंदगी, भ्रष्टाचार, शोषण, अराजकता और अंधकार को ही दत्तचित्त होकर न उभारे, इस वास्तविकता से संघर्ष करती हुयी नयी प्रगतिशील शक्ति को भी उतनी ही तीव्रता से मूर्त्त करे, बल्कि उस पर अधिक जोर दे, और इस प्रकार भविष्य के उस ‘विज्ञान’ को सामने लाए जो, विरोधी शक्तियों के इस संघर्ष की एक आवश्यक और अनिवार्य परिणति हो।”⁶⁵ पर यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ‘समाजवादी यथार्थवाद’ का यह विज्ञान या भविष्य-दृष्टि रोमांटिकों के दिवास्वप्नों से अलग अर्थ रखता है, क्योंकि वह अपने रचनाकारों से इतिहास और विज्ञान सम्मत सोच और समझ की अपेक्षा करता है। इसलिए भी यह कहा जाता है कि—“ समाजवादी यथार्थवाद’ का ‘विज्ञान’ कोरी कल्पना से प्रयुक्त न होकर जैसा कि रोमांटिकों के स्वप्न होते हैं यथार्थ का वैज्ञानिक समझ से जन्मा है। इस भविष्य-दृष्टि की जड़ें भी लेखक के कल्पनाशील मन में नहीं जगत के यथार्थ में, जीवन की गतिमान वास्तविकता में फैली है, कलाकार के मन ने उन्हें परखा और आत्मसात किया है।”⁶⁶ तात्पर्य यह है कि ‘समाजवादी यथार्थवाद’

‘यथार्थ’ को अतीत, वर्तमान और उस वर्तमान से उद्भूत भविष्य बोध के साथ अविच्छिन्न रूप में देखता है।

इस प्रकार ‘सामाजिक यथार्थवाद’ से जीवन का जो बोध सुलभ होता है, उसमें जीवन के घात-प्रतिघात में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। हमारी आँखें खुलती हैं। और हम अपने तथा समाज के विषय में सोचने को बाध्य होते हैं। यह न तो कोरे सिद्धांतों का पुलिंदा है और ना निश्चित तेवर का साहित्यिक नारा। बल्कि, यह तो जीवन के ज्वलंत प्रश्नों की गवेषणा है। क्रांति का एक सक्रिय अग्रदूत और मानवता के हित का सचेत प्रयास। यह जीवन के प्रति एक इतिहास समन्वित दृष्टि को अपनाता है, इसीलिए समूचा मानव जीवन उसकी कार्यस्थली बनती है। यह वर्ग-संघर्ष को प्रधानता देता है, तथा परिवर्तन कारी शक्तियों की पहचान की चेतना प्रदान करता है। तभी इसमें पूँजीवादी वर्ग का पतन और सब प्रकार की विरोधी शक्तियों को पराजित करने की प्रवृत्ति अंतर्निहित रहती है। अतः यह कहना उचित है कि ‘समाजवादी यथार्थवाद’ यथार्थवादी चिंतन तथा यथार्थवादी कला की वह जीवन्त धारणा है, जो एक ओर प्रकृतिवाद से अपनी भिन्नता कायम करता है तो दूसरी ओर आलोचनात्मक यथार्थवाद से विशिष्ट बनते हुए उसकी अगली कड़ी सिद्ध होता है। यह ‘यथार्थवाद’ को सृजनधर्मी तथा परिवर्तनकामी मूल्य का रूप देता हुआ उसे एक सर्वांग-दृष्टि के रूप में प्रतिष्ठापित करने का पुरजोर प्रयास करता है।

1.2.3.9 जादुई यथार्थवाद

‘यथार्थवाद’ की अवधारणा यथार्थ को समग्रता में देखने और चित्रित करने की कला एवम् दृष्टि में अंतर्निहित होता है। जिसने मनुष्य और समाज के बदलते जीवन की सम्पूर्णता को उसकी संश्लिष्टता में उकेरने का हरदम प्रयास किया है। इसकी गतिमानता, इसकी प्राण-चेतना है, जिस कारण ही यह विभिन्न प्रावस्थाओं में विभिन्न शक्तियों और अभिधानों के साथ रूपायित और विश्लेषित हुआ है। ‘आलोचनात्मक’ एवं ‘समाजवादी’ विशेषणों के साथ लैश होकर यथार्थवाद ने साहित्य और कला के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों को सबके समक्ष प्रस्तुत किया है। परंतु इसके बावजूद भी यह अपने तई नई संभावनाओं को समेटे अपने को प्रत्यक्ष करने वाली एक गतिमान कला सिद्ध किया है। इसमें किसी भी देश या समाज के जीवन की जटिलताओं को पकड़ने की अद्भुत क्षमता है। इसी क्षमता का प्रदर्शन उसके नए स्वरूप ‘जादुई यथार्थवाद’ में भी देखा जाता है।

जैसा कि लक्ष्य किया जा सकता है कि 'जादुई' शब्द का शाब्दिक और प्रचलित अर्थ 'यथार्थवाद' की प्रकृति से बिल्कुल भी मेल नहीं खाता है। जहाँ, 'यथार्थवाद' वास्तविकता तथा 'प्रत्यक्ष' को महत्त्व प्रदान करता है, वहाँ 'जादुई' शब्द ठीक इसके उलट अर्थ को ध्वनित करता है। 'जादुई यथार्थवाद' एक विशेष प्रकार की परिस्थिति में संक्रमित और जटिल होते जीवन को उसकी सम्पूर्णता में उकेरने की एक सचेत प्रक्रिया है, जिसे यथार्थवाद की किसी प्रचलित कोटि में रखना संभव प्रतीत नहीं हुआ। वैसे भी, जहाँ वर्चस्वशाली संस्कृति के द्वारा एक पराधीन समाज और संस्कृति की वास्तविकता पर झूठ का परदा डालने की साजिश हो रही हो; जहाँ साम्राज्यवादी विजेता शक्तियों के द्वारा पराधीन उपनिवेश बने समाज के अतीत को विकृत तथा भविष्य को अंधकारमय बनाने की कुचेष्टा की जा रही हो, वैसी संक्रान्तिकालीन जटिल परिस्थिति में यथार्थ अपने पूरे जादू (प्रभाव) में प्रकट होने के लिए 'यथार्थवाद' के प्रचलित स्वरूप के पार जाने की सुविधा ले ही सकता है। जादुई यथार्थवाद की कला उपन्यासों के जरिए दक्षिण अमेरिका के विभिन्न देशों के यथार्थ पर सायास डाले गए झूठ के परदे को निरावृत करने की प्रक्रिया में सचेष्ट होती हुयी देखी गयी।

'जादुई यथार्थवाद' के लिए अंग्रेजी में 'मैजिक रियलिज्म (Magic Realism) शब्द का प्रयोग होता है। डॉ. अमरनाथ लिखते हैं- "इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग का श्रेय (frauz Roh) को है जिन्होंने बीसवीं सदी के तीसरे दशक के कुछ जर्मन चित्रकारों के चित्रों का विश्लेषण करते हुए 'Megicher Realismus' शब्द का प्रयोग किया था। जादुई यथार्थवाद की अवधारणा पाँचवें दशक में अमेरिका में पहुँची।"⁶⁷ कहने का तात्पर्य यही है कि 'जादुई यथार्थवाद' की अवधारणा यूरोप की चित्रकला के माध्यम से साहित्य विशेषकर, उपन्यास साहित्य में आया है। और आज यह अपने प्रचलित रूप में खास तरह के उपन्यास साहित्य के लिए रूढ़ हो चुका है। डॉ. अमरनाथ इस संदर्भ में उद्धृत करते हैं -" धीरे-धीरे यह शब्द खास तरह के उपन्यासों के लिए प्रयुक्त होने लगा। 1940 में ऑस्ट्रियन उपन्यासकार जार्ज साइको (George Saiko, 1892-1962) ने जादुई यथार्थवाद की अवधारणा पर विस्तार से लिखा। इस प्रकार 1980 तक आते-आते यह शब्द एक खास तरह के उपन्यासों के लिए रूढ़ हो गया।"⁶⁸ 'जादुई यथार्थवाद' की दृष्टि से समन्वित उपन्यासों ने अपने परंपरागत ढाँचे को तोड़ने का प्रयास किया है। इस तरह के उपन्यासों में ..." अतीत और वर्तमान का, यथार्थ और भ्रम का, वास्तविकता, और

फैंटेसी का, ऐतिहासिक चेतना और मिथकीय चेतना का, अभिजात संस्कृति और जनसंस्कृति का ऐसा कलात्मक संयोजन था कि इन्हें यथार्थवाद की किसी प्रचलित कोटि में रखना संभव नहीं था। यही कारण है कि इनके लिए 'जादुई यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग किया गया।⁶⁹

उरुग्वे के लेखक एडुअर्डो गैलिनो ने साम्राज्यवाद की मदद से टिके हुए सैनिक और असैनिक तानाशाही के शासन में समाज की दशा की ओर इंगित करते हुए 'जादुई यथार्थवाद' की जरूरत और संभावना को प्रकट किया है। डॉ. अमरनाथ उनको उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि "मेरे देश में स्वतंत्रता का अर्थ है राजनीतिक कैदियों के लिए जेल ओर आतंक। भय पर टिकी शासन व्यवस्थाओं का नाम है जनतंत्र। यहाँ प्रेम अपनी मोटरगाड़ी से लगाव तक सीमित है और क्रांति का प्रयोग बर्तन धोने के पाउडर की तरह होता है। दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों में एक शांतिपूर्ण देश का मतलब है सुव्यवस्थित श्मशान और स्वस्थ आदमी की पहचान है नपुंसकता।"⁷⁰ जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि समाज की ऐसी जटिल और भयावह परिस्थिति में जहाँ वास्तविकता ऊपरी सतही-यथार्थ के नीचे दबी पड़ी हो, वहाँ यथार्थ को उकरने के लिए एक नए ढंग का संधान अकल्पनीय प्रतीत नहीं होता है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय भी इन परिस्थितियों में जादुई यथार्थवाद की संभावनाओं की वकालत करते हैं। डॉ. अमरनाथ ने उनको उद्धृत करते हुए लिखा है— "मैनेजर पाण्डेय सवाल करते हैं कि जहाँ समाज और जीवन की वास्तविकताएँ ऐसी हों, वहाँ उनकी अभिव्यक्ति क्या आलोचनात्मक यथार्थवाद या समाजवादी यथार्थवाद की पद्धति से संभव है, ऐसी वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति के लिए दक्षिण अमेरिका के उपन्यासकारों ने उपन्यास की वह कला विकसित की है, जिसे 'जादुई यथार्थवाद' कहा जाता है। यहाँ मिथक और परिकथाओं के माध्यम से वास्तविकता और सचाई की अभिव्यक्ति होती है। इन उपन्यासों में मिथकीय-चेतना ही ऐतिहासिक चेतना बन रही है और यथार्थ का जादू जादुई यथार्थवाद में प्रकट हो रहा है।"⁷¹ जिससे यहाँ 'यथार्थवाद' की मुख्य विशेषताएँ-कलाकार या लेखक का इतिहास चेतना सम्पन्न होना तथा यथार्थ को उसकी समग्रता में पकड़ना -एवम् उसका प्रभावी अंकन करना, ताकि परिवर्तनकारी इच्छाशक्तियों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सके, आदि बोध को भिन्न स्वरूप में अंतर्निहित होते हुए देखा जाता है। भले ही वह इतिहास-चेतना, मिथक या परिकथाओं के संज्ञान से यथार्थ को उसके पूरे जादू (प्रभाव) में अंकित करने से होता हो।

अतः समग्रता में विचार किए जाने पर यह कहा जा सकता है कि 'जादुई यथार्थवाद' की

चर्चा पश्चिम के साहित्य में जमकर हुयी है। किंतु भारतीय संदर्भ में खासकर हिंदी साहित्य में अभी भी इसका स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो सका है। किंतु, इसकी संभावनाओं से किसी साहित्यकार का कोई इन्कार नहीं है और ना ही इससे कोई गुरेज रखता है। यह, 'यथार्थवाद' संबंधी दृष्टि के गतिशील होने का एक तरफ परिचय देता है, तो दूसरी ओर 'यथार्थवाद' को नई शक्ति और संभावनाओं से आवेष्टित भी करता है।

अब यहाँ, यथार्थवाद के स्वरूप विश्लेषण की चर्चा को समग्रता में देखा-परखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि उक्त चर्चा से निष्कर्षस्वरूप कई बातें छनकर आती हैं। 'यथार्थवाद' अपनी विभिन्न प्रावस्थाओं में कई रूपों के अंतर्गत विवेचित-विश्लेषित होता है। यह कहीं रूपित होता है तो कहीं विरूपित। इसे कहीं जीवन समाज तथा मनुष्य के कुत्सित तथा वीभत्स पक्ष को अविकल प्रस्तुत करने वाले चित्रण के रूप में देखने-परखने की कोशिश होती है, जैसा कि इसके 'प्रकृतिवाद' (Naturalism) विश्लेषण के अंतर्गत होता है। तो कहीं, इसके खंडित पक्ष को मूलस्वरूप बताने की कोशिश होती है। जैसा कि, 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' के रूप में केवल मनुष्य के अंतर्गत को प्रमुखता प्रदान करते हुए बाह्य सत्ता को अस्वीकार करने की हठधर्मिता को यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति बताया जाता है। 'यथार्थवाद' को कभी रोमांटिकता के आग्रह से युक्त बताने की कोशिश में यथास्थितिवाद को बल प्रदान किया जाता है, तो कभी मनुष्य की स्वतंत्रता की आड़ में मनुष्य-जीवन को असंगतियों का पुंज बताया जाता है। यही नहीं, मनुष्य मन की मुक्ति हेतु अवचेतन मन की विवेकहीन ओर यथावत् प्रस्तुति को 'यथार्थवाद' का रूप दिया जाता है। जिसको उदाहरणस्वरूप अति यथार्थवाद संबंधी विवेचन के अंतर्गत लक्ष्य किया जाता है।

'यथार्थवाद' के स्वरूप संबंधी उक्त विश्लेषण में इसकी संभावनाओं की ओर भी इशारा मिलता है। जैसा कि 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' के अंतर्गत इतिहास तथा 'जादुई यथार्थवाद' के अंतर्गत मिथक और परीकथाओं के माध्यम से वास्तविकता को प्रभावी तरीके से व्यक्त करने की चेष्टा होती है। साथ ही, यथार्थवाद के गतिमान स्वरूप तथा इसकी संभावनाओं को झलकाने की कोशिश होती है। यहाँ, यह बात भी उभरकर आती है कि 'यथार्थवाद' के अंतर्गत यथार्थ यथास्थिति नहीं होता है। बल्कि, अपने मूल रूप में अर्थात् स्वभावगत वह आलोचनात्मक होता है। आलोचनात्मक यथार्थवादी रचनाकार इस वस्तुजगत को सम्पूर्णता में तथा बड़ी पैनी नज़र से देखता

है। जहाँ, कलाकार (रचनाकार) की सत्य के प्रति अटूट निष्ठा, समाज और जीवन का समग्र आकलन, उसके संश्लिष्ट यथार्थ का सूक्ष्म विश्लेषण, सांस्थानिक विकृतियों का निर्मम उद्घाटन, जीवंत तथा प्रतिनिधि चरित्रों के माध्यम से मनुष्य और समाज के अंतर्संबंधों का चित्रण तथा पूर्वाग्रहविहीनता के साथ युग संदर्भिता को उजागर करने आदि कुछ ऐसे पहलू होते हैं, जिन्हें यथार्थवादी कला-दृष्टि की उपलब्धियाँ कहा जाता है। 'यथार्थवाद' के स्वरूप -विश्लेषण के उक्त विवेचन में यह बात भी निकलकर आती है कि 'समाजवादी यथार्थवाद' 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की उपलब्धियों को अंगीसात् करते हुए उसे नई संभावना से आवेष्टित करता है। जहाँ, 'यथार्थ' की समग्रतापूर्ण दृष्टि पहचान में आती है। जहाँ, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वस्तुगत यथार्थ को पूरी समग्रता में देखने के साथ उस भविष्य का रूप भी उद्घाटित होता है जिसका जन्म वर्तमान के गर्भ से होना होता है। या जिसके बीज वर्तमान व्यवस्था में अंतर्भुक्त रहते हैं। अर्थात् जहाँ, वर्तमान अतीत और भविष्य की ऐतिहासिक अविच्छिन्नता लिए हुए उसकी एक कड़ी स्वरूप होता है। समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी चिंतन तथा यथार्थवादी कला का सर्वांगीण रूप प्रस्तुत करने वाली एक जीवंत धारणा बनकर उभरता है जिसकी संधि आलोचनात्मक यथार्थवाद से बड़ी गहरी होती है।

1.2.4 यथार्थवाद का उदय : पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ

'यथार्थवाद' का आज जो रूप है वह पश्चिमी जगत् की देन है। पश्चिम में साहित्यिक आंदोलन का आरंभ फ्रांस की सन् 1830 की क्रांति से जुड़ा हुआ है। इस संदर्भ में डॉ. सुरेश सिन्हा लिखते हैं— " यथार्थवाद का वास्तविक संबंध फ्रांस यथार्थवादी स्कूल से है, जिसका प्रथम प्रयोग 1835 में आदर्शवादी विचारधारा में विश्वास रखने वालों के विरुद्ध साहित्यिक विवरण के रूप में हुआ। बाद में 1856 ई. में एक पत्रिका 'रियलिज़्म' की स्थापना के पश्चात् इसका प्रयोग साहित्य में भी होने लगा था।"⁷²

उल्लेखनीय है कि 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जन्म लेने वाला स्वच्छंदतावादी आंदोलन अपनी उपादेयता और विशिष्टता को अधिक देर तक कायम नहीं रख पाता है। 19वीं सदी के मध्य तक आते-आते इसकी शक्ति क्षीण होती है। यथार्थवाद का प्रखर रूप इसे नेपथ्य में डाल देता है। इस संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र लिखते हैं— " दार्शनिक तथा वैज्ञानिक

निष्पत्तियों को अंतर्भूत करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से एक सशक्त साहित्यिक आंदोलन के रूप में यथार्थवाद का उद्भव हुआ।... यथार्थवादी आंदोलन के इस उद्भव ने परंपरा से साहित्य तथा कलाओं का अनुशासन करनेवाली भाववादी चिंतना को आघात पहुँचाया ही, स्वच्छंदतावादी साहित्य एवं कलाचिंतना को भी गत की वस्तु बना दिया।”⁷³ जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति के माहौल में उभरता हुआ यथार्थवादी आंदोलन निश्चय ही अपने तर्क उस विशेष जीवन-दृष्टि को समाहित किए हुए रहता है, जो तमाम भाववादी रुझानों को निरस्त कर डालता है। डॉ. प्रेमलता जैन इस संबंध में लिखती हैं— “ यथार्थवाद स्वच्छंदतावाद की तुलना में एक और कारण से विकसित होता गया। यह एक खुली सोच रखने वाला सिद्धांत है जिसने समय-समय पर नए-नए रूपों में अपना महत्त्व सिद्ध किया।”⁷⁴ जो इसके प्रगतिशील जीवन-दृष्टि का बोध कराता है। अपनी इसी जीवन-दृष्टि की बदौलत यह नाना रूपात्मक जीवन और जगत् को उसकी सम्पूर्णता तथा गतिशीलता में पकड़ते हुए अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है।

भारतीय साहित्यिक संदर्भ में ‘यथार्थवाद’ पश्चिम के बाद आता है। इस संदर्भ में 19वीं शताब्दी युगांतकारी सिद्ध होता है। इस शताब्दी में पुराने कई मूल्यों, मानदंडों, आदर्शों और परिस्थितियों के प्रति आक्रामक तेवर दिखलायी पड़ता है। इसीलिए “19वीं शताब्दी को विद्रोह की शताब्दी भी कहा जाता है।”⁷⁵ ध्यातव्य है कि इस विद्रोह को मध्यकालीन धार्मिक-सामाजिक रूढ़ परंपराओं को बदलने के क्रम में, भारतीय जनमानस पर थोपी जाने वाली पराधीनता से मुक्ति के रूप में तथा प्राचीन जीवन-दर्शनों के प्रति वैचारिक आलोड़न खड़ा करने के संदर्भ में लक्ष्य किया जाता है। जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्बन साहित्य में भी होता है। इसी कारण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का साहित्य नवजागरण कालीन साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है। बीसवीं शताब्दी में यह नवजागरण नवीन बौद्धिक और वैचारिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है, जो भारतीय चिंतन और साहित्य में गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित करता है। इसके साथ-साथ रूस की 1917 की क्रांति, मार्क्स एंगेल्स के सिद्धांतों का प्रसार, डार्विन का विकासवाद आदि साहित्य में ‘यथार्थवाद’ के प्रति ठोस एवम् वैज्ञानिक चेतना को उत्पन्न करता है। हिंदी के मूर्धन्य साहित्यकार व विचारक यशपाल इस संदर्भ में पर्याप्त प्रकाश डालते हैं— “ हमारे देश में यथार्थवाद के प्रति विशेष चेतना और आधुनिक साहित्य में यथार्थवाद के लिए मॉग 1930-35 में उग्र रूप ले लेने वाली राजनीतिक

चेतना से आरंभ हुयी और यही वह समय था जब देश के साहित्यिकों ने श्रेणी-संघर्षों द्वारा समाज की विकास प्रक्रिया के सिद्धांतों का परिचय दिया।⁷⁶ इस उद्धरण में साफ देखा जा सकता है कि यशपाल यथार्थवाद की साहित्यिक चेतना को बुलंद राजनीतिक चेतना या आलोड़न के साथ जोड़ कर देखते हैं। वैसे भी, एक पराधीन राष्ट्र में विवेकसम्मत चेतना पहले अपनी स्वाधीनता की ही माँग करती है। किंतु, यह स्वाधीनता अपने जीवन-जगत् तथा वहाँ उपस्थित नाना रूपात्मक समस्याओं से रू-ब-रू होकर ही आर्जित की जा सकती है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता का प्रश्न ठोस वास्तविक जगत् की अन्य समस्याओं और संघर्षों के साथ हिंदी कथा-साहित्य में एक स्वर के रूप में बुलंद होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यथार्थवाद की साहित्यिक निष्पत्ति प्रथमतः फ्रांस के साहित्यिक चिंतकों द्वारा होती है। जो भाववादी तथा आदर्शवादी समस्त रुझानों को नेपथ्य में डाल देती है। यह स्वच्छंदतावादी साहित्यिक अनुशासन को भी निरस्त करती हुयी एक प्रखर जीवन-दृष्टि के रूप में अपनी पहचान बनाती है। भारतीय संदर्भ में, यह आधुनिकता की विवेकपूर्ण-दृष्टि से सम्पन्न नवजागरण कालीन चेतना तथा बुलंद राजनीतिक चेतना के राष्ट्रीय स्वर के रूप में आती है तथा कथा-साहित्य जगत् में पूरी तरह छा जाती है।

1.3 यथार्थ और मार्कण्डेय

उल्लेखनीय है कि कहानीकार, विचारक, एवम् आलोचक मार्कण्डेय ने स्वतंत्र रूप में एक ग्रंथकार की भाँति, 'यथार्थ' संबंधी किसी पुस्तक का प्रणयन नहीं किया है तथापि उनकी छिटपुट टिप्पणियाँ तथा कहानियों से जुड़ी बातें ऐसी हैं, जिन्हें सम्मिलित रूप में अर्थात् समग्रता में अवलोकित किया जाए तो उनकी यथार्थ संबंधी धारणा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

'यथार्थ' के संबंध में उनकी सर्वप्रथम बात यह है कि वे साहित्य को विशेषकर कथा-साहित्य को यथार्थ से अपरिहार्य रूप में जुड़ा हुआ पाते हैं। वे कहानियों के यथार्थपरक होने की बात बार-बार दुहराते हैं। अर्थात् एक से ज्यादा मौकों पर वे इस बात को प्रतिष्ठित करते हुए नजर आते हैं कि यथार्थ के विविध संदर्भों में ही कहानी की जीवंत शकल दिखायी देती है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं—“कहानी जीवन की कला है, उसके बाह्य और अन्तर को बहुत दूर तक झुठलाना भी संभव नहीं है। इसलिए जब हम नये जीवन सत्यों की बात करते हैं और उसे कहानी के संदर्भ

में ढूँढते हैं तो यथार्थ जीवन के प्रकाश में उसका मानदण्ड भी ढूँढना होगा।⁷⁷ जिसका साफ मतलब यह होता है कि कहानी जीवन की कला है। अर्थात् जीवन की वास्तविकताओं के आलोक में सिरजी गई कलात्मक विधा। वे कहानी को व्यापक लक्ष्य से जुड़ा हुआ बताते हैं। यहाँ नए जीवन सत्यों का कहानी द्वारा वहन करने की बात से उक्त तथ्य की ओर ही इशारा होता है। यही नहीं, वे तो कहानी के निर्माण के साथ-साथ उसके मूल्यांकन हेतु भी 'यथार्थ' को एमकात्र कसौटी के रूप स्वीकार करने की वकालत करते हैं।

ध्यातव्य है कि मार्कण्डेय कहानी लेखन के क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व उसकी परंपरा से अवगत हो चुके होते हैं। वे 'कथा' से कहानी के अलगाव को भी भली-भाँति देखे हुए होते हैं। तभी वे यथार्थ रूपी प्रस्थान बिंदु को बेहतर समझते हुए उसे साहित्य के प्रति कलाकार का आधुनिक दृष्टिकोण मानते हैं। उनका यह कहना—“स्पष्टतः जहाँ यथार्थवादी मान्यताएँ सामान्य जीवन के अंतमार्ग से सत्यों की खोज की माँग करती हैं, वहीं हमारा प्राचीन साहित्य नैतिक मूल्यों के द्वारा जीवन का भाष्य उपस्थिति करता है”⁷⁸ इस बात पर बल देता है कि आधुनिक कहानी को यथार्थवादी मान्यताएँ ही प्राचीन साहित्य के आदर्शपरक मूल्यों तथा नैतिक भाष्यों से विमुक्त कर उसे जीवन के वस्तुगत संदर्भों से जोड़ देती हैं। वे इस प्रसंग में आगे कहते हैं—“इसलिए नवीन जीवन-संदर्भों को कथा से अलग करके देखना एक भूल है। एक तो इसलिए कि जीवन-संदर्भ कथा की आधारभूमि है, वैसे ही जैसे किसी चित्र के लिए तूलिका, रंग और कैनवस।”⁷⁹ जिससे यह पता चलता है कि वे आधुनिक कहानी की यथार्थ से सम्पृक्ति को अनिवार्य और अपरिहार्य समझते हैं। यहाँ इस बात को भी समझा जा सकता है कि वे नवीन जीवन-संदर्भों की बात कहते हुए यथार्थ के गतिमान स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। जिसका साफ अर्थ यह भी होता है कि वे यथार्थ को यथास्थिति भर या उसे जड़ स्वरूप में देखने का पुरजोर विरोध करते हैं। अपितु यहाँ उनका मतलब जड़ यथार्थ अर्थात् यथास्थिति से पार जाने की अकुलाहट में दिखायी देता है। यही अकुलाहट उन्हें यथार्थ को कलात्मक रूप प्रदान करने की ओर उन्मुख करती है—“मेरे लिए कहानी लिखने की बात यहीं से उठी। मात्र अनुभवों की अंधी गली में मेरा मन कभी रमा ही नहीं और हर बार, हर नए जीवनानुभवों के साथ एक नया प्रश्न उठने लगा। मान्यताओं और आडम्बरों से ऊबकर यथास्थिति के विरुद्ध कुछ कहने की अकुलाहट ही शायद मेरे लिखने का कारण बनी।”⁸⁰ जिससे जाहिर होता है कि यथार्थ का परिवर्तित स्वरूप ही इन्हें अपनी कहानियों के लिए वरेण्य मालूम पड़ता है।

वे यथार्थ को एक परिवर्तनकारी मूल्य के रूप में देखते हैं। वे यथार्थ संबंधी अपनी निजी धारणा में उसे एक कलात्मक जीवन-दृष्टि के रूप में इसलिए भी स्वीकारते हैं, क्योंकि वे साहित्य को यथार्थ (वस्तुगत जीवन-संदर्भों) की अनुकृति नहीं मानते हैं। और ना ही साहित्य को उसका प्रतिबिंब समान समझते हैं, जिसे दर्पण हू-ब-हू पेश करता है। दूसरे अर्थों में समझा जाए, तो वे यथार्थ को प्रकृतवाद से भिन्न स्वरूप में ग्रहण करते हैं। उनका यह कहना—‘आज की कहानी अपने बाह्य और आंतरिक दोनों उपकरणों में सचेत रूप से समाज के वस्तुगत संदर्भों की प्रतिलिपि है, लेकिन वह प्रकृतवादी नहीं है’⁸¹ उक्त तथ्य को ही पुष्ट करता है। यहाँ लक्ष्य किया जाए तो, उनका अपने इस कथन में ‘सचेत’ शब्द का व्यवहार यथार्थ का साहित्य में हू-ब-हू प्रतिलिप्यांतरित न करने तथा प्रकृतवाद सदृश्य न समझे जाने के अर्थ में ही व्यक्त होता है।

यही नहीं, वे यथार्थ से संबंधित अपनी निजी धारणा में उसे किसी भी प्रकार के रोमान से अलग देखते हैं। उनकी दृष्टि में यथार्थ (सामाजिक वस्तुगत संदर्भों) के साहित्यिक प्रत्यांकन के संदर्भ में रोमानी दृष्टिकोण यथार्थ की शक्ति को कुंठित करता है। वे ऐसा समझते हैं कि रोमानी भावबोध सामाजिक जीवन की वस्तुपरकता को काल्पनिक चादर से आच्छादित कर लेता है और यथार्थ का गतिमान स्वरूप अभिव्यक्त होने से वंचित रह जाता है। प्रेमचंद के बाद और ‘नयी कहानी’ के पहले के कथाकार के संदर्भ में वे इस तथ्य को उजागर करते हैं— “प्रगतिशील कथाकारों का रोमानी यथार्थवाद आजादी के साथ और भी फीका पड़ गया। वे नयी परिस्थितियों के मूल्यांकन में चूक गए थे और नई वास्तविकता की उपेक्षा कर कल्पनिकता की सृष्टि कर रहे थे।”⁸² जिसका स्पष्ट मतलब यह निकलता है कि वे यथार्थ के बरक्स ‘रोमानी यथार्थवाद’ जैसे किसी पदबंध को स्वीकृति नहीं प्रदान करते हैं। वे इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रोमानी यथार्थवाद की प्रकृति आदर्शवाद के साम्य में है, जिसके मूल में ‘यथार्थ’ का विरोध अंतर्व्याप्त रहता है—“ बाहर से देखने में लगता है कि रोमानी यथार्थवाद और आदर्शवाद में बड़ा अन्तर है और प्रायः इस कालविशेष में सारा लेखक समुदाय इन्हीं दो खेमों में बँटा रहा और एक दूसरे पर तीखे प्रहार भी करता रहा, लेकिन रचना प्रक्रिया के विश्लेषण द्वारा देखा जाए तो इन दोनों की रचनात्मक ग्रहणशीलता में अद्भुत साम्य है। दोनों के आदर्श रचना से बाहर हैं और दोनों रचना की देह का सृजन कल्पना द्वारा इस तरह करना चाहते हैं कि वह उनकी बाह्य मान्यताओं की मांग पूरी कर सके। सामाजिक संदर्भों से उत्पन्न वास्तविकता और रचनाकार की उससे सम्पृक्ति का सवाल मैंने

इन गोष्ठियों में बार-बार उठाया है और उस समय के क्रांतिकारियों तथा व्यक्तिवादियों की रचना-प्रक्रिया के मूल को उद्घाटित कर दोनों में निहित गहरी समानता को लोगों के सामने रखने की बार-बार कोशिश की।”⁸³

यहाँ प्रमुख रूप से दो बातें उभरकर आती हैं। पहली, रचनाकार का यथार्थबोध समाजिक संदर्भों से उत्पन्न वास्तविकता से सम्पृक्त होने में निहित रहता है। दूसरी, ऊपरी तौर पर यह प्रतीत होता है कि यथार्थ के साहित्यिक प्रत्यांकन में कल्पना की भूमिका खारिज हो जाती है, किन्तु वास्तविकता कुछ और होती है। मार्कण्डेय ‘कल्पना’ की भूमिका को पूरी तरह खारिज नहीं करते हैं बल्कि उसे नई अर्थवत्ता प्रदान करने की वकालत करते हैं। वे इस संदर्भ में लिखते हैं— “...आधुनिक युग में सभी जागरुक कथाकारों के लिए कहानी कल्पना की बुनावट न होकर जीवन यथार्थ का अंग बन गई है।...पहले लेखक कल्पना से कहानी गढ़ता था पर अब कल्पना से उसमें रंग भरता है—यथार्थ को और भी चटख और प्रभावशाली बनाता है।”⁸⁴ जिससे समझा जा सकता है कि उन्हें कल्पना उस हद तक ही वरेण्य है जिस हद तक वह यथार्थ-चित्रण को प्रभावशाली बनाने की भूमिका का निर्वहन करती है। उनकी यथार्थ की अपनी निजी धारणा में कल्पना की उक्त नई भूमिका गहरे अर्थ रखती है, क्योंकि इसी कारण साहित्य यथार्थ की प्रतिलिपि बनने से बच जाता है।

उल्लेखनीय है कि वे यथार्थ को एकांगी करके नहीं देखते हैं। वे यथार्थ में वर्तमान की केन्द्रीयता देखते हुए उसे अतीत और भविष्य की अविच्छिन्नता में पहचानने पर बल देते हैं। इसी कारण उनकी यथार्थ-दृष्टि यथार्थ को यथास्थिति की एकांगिता के पार देखती है। वे अपने लेखन के संदर्भ में, बल्कि यँ कहा जाए कि वे अपनी रचना-प्रक्रिया के अनन्तर अपने भीतर और बाहर के यथास्थितिवाद से बार बार मुठभेंड़ करते हैं तथा वास्तविकताओं के मध्य से परिवर्तनकामी शक्तियों की पहचान करने हेतु अग्रसर रहते हैं। उनकी उक्त बेचैनी को उनके निम्न कथन में पढ़ा जा सकता है—“लेकिन बेचैनी तो इस बात की है कि परिवर्तन की वह सूक्ष्म और शतमुखी गति, समय के नन्हें-से-नन्हें क्षणांश में कैसे लक्षित की जाए कि परिवर्तन की दिशा हमेशा दिखायी देती रहे। मेरे लिए रचनात्मक प्रक्रिया का सत्य इसी आत्म-संघर्ष का परिणाम है ...क्योंकि जो दिखाई पड़ता है, उसे स्वीकार करते हुए भी उसी को पूर्ण सत्य मान लेने का अर्थ है अपनी दृष्टि को सर्वथा मौलिक, परिशुद्ध तथा स्थिर मान लेना, साथ ही यह स्वीकार कर लेना कि जीवन वैसा ही रहेगा,

जैसा दिखाई पड़ रहा है।⁸⁵ यहाँ यह समझने में देर नहीं लगती है कि उनके लिए यथार्थ एक परिवर्तनकामी दृष्टि भी है, जो यथास्थिति के पार जाने की तीव्र इच्छा लिए हुए रहती है।

इसी संदर्भ में, वे वर्ग-संघर्ष को भी महत्व प्रदान करते हैं। किंतु, उनका यह वर्ग-संघर्ष ठोस सामाजिक जीवन-संदर्भों की संश्लिष्टता की पहचान पर अवलंबित रहता है— “कथा में वास्तविकताओं के चित्रणों की यह सर्वथा नयी यात्रा थी जिसका अभिप्राय वर्ग-संघर्ष की जनचेतना तक पहुँचना था। ऐसे सोये हुए आडम्बरो और रूढ़िग्रस्त समाज में जहाँ हीनता, अपमान और यातना को मनुष्य की नियति बना दिया गया हो, वास्तविकतावादी कथाकार की सबसे पहली मुठभेंड़ इस दैवी सामाजिक ढाँचे से होती है। अर्थवाद ओर स्वभाववाद का खतरा तो बाद में आता है। मैंने बहुत गहराई से अपने सामाजिक संदर्भों की छानबीन की ओर सांस्थनिक रूढ़ियों को समझने का प्रयत्न किया। मेरे सामने समस्या थी कि अपने कथा-संदर्भों को मैं किस तरफ से शुरू करूँ कि भीतर के यथास्थितिवाद और बाहर के रोमान से बचकर वास्तविकताओं तक पहुँच सकूँ।”⁸⁶ यहाँ, यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि उनके लिए उनकी रचनात्मक यात्रा यथार्थ के ऊपरी या सतही स्तर तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि सामाजिक जीवन के वास्तविक संदर्भों की तह में प्रवेश करती है, और आलोचनात्मक तरीके से उन पहलुओं को उद्घाटित करती है, जो वास्तविकता के उजागर होने में बाधक बनी रहती हैं। मार्कण्डेय की धारणा में यथार्थ का स्वरूप आलोचनात्मक ठहरता है। वे स्वयं भी इस बात को स्वीकार करते हैं और उसे अपने कहानी-लेखन में ढालने की कोशिश करते हैं। वे इसी ‘आलोचनात्मक यथार्थ’ की राह से गुजरते हुए ‘समाजवादी यथार्थवाद’ की मंजिल तक पहुँचने की प्रक्रिया को न सिर्फ खुद के लिए उपयुक्त समझते हैं, बल्कि नए रचनाकार के लिए भी स्वाभाविक क्रम मानते हैं— “आलोचनात्मक यथार्थ की जिन अवधारणाओं के कारण मैंने लेखन शुरू किया था सामाजिक संदर्भों में उसे विकसित करते रहने के लिए मैंने अपनी निजी जीवन परिस्थितियों को सदा उसके अनुकूल बनाए रखा।”⁸⁷ जिससे यह समझा जा सकता है कि उनके अनुसार आलोचनात्मक यथार्थ के रचनाकार के लिए जीवन-संघर्षों के रहस्यों का समझना बेहद जरूरी है। अर्थात् ठोस सामाजिक संदर्भों का ऐतिहासिक परिज्ञान अति आवश्यक है। इसी पथ पर अग्रसर होते हुए उनका कहानीकार समाजवादी दृष्टि को आत्मसात् करता है। दूसरे शब्दों में, वे आलोचनात्मक यथार्थ की परिणति या संगति समाजवादी यथार्थ में मानते हैं— “यह सच है कि भारतीय समाज की रचना का कोई भी जानकार सहसा समाजवादी यथार्थ की माँग नए लेखक से

नहीं कर सकता । ऐसा करना ऐतिहासिक विकास की समझदारी को नकारना होगा।”⁸⁸ यहाँ जाहिरा तौर पर यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक समझदारी से उनका अभिप्राय यथार्थ के आलोचनात्मक स्वरूप के संज्ञान से है और एक नवोदित रचनाकार के लिए उसकी यथार्थ-यात्रा आलोचनात्मक राह से गुजरकर ही समाजवादी परिणति तक पहुँचती है।

अतः समग्रता में विचार किए जाने पर मार्कण्डेय की यथार्थ-धारणा के निम्नलिखित पहलू उद्घाटित होते हैं। पहला, यथार्थ उनके लिए कहानियों का प्राणतत्त्व है। उनकी दृष्टि में यथार्थ की विद्यमानता कहानियों को कालजयी गुणों से सित्त करती है। उनके मतानुसार आधुनिक कहानी ‘यथार्थ’ रूपी बिंदु पर पहुँचकर ही प्राचीन साहित्य (नीतिपरक तथा आदर्शपरक कथाओं) के नैतिक भाष्यों से निर्लिप्त होती है एवम् नए जीवन-सत्यों को वहन करने योग्य बन पाती है। दूसरा, वे यथार्थ की कसौटी या मानदण्ड पर या उसके आलोक में, कहानी विधा के रचना और आलोचना दोनों रूपों को परखने की हिमायत करते हैं। तीसरा, वे यथार्थ को ‘ठहरे या बसियाये’ हुए रूप में न देखकर उसके गतिमान और परिवर्तित स्वरूप को महत्त्व देते हैं। चौथा, वे यथार्थ को उसकी वस्तुपरकता के संश्लिष्ट रूप में ग्रहण करने की बात करते हैं। पाँचवा, वे यथार्थ के प्रत्यांकन के संदर्भ में काल्पनिक या रोमानी दृष्टिकोण को अस्वीकृत करते हैं। अर्थात् वे ‘यथार्थ’ को ‘प्रकृतवाद’ की धारणा से अलग कर देखते हैं। परंतु, वे ‘कल्पना’ की नई भूमिका को ‘यथार्थ’ को प्रभावशाली बनाने के संदर्भ में स्वीकार करते हैं। छठवाँ, वे यथार्थ की वर्तमानता को महत्त्व प्रदान करने के बावजूद उसे उसके अतीत और भविष्य की ऐतिहासिक संश्लिष्टता में पहचानने की हिमायत करते हैं। इसी कारण वे यथार्थ को आलोचनात्मक स्वरूप से समाजवादी स्वरूप की ओर बढ़ने के क्रम में देखते हैं। सारतः उनकी यथार्थ -धारणा आलोचनात्मक यथार्थ की उपलब्धियों को आत्मसात् करती हुए समाजवादी यथार्थ की संगति को प्राप्त करती है एवम् अपनी पहचान कायम करती है, अपनी अर्थवत्ता प्रमाणित करती है।

इस प्रकार देखा जाए तो प्रस्तुत अध्याय के समस्त विंदुओं के विवेचन-विश्लेषण के तदुपरान्त निष्कर्ष स्वरूप कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, यथार्थ के मायने को लेकर होती है। यथार्थ का संबंध प्रत्यक्षतः वस्तु जगत् से होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों के बोध का विषय है, जो प्रामाणिक और तथ्यपरक होता है। दूसरी, ‘यथार्थवाद’ शब्द ही यथार्थ को एक व्यापक फलक से जोड़ता है। यथार्थवाद की अवधारणा के अन्तर्गत ही यथार्थ का प्रकृति स्पष्ट होती है। तीसरी, यथार्थ का

दर्शन और कला जगत् से जुड़ी परिघटना का रूप है। कला और दर्शन में अपनी पहचान बनाने वाली यथार्थ की धारणा पश्चिमी जगत में हुयी प्रदीर्घ चिंतना की देन है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'यथार्थवाद' यथार्थ संबंधी बहस को अपने केन्द्र में लाता है। चौथी , यथार्थवाद के स्वरूप से संबंधित है। जहाँ, यह देखा जाता है कि यथार्थवाद अपनी विभिन्न प्रावस्थाओं में विवेचित होने के क्रम में कहीं रूपित होता है तो कहीं विरूपित भी। जहाँ, यथार्थवाद का प्रकृतवाद के अर्थ में विरूपण होता है, अतियथार्थवाद के रूप में इसका खंडित अर्थ लगाया जाता है। वहीं, 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के रूप में 'यथार्थ' अपनी संभावनाओं को पेश करता है। जिसकी उपलब्धियाँ 'सामाजिक यथार्थवाद' से जुड़कर 'यथार्थ' को एक सर्वांगीड़ रूप प्रदान करती हैं। पाँचवी, 'यथार्थवाद' के उदय के परिप्रेक्ष्य से जुड़ी है। मनुष्य की प्रत्यक्षदर्शी बुद्धि ही यथार्थवाद को पश्चिमी जगत् में एक बौद्धिक गुण के रूप में स्थापित करती है। 19 वी शताब्दी के मध्य में यथार्थवाद दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त समस्त भाववादी रुझानों को निरस्त करता हुआ अपनी पहचान कायम करता है। हिंदी साहित्य जगत् में भी यथार्थवाद अपनी उपस्थिति सन् 1930-35 के आस-पास नवजागरण कालीन चेतना तथा राष्ट्रीयता के स्वरो के साथ जुड़कर कायम करता है। छठवीं, यथार्थ के गतिमान मूल्य की है। मार्कण्डेय का कहानीकार यथार्थ के गतिमान स्वरूप की चर्चा करता है। यथार्थ को कलापूर्ण जीवनदृष्टि तथा पद्धति दोनों रूपों में विवेचित-विश्लेषित करता हुआ उसे असीम संभावनाओं से युक्त करता है। यथार्थ अपने गतिमान तथा लचीले स्वरूप के कारण ही सांप्रतिक जीवन-संदर्भों की जटिलताओं तथा संश्लिष्टताओं को पकड़ पाने में सक्षम होता है। जिसका स्पष्ट प्रमाण यथार्थ का 'जादुई यथार्थवाद' के स्वरूप के रूप में उभरना होता है। जहाँ, मिथक और परीकथाओं के माध्यम से सामाजिक जीवन के वस्तुगत संदर्भों का प्रभावी (जादुई) प्रत्यांकन संभव हो पाता है। कहना न होगा कि 'यथार्थ' की दृष्टि में नित नयी संभावनाओं के तत्त्व व्यापत होने के कारण ही यह आज भी साहित्य, मुख्य रूप से कथा-साहित्य से अपरिहार्य रूप में जुड़ा है। यही वजह है कि हिंदी कहानियाँ भी यथार्थ-दृष्टि में ही अपनी संभावनाओं को तलाशती हुयी सतत प्रयत्नशील दिखायी देती हैं।

संदर्भ-सूची

1. हिन्दी शब्द सागर, खण्ड 1, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1965, पृ. 320
2. वैशेषिक दर्शन में मन एक अप्रत्यक्ष द्रव्य माना गया है। संस्था, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार इसके गुण बतलाएँ गए हैं और इसे अणुरूप माना गया है। इसका धर्म संकल्प-विकल्प करना बताया गया है तथा इसे उभयात्मक लिखा है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के धर्म हैं। योगशास्त्र में इसे चित्र कहा गया है। बौद्ध आदि इसे छठी इंद्रिय मानते हैं। (हिन्दी शब्द सागर, खण्ड 8, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1965 पृ. 3775)
3. वेदान्तसार के अनुसार अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं— मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को मन, निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि और इन्हीं दोनों के अंतर्गत अनुसंधनात्मक वृत्ति को चित्त और अभिमानात्मक वृत्ति को अहंकार कहते हैं। पंचदशी में इन्द्रियों के नियंता मन ही को अन्तःकरण कहते हैं। आंतरिक व्यापार में मन स्वतंत्र है, पर बाह्य व्यापार में इन्द्रियाँ परतंत्र हैं। पंचभूतों की गुण समष्टि से अन्तःकरण उत्पन्न होता है— जिसकी दो वृत्तियाँ हैं मन और बुद्धि। मन संशयात्मक और बुद्धि निश्चयात्मक है। (हिन्दी शब्द सागर, खण्ड-8, काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 1965, पृ. 1530)
4. उद्धृत, पाटील, रेखा वसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय मथुरा, संस्करण 2005, पृ. 119
5. उपरिवत्, पृ. 119
6. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-1994, पृ. 12
7. फास्ट, हावर्ड, साहित्य और यथार्थ (अनुवाद: सुषमा विजय), अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली संस्करण: 1993, पृ.17
8. कड्डन, जे.ए.ए., डिक्शनरी ऑफ लिटरेरी टर्म्स, इंडियन बुक कम्पनी, 36 सी कनाटप्लेस, नयी दिल्ली तथा आन्द्रे दारेन्स लि. 105 ग्रेट रसेल स्ट्रीट, लंदन, डबल्यू.सी. आई. 1977, पृ. 542
9. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 19

10. उपरिवत्, पृ.20
11. उपरिवत्, पृ. 18
12. उपरिवत्, पृ.19
13. पाटील, रेखा बसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण - 2004, पृ.124
14. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 230
15. शर्मा, डॉ. सुरेश (संपादक), 'यथार्थ यथास्थिति नहीं', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1994, पृ. 136
16. वर्मा, डॉ. रामचन्द्र (संपादक), मानक हिंदी कोश, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण वर्ष-1965, पृ. 435
17. उद्धृत, पाटील, रेखा वसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण -2004, पृ.142
18. उपरिवत्, पृ.134
19. उद्धृत, जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2004, पृ.15
20. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण-2009, 'आमुख'
21. उपरिवत्, पृ. 17
22. उद्धृत, जैन, डॉ. प्रेमलता समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 17-18
23. उपरिवत्, पृ.18
24. उपरिवत्, पृ.19
25. उपरिवत्, पृ.18
26. उपरिवत्, पृ.121
27. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण दीपावली 2010 वि., पृ. 231

28. मिश्र, डॉ. सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2003, पृ. 329
29. उपरिवत्, पृ. 329
30. वर्मा, निर्मल तथा गोयनका, कमल किशोर, प्रेमचंद रचना संचयन, साहित्य अकादेमी नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 690
31. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 58-59
32. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण- दीपावली 2010 वि., पृ. 543-544
33. वर्मा, निर्मल तथा गोयनका, कमल किशोर, प्रेमचंद रचना संचयन, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 691
34. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण- दीपावली 2010 वि., पृ. 146-147
35. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 44
36. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण- 1966, पृ. 182
37. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 44
38. मिश्र, डॉ. सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2003, पृ. 336-337
39. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण- 1966, पृ. 183
40. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 46-47
41. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम

संस्करण- 1966, पृ. 184

42. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद,(भूमिका से उद्धृत), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली , प्रथम संस्करण- 1994

43. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009, पृ. 54-55

44. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद,(भूमिका से उद्धृत), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली , प्रथम संस्करण- 1994

45. उद्धृत, पाटील, रेखा बसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण -2005, पृ 125

46. उपरिवत्, पृ.134

47. जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 24

48. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण- दीपावली 2010 वि., पृ.38

49. उपरिवत्, पृ.39

50. उद्धृत, माली, प्रा. रामचन्द्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थबोध, अमन प्रकाशन रामबाग, कानपुर, प्रथम संस्करण- 1997, पृ. 32

51. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण- 1966, पृ.176

52. उपरिवत्, पृ.177

53. उपरिवत्, पृ.179

54. मिश्र, डॉ. सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2003, पृ.338

55. उपरिवत्, पृ.339

56. उपरिवत्, पृ.341

57. उपरिवत्, पृ.342

58. उपरिवत्, पृ.343
59. जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 25
60. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009, पृ. 68
61. उपरिवत्, पृ.79-80
62. उपरिवत्, पृ.71
63. उपरिवत्, पृ.71
64. उपरिवत्, पृ.70
65. उपरिवत्, पृ.68
66. उपरिवत्, पृ.69
67. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009, पृ. 228
68. उपरिवत्, पृ.288
69. उपरिवत्, पृ. 229
70. उपरिवत्, पृ.229
71. उपरिवत्, पृ.229
72. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल-संवेदना, भारतीय ग्रंथ-निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1966, पृ. 159
73. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 22
74. जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -2004, पृ.21
75. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ.169

76. उद्धृत, जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 33
77. मार्कण्डेय, कहानी की बात, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- 1984, पृ. 12
78. उपरिवत्, पृ.13
79. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 प्रथम संस्करण- 2002, भूमिका, भूदान (कहानी-संग्रह), पृ. 250
80. 'कथा', अंक-15, मार्च 2011, पृ. 217
81. मार्कण्डेय, कहानी की बात, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद- प्रथम संस्करण-1984, पृ. 13
82. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2008, भूमिका,
83. 'कथा', अंक-15, मार्च 2011, पृ. 219
84. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2002, भूमिका, हंसा जाई अकेला (कहानी-संग्रह), पृ. 185
85. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण 2002, भूमिका, सहज और शुभ (कहानी-संग्रह), पृ. 400
86. 'कथा', अंक-15, मार्च 2011, पृ. 221
87. उपरिवत्, पृ. 222
88. उपरिवत्, पृ.223

द्वितीय अध्याय
हिंदी कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थः
विकास और परंपरा

हिंदी कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ: विकास और परंपरा

हिन्दी कहानी के सतत प्रवाह में यथार्थ का फलक उसे एक नई पहचान देता है। ग्रामीण जीवन-यथार्थ का संदर्भ, हिन्दी कहानी की विकास-परंपरा में विभिन्न स्वरों के साथ उज्जीवित होता है। यहाँ उसे समग्रता में ग्रहण करने हेतु यथार्थ से हिंदी कहानी की सम्पृक्ति तथा उसके प्रवाह-चरणों को विस्तार में समझने की आवश्यकता है।

2.1 यथार्थ और कथा-साहित्य

कथा-साहित्य आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा है। आधुनिक जीवन की जटिलताओं एवम् विसंगतियों को कथा-साहित्य विशेषकर उपन्यास और कहानियाँ दूसरी अन्य विधाओं की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापकता और गहराई के साथ व्यक्त करती हैं। हावर्ड फास्ट लिखते हैं- ब्रांड ट्वाइलाक इसी अर्थ में कथा-साहित्य को गैर कथा-साहित्य से सच्चाई के अधिक करीब कहा था। गैर कथा-साहित्य दस्तावेजों, पाद टिप्पणियों, उद्धरणों, तथ्यों, दिए गए वक्तव्यों, आँकड़ों पर अधिक निर्भर करता है। इसके विपरीत कथा-साहित्य एक या अन्य नाटकीय उद्यमों में पाठक की व्यक्तिगत भागीदारी की माँग करता है। उसमें अंतर्विरोधों की सृष्टि होती है, उन्हें सुलझाने के लिए नायक आगे बढ़ते हैं तथा पाठक इन संघर्षों में हिस्सेदार बनता है। एक कथाकार की कथा का सबसे बड़ा राज इसमें निहित है कि पाठक उसमें भागीदार है। उसकी क्षमता इसमें है कि वह अपने द्वारा निर्मित नाटकीय स्थिति में पाठक को खड़ा कर दे।¹ जिसका तात्पर्य यह है कि कथा-साहित्य में लेखक की भागीदारी (उसका जीवन बोध और अनुभव), पाठक का परिप्रेक्ष्य तथा समाज की जटिलताएँ सब-कुछ मिलकर एक व्यापक फलक का निर्माण करती हैं। इसी में उसकी कला की महनीयता छिपी रहती हैं। इसी कारण लेखक से विराट अपेक्षाएँ होती हैं। इसी संदर्भ में हावर्ड फास्ट लिखते हैं-“यह उनका काम है कि वे जनता को यथार्थ की प्रकृति संप्रेषित करें। उसी में उनकी कला और महानता है।”²

कथा-साहित्य की लोकप्रियता का एक सबब उसका यथार्थ के प्रति स्पष्ट रुझान है। ‘यथार्थ की पकड़’ रूपी विंदु पर ही आकर एक कथाकार की कृति कालजयी गुणों को प्राप्त करती हैं। इसलिए भी कोई इससे असम्पृक्त रहना नहीं चाहता है। क्योंकि, कथाकार यह समझता है कि इसके बिना सार्थक और सच्ची कला का निर्माण शायद ही संभव हो। इस प्रसंग में हावर्ड फास्ट

बल देते हुए कहते हैं, “कोई भी व्यक्ति आज के व्यापक सर्वग्राही यथार्थ से अछूता नहीं रह सकता और कोई भी लेखक इस व्यापक यथार्थ की पकड़ के बिना व्यक्ति चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सकता।”³ वे कहते हैं कि “दुनिया की सारी महान, टिकाऊ स्थाई कला हमेशा यथार्थ का प्रतिबिंबन रही है; कलाकार की प्रतिभा में संश्लिष्ट और परिवर्तित होकर।”⁴ जिससे समझा जा सकता है कि कथा-साहित्य के लिए यथार्थ कितना मायने रखता है ।

अतः किसी के लिए भी कथा-साहित्य की राह गुजरने से पहले यथार्थ की बेहतर समझ जरूरी हो जाती है, क्योंकि “कथा, उसका संबंध उपन्यास जैसी विधा से हो या कहानी जैसी विधा से, जीवन से सीधी जुड़ी रहने के नाते अपने सीमित या विशद परिप्रेक्ष्य में यथार्थ के बिना जीवित ही नहीं रह सकती। चित्रण के तहत दृष्टि या दृष्टिकोणगत भिन्नताएँ हो सकती हैं, चित्रण में यथार्थ की जमीन से अलग नहीं हुआ जा सकता है।”⁵ यहाँ डॉ. शिवकुमार मिश्र के उक्त कथन का तात्पर्य साफ है कि कथा-साहित्य से यथार्थ की अपरिहार्य सम्पृक्ति है। अतः यथार्थ और कथा-साहित्य के अपरिहार्य संबंध की समझ एक महत्वपूर्ण पहलू है।

यथार्थ ही वह तत्त्व है, जो परंपरागत कथा से कहानी को अलग करता है। डॉ. सत्यकाम इस संदर्भ में कहते हैं—“जिस विधा को आज हम कहानी के नाम से जानते हैं वह आधुनिक साहित्यिक विधा है, कथा के अनिवार्य तत्त्वों से जुड़े हाने के बावजूद दोनों विधाओं में मौलिक फर्क आ गया है। ‘यथार्थ’ और विश्वसनीयता’ आज की कहानी की प्रमुख विशेषता है पर ‘कहानीपन’ और ‘कौतूहल’ इसमें भी मौजूद रहता है।”⁶ तात्पर्य यह है कि वे कहानी की जिस आधुनिक विधा को परंपरित कथाओं से अलग कर पहचानते हैं, वह कहानियों में अतर्निहित यथार्थबोध (जो लोकोत्तर बोध के विपरीत है) तथा विश्वसनीयता (जो असंभाव्य क उलट है) के पहलू हैं। यहाँ, यह तथ्य भी संकेतित है कि कहानी की आधुनिक विधा ‘कथा’ के सुनाने (किस्सागाई या कहानीपन) तथा रमाने (कौतूहल) जैसी वृत्ति को आत्मसात् किए रहने के बावजूद कथा से एक भिन्न संरचना होती है। गोपाल राय इस प्रसंग को स्पष्ट करने के क्रम में, कथा से कहानी को अलगाने के क्रम में, घटना और कार्य व्यापार जैसे शब्दों का उल्लेख करते हैं, जो प्रत्यक्षतः एवं परोक्षतः ‘यथार्थबोध’ ‘विश्वसनीयता’ तथा बुनियादी जिज्ञासा क्यों? जैसे बिंदुओं को ही कथा से कहानी के प्रस्थान बिंदु स्थिर करते हैं। उनके अनुसार—“घटना और ‘कार्यव्यापार’ का अंतर यह

है कि घटना आकस्मिक, असाधारण और प्रायः कार्य-कारण संबंध से परे होती है, जबकि 'कार्य-व्यापार' मनुष्य द्वारा किए जानेवाले शारीरिक और मानसिक कार्यकलाप हैं, जो अनुभव की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते। जब कथा में इस प्रकार के तर्कसंगत और अनुभवजन्य कार्यकलापों की श्रृंखला होती है, तब उसका स्वरूप बदल जाता है और वह मानव जीवन के यथार्थ और संस्कृति की वाहक हो जाती है।⁷ अर्थात् यथार्थ रूपी बिंदु पर आकर ही कहानी कथा से अलग हो जाती है। डॉ. सत्यकाम इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—“आधुनिक कहानी आधुनिकता बोध से युक्त है। यह आधुनिकता प्राचीन और मध्यकालीन बोधों का विरोधी है। आधुनिक युग में विज्ञान ने यथार्थ की नई तस्वीर दुनिया के सामने रखी।... 'यथार्थवाद' कथा साहित्य की व्याख्या और मूल्यांकन की कसौटी बन गया।⁸ तात्पर्य यह है कि आधुनिकताबोध से सम्पन्न यथार्थ-चेतना ही कहानी को 'कथा' से अलग करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। 'यथार्थ' के प्रति आग्रह होने के कारण ही कहानी पुरानी कथाओं से अलग मुकाम पर खड़ी हो जाती है। मुंशी प्रेमचंद भी इस संदर्भ को आलोकपात करते हैं—“प्राचीन आख्यायिका कुतूहल प्रधान होती थी या अध्यात्म विषयक।.... वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती है।⁹ यहाँ, साफ समझा जा सकता है कि कहानी के आधुनिक रूप के लिए प्रेमचंद यथार्थ जीवन, स्वाभाविक चित्रण तथा इंद्रियग्राह्य अनुभूतियों पर बल प्रदान करते हैं तथा उसे कथा के काल्पनिक, आध्यात्मिक तथा अस्वाभाविक रूप से पृथक करते हैं। जिससे कथा और कहानी का अंतर स्पष्ट होता है। यही नहीं, डॉ. सत्यकाम तो उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान लिखी गईं तमाम कहानियों में 'यथार्थ' का आग्रह न होने के कारण उन्हें कहानी के आधुनिक रूप का दर्जा न देने की हिमायत करते हैं—“रानी केतकी की कहानी' (1803) मध्यकाल में प्रचलित प्रेमाख्यानकों का आधुनिक गद्य रूप थी। इसके अतिरिक्त इस शताब्दी के प्रथम सात दशकों में संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी में उपलब्ध कथाओं के हिंदी रूपांतरण प्रस्तुत किए गए। इन कथाओं ने हिंदी में एक विशेष प्रकार के पाठक वर्ग का निर्माण किया जिनके बिना आधुनिक कहानी का अस्तित्व संभव ही नहीं था। ...1886 में राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद ने 'राजा भोज का सपना' लिखा। इन कहानियों में कहीं भी यथार्थ का आग्रह नहीं है। इनमें आधुनिक कहानी का कोई गुण नहीं है।¹⁰

इस प्रकार समग्रता में उक्त विश्लेषण को देखा जाए तो यह कहना समीचीन लगता है कि आधुनिक कहानी का रूप 'यथार्थ' के प्रति अपने आग्रह होने के कारण ही अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है। दूसरे शब्दों में, कहा जाए तो 'यथार्थ' ही आधुनिक कहानी का बीजमंत्र बनता है। यही नहीं, 'यथार्थ' ही आधुनिक कहानी का कथा से प्रस्थान बिंदु प्रमाणित होता है। कहने की बात नहीं है कि आधुनिक कहानी के लिए यथार्थ के प्रति आग्रह जीवन के प्रति स्वाभाविक और विश्वसनीय दृष्टिकोण अपनाने को लेकर ही होता है। सारतः कहा जाए तो आधुनिक कहानी 'कथा' के ढाँचे से मुक्त होकर ही अपना विकास करती है।

2.2. हिंदी कहानी में ग्रामीण जीवन का यथार्थ: विकास के चरण

बीसवीं सदी के प्रथम दशक में कहानी अपने आधुनिक कलेवर में दिखायी देने लगती है। आधुनिकता की चुनौती तथा यथार्थ के प्रति आग्रह कहानी को कथा की संरचना से मुक्त करता है। कहानी में, मनुष्य का प्रवेश होता है तथा मानव-जीवन से जुड़े प्रसंगों, क्षणों, अनुभवों, सवालों, तथा समस्याओं को विश्वसनीय तरीके से प्रस्तुत करने का ध्येय निर्धारित होता है। हिंदी कहानी का इतिहास लिखने वाले लेखक गोपाल राय आधुनिक हिंदी कहानी की पहचान की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक को महत्त्वपूर्ण मानते हैं—“ इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, हिंदी में, आधुनिक कहानी विकास के प्रथम चरण के रूप में, अस्तित्व में आ गयी।”¹¹ बीसवीं शताब्दी के दौरान तथा उसके बाद लिखी वे आधुनिक कहानियाँ जो ग्रामीण जीवन का यथार्थ अंकन करती हैं उन पर विस्तार से विचार करने हेतु उन्हें इन चरणों में बाँटा जा सकता है- 1. प्रेमचंद पूर्व हिंदी कहानियाँ, 2. प्रेमचंदयुगीन हिंदी कहानियाँ, 3. प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानियाँ।

यहाँ, प्रेमचंद को आधार या केन्द्र में रखकर हिंदी कहानियों में ग्रामीण जीवन के यथार्थ को देखने का प्रमुख कारण यह है कि वे ग्रामीण जीवन के चित्रण को अपनी कहानियों में पूर्ण-प्रतिष्ठा करते हैं। प्रेमचंद की दृष्टि ग्रामीण जीवन को लेकर बिल्कुल साफ होती है। वे अपने कहानी-संग्रह 'प्रेमपीयूष' की भूमिका में ग्रामीण जीवन को भारतीय राष्ट्रीय जीवन से जोड़ते हैं तथा साहित्य में उसके चित्रण की हिमायत करते हैं। उनका मानना है— “जिस देश में अस्सी फीसदी मनुष्य गाँवों में बसते हों, उस देश के साहित्य में ग्राम्य जीवन ही प्रधान रूप से चित्रित होना स्वाभाविक है। उन्हीं का दुःख राष्ट्र का दुःख और उन्हीं की समस्याएँ राष्ट्र की समस्याएँ

हैं।¹² अतः इस प्रकार देखा जाए तो प्रेमचंद हिंदी कहानी में ग्रामीण जीवन के चित्रण की दृष्टि से अहम साबित होते हैं। यही कारण है कि हिंदी कहानी के विकास को समझने हेतु प्रेमचंद को आधार बिंदु स्थिर कर लेना स्वाभाविक है।

2.2.1 . प्रेमचंद पूर्व हिंदी कहानियाँ

बीसवीं शताब्दी का पहला दशक आधुनिक हिंदी कहानी का भी पहला दशक साबित होता है। इस प्रथम दशक को हिंदी कहानी के विकास का भी पहला चरण माना जाता है। सन् 1900 से 1915 के दरम्यान हिंदी कहानी-लेखन की अविध को पूर्व प्रेमचंद चरण कहना उचित प्रतीत होता है। हिंदी कहानी के न सिर्फ प्रचार-प्रसार की दृष्टि से, बल्कि उसके अस्तित्व को बनाने के क्रम में 'सरस्वती' पत्रिका की महत्वपूर्ण भूमिका है। मधुरेश लिखते हैं- "हिंदी कहानी के आविर्भाव की दृष्टि से सन् 1900 में प्रकाशित 'सरस्वती' की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।"¹³ क्योंकि, इसी वर्ष किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंद्रमति' का प्रकाशन हुआ जिसकी चर्चा प्रारंभ में एक आधुनिक कहानी के रूप हुई। यही नहीं, 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी के सरस्वती के संपादक बनने के साथ हिंदी कहानियों के प्रकाशनार्थ एक 'आख्यायिका' स्तंभ ही शुरू कर दिया गया है। इस तरह 'सरस्वती' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं के महत् उद्योग से कहानियों का लेखन और प्रकाशन आरंभ हो गया। किंतु, ये कहानियाँ मौलिक, अनुदित, छायानुदित आदि रूपों में थीं। कई लेखक इस चरण में उभरकर आए। किंतु, कुछेक की पहचान ही मौलिक कहानीकार के रूप में बनी।

यह कहानी लेखन का वह दौर था, जब लोग अपना परिचय गुप्त रखकर कहानियाँ लिखें। इसी दौर में कहानी 'कथा' से अपनी भिन्न संरचना गढ़ने की ओर अग्रसर हुई। यही नहीं, कहानी स्वयं भी साहित्य का अन्य विधाओं के मध्य अपनी पहचान बनाने की ओर प्रयासरत हुई। उक्त प्रकरण पर मधुरेश रौशनी डालते हैं- " यह वस्तुतः वह दौर है; जब कहानी को एक स्वतंत्र विधा के रूप में एक दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। यह लड़ाई एक ओर उसके अस्तित्व की है और दूसरी ओर उसकी प्रतिष्ठा की। सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से कहानी को न सिर्फ उपक्षेणीय बल्कि युवाओं को बिगाड़ने वाली चीज माना जाता था। यही कारण है कि श्रीमती राज बाला घोष को अपना वास्तविक नाम छिपाकर बंग महिला के नाम से कहानियाँ लिखनी पड़ीं। इससे भी

अधिक आश्चर्य तब होता है, कारण कुछ और भी हो सकता है, जब हम बाबू गिरिजा कुमार घोष को 'पार्वती नंदन' के नाम से कहानियाँ लिखते हुए पाते हैं।¹⁴ वैसे तो, डॉ. भवदेव पाण्डेय जैसे विद्वान भी यह स्वीकारते हैं कि इस चरण के प्रथम दशक में सौ से ज्यादा कहानियाँ लिखी गयीं हैं— “यो तो 'सरस्वती' (1900) से लेकर 'भारत जीवन' (1910) तक सैकड़ों कहानियाँ प्रकाशित हुयी थीं परंतु अधिकांश कहानियों में काल-चेतना के सम्बलत्व का अभाव था।”¹⁵ परंतु कुछेक कहानियों में ही यथार्थ जीवन का परिप्रेक्ष्य उज्जीवित हुआ है। जबकि, अधिकांश कहानियाँ 'कथा' की संरचना से विमुक्त नहीं हुईं। लोग प्रेमचंद पूर्व कहानियों के मूल्यांकन के संदर्भ में यथार्थ संबलित कहानियों को दरकिनार कर प्रायः एक सरलीकृत रवैया अपना लेते हैं। जिससे इस चरण की कतिपय उल्लेखनीय कहानियों के साथ न्याय नहीं हो पाता है। पुष्पपाल सिंह के का मंतव्य इस संदर्भ में द्रष्टव्य है— “... इस युग का लेखक संस्कृत की नीति कथाओं और लोककथाओं पर कथ्य और शिल्प के लिए आश्रित हो गया। संस्कृतकथाओं और लोककथाओं के अनुकरण पर लिखी इन कहानियों में अलौकिक ओर आकस्मिक संयोग, अदभुत तत्त्व और कुतूहल का प्राधान्य है। ...कहानी में आख्यान तत्त्व अधिक था, इसीलिए वह स्थूल वर्णनों और घटना-प्रसंगों से परिपूर्ण होती थी।... कहानी की इन समस्त अपेक्षाओं ने उसे एक मनोरंजन की एक विधा, एक हल्की-फुल्की मन बहलाव और समय बिताने की सामान्य-सी, हल्की-सी, चीज बना दिया। इस समय के कहानी लेखक ने कहानी से इससे अधिक की अपेक्षा नहीं की। वस्तुतः सामाजिक यथार्थ का वह बोध इन कहानियों में है ही नहीं जो सामयिक जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सकता है।”¹⁶ वस्तुतः यह मूल्यांकन का सरलीकरण है, जो सतही रूप में प्रेमचंद पूर्व युग की कहानियों को देखता है तथा उस पर अपना निर्णय थोप देता है। किंतु, गहराई में देखने से इस युग में कई ऐसी कहानियाँ हैं, जो मूल्यांकन की नई माँग करती हैं। इस दौर में लिखी गयी कुछ ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें ग्रामीण जीवन-यथार्थ का परिप्रेक्ष्य भलीभाँति उभरकर आया। उदाहरण स्वरूप 'एक टोकरी-भर मिट्टी' (1900), 'प्लेग की चुड़ैल' (1902), 'पण्डित और पण्डितानी' (1903), 'कुम्भ में छोटी बहू' (1906), 'दुलाईवाली' (1907), 'भुतही काठेरी' (1909), 'ग्राम' (1911), तथा 'बुद्ध का काँटा' (1914), आदि।

डॉ. सत्यकाम लिखते हैं कि -“ 1901 में प्रकाशित एक टोकरी भर मिट्टी पहली हिंदी कहानी है जिसमें आधुनिकता की झलक मिलती है।”¹⁷ इस कहानी में चित्रित ग्रामीण जीवन का

ज्वलंत यथार्थ ही उसे आधुनिक चेतना से सम्पन्न कहानी बनाता है। इस कहानी में माधव राव सप्रे ने ग्रामीण जीवन में व्याप्त सामंती शोषण का तल्लख चित्रण प्रस्तुत किया है। इस कहानी में एक गरीब असहाय विधवा का स्वाभिमान केन्द्र में है। इस कहानी की पृष्ठभूमि में गाँव के जमींदार द्वारा गरीब विधवा की झोपड़ी हड़पने की घटना नियोजित है। देखा जाए, तो यह घटना जमींदारी - प्रथा के ग्रामीण जीवन और समाज में बद्धमूल होने तथा तद्जनित सामंती अत्याचार, उत्पीड़न और शोषण की स्थितियों के बने रहने की हकीकत को उजागर करती है। इस कहानी की गरीब विधवा की स्थिति ग्रामीण सामाजिक संरचना में व्याप्त आमजन की दयनीयता को प्रतीकित करती है। गाँव के सामंत द्वारा अपना स्वार्थ साधने हेतु साम-दाम-दण्ड भेद नीति को अपनाना उनके चरित्र का परिचायक बनकर इस कहानी में उपस्थित होता है। गाँव के जमींदारों की हड़प-नीति तथा स्थितियों को अपने पक्ष में कर लेने की कारगुजारियों –“ बाल की खाल निकालने वाले वकीलों की थैली गरम कर उन्हें अदालत से झोपड़ी पर अपना कब्जा करा लिया और विधवा को वहाँ से निकाल दिया।”¹⁸ को प्रमुखता से उभारने वाली यह कहानी-‘एक टोकरी भर मिट्टी’ -प्रेमचंद पूर्व युग की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। ऊपरी तौर पर अविश्वसनीय-सी लगने वाली यह कहानी अपनी अभिव्यंजना में एक सशक्त कहानी है। इस कहानी के महत्त्व प्रकाशन के संदर्भ में गोपाल राय का यह कथन अवलोकनीय है— “ ‘एक टोकरी भर मिट्टी’ की संरचना आधुनिक कहानी की दिशा में और भी आगे बढ़ी हुयी है। ... ‘अविश्वसनीय’ जैसा प्रतीत होने वाला एक कार्य व्यापार - जमींदार से टोकरी भर मिट्टी न उठ पाने का उल्लेख यदि उसकी व्यंजना के साथ पढ़ा जाए तो बिल्कुल ही अविश्वसनीय नहीं है।”¹⁹ जिससे इस कहानी की प्रेमचंद पूर्व युग में उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति को समझा जा सकता है।

इसी तरह मास्टर भगवानदास की कहानी ‘प्लेग की चुड़ैल (1902) भी एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। डॉ. भवदेव पाण्डेय लिखते हैं- “ ... हिंदी की यह पहली कहानी थी जो वस्तु और रूप दोनों में पूरी तरह मौलिक और पूरी तरह अनुभूत थी।”²⁰ कहने का तात्पर्य यही है कि पहली मर्तबा स्वयं देखी गई तथा अनुभूत की गयी किसी घटना (अनुभव) का यथार्थ अंकन किसी कहानी में होता है। यह घटना घटती है सन् 1901 में। पहली बार, जब इलाहाबाद -मिर्जापुर में प्लेग फैला और उसके भयावह दुष्परिणाम चारों ओर देखे गए। वैसे, देखा जाए तो औपनिवेशिक शासन और समय में अक्सर अकाल और महामारी का प्रकोप एक आम घटना होती थी। इस कहानी में भी,

प्लेग जैसी एक महामारी का चित्रण हुआ है। जहाँ, अपनी प्राणरक्षा के लिए लोग अमानवीय हो जाते हैं। स्वतंत्रता पूर्ण ग्रामीण जीवन और परिवेश में बद्धमूल अंधविश्वास के भयावह रूप से यह कहानी हमें प्रत्यक्ष कराती है। अंधविश्वास से जकड़े माहौल में एक स्त्री के जीवन की विडम्बना इस कहानी में हमारी सोच और संस्कृति के उस पहलू को उजागर करती है जिस पर पुरोहिती, सामंती तथा पितृसत्तात्मक मान्यताएँ पूरी तरह हावी होती हैं। वास्तविकता यही है कि ग्रामीण जीवन का पिछड़ापन (सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक विशेषकर) ही उसे अंधविश्वास और कुसंस्कार की भावनाओं से ग्रस्त किए रहता है। जिसका परिणाम आज भी ग्रामीण पिछड़े इलाकों में ऐसे दृश्यों का व्याप्त होना संभव होता है— “ उस समय ग्राम के कुछ मनुष्य खेत काटने चले गए थे।... केवल स्त्रियों और लड़के गाँव में रह गए थे।... चुड़ैल का नाम सुनते ही वे सब ऐसी डर गयी थीं कि अपने-अपने लड़कों को घर में बंद करने लगीं कि कहीं चुड़ैल आकर उन्हें चबा न डाले।”²¹ यहाँ, समझा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन में अंतर्व्याप्त अंधविश्वास तथा कुसंस्कार एक जीवित स्त्री को चुड़ैल घोषित कर उसके अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगा देता है। जिसका सशक्त रूपायन ‘प्लेग की चुड़ैल’ कहानी में हुआ है। इस कहानी में ग्रामीण अनपढ़ नारी की उस सोच को भी देखा जा सकता है जो उसे अपनी हीन-दशा के लिए अपने सामंती प्रवृत्ति के पति (पुरुष) तथा निष्ठुर हो गए समाज की कर्तव्यहीनता को नहीं देखने देती है। वह अपने पूर्व जन्मों के अपकर्म तथा वर्तमान जीवन के कर्मकाण्डों में हुयी भूल-चूक को ही अपने जर्जर जीवन का एकमात्र कारण समझती है —“ मैंने ठाकुर साहब से वहाँ स्नान करने की आज्ञा माँगी थी परन्तु उन्होंने नहीं दी, क्या उसी पाप का तो यह फल नहीं है कि मैं इस दशा को प्राप्त हुयी हूँ।... यह फल मेरे किसी और जन्म के पापों का मालूम होता है।”²² जिससे यह स्पष्ट होता है कि नारी जब तक अशिक्षित रहती है और सामंती जीवन मूल्यों को ढोती रहती है, तब तक उसे वस्तुस्थिति का लेशमात्र भी संज्ञान नहीं होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन के पक्षों -महामारी के फैलने, स्त्री-जीवन की दुर्दशा तथा सामंती सोच संस्कृति आदि के दुष्परिणाम को गंभीरता से प्रस्तुत करने के कारण मास्टर भगवान दास की कहानी ‘प्लेग की चुड़ैल’ प्रेमचंद पूर्व कहानी लेखन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

इसी प्रकार ग्रामीण जीवन के परिप्रेक्ष्य को सशक्त ढंग से रूपायित करने की दृष्टि से

प्रेमचंद पूर्व कहानी लेखन में 'बंग महिला' के अवदान को भी देखा जा सकता है। डॉ. भवदेव पाण्डेय उनके अप्रतिम अवदान को कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं— " बंग महिला ने 'कुम्भ में छोटी' (1906) और 'दुलाईवाली' ('सरस्वती':1907) कहानियाँ लिखीं, जिन्होंने समाजधर्मी उपत्तियों के ऐसे चित्र प्रस्तुत किए जो अब तक की रचना-प्रवृत्ति के लिए अज्ञात थे।"²³ सन् 1906 में प्रकाशित उनकी 'कुम्भ में छोटी बहू' कहानी डॉ. भवदेव पाण्डेय के अनुसार—"पौराणिक रूढ़ि के विरुद्ध लिखी गयी साहसिक कहानी थी। इसमें ग्रामीण जीवन के उभरते यथार्थ और समाज में नारियों की स्थिति का चित्रण विश्वसनीय स्तर पर हुआ था। हिंदी कहानी में पहली बार एक भोजपुरी गाँव अपनी तमाम संवेदनाओं और सम्भूतियों के साथ मूर्त हुआ था। कहानी के चित्र पिछड़े गाँवों की अंतःप्रकृतियों और बाह्य स्वरूपों के साथ गाढ़े रंग में उभरे हुए थे। रहन-सहन, खान-पान और भाषा-बोली में संचरित 'भोजपुरिया का पारंपरिक जीवन।"²⁴ यहाँ, बंग महिला की उक्त कहानी से संबंधित यह तथ्य प्रमुख रूप से संकेतित होता है कि हिंदी कहानी में पडरा गांव के माध्यम से ग्रामीण जीवन के आंचलिक संस्पर्श को पहली बार वहाँ की बोली-बानी तथा लोकोक्ति के सहारे यथार्थ रूप देने की चेष्टा हुई है। उनके इस प्रयास से परवर्ती कहानीकार, विशेष रूप से मार्कण्डेय, रेणु तथा विवेकीराय आदि प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। इस कहानी में तत्कालीन ग्रामीण मध्यवर्ग के रूढ़िग्रस्त माहौल, सामाजिक-पारिवारिक संबंध, धार्मिक-नैतिक विश्वास, समाज और परिवार में स्त्रियों की स्थिति, रेल-यात्रा की हालत आदि का प्रामाणिक अंकन पूरी सक्षमता के साथ हुआ है। इस कहानी में उनकी आधुनिक दृष्टि और चेतना का पता चलता है। उनकी यह दृष्टि परवर्ती कहानीकारों द्वारा भी ग्रहण की गई है।

इसी संदर्भ में 'बंग महिला' की एक अन्य कहानी 'दुलाईवाली' (1907) का भी जिक्र किया जा सकता है, जिसमें औपनिवेशिक भारतीय ग्रामीण जीवन में व्याप्त पर्दा-प्रथा का उल्लेख है। ध्यातव्य है कि पर्दा-प्रथा ग्रामीण सामंती समाज में नारी की बंद स्थिति को ही संकेतित करता है। हास्य-विहास्य के ढब में लिखी यह कहानी पर्दा-प्रथा की वजह से उत्पन्न बेमेल तथा बेढंगी जीवन स्थितियों का चित्रण करती है तथा इसके माध्यम से ग्रामीण जीवन के कटु सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करती है। इस कहानी में ग्रामीण सामाजिक यथार्थ के साथ तत्कालीन स्वदेशी आंदोलन की अनुगूंज भी ब्याप्त है—"नाहक विलायती चीजें मोल लेकर क्यों रुपये की बरबादी की जाय। देसी लेने से भी दाम लगेगा सही; पर रहेगा तो देश ही में।"²⁵ जिससे बंग महिला के

कहानीकार की शक्तिमता का भी परिचय मिलता है। एक हास्य-परिहास की कहानी के परिपार्श्व में अपने समय की यथार्थ चेतना को भी पिरो लेने की कलात्मकता कहानीकार के रूप में बंग महिला की सृजनात्मकता को ही दर्शाता है। जो परवर्ती कहानीकारों को भी प्रेरणा प्रदान करता है। परवर्ती कहानीकारों में विशेषकर 'रेणु' में इसे स्पष्ट देखा जाता है—“कहानी-लेखन में दुलाईवाली की तरह आंचलिक दृष्टि का प्रतिमूर्तन फणीश्वरनाथ 'रेणु' में जाकर हुआ।”²⁶

इस प्रकार यह कहा सकता है कि बंगमहिला की कहानियाँ ग्रामीण जीवन के यथार्थ चित्रण की दिशा में परवर्ती कहानीकारों के लिए प्रेरणा बनती हैं। जिससे प्रेमचंद पूर्व हिंदी कहानी-लेखन का महत्त्व तो प्रकट होता ही है, साथ ही साथ हिंदी कहानी की यथार्थवादी परंपरा की पहचान भी होती है।

इसी तरह 'पंडित और पंडितानी' (1903) तथा 'भूतही कोठरी' (1909) आदि कहानियों में भी औपनिवेशिक ग्रामीण जीवन-यथार्थ का परिप्रेक्ष्य उभरकर आता है। गिरिजादत्त वाजपेयी की कहानी 'पंडित और पंडितानी' (1903) में सामाजिक जीवन की उस समस्या का जिक्र मिलता है, जहाँ नारी को अनमेल विवाह की पीड़ा और विसंगति से गुजरना पड़ता है। पंडित और पंडितानी' कहानी में भी स्त्री का अनमेल विवाह होता है—“पण्डित जी की अवस्था करीब पैंतालिस वर्ष की है और उनकी पत्नी की बीस वर्ष की।”²⁷ गोपाल राय इस कहानी के संदर्भ में अपने मत को कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—“गिरिजा दत्त वाजपेयी की कहानी 'पंडित और पंडितानी' में तत्कालीन समाज में प्रचलित अनमेल विवाह-प्रौढ़ पुरुष और युवती कन्या-की विसंगतियों पर व्यंग्य किया गया है। इस कहानी में व्यंग्य की धार तो पैनी है ही, वह स्त्री की नियति को भी संकेतित करती है।”²⁸ इस प्रकार देखा जाए तो यह ग्रामीण जीवन के कटु यथार्थ को उज्जीवित करने वाली एक महत्त्वपूर्ण कहानी के रूप में अपनी पहचान गढ़ती है।

इसी प्रकरण में, मधुमंगल मिश्र की कहानी 'भूतही कोठरी' का जिक्र किया जा सकता है। स्वतंत्रता पूर्व ग्रामीण समाज में रचे-बसे अंध-विश्वास, कुसंस्कार तथा तत्संबंधित ओझा-सोखा, झाँड़-फूँक, जादू-टोना, कर्मकाण्ड आदि अनुष्ठान को वैज्ञानिक चेतना के साथ उभारने की कोशिश इस कहानी को आधुनिकता का रूप देती है। भारतीय औपनिवेशिक काल में लिखी 'भूतही कोठरी' कहानी अपनी सामाजिक चेतना के बूते ग्रामीण जीवन की दकियानूसी थोथी मान्यताओं पर प्रहार

करती है। जिसकी प्रेरणा प्रेमचंद को भी मिलती है तथा उनके परवर्ती कहानीकारों को भी। डॉ. भवदेव पाण्डेय यह मानते हैं कि ग्रामीण जीवन के उक्त पहलू-अंधविश्वास और कुसंस्कार के मुद्दे को रेखांकित करने के लिए जिस 'वैज्ञानिक नवजागरण का स्वराधन' की आवश्यकता होती है, वह मधुमंगल मिश्र की 'भूतही कोठरी' में व्याप्त है। यही नहीं, इसके अतिरिक्त प्रेमचंद पूर्व कहानी-लेखन में रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903), जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' (1911) तथा चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियाँ- 'सुखमय जीवन' (1911) तथा 'बुद्ध का काटा' (1914) आदि में भी ग्राम्य जीवन का किंचित चित्रण मिलता है।

जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' कहानी में गाँव को कल्पना की ऐनक तथा रोमानी भावबोध से देखा गया है। पर यहाँ, यह भी उल्लेखनीय है कि आलोच्य कहानी स्वतंत्रता पूर्व औपनिवेशिक शासन और समय की उस सच्चाई का भी संवेदनात्मक अंकन करती है, जहाँ ग्रामीण जीवन के महाजन छोटे किसान तथा जमींदार की जमींदारी हड़प कर अनुपस्थित जमींदार बन जाया करते थे। ग्रामीण जीवन का यथार्थ आलोच्य कहानी की पृष्ठभूमि में अनुस्यूत है। जबकि, एक स्त्री तथा उसके पति को उसकी जमींदारी से बेदखल करनेवाला महाजन तथा उसके बेटे की संवेदना कहानी के केन्द्र में व्याप्त है। ग्रामीण जीवन के यथार्थ निरूपण के संदर्भ में 'ग्राम' कहानी अपनी अंतः प्रवृत्ति में सजावटी वर्णन के कारण ग्रामीण जीवन का प्रामाणिक अंकन नहीं कर पायी है, परंतु औपनिवेशिक समय की सच्चाई का संकेत अवश्य की है।

इसी प्रकार चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'सुखमय जीवन' (1911) में कलानगर गाँव की बेचारगी स्पष्ट हुई है। यह बेचारगी बाल-विवाह तथा दहेज आदि प्रथाओं में माता-पिता के समक्ष नयी चेतना के युवकों की है, जो यह मानते हैं कि इन अपसंस्कारों को निर्मूल हुए बिना भारतीय ग्रामीण समाजों की उन्नति संभव नहीं है—“हिंदू समाज ही इतना सड़ा हुआ है कि हमारे सद्विचार एक तरह के पशु हैं जिनकी बलि माता-पिता की जिद और हठ की बेदी पर चढ़ायी जाती है। ...भारत का उद्धार तब तक नहीं हो सकता।”²⁹ हालांकि 'बुद्ध का काटा' (1914) कहानी में प्रेम केन्द्र में होता है। तथापि ग्रामीण जीवन के पहलू के रूप में नारी की वैवाहिक स्थिति की विडम्बना को भी दिखाया गया है। यहाँ, कहानी के मूल-कथ्य विवाह पूर्व प्रेम के साथ लड़कियों के उन्मुक्त तथा स्वतंत्र जीवन का विवाहोपरांत पर्दे में कैद हो जाने की स्थिति को भी गूँथ लिया

गया है। नारी जीवन की दयनीय स्थिति के रूपायन की उनकी चेष्टा परवर्ती कहानीकारों-प्रेमचंद, मार्कण्डेय, रेणु तथा रामदरश मिश्र आदि को भी प्रेरणा प्रदान करता है।

इस प्रकार समग्रता में प्रेमचंद पूर्व कहानी-लेखन में चित्रित ग्रामीण जीवन पर विचार किए जाने पर यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि इस काल में हिंदी कहानी में ग्रामीण यथार्थ के चित्रण का बीज रोप दिया जाता है। जिसे, अंकुरित और पल्लवित करने का कार्य प्रेमचंद द्वारा परवर्ती कहानी-लेखन में पुरजोर तरीके से होता है। इस चरण की कहानियाँ संख्या में गौण होने के बावजूद अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। चाहे 'बंगमहिला' की नवजागरण कालीन चेतना हो या मधुमंगल मिश्र का वैज्ञानिक एप्रोच या फिर मास्टर भगवान दास का पुरोहिती संस्कृति के खिलाफ हल्ला-बोल, सभी परवर्ती कहानीकारों की आधुनिक मानस चेतना को बनाने में अपनी भूमिका निभाते हैं।

2.2.2 प्रेमचंद युगीन हिंदी कहानियाँ

हिंदी कहानी साहित्य के फलक पर प्रेमचंद का उदय एक प्रकाश-पुंज की भाँति होता है, जो अपने प्रकाश से कहानी साहित्य के अनंत छोर तक उजाला फैलाते हैं। साहित्य मर्मज्ञों की नज़र में प्रेमचंद का हिंदी कहानी-लेखन के परिदृश्य में अवतीर्ण होना, कहानी साहित्य के अभिनव विकास का परिचायक साबित होता है। हिंदी कहानी जगत् में प्रेमचंद का आगमन बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक की एक ऐतिहासिक घटना के रूप में होता है। प्रेमचंद हिंदी कहानी-लेखन जगत् में सन् 1915 से 1936 तक सक्रिय रहते हैं। ग्रामीण जीवन के बहुपरती यथार्थ को प्रत्यांकित करने की चेष्टा प्रेमचंद अपने सम्पूर्ण कहानी लेखन में करते हैं। यही कारण है कि उनकी 'सौत' (1915), तथा 'पंचपरमेश्वर' (1916) से 'कफन' (1936), तक की कहानियों में यथार्थ के विविध रूप मिलते हैं।

इस संदर्भ में यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि वे हिंदी कहानियों को सामाजिक जीवन और यथार्थ से समन्वित करने का महत्कार्य करते हैं। भारतीय ग्रामीण जीवन की उपस्थिति को हिंदी कहानियों में संभव बनाने के प्रसंग में वे सन् 1915 से 1936 की समयावधि में अकेले ही उल्लेखनीय और अप्रतिम जान पड़ते हैं। हालांकि, उनके समकालीनों में प्रमुख रूप से जयशंकर

प्रसाद, राजा राधिकारमण सिंह, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' पंडित ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन आदि का नाम लिया जाता है। किंतु, इनमें से कोई भी कहानीकार ग्रामीण जीवन के यथार्थ को निरूपित करने के क्रम में प्रेमचंद के समकक्ष खड़ा नहीं हो पाता है। प्रेमचंद जहाँ, यथार्थवादी कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं, वहाँ जयशंकर प्रसाद हिंदी कहानी में भावमूलक परंपरा के अधिष्ठता कहलाते हैं। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं— "तुलनात्मक दृष्टि से जहाँ प्रसाद की भावमूलक प्रवृत्तियों का मूल धरातल इतिहास, अतीत और कल्पना पर आश्रित था, वहाँ प्रेमचंद की यथार्थमूलक प्रवृत्तियों का मेरुदंड समाज, व्यक्ति और राष्ट्र की संवेदनाओं पर आश्रित था।"³⁰ यही कारण है कि वे अपनी 'ग्राम' नामक कहानी में ग्रामीण जीवन के यथार्थ को रूपायित करने के बजाय उसका काल्पनिक और रोमानी चित्रण करते हैं।

इसी प्रकार सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास और विनोद शंकर व्यास आदि कहानीकार प्रेमचंद युगीन कहानी लेखन में वर्तमान तो रहते हैं, किंतु ग्रामीण जीवन के यथार्थ अंकन की दृष्टि से कोई भी समर्थवान नज़र नहीं आते हैं। 'कौशिक' तथा सुदर्शन की कहानियों में सामाजिक प्रश्नों को हालांकि उठाया जाता है, किंतु वह ग्रामीण जीवन और यथार्थ के संदर्भ से विच्छिन्न होती हैं। अतः प्रेमचंद सन् 1915 के बाद हिंदी कहानी लेखन जगत् में अकेले प्रमुख रूप से छाये रहते हैं। ग्रामीण यथार्थ को उकेरने के संदर्भ में वे अपने दौर के उक्त तमाम कहानीकारों के समक्ष अप्रतिम साबित होते हैं— "दूसरे दशक में प्रेमचंद को छोड़कर कोई उल्लेखनीय कहानीकार हिंदी में नहीं था, जबकि इस दशक में प्रेमचंद के अतिरिक्त जयशंकर प्रसाद, रायकृष्ण दास, विनोदशंकर व्यास, चंडीप्रसाद हृदयेश, कौशिक, सुदर्शन, बेचन शर्मा 'उग्र', वृन्दावनलाल वर्मा, चतुर सेन शास्त्री आदि कहानीकारों की कहानियाँ प्रकाशित हुईं।"³¹ प्रेमचंद की कहानियाँ 1915 के बाद ग्रामीण जीवन और यथार्थ अंकन की प्रतिनिधि बनकर आती हैं। डॉ. किशोर सिन्हा लिखते हैं— "प्रेमचंद ने अपने कथानक प्रायः ग्राम्य जीवन से लिए हैं, अतः ग्रामांचल का प्रामाणिक चित्र उनकी कहानियों में उभरता है। ग्राम्य जीवन की विसंगति, वहाँ की रूढ़ियाँ और अंधविश्वास, शोषण की प्रक्रिया, विभिन्न वर्गों के आपसी झगड़े, नारी की दयनीय स्थिति आदि का संवेदनापूर्ण चित्रण प्रेमचंद की कहानियों में उपलब्ध है।"³² जिससे ग्रामीण जीवन से प्रेमचंद की कहानियों की सम्पृक्ति देखी और समझी जाती है। प्रेमचंद की कहानियाँ 'मान सरोवर' के आठ भागों में उपलब्ध हैं। इन खण्डों में ग्राम्य जीवन से संबंधित कहानियाँ निम्नलिखित

हैं— 'पंच परमेश्वर', 'समरयात्रा', 'लाग-डाट', 'खून सफेद', 'दो बैलो की कथा', 'अलगयोझा', 'अग्नि सामाधि', 'मुक्तिधर्म', 'मुक्तिमार्ग', 'सवा सेर गेहूँ', 'पछतावा', 'सुजान भगत', 'रियासत का दीवान', 'बलिदान', 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुँआ', 'मंत्र', 'उपदेश', 'कफन' आदि। हालांकि इसके अतिरिक्त भी प्रेमचंद की ऐसी ढेरों कहानियाँ हैं, जिनमें ग्रामीण जीवन के चित्र उपलब्ध होते हैं।

उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद की शुरुवाती दौर की कहानियों में यथार्थ और आदर्श का सहमेल आत्यांतिक रूप में दृष्टिगोचर है। उनकी प्रारंभिक कतिपय कहानियों की मूल-चेतना कोई सामाजिक आदर्श ही है। क्योंकि उनके अनुसार, यथार्थ और आदर्श से समन्वित रचना ही श्रेष्ठ रचना होती है। जिसका प्रमाण उनकी प्रमुख कहानियाँ - 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'सज्जनता का दंड', 'बूढ़ी काकी', आदि प्रस्तुत करती हैं। उनकी 'बड़े घर की बेटी' औपनिवेशिक ग्रामीण पारिवारिक जीवन की खास पहचान, संयुक्त परिवार के ताने-बानों को प्रस्तुत करने वाली एक आदर्श परिणति वाली कहानी है। इस कहानी में भूमि संबंधों पर आधारित संयुक्त परिवार के प्रति ग्रामीण जन की बदलती मानसिकता तथा उससे उपजे पारिवारिक तनाव और द्वन्द्व का ज्वलंत यथार्थ उपस्थित हुआ है। उनकी 'नमक का दरोगा' कहानी पं. आलोपदीन नामक जमींदार के हृदय परिवर्तन के संदर्भ में है। प्रेमचंद इस कहानी में व्यक्ति की ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा तथा सत्य पथ-गमन आदि जैसे मूल्यों एवम् आदर्शों को प्रतिष्ठापित करने का मोह बराबर कायम किए रहते हैं। तभी तो डॉ. शिवकुमार मिश्र यह कहते हैं— " 'नमक का दरोगा' प्रेमचंद की आरंभिक कुछ ऐसी बहुचर्चित कहानियों में एक है, जिसमें असत्य, अन्याय और अनैतिक अचारण पर सत्य, न्याय और नैतिकता की विजय दिखलायी गयी है।"³³

इसी तरह उनकी 'पंच परमेश्वर' ग्रामीण जीवन में सदियों से चले आ रहे उस भोले विश्वास की कहानी लगती है, जो यह मानकर चलती है कि पंच की आत्मा में ईश्वर या खुदा का निवास है। आलोच्य कहानी में औपनिवेशिक शासन के ग्रामीण जीवन का स्वरूप, उसकी मानसिकता उसके आदर्श-मूल्य बोध तथा उसका लोक-रीति-व्यवहार आदि का भली-भाँति चित्रण है। लोक धर्म और नैतिकता से संबलित और परिचालित ग्रामीण पंचायतों में ग्रामीण जन को न्याय मिल जाता था- इस सत्य को उकेरने वाली आलोच्य कहानी अपनी व्यंजना में औपनिवेशिक सरकार

द्वारा स्थापित न्याय-तंत्र (जिसमें ग्रामीणों का गला घोंटा जाता था) पर टिप्पणी करती हुयी जान पड़ती है। यहाँ, इस कहानी की व्यंजना तथा उससे उद्भूत संभावना को परे रखकर भी देखा जाए, तो इस सत्य को भली-भाँति समझा जा सकता है कि यह मनुष्य के सद्व्यवहार-भले आचरण और मूल्यों-की प्रतिष्ठा वाली कहानी है।

यथार्थ से आदर्श का मिलान करने के क्रम में, उनकी बलिदान कहानी का भी उल्लेखनीय है। इस कहानी में भूमि संबंधों के उलझे रहने के परिणामस्वरूप किसानों की अभावग्रस्तता, ऋणग्रस्तता आदि को देखा जा सकता है, जो उन्हें अपनी जमीन से बेदखल हो जाने की परिणति की ओर ले जाती है। जो औपनिवेशिक ग्रामीण समाज का एक कटु सच है। किंतु यहाँ भी, मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों तथा उसके हृदय परिवर्तन आदि मूल्यों पर प्रेमचंद का विश्वास बना रहता है। दरअसल, यथार्थ से आदर्श का मेल करना उनकी कहानी संबंधी सोच का ही एक अंग है। इसलिए उनकी कई कहानियों - 'बड़े घर की बेटी', 'पंच- परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'सज्जनता का दंड', 'बूढ़ी काकी', 'बलिदान', आदि में उनकी यथार्थ दृष्टि (यथार्थ के साथ आदर्श का मेल) का उक्त स्वरूप विद्यमान रहता है। वे अपनी इस यथार्थ दृष्टि को बुलंद स्वर में उद्धृत करते हैं—“ हमने इन कहानियों में आदर्श को यथार्थ से मिलाने की चेष्टा की है।”³⁴ पर यहाँ, यह भी ध्यातव्य है कि उनका यथार्थ के प्रति यह आग्रह उनकी अंतिम दौर की कहानियों में पूर्ववत् नहीं रहता है। बाद में, उन्हें वर्गों में विभाजित, शोषण से व्याप्त औपनिवेशिक -सामंती समाज की उक्त दमघोटू दशा का बोध हो जाता है जिसमें आम जन का जीना लगभग मुहाल-सा होता है। प्रेमचंद इस भीषण स्थिति का भी संकेत किए हैं— “ यह हवा इतनी जहरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है।”³⁵ जिससे यह सत्य समझ में आता है कि शोषण को बढ़ावा देने वाली इस व्यवस्था से मुक्ति का निदान इस समूची व्यवस्था के नकार तथा एक ऐसी नई वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण से है, जो शोषण और विभाजन पर आधारित नहीं हो।

उल्लेखनीय है उनकी यह नयी सोच या यथार्थ दृष्टि उनके उत्तर्वर्ती कहानी-लेखन में भी उभरकर आती है। उनकी 'सवा सेर गेहूं', 'सद्गति', 'ठाकुर का कुँआ', 'पूस की रात', और 'कफन', आदि कहानियाँ उक्त चेतना से दीप्त दिखाई देती हैं। उनकी 'सवा सेर गेहूं' कहानी पैसे व्यंग्य के साथ ग्रामीण जीवन के उस ज्वलंत सच को उजागर करती है, जहाँ एक किसान ऋण-ग्रस्त माहौल में जन्म लेता है, जीता है और मर जाता है। उनकी सद्गति कहानी भी ग्रामीण

जीवन में बद्धमूल भेद- भाव, छुआछूत, सामंती रूढ़िगत अंधविश्वास तथा वहाँ होने वाले आम-जन के शोषण को उजागर करती है। ग्रामीण जीवन के शोषण के लगभग सभी संस्थानों के क्रूर चहेरों को प्रकाशित करने वाली यह कहानी प्रेमचंद की ही नहीं, बल्कि समस्त हिंदी कहानी लेखन की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है। इस कहानी में दलित जीवन का नारकीय यथार्थ अभिव्यक्त होता है। इस कहानी का दुखी चमार ईश्वर भक्त पंडित घासीराम से साइत पूछने उनके घर जाता है। जहाँ, उसे पंडित की गाय को घास डालने से लेकर भूसा ढोने और लकड़ी काटने तक सारे काम भूखे रहकर करने पड़ते हैं। जिसके कारण उसकी वहीं मृत्यु हो जाती है। आलोच्य कहानी में इसे ही व्यंग्यात्मक ढंग से सद्गति (?) को प्राप्त होना कहा गया है। सामंती संस्कारों से व्याप्त भारतीय औपनिवेशिक ग्रामीण समाज में दलितों द्वारा सदियों से दी जाने वाली सेवा का सिला सवर्ण जिस रूप में देता है, उसका यह कहानी यथार्थ अंकन करती है। यहाँ आदर्शवादी रुझान की कोई छँक नहीं नज़र आती है।

उनकी 'ठाकुर का कुँआ' कहानी भी स्वतंत्रता पूर्व ग्रामीण सामाजिक-संरचना में दलित आम जन की त्रासद जीवन-स्थिति को उद्घाटित करती है। इस कहानी में भी दलितों की ओर से प्रेमचंद उस सामाजिक संरचना पर सवाल उठाते हैं, जहाँ जोखू और गंगी जैसे लोगों की कोई जगह नहीं होती है। जहाँ, उन्हें सवर्णों द्वारा ढाए जाने वाले जुल्म और आतंक के साये में घुटते हुए जीना पड़ता है। और मजबूरन बदबूदार पानी पीना पड़ता है। देखा जाए तो कहानी के अंत का यह दृश्य- " घर पहुँचकर देखा कि जोखू लोटा मुँह से लगाये वही मैला गंदा पानी पी रहा है।"³⁶ अपनी व्यंजना में जोखू जैसों की, सड़ाध भरी समाज व्यवस्था में जीने की अभिशप्तता को ही संकेतित करता है। उनकी 'पूस की रात' नामक कहानी में भी ग्रामीण जीवन की मुख्य समस्या, भूमि संबंधों के अनसुलझे प्रश्न का यथार्थ निरूपण देखा जाता है। यहाँ यह सत्य उपलब्ध किया जाता है कि औपनिवेशिक ग्रामीण समाज में किसान जमींदार-प्रथा के क्रूर आतंक में जीता हुआ, मजदूर बनने की त्रासदी झेलता है। 'पूस की रात' कहानी में हल्कू फसल बर्बाद हो जाने पर, किसान के रूप में अपनी पहचान कायम न रहने पर, कोई असंतोष नहीं व्यक्त करता है- " दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी, पर हल्कू प्रसन्न था। मुन्नी ने चिंतित होकर कहा- अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी। हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा- रात को ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।"³⁷ जिसका साफ मतलब यह निकलता है कि तत्कालीन ग्रामीण

सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में किसान रहते हुए न तो टंड से मुकाबला करने की सामर्थ्य होती है , और ना भरपेट भोजन जूटा पाने का बूता। कहने का तात्पर्य यह है कि हल्कू की उक्त हँसी तत्कालीन औपनिवेशिक ग्रामीण सामाजिक अर्थव्यवस्था पर होती है। जिसमें उसे किसान के रूप में अपनी कोई संभावना नज़र नहीं आती है। 'बलिदान' (1918) और 'पूस की रात' (1930), कहानियों को एक साथ पढ़ने पर यथार्थ के प्रति प्रेमचंद के एप्रोच के अंतर को साफ समझा जा सकता है। इसी तरह प्रेमचंद की 'कफन' कहानी भी औपनिवेशिक ग्रामीण सामाजिक अर्थव्यवस्था में उत्पादन और श्रम से जुड़े वर्ग के जीवन की दुरवस्था का भली-भाँति चित्रण करती है।

इस प्रकार समग्रता में विचार किए जाने पर प्रेमचंद अपने सम्पूर्ण कहानी लेखन में ग्रामीण जीवन और यथार्थ के सशक्त रूपायन की दृष्टि से अप्रतिम जान पड़ते हैं। उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन के यथार्थ को विविध कोणों से देखती हैं। ग्रामीण जीवन का बहुपरती रूप उनकी कहानियों में दृष्टिगोचर होता है। उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन की आंतरिकता, उनका भोला विश्वास, सामंती रुढिगत संस्कार, वहाँ के आम जन के ऊपर होने वाले तमाम निर्मम अत्याचार और शोषण जीवंत होते हुए मालूम पड़ते हैं। प्रेमचंद अपनी इन कहानियों में औपनिवेशिक सामंती ग्रामीण समाज के हर शोषण संस्थानों पर प्रहार करते हैं। उनकी कहानियाँ उनकी यथार्थ दृष्टि के क्रमिक विकास तथा 'यथार्थ' के गतिमान स्वरूप की कहानी भी कहती हैं। वे अपनी शुरूवाती दौर की कहानियों में जहाँ, यथार्थ से आदर्श का मिलान करते हैं वहीं अंतिम दौर की कहानियों में यथार्थ को आलोचनात्मक तेवर प्रदान करते हुए उसे और भी धारदार बनाते हैं। इसी कारण उनकी 'सौत' तथा 'पंच-परमेश्वर' से लेकर 'कफन' तक की कहानी यात्रा में यथार्थ के कई फलक दृष्टिगोचर होते हैं। सारतः कहा जाए तो वे हिंदी कहानी में ग्रामीण जीवन के चित्रण के उस बीज को, जो हिंदी कहानी लेखन के पहले दशक में ही रोपे जा चुके होते हैं, उसे अंकुरित और पल्लवित करने का महत् प्रयास करते हैं।

2.2.3 प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानियाँ

प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी लेखन में जिन कहानीकारों को पहचान और प्रतिष्ठा मिलती है, उनमें जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल का नाम प्रमुख हैं। कहानी लेखन का यह दौर बदलाव भरा है। इस बदले माहौल में, हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन का चित्रण जिस दिशा की ओर

उन्मुख होता है, उसे समझने हेतु उक्त दौर के प्रमुख कहानीकारों पर संक्षिप्त विचार करना अपेक्षणीय है।

देखा जाए तो जैनेन्द्र प्रेमचंद के दौर में ही कहानी जगत् में सक्रिय हो जाते हैं। किंतु उनका कहानी लेखन प्रेमचंद से अपना अलगाव स्थापित करते हुए लगभग पाँचवे दशक तक बना रहता है— “ जैनेन्द्र ने सन् 28 से कहानियाँ लिखना शुरू किया और सन् 42 तक वे पर्याप्त सक्रिय रहे। उनकी प्रायः सभी चर्चित और महत्वपूर्ण कहानियाँ इसी दौर की हैं। छठे दशक के पूर्वार्द्ध में जब उन्होंने फिर लिखना शुरू किया तो कहानी की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में अधिक सक्रिय रहे।”³⁸ यहाँ, यह भी उल्लेखनीय है कि वे स्वयं अपनी कहानियों को सामाजिक जीवन के ज्वलंत यथार्थ से इतर भावजगत् की दार्शनिक निष्पत्तियों से परिपूर्ण मानते हैं। वे अपनी सम्पूर्ण कहानियों की भूमिका में इस बात को स्वीकारते हैं— “ इन कहानियों में भाव प्रधान हैं, यथार्थ अप्रधान। बाह्य गौण है अन्तःमुख्य। दृश्य जगत आनुषंगिक अदृश्य आत्म लक्ष्य...”³⁹ जिससे उनकी कहानियों में भाव तथा दर्शन के प्रधान रूप को समझा जा सकता है। ध्यातव्य है कि उनकी शुरुआती दौर की कहानियाँ हों, या अंतिम दौर की, वहाँ बराबर इस बात को लक्ष्य किया जाता है कि वे ‘यथार्थ’ से विचलन की प्रक्रिया में हैं। प्रेमचंद की रचनाओं में जहाँ, औपनिवेशिक ग्रामीण जीवन का यथार्थ अपनी पूरी विविधता में चित्रित है, वहाँ जैनेन्द्र की कहानियाँ इससे विमुख होने की ओर सचेष्ट हैं—“जैनेन्द्र के कथा संसार में प्रवेश करते ही हमें महसूस होने लगता है कि वह प्रेमचंद की तुलना में बिल्कुल बदला हुआ है; वह गाँव से नगर में और किसानों-मजदूरों की जिंदगी से उच्च-मध्यवर्गीय और अभिजात वर्ग की जिंदगी में आ गया है; उसमें किसान-मजदूर वर्ग के पात्र मुश्किल से मिलते हैं।”⁴⁰ यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेमचंद के अनन्तर जैनेन्द्र एक कहानीकार के रूप में प्रमुख रूप से पहचान में आते हैं। किंतु, उनकी कहानियाँ तत्कालीन ग्रामीण जीवन के यथार्थ से अलग रूप ली हुयी दिखाई देती हैं। प्रेमचंद की कहानियों में कथ्य के रूप में ग्रामीण जीवन का यथार्थ जो विकास पाता है वह जैनेन्द्र के यहाँ कुँठित होता है।

जैनेन्द्र की तरह ‘अज्ञेय’ भी प्रेमचंद के जमाने से ही कहानी लेखन में सक्रिय रहते हैं। जैनेन्द्र की तरह उनकी भी व्यक्तिगत पृष्ठभूमि क्रांतिकारी राजनीतिक की रहती है। जिसके कारण ही उन्हें विभिन्न समयों में जेल के जीवनानुभवों से गुजरना पड़ता है। उक्त अनुभव-संसार की कहानियों को ही, अज्ञेय अपने सम्पूर्ण कहानी-लेखन की पहली खेप मानते हैं— पहली खेप की

कहानियों क्रांतिकारी जीवन की हैं, क्रांति समर्थन की हैं, और क्रांतिकारियों की मनोरचना और उनकी कर्म प्रेरणाओं के बारे में उभरती शंकाओं की है।⁴¹ वे हिंदी के पहले ऐसे कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं, जो अपने प्रत्यक्ष अनुभव के बूते क्रांति-चेतना पर आधारित कहानियाँ लिखते हैं। इन कहानियों में सामाजिक जीवन का संस्पर्श तो रहता है, किंतु वहाँ उनका संबलन व्यक्ति मन के अंतर्द्वन्द्वों को ही आलोकित और उज्जीवित करने में होता है। व्यक्ति मन के चित्र तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य जैसे कलावादी मूल्य ही अज्ञेय की कहानियों के मुख्य उपजीव्य हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ व्यक्ति मन की गहराइयों को ही अपना सम्पूर्ण जगत् मान लेती हैं। इसी कारण उनके लगभग सभी कहानी-संग्रहों – ‘विपथगा’, ‘कोठरी की बात’, ‘शरणार्थी’, ‘जयदौल’, ‘अमरबल्लरी’, और ‘ये तेरे प्रतिरूप’ आदि में मनोवैज्ञानिकता सर्वत्र विद्यमान हैं।

वे अपने सम्पूर्ण कहानी लेखन में प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थवादी धारा के बजाए जयशंकर प्रसाद और जैनेन्द्र की भाववादी व्यक्तिवादी धारा का विकास करते नज़र आते हैं। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के प्रमुख कहानीकार मार्कण्डेय भी अज्ञेय के कहानी-लेखन को सामाजिक जीवन से पलायन के रूप में देखते हैं। –“ जाने क्यों, दिन पर दिन अज्ञेय का रचनाकार जीवन और जगत् की ओर से उदास होता चला गया।... संभव है, जीवन की सहज गति से रचनाकार का व्यक्तित्व किनारे पड़ गया हो, अथवा विचारों के दुरुह अस्वाभाविक प्रतिमानों के कारण मन की वे परतें ही सूख गयी हों, जिन पर सच्चाइयों के अक्रस नक्श होते हैं अथवा वैयक्तिक कुंठाओं ने अपने चारों ओर ऐसा खोल ओढ़ लिया हो कि सब-कुछ में उसे अपने ही आरोपों की तस्वीर दिखने लगी हो।⁴² कहने का अभिप्राय यह है कि अज्ञेय का जीवन और साहित्य के प्रति उनका अपना निजी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उन्हें यथार्थ जीवन से दूर ले जाता है। दूसरे शब्दों में, कहा जाए तो अज्ञेय के यहाँ भी ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण कुंठित होता है।

यशपाल प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन में एक प्रमुख नाम हैं। उनकी विचारधारा मार्क्सवादी दर्शन से अनुप्राणित है। उनकी कहानियों तथा उनके साहित्य के अन्य रूपों पर इसका प्रभाव है। उल्लेखनीय यह है कि जैनेन्द्र की भाँति यशपाल भी विचार से जीवन की ओर प्रस्थान करने की विचारधारा से अनुप्राणित होते हैं। पर यशपाल की कहानियाँ विचारधारा पर आधारित होने के बावजूद भी अनुभवजन्य संवेदना से शून्य नहीं हैं। उनमें पाठकीय चेतना को आलोचित करने की

पर्याप्त शक्ति निहित हैं। वे मध्यवर्गीय जीवन के वैविध्य को अपनी अनेक कहानियों में चित्रित करते हैं। किंतु, इस वैविध्य में ग्रामीण जीवन का यथार्थ पूरी तरह नदारद रहता है जिसके सशक्त रूपायन से प्रेमचंद अपनी कहानियों को दीप्त करते हैं। यशपाल की कहानियों में बहुसंख्यक ग्रामीण आमजन और उसकी समस्याएँ वैचारिक स्तर पर भी उज्जीवित नहीं होती हैं। औपनिवेशिक समाज में त्रस्त होने वाले किसान, खेतिहर, भूमिहीनों तथा मजदूरों का जीवन यशपाल की कहानियों में कोई स्थान नहीं घेरता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंदोत्तर युग के इस चरण (स्वतंत्रता पूर्व) के उक्त प्रमुख कहानीकारों (जैनेन्द्र-अज्ञेय-यशपाल आदि) की कहानियाँ कहानी जगत् में अपनी प्रतिष्ठा अर्जित करने में बेहद सफल हुई हैं। किंतु, इन कहानियों में तत्कालीन औपनिवेशिक ग्रामीण जीवन और यथार्थ की अनदेखी होती है। आधुनिक हिंदी कहानी के पहले दशक से ग्रामीण जीवन के चित्रण की जिस परंपरा की शुरुआत माधवराव सप्रे, बंगमहिला, भगवान दास आदि किए हैं तथा जिसे सशक्त तरीके से विकसित करने का कार्य प्रेमचंद ने किया है, उसे परवर्ती दौर, विशेषकर जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल के समकालीन दौर में, भुला-सा दिया गया। हिंदी कहानियाँ इस दौर में गाँव के जीवन दूर निकलकर मध्यवर्गीय तथा उच्चमध्यवर्गीय पात्रों के प्रेम, दाम्पत्य तथा यौन संबंधों और समस्याओं की ओर उन्मुख हुई हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल के अपने-अपने मताग्रहों के परिणाम स्वरूप हिंदी कहानी-लेखन का चारित्र्य और दिशा परिवर्तन होता है। हांलाकि, प्रेमचंद के उपरांत तथा स्वतंत्रता पूर्व दौर में इक्की-दुक्की कहानियाँ समय के अंतराल पर अवश्य दिखी हैं- मसलन विश्वंभर नाथ शर्मा, 'कौशिक' की 'अवसरवाद', औचित्य, आत्मग्लानि 'भगवान की इच्छा' उपेन्द्रनाथ 'अशक' की 'बगले' तथा महादेवी वर्मा की 'घीसा' और 'बदलू' जैसी संस्मरणात्मक कहानियाँ आदि। किंतु, इस दौर में जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल के कहानी-गगन में छा जाने के कारण कहानी-लेखन का 'मूड' परिवर्तित हो जाता है। और इस दौरान इक्की-दुक्की ग्रामीण जीवन पर लिखी कहानियाँ हिंदी कहानियों में ग्रामीण यथार्थ की परंपरा के विकास को बाधित होने से नहीं बचा पाती हैं। यही नहीं, स्वतंत्रता के आसपास जब जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल की कहानियाँ अपनी रचनागत चरम बिंदु पर पहुँचती हैं, तब ग्रामीण जीवन-यथार्थ तो दूर, कहानियाँ विचारों और कल्पना के केंचुल में उलझ कर हिंदी कहानी की यथार्थवादी परंपरा को ही शिथिल कर देती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो, हिंदी कहानी की यथार्थवादी लेखन-परंपरा में

एक गत्यावरोध उत्पन्न होता है, जो प्रेमचंदोत्तर युग के दूसरे चरण में, अर्थात् स्वतंत्रता बाद के लेखन-दौर में टूटता नज़र आता है।

स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ही हिंदी कहानी लेखन में महत्वपूर्ण चारित्रिक परिवर्तन हुआ। पहला, अधिकांश कहानियाँ आंदोलन बद्ध रूप में अपना विकास कीं। दूसरा, कहानियाँ बड़े पैमाने पर नगरोन्मुख हुईं। दूसरे शब्दों में, कहानियों के केन्द्र में नगर का जीवन तथा मध्यवर्गीय जीवन-बोध प्रमुख हुआ। कुछ विद्वान इस बदलाव को इस रूप में देखते हैं— “ प्रेमचंद का मूल क्षेत्र जहाँ केवल ग्रामीण सामाजिकता थी, वहाँ इस नए चरण में इन कहानीकारों का क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक हुआ। ग्रामीण सामाजिकता तथा समस्याओं के स्थान पर शहरी मध्यवर्ग और उसकी समस्या अपने विभिन्न पक्षों के साथ कहानी का वर्ण-विषय बनीं।”⁴³ यहाँ, लक्ष्य किया जाए तो विश्लेषण का अधूरापन साफ परिलक्षित है। वैसे, इस सच्चाई से तनिक भी मतान्तर नहीं हुआ जा सकता है कि प्रेमचंदोत्तर कहानियाँ नगरोन्मुख होने लगती हैं; ग्रामीण जीवन का यथार्थ मध्यवर्गीय जीवन-बोध से दिशांतरित होता है। किंतु, बहुसंख्यक भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला तत्कालीन ग्रामीण समाज के बरक्स नए उदित होने वाले नगरों-महानगरों का जीवन और समाज अपनी व्यापकता सिद्ध करता है, तनिक आश्चर्य की बात लगती है। स्वतंत्रता पूर्व प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन के यथार्थ और समस्याओं को राष्ट्र की प्रातिनिधिक समस्याओं से जोड़कर देखा। क्योंकि, उस समय लगभग 80 फीसद लोग ग्रामों में निवास कर रहे थे। कमोवेश यही स्थिति स्वतंत्रता बाद भी बनी रहती है। स्वातंत्र्योत्तर औद्योगिकीकरण और तदनु रूप नगरीकरण की प्रक्रिया के बावजूद भी। एक तथ्य के अनुसार —“1961 की जनगणना के अनुसार देश की लगभग 44 करोड़ जनसंख्या में से 82 प्रतिशत ग्रामीण और 18 प्रतिशत शहरी थी।... ये आकड़े बताते हैं कि आज भी ‘भारतमाता ग्रामवासिनी’ ही है और भारत एक कृषि प्रधान देश है।”⁴⁴ अतः इस संदर्भ में इतना कहना ही समीचीन जान पड़ता है कि प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के स्वातंत्र्योत्तर दौर में कहानियाँ नगरोन्मुख होने लगती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में हिंदी कहानी की विकास धारा में ग्रामीण जीवन और यथार्थ का चित्रण अपनी अस्मिता बनाये रखने में कामयाब रहता है। इसका श्रेय फणीश्वरनाथ ‘रेणु’, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र तथा कुछ अन्य विरले कहानीकारों को दिया जाता है, जो तत्कालीन ‘आंदोलनबद्धता’ तथा नगरोन्मुखता से आक्रांत हुए बिना अपना सृजन-धर्म निबाहते

हैं। यहाँ , प्रेमचंदोत्तर युग या कहानी लेखन के स्वातंत्र्योत्तर दौर के कहानीकारों का संक्षिप्त उल्लेख द्वारा उक्त दौर की कहानियों में चित्रित ग्रामीण जीवन और यथार्थ की परंपरा और विकास को समझा जा सकता है। हालांकि ऊपर जिन ग्रामीण जीवन-बोध के कहानीकारों का उल्लेख हुआ है, उनके साथ-साथ भैरव प्रसाद गुप्त तथा विवेकीराय भी महत्वपूर्ण हैं।

कहना न होगा कि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में भैरवप्रसाद गुप्त हिंदी के एक महत्वपूर्ण साहित्यकार के रूप में उभर कर आते हैं। उनकी कहानियों में ग्राम और नगर दोनों के निचले पायदानों पर स्थित समाज एवं उनकी समस्याओं का अंकन होता है। उनकी समाजवादी चिंता-धारा उनकी कहानियों को स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में एक नई पहचान देती है। उनके प्रमुख कहानी संग्रह – महाफिल, (1958), 'सपने का अंत' (1961), 'आप क्या कर रहे हैं?' (1983), 'बलिदान की कहानियाँ' (1997), उनके दीर्घ अवधि तक कहानी-लेखन में बने रहने तथा स्वातंत्र्योत्तर ग्राम और नगर के हाशिए पर स्थित समाज की सचाइयों के अंकन की दास्तान बयान करते हैं। आनंद प्रकाश उनके संबंध में लिखते हैं—“ भैरव की कहानियों का परिवेश आजादी के बाद का समस्याग्रस्त समाज है जिसमें ईमानदार और परिश्रमी लोगों के लिए हर कदम पर निराशा और पीड़ा उपस्थित रहती है। उनकी कहानियों के पात्र शहरों और कस्बों में रहते हुए अपने भविष्य के बारे में सपने देखते हैं।”⁴⁵ यद्यपि, भैरव जी की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन-बोध तथा मजदूरों का जीवन और संघर्ष खूब रूपायित होता है, तथापि उनकी अनेक कहानियाँ ग्रामीण जीवन के यथार्थ को भी उज्जीवित करने में महत्वपूर्ण साबित होती हैं। प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के स्वातंत्र्योत्तर चरण में ग्रामीण जीवन का चित्रण करने में उनकी भूमिका नज़रअंदाज करने वाली नहीं है। उनकी 'न्यौता', 'डाकुओं का सरदार', 'कदम के नीचे', 'धनिया की साड़ी', 'नया खाता', 'मंगली की टिकुली', आदि कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ अपने नए आयाम में उद्घाटित होता है। 'धनिया' की साड़ी तथा 'मंगली की टिकुली' भैरव जी की ग्रामीण जीवन की बेहद चर्चित कहानियों के रूप में जानी जाती हैं।

विवेकीराय भी प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में उभरने वाले महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। उल्लेखनीय है कि वे ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि पर न सिर्फ लिखते हैं, बल्कि इसी जीवन में रच-बस जाते हैं। उनके प्रमुख कहानी -संग्रहों में 'जीवन परिधि'

(1952), 'नयी कोयल' (1975), 'गूंगा जहाज' (1977), 'बेटे की बिक्री' (1977), 'कालातीत' (1982), 'चित्रकूट के घाट पर' (1988), 'श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ' (1996), आदि का नाम लिया जाता है, जो हिंदी कहानी लेखन में उनके दीर्घ अवधि तक बने रहने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। उनका योगदान ग्रामीण जीवन-यथार्थ को कहानियों के माध्यम से उज्जीवित करने में बड़ा अहम है। गोपाल राय का कहना है – " विवेकीराय की कहानियों को उस प्रगतिशील चेतना धारा से जोड़कर देखा जा सकता है जो प्रेमचंद के बाद मंद पड़ती दिखाई दे रही थी।"⁴⁶ विवेकी राय अपने परिवेशगत यथार्थ तथा उसकी समझ और पहचान को अपनी कहानियों में उद्घाटित करते हैं। उनकी कहानियों में जमींदारी अत्याचार और दबंगई, ('मरछिया', 'आदमी का पइया', 'बड़ा आदमी', 'सेठ की हजामत' आदि), स्वतंत्रता व्यापी भ्रष्टाचार ('मरछिया', 'रावण' 'बेइमानी के देश' आदि), गरीबी, अभावग्रस्तता तथा आर्थिक विषमता का चित्र ('अतिथि', 'स्वयंमेले', 'तीन प्रणम्य देवियाँ' 'दादूर धुनि चहुँ ओर' 'कुछ दाने के माने' आदि), बदलते ग्राम-जीवन की पहचान ('गूंगा जहाज', 'भड़क :दो चित्र', 'पुराने गुलाब नए गाँव', 'नयी कोयल' 'बुढ़िया' 'लाटरी के रुपये' 'एक दिन रेल हमारी' आदि), गाँवों में राजनीतिक भटकाव की स्थिति ('चुनाव चक्र', 'हमारे गाँव कहाँ हैं?', 'रावण' 'काशी का भोज', 'सारे जहाँ से अच्छा' 'सभा', 'दमरी की खोज', ब्रह्म विहार' आदि), सनातन भारतीय ग्राम मानस की पहचान ('ग्राम मन की भूख', 'स्वयंमेले', 'आदमी का पइया', 'हाय रे परान' 'आकाश वृत्ति' आदि), ग्रामीण जन जीवन में मूल्य संक्रमण ('पदयात्रा', 'दीप तले अंधेरा', 'स्वयंमेले', 'रावण', 'नयी कोयल', 'प्लास्टिक के जूते', 'बड़ी जेल के बाहर'), मूल्य ध्वंस ('सुराजी भवानी का फेर', 'कफन', 'दादा कह गए', आदि), नए मूल्यों का उभार ('कच्चा गुलाब', 'दादा कह गए', 'पुराने गुलाब नए गाँव', आदि), स्वातंत्र्योत्तर विकास योजनाओं का सच ('सीवान का कोल्हू', 'ऐसा भी होता है', 'विलायती डिजाइन का अफसर' 'भड़क: दो चित्र' आदि) जैसे अनेक पहलुओं और समस्याओं को उकरने का प्रयास दिखाई देता है। उनका यह स्तुत्य प्रयास स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ चित्रण को हिंदी कहानी से सम्पृक्त करता है। डॉ. रामदरश मिश्र उनके संबंध में स्पष्ट कहते हैं- " गाँव की बनती-बिगड़ती जिंदगी के बीच जीते हुए और उसे पहचानते हुए वे चलते हैं। इसलिए गाँव के जीवन से संबंधित उनके अनुभवों का खजाना चुका नहीं, नित भरता गया।... लगता है उनके अनुभवों से लगातार बदलता हुआ अंचल अपने बहुआयामी यथार्थ के साथ खलबला रहा है जो उनकी कहानियों के माध्यम से फूट

पड़ने को आकुल-व्याकुल हो।⁴⁷ कहने का तात्पर्य यह है कि उनका कहानी-लेखन ग्रामीण-यथार्थ चित्रण की परंपरा का विकास करता नजर आता है।

प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में फणीश्वरनाथ 'रेणु' अपनी निजी विशिष्टताओं के बल पर एक अलग पहचान कायम करते हैं। हालांकि, वे स्वतंत्रता पूर्व ही कहानी-लेखन आरंभ कर देते हैं, किंतु उनकी कहानीकार की पहचान स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ही बनती है। उनकी कहानियाँ 'ठुमरी', 'आदिम रात्रि की महक', 'अच्छे आदमी', 'एक श्रावणी दोपहरी की धूप', 'अग्निखोर', 'फणीश्वरनाथ रेणु : श्रेष्ठ कहानियाँ', 'मेरी प्रिय कहानियाँ' आदि संग्रहों में संकलित हैं। रेणु की कहानियाँ ग्रामांचल तथा नगर जीवन दोनों को अपने तर्ज अन्तर्भुक्त करती हैं। किंतु, उनकी पहचान एक ग्रामांचल कहानीकार के रूप में ही है। प्रेमचंदोत्तर कहानी लेखन में उनकी कहानियाँ प्रेमचंद की परंपरा में रहते हुए भी उनसे अलग एक विशिष्ट स्थान बनाती हैं। गोपाल राय कहते हैं— " ग्रामीण जीवन के अंकन में रेणु, प्रेमचंद के उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं; ऐसा उत्तराधिकारी जो उनके रिक्थ को समृद्ध करता है।"⁴⁸ कहने का अभिप्राय यह है कि रेणु की कहानियाँ ग्रामीण -यथार्थ के चित्रण की परंपरा में एक नए आयाम को खोलती हैं। ग्रामांचल जीवन की समग्रता तथा इनके मध्य मानवीय संबंधों की उष्मा तथा प्रेम-संवेदना की अभिव्यक्ति उनकी कहानियों की अपनी थाती है। जिसे उनकी प्रायः चर्चित कहानियों- 'रसप्रिया', 'संवदिया', 'तीसरी-कसम', 'लाल पान की बेगम', 'सिरपंचमी का सगुन', 'ठेस', 'पंचलाइट', में लक्ष्य किया जाता है। उनका आंचलिक कथा-शिल्प उन्हें तमाम ग्रामीण कथाकारों में विशिष्ट बना देता है। रेणु अपनी निजी विशिष्टताओं ग्रामांचल की समग्रता का अंकन, मानवीय भावना की दीप्ति, प्रेम संवेदना की तरलता तथा सूक्ष्मता, लोक जीवन, कला और संस्कृति की संरक्षण-भावना तथा आंचलिक कथा-शिल्प-भाषा आदि- के साथ प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण जीवन यथार्थ की परंपरा को विकसित करने का सफल प्रयास करते नजर आते हैं।

शिवप्रसाद सिंह स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन बोध के एक सशक्त रचनाकार के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं। उन्होंने 'आर-पार की माला', 'युद्ध', 'कर्मनाशा की हार', 'इन्हें भी इंतजार है', 'मुर्दा सराय', 'अंधेरा हँसता है', 'भेड़िए', 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'अंधकूप', 'एक यात्रा सतह के नीचे', 'सुनों परीक्षित सुनो', 'अमृता', तथा 'राग-गूजरी', आदि

कहानी-संग्रहों के माध्यम से कहानी जगत् में अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी है। उन्होंने अपनी ग्रामीण जीवन-बोध की कतिपय कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर उन धरातलों को स्पर्श करने की चेष्टा की है, जो उनके अनुसार उपेक्षित रह जाती हैं। उनकी कहानियों में गाँव के अति सामान्य व्यक्तियों को भी सहानुभूतिपूर्ण तरीके से चित्रित करने और उन्हें व्यक्तित्व प्रदान करने की कोशिश हुई है। उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन के अनेक रंग मिलते हैं। उनकी 'गंगा तुलसी' कहानी में एक पुत्र के अपने नाजायज होने की कुंठा का चित्रण है, तो वहीं 'आखिरी बात' कहानी में दो बूढ़ी पात्राओं के जरिए ग्रामीण जीवन के साम्प्रदायिक सौहार्द को दिखाने की कोशिश है। इसी तरह 'नन्हों', 'बरगद का पेड़' 'कर्मनाशा की हार', 'प्रायश्चित' आदि कहानियों में प्रेम-संवदेना तथा सामाजिक परिस्थितियों से उसकी मुठभेड़ की भावना खुलकर आती है।

'नन्हों' कहानी में प्रेम-संवदेना का टकराव जहाँ, परंपरागत नैतिकता के साथ होता है वहाँ, 'कर्मनाशा की हार' में थोथी अंधमान्यताओं से। 'कर्मनाशा की हार' कहानी में भैरों पांडे छोटे भाई की प्रेमिका और उसके अवैध बच्चे की बलि से रक्षा करते हुए जो कहते हैं उससे ग्रामीण जीवन की अंधमान्यताओं पर चोट पड़ती है— " कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुँहे बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी। उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बाँध को ठीक करना होगा।"⁴⁹ 'नन्हों' कहानी ग्रामीण जीवन की वैवाहिक विडम्बना को उजागर करती है। जहाँ, नन्हों नामक स्त्री को विवाह के रूप में धोखा मिलता है। 'नन्हों' का जीवन दाम्पत्य जीवन की नैतिकता तथा प्रेम-संबंध की चाह के मध्य दोलित नज़र आता है। शिवप्रसाद सिंह का कहानीकार ग्रामीण स्त्री के मन के अंतर्द्वन्द्व को बड़े साहसी तरीके से यहाँ दिखालाता है। कहानी के अंत में नन्हों का रामसुभग को चले जाने के लिए कहना तथा उसे विदा कर किवाड़ का बंद करना पर उसकी सांकल को न चढ़ाना परंपरागत दाम्पत्य नैतिकता के साथ व्यक्तिगत प्रेमेच्छा के टकराव का संकेत करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के वैविध्य को उभारती हैं। जहाँ ग्रामीण जीवन के विविध रंग मिलते हैं। जहाँ ग्रामीण जीवन की गरीबी और विषमता का चित्र है ('मुर्गे ने बाँग' दी, 'महुए का फूल'), शोषण है ('आर-पार की माला', 'उस दिन तारीख भी'), नारी की दुर्गती है ('उपाधाइन मैया', 'केवड़े का फूल', 'कहानियों की कहानी'), संघर्षजीवी कृषक-मजदूर तथा उपेक्षित व्यक्ति और वर्ग है ('पापजीवी', 'माटी की औलाद'), अंधविश्वास के प्रति विद्रोह है ('कर्मनाशा की हार', 'उपहार'), ग्रामीण व्यवस्था की स्थिरता, परंपरागत रस्म-

रिवाज और परिवर्तन की आहट है ('इन्हें भी इंतजार है', 'मुरदा सराय', 'धरातल', 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'अँधेरा हँसता है'), गाँव के जीवन में शहरी जीवन का मूल्य-संक्रमण है ('ताड़ी घाट का पुल', इंटरव्यू 'तो' 'उखड़ी लकीरे'), गाँव की दुखद गाथा में प्रेम-स्नेह और सौंदर्य के फूल भी हैं ('दादी माँ' 'बरगद का पेड़')। जिससे स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में ग्रामीण जीवन के यथार्थ की परंपरा समृद्ध होती है।

रामदरश मिश्र प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के स्वातंत्र्योत्तर दौर में अपनी पहचान बनाने वाले एक महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। हालांकि, वे स्वतंत्रता के ठीक बाद ही कहानी लेखन में प्रवृत्त हो जाते हैं। किंतु, उनका पहला कहानी-संग्रह स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद आता है—' मिश्र जी का पहला कहानी-संग्रह 'खाली घर' (1960) था जिसमें उनकी 1953-1960 की अवधि में लिखित केवल एक कहानी संकलित थी।'⁵⁰ ध्यातव्य है कि इन कहानियों का परिवेश ग्रामीण जीवन है, जो उन्हें उनके प्रारंभिक दौर में ही ग्रामीण जीवन-बोध के कहानीकार की पहचान देता है। उनकी यह पहचान आगे भी कायम रहती है। उनके प्रमुख कहानी-संग्रहों — 'खाली घर', 'एक वह', 'दिनचर्या', 'सर्पदंश', 'अपने लिए', 'फिर कब आयेंगे', 'कुछ और कहानियाँ', 'आज का दिन भी', 'एक कहानी लगातर', — में लगभग दो दर्जन से भी अधिक ग्रामीण जीवन और बोध की कहानियाँ संकलित हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के विभिन्न आयामों को छूने का प्रयास किया है। उनकी 'माँ, सन्नाटा ओर बजता हुआ रेडियो' कहानी अकाल और अभावग्रस्तता को स्वातंत्र्योत्तर काल में ग्रामीण जीवन में व्याप्त होने को, हकीकत स्वरूप दिखालाती है। इसी तरह उनकी 'सड़क' कहानी में आजादी तथा स्वातंत्र्योत्तर राजनीति से गाँवों के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन न होने की दशा को प्रस्तुत कहानी के मास्टर चद्रभान की दुर्दशा में दिखालाया जाता है— "पर... पाण्डे जी उदास हो आए। हाथ लगाकर देखा-खादी की धोती चूतड़ पर फिर फट गयी थी। धोती क्या है जैसे चीथड़ों की जोड़। खादी उसे बेपर्द करके छोड़ेगी। अब वह क्या करे।"⁵¹ इसी तरह उनकी 'मंगल यात्रा' (ग्रामीण जीवन के अंधविश्वास पर चोट), 'एक अधूरी कहानी' (ग्रामीण नारी जीवन), 'सर्पदंश', (सवर्णों-समर्थों द्वारा हरिजन पर अत्याचार), 'वंसत का एक दिन' 'आखिरी चिट्ठी, पिता, 'घर लौटने के बाद' (पारिवारिक संबंधों तथा उससे उत्पन्न समस्याओं), ' भागवत कथा' (महाजनी शोषण) आदि विभिन्न कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के विविध पहलुओं को उज्जीवित करने की चेष्टा हुई है। जिससे ग्रामीण जीवन और यथार्थ की कहानी धारा को

मजबूत बनाने में कहानीकार रामदरश मिश्र का अवदान स्पष्ट होता है।

मधुकर गंगाधर भी स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में अपनी कुछेक कहानियों के माध्यम से हिंदी कहानी में ग्रामीण जीवन यथार्थ के चित्रण की परंपरा को विकसित करते हैं। उनका छठे दशक के उत्तरार्द्ध में उभर कर आना ग्रामीण बोध के कहानीकारों की परंपरा को समृद्ध ही करता है। ग्राम-जीवन की पृष्ठभूमि में उनकी 'गूँज' तथा 'फाँसी' आदि कहानियों में प्रेम-संवेदना को आधार बनाया गया है। 'गूँज' कहानी में एक विधवा की दयनीय स्थिति का संकेतपूर्ण वर्णन है जबकि, 'फाँसी' कहानी में ग्रामीण जीवन के सवर्ण समाज की लड़की और पिछड़े वर्ग के एक युवक का प्रेम तथा उससे उपजी त्रासपूर्ण स्थितियों का चित्रण है। उनकी 'गंध', 'बरगद', 'सिक्के बदल गए', 'संकट-ग्रस्त', 'घाव', 'दाँत' आदि कहानियों में प्रेम-संवेदना से इतर अन्य ग्रामीण सामाजिक-राजनीतिक पहलुओं को उज्जीवित होते हुए देखा जाता है। मधुकर गंगाधर अपनी कुछेक कहानियों की बदौलत ग्रामीण जीवन के प्रेम संबंध सहित पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आदि पहलुओं को चित्रित कर हिंदी कहानी में ग्रामीण जीवन और यथार्थ के चित्रण की परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं।

प्रेमचंदोत्तर दौर के स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में मधुकर सिंह भी ग्रामीण जीवन-बोध के कहानीकारों की परंपरा को समृद्ध करते हैं। उनके प्रमुख कहानी-संग्रह – 'पूरा सत्राटा' (1970), भाई का जख्म, (1975), 'अगनुकापड़' (1978), 'पहला पाठ' (1979), तथा 'माई' (1983), आदि हैं। मधुकर सिंह की कहानियों से गुजरते हुए विद्याधर शुक्ल की निम्न टिप्पणी उक्त प्रसंग को भली-भाँति स्पष्ट करती है— "सन सत्तर के इर्द-गिर्द नयी कहानी के बिखराव और साठोत्तरी तथाकथित कहानीकारों के अधःपतन के पश्चात् के प्रेमचंद की कथाधारा को गति प्रदान करने वाले कथाकारों में मधुकर सिंह का नाम अग्रणी है।"⁵² उनकी कहानियों में भूमि-संबंधों के अनसुलझे रूप में, पिसते ग्रामीण आमजन, सरकारी तंत्र की फैलती भ्रष्टता में पीड़ित आमजन, आमजन पर होने वाले अत्याचार-शोषण के साथ जातिवाद, वर्णभेद, शोषण, मँहगाई, बेराजगारी आदि विविध पहलुओं को समेटने का प्रयास है। इस दृष्टि से उनकी 'वह दिन', लहु पुकारे 'कवि मुनेसर मास्टर', 'हरिजन सेवक', 'अगनुकापड़', पहला पाठ', शुक्ल की भैंस', 'कटहल का पेड़', 'बाढ़', 'कहानी की चिट्ठी' 'सत्ताचारी' आदि कहानियों को देखा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आम जन की मुख्य समस्या-भूमि संबंधों का उलझा रूप-उनकी 'अगनुकापड़' 'बाढ़', 'रक्तबीज', 'स्वर्ग का विश्वास आदि कहानियों में विशेष रूप से उभरता है। इसी प्रकार उनकी 'फिलहाल' कहानी में पिता-पुत्र और भाइयों के संबंध को चित्रित कर ग्रामीण पारिवारिक जीवन के यथार्थ रूप को दिखाने की कोशिश है। 'बाढ़' कहानी में ग्रामीण नारी के संघर्ष दिखाकर ग्रामीण नारी-जीवन के पहलू को दर्शाया गया है। सबसे प्रमुख बात यह कि, ग्रामीण जीवन और समस्याओं के प्रति संघर्ष और विद्रोह की स्थितियों को दर्शाने की चेष्टा हुई है, जो मधुकर सिंह के कहानीकार रूप को विशिष्ट आयाम प्रदान करती है। विद्याधर शुक्ल इस संदर्भ में कहते हैं—“जाहिर है कि शोषितों को इन विषय स्थितियों के खिलाफ स्वयं लड़ना होगा, उनका कोई हमदर्द नहीं। मधुकर सिंह की कहानियाँ इन तोड़क स्थितियों के खिलाफ समझदार सवाल उठाती हैं और संघर्ष का रास्ता अपनाने के लिए उन्हें अगाह करती हैं।”⁵³ इस प्रकार मधुकर सिंह की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के विविध पहलुओं को सशक्त ढंग से उठाती हैं तथा प्रेमचंदोत्तर ग्रामीण-यथार्थ के चित्रण को स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य तथा उसके बाद के समय में भी प्रवाहमान बनाए रखती हैं।

इस संदर्भ में यह कहना प्रासंगिक लगता है कि प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में जिन महत्वपूर्ण कहानीकारों-भैरव प्रसाद गुप्त, विवेकीराय, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, रामदरश मिश्र, 'मधुकर गंगाधर' मधुकर सिंह आदि-के द्वारा ग्रामीण जीवन-यथार्थ के चित्रण की परंपरा का विकास होता है, उसमें फिर एक नया महत्वपूर्ण मोड़ बीसवीं सदी के अंतिम दशक में कतिपय कहानीकारों की प्रचेष्टा स्वरूप आता है। इस संदर्भ को डॉ. सत्यकाम स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—“इधर पिछले एक दशक में अर्थात् बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक से कहानीकार फिर से गाँव की ओर मुड़ा है और कई अच्छी कहानियाँ सामने आई है।”⁵⁴ कहने का तात्पर्य यही है कि भूमंडलीकृत होते समाज तथा समय में गाँवों के नए परिदृश्य को उकेरने के लिए कहानीकारों का मन गाँवों की ओर फिर लौटता है।

वैसे इस संदर्भ में उल्लिखित है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मुनाफे के खतरनाक खेल में, स्वातंत्र्योत्तर पसरा पूँजीवाद अपनी नई शकल हासिल करता है। जहाँ, चौतरफा हमला ग्राम्य जीवन तथा उसकी संस्कृति पर होता है। ऐसे में, ग्रामीण जीवन के

संघर्षशील आमजन के समक्ष नई चुनौतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं नई चुनौतियों के मध्य ग्राम्य जीवन के नए फलक को उकरने की चिंता और प्रचेष्टा बीसवीं सदी के अंतिम दशक के बाद शुरू होती है, जो सांप्रतिक परिदृश्य में भी जारी रहती है। ग्रामीण जीवन के नवोदित कहानीकार और चिंतक गौरीनाथ अपने लेख 'हम किस दिन के इंतजार में हैं' में उपर्युक्त स्थितियों का स्पष्टीकरण निम्न रूप में करते हैं—“पूँजीवाद सदा से संघर्षशील जन के विकास में बाधक ओर शोषण चक्र को मजबूती प्रदान करने वाला रहा है। लेकिन उदारीकरण के बाद के 'ग्लोबल' समय में यह और ज्यादा खतरनाक, निरंकुश और ग्राम्य अवधारणा को नष्ट-भ्रष्ट करने वाला साबित हुआ है। अब न ही गाँव की वह स्वायत्त व्यवस्था रहेगी न ही उसका कोई सही और स्वस्थ रूप बदलकर आएगा। न स्वतंत्र रूप में कोई छोटे या मझोले किसान बचेंगे, न उनके बीच कोई सामूहिकता की भावना। ...आज संपूर्ण आक्रमण ग्राम्य-व्यवस्था, स्वतंत्र किसानी और सामूहिकता की भावना को जड़ से समाप्त करने को लेकर है। यह आक्रमण आज चौतरफा जारी है।”⁵⁵ जिससे सांप्रतिक समय की भयावहता का पता चलता है। ऐसे भीषण माहौल में, जब चौतरफा आक्रमण राष्ट्र के बहुसंख्यक लोगों की जीवन-पद्धति और समाज पर होता है, कतिपय कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के 'ग्लोबल' होते समय में भी ग्रामीण जीवन के बदले यथार्थ को हिंदी कहानियों से जोड़ने का महत् कार्य करते हैं। गौरीनाथ इस संदर्भ को कुछ इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—“यह सच है कि गाँव के विघटन और शहर की तरफ पलायन की प्रक्रिया में लेखकों को भी पलायन तेज हुआ है, लेकिन किसान-मजदूर शिल्पकार-दस्तकार के जीवन अनुभवों से गहरे अर्थों में जुड़े लेखकों का अकाल नहीं है। ...बहरहाल पिछले सोहल वर्षों (1990-2006) की कहानियों पर गौर करें, तो संघर्षशील आमजन की कहानियाँ लिखनेवाले की एक स्वस्थ परंपरा निरंतर चली आ रही है। निश्चय ही प्रेमचंद की परंपरा का विकासक्रम हिंदी कहानी में साफ दिखता है।”⁵⁶ कहने की बात नहीं है कि प्रेमचंदतोर परिदृश्य के इस दौर में भी कुछ महत्त्वपूर्ण कहानीकारों का हिंदी कहानी लेखन के पटल पर ग्रामीण जीवन के बदलते यथार्थ की कहानियों के साथ उपस्थित होना इस बात का परिचायक है कि ग्रामीण-जीवन और यथार्थ की परंपरा हिंदी कहानी में चुकी नहीं है। शिवमूर्ति ('तिरिया चरित्तर'), मिथिलेश्वर ('भोर होने से पहले', 'मेघना का निर्णय', तिरिया जनम), संजीव ('तीस साल कस सफपरनामा', 'तिरबेनी का तड़बन्ना', 'पूत-पूत! पूत-पूत', 'टीस', 'जसी बहू' 'धनुषटंकार' आदि), मैत्रेयी पुष्पा ('चिन्हार', 'ललमनिया', 'फैसला' आदि), ऋता शुक्ल

‘अमरो’, ‘चक्षुदाह’, (‘मान-मरजाद’, ‘सातवी बेटी’ आदि), जयनंदन (‘गिद्ध’, ‘झपट्टा’) सृंजय (‘मूँछ’), गौरीनाथ (‘दुरंगा’, ‘जलन’, ‘पहचान’, ‘भरोसा’, ‘मानुष’ आदि) आदि कहानीकार एवं उनकी कहानियों कि हिंदी कहानी-लेखन में दखल उपर्युक्त तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। यह भी एक सच है कि सांप्रतिक दौर में कहानीकार प्रायः गाँवों से बड़े शहरों में सिमटते जा रहे हैं। यह प्रक्रिया स्वतंत्रता बाद ही तेज हो जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप ग्रामीण जीवन पर आधारित कहानियों का हिंदी कहानी लेखन की मुख्य धुरी नहीं बनना होता है। इसका एक प्रमुख कारण, कथा समीक्षक तथा कहानी पत्रिकाओं के संपादकों की उपेक्षा भी रहा है। किंतु इन सबके बावजूद हिंदी कहानी-लेखन के प्रारंभिक दौर से सांप्रतिक दौर तक ग्रामीण जीवन और यथार्थ की उपेक्षा नहीं हो पाती है। इस तथ्य की ओर इशारा करते हुए बजरंग बिहारी तिवारी कहते हैं—“इस माहौल में गाँव केन्द्रित कहानियों का एक संकलन ‘कथा में गाँव’ का प्रकाशन सुखद घटना है। यह संकलन इस धारणा को तोड़ता है कि अब गाँव केन्द्रित कहानी लेखन के दिन बीत गए। अथवा, किसान जीवन के नए यथार्थ को व्यक्त करनेवाली कहानियाँ नहीं लिखी जा रही है।”⁵⁷ उल्लेखनीय है कि इस संकलन में संगृहित कई कहानियाँ ग्रामीण जीवन को नए ढब में प्रस्तुत करती हैं, जो अब तक प्रेमचंदोत्तर परिदृश्य के कहानीकारों-रेणु, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और रामदश मिश्र आदि के गाँवों से बहुत कुछ अलग है।

अतः निष्कर्ष स्वरूप हिंदी कहानियों में ग्रामीण यथार्थ की परंपरा और विकास की बात की जाए तो कई महत्त्वपूर्ण बिंदु उभरकर आते हैं। पहला, हिंदी कहानियाँ ‘यथार्थ’ दृष्टि तथा पहचान के साथ पारंपरिक कथा-आख्यायिका से मुक्त होती हैं। यह प्रेमचंद पूर्व कहानी चरण में होता है। इसी चरण में हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण यथार्थ का चित्रण बीजारोपित होता है। जिसकी नींव रखने में माधव राव सप्रे तथा बंगमहिला आदि का नाम प्रमुख है। दूसरा, ग्रामीण यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से प्रेमचंद का हिंदी कहानी-लेखन में आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में है। प्रेमचंद ग्रामीण-जीवन के यथार्थ तथा उसकी समस्याओं को राष्ट्र की समस्याओं से जोड़कर हिंदी कहानी लेखन में ग्रामीण-जीवन को चित्रित करने की परंपरा को एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में तब्दील कर देते हैं। उनकी विपुल सृजनात्मकता के कारण इस दौर (प्रेमचंदयुगीन कहानी-लेखन) के अन्याय लेखक उस ऊँचाई को स्पर्श नहीं कर पाते हैं। इसी कारण वे सर्वथा अकेले अपने युग के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में उभरते हैं। केवल उनकी कहानियाँ औपनिवेशिक ग्रामीण जीवन के

कई आयामों को उद्घाटित करती हैं। उनकी 'सौत' से 'कफन' आदि कहानियों में यथार्थ के विविध आयाम हैं। तीसरा, प्रेमचंदोत्तर युग में ग्रामीण-बोध के कहानीकारों के बजाय नगर जीवन के मध्यवर्गीय बोध के रचनाकर हिंदी कहानी-गगन में छा जाते हैं। यह, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल के दौर में होता है। अर्थात् प्रेमचंद के बाद तथा स्वतंत्रता पूर्व के वर्षों में जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल के मताग्रहों के दुष्परिणाम स्वरूप न सिर्फ ग्रामीण बोध की कहानी धारा का क्षय होता है, बल्कि हिंदी कहानी की यथार्थवादी धारा भी बाधित होती है। चौथा, प्रेमचंदोत्तर दौर के स्वतंत्रता बाद के प्रारंभिक वर्षों में दो महत्त्वपूर्ण बातें घटती हैं। पहला, कहानियाँ आंदोलन बद्ध और नगरोन्मुख हो जाती हैं। दूसरा, स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र की उमंग भावना चंद मगर महत्त्वपूर्ण कहानीकारों को प्रेमचंद की ग्रामीण यथार्थ-चित्रण की परंपरा से जोड़ती है। इनमें भैरव-प्रसाद गुप्त, विवेकीराय, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, रामदरश मिश्र, मधुकर गंगाधर, मधुकर सिंह का नाम प्रमुख रूप से उभर कर आता है। ये कहानीकार ही स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण यथार्थ की कहानियों की क्षीण धारा को मजबूती प्रदान किए रहते हैं। पाँचवा, बीसवीं सदी के आखिरी दशक में एक महत्त्वपूर्ण घुमाव आता है। जहाँ, कई महत्त्वपूर्ण कहानीकार ग्रामीण यथार्थ को बदले हुए माहौल को चित्रित करने में तत्पर दिखाई देते हैं। जिनमें मैत्रेयी पुष्पा, ऋता शुक्ल महिला कहानीकार समेत मिथिलेश्वर, संजीव, संजय, जयनंदन आदि कई नाम उभरकर आते हैं। यही नहीं बीसवीं सदी के आखिरी दशक में देश की अर्थव्यवस्था में आया बदलाव, उदारीकरण समेत बाजरवादी शक्तियों का वर्चस्व नए कहानीकारों को गाँवों को नए ढंग से देखने और उसे चित्रित करने की ओर प्रवृत्त करता है, जो सांप्रतिक कहानी-लेखन- अर्थात् गौरीनाथ, विजयकांत, महेश कटारे, राकेश कुमार सिंह, कैलाश बनवासी, सुभष चंद्र कुशवाहा आदि की कहानियों में भी जारी रहती है। अतः मौटे तौर पर कहा जाए तो बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्ष से इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक तक के सौ वर्षों से अधिक की समायावधि में, हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण यथार्थ की परंपरा क्रमशः विकसित होती रहती है। यही विकास कहानीकारों की यथार्थ दृष्टि और एप्रोच में उत्तरोत्तर बदलाव लाता रहता है। जो यथार्थ के गतिमान स्वरूप के सच को प्रतीकित करता हुआ हिंदी कहानी से उसकी सम्पृक्ति को दर्शाता है।

संदर्भ-सूची

1. फास्ट, हावर्ड, साहित्य और यथार्थ (अनुवाद: सुषमा विजय), अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 1993, पृ. 17
2. उपरिवत्, पृ.02
3. उपरिवत्, पृ.20
4. उपरिवत्, पृ. 30
5. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009 पृ.214
6. डॉ सत्यकाम, नयी कहानी नए सवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र. सं.-2002, पृ.11
7. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास:1900-1950, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 19
8. डॉ सत्यकाम, नयी कहानी नए सवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र. सं.-2002, पृ.11
9. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद प्र. सं.: 2001, पृ. 47
10. डॉ सत्यकाम, नयी कहानी नए सवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र. सं.-2002, पृ.13-14
11. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास:1900-1950, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 29
12. उद्धत, चौहान, डॉ. वी. पी., रामदरश मिश्र के कथा-साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.-2004, पृ. 13
13. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 1996, पृ. 12
14. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 1996, पृ. 12
15. पाण्डेय, डॉ. भवदेव(संपादक), हिंदी कहानी का पहला दशक, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लि., नयी दिल्ली, प्र. सं.-2006, पृ. 6
16. सिंह, डॉ. पुष्पपाल, समकालीन कहानी: युगबोध का संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. सं. 1986, प्र. सं. 2006, पृ. 52
17. डॉ सत्यकाम, नयी कहानी नए सवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र. सं.-2002, पृ.15
18. पाण्डेय, डॉ. भवदेव(संपादक), हिंदी कहानी का पहला दशक, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली, प्र. सं.-2006, पृ. 59

19. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास:1900-1950, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 58
20. पाण्डेय, डॉ. भवदेव(संपादक), हिंदी कहानी का पहला दशक, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली, प्र. सं.-2006, पृ. 32
- 21.उपरिवत्, पृ. 75
22. उपरिवत् पृ. 76
- 23.उपरिवत्, पृ. 40
24. उपरिवत् पृ. 41
25. उपरिवत्, पृ. 132
- 26.डॉ. पाण्डेय, भवदेव(संपादक), हिंदी कहानी का पहला दशक, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली, प्र. सं.-2006, पृ.45
27. उपरिवत् पृ. 112
28. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास:1900-1500, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 50
29. डॉ. पाण्डेय, भवदेव(संपादक), हिंदी कहानी का पहला दशक, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली, प्र. सं.-2006, पृ. 150
30. लाल, डॉ. लक्ष्मीनारायण, (संपादक) कथा भारती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण-2005, भूमिका, पृ. 10
- 31.राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास:1900-1950, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 105
32. सिन्हा, डॉ. किशोर हिंदी की आंचलिक कहानी-परंपरा और प्रयोग, जिज्ञासा प्रकाशन, पटना, प्र.सं.:2002, पृ. 25
33. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, कहानीकार प्रेमचंद :रचना दृष्टि और रचना शिल्प, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 प्र. सं.2002, पृ.82
- 34.वर्मा, निर्मल और गोयनका, कमल किशोर (संपादक), प्रेमचंद:रचना संयचन, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, सं. 2004, पृ. 214

35. ठाकुर खगेन्द्र और सिंह नामवर (संपादक), प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन नेशनल बुक्स ट्रस्ट, इंडिया, प्र.सं.: 2006, पृ. 176
36. वर्मा, निर्मल और गोयनका, कमल किशोर (संपादक), प्रेमचंद: रचना संयोजन, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, सं. 2004, पृ. 128
37. उपरिवत् पृ. 175
38. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.: 1996, पृ. 42
39. उपरिवत् पृ., 41
40. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास: 1900-1950, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 181
41. अज्ञेय, अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली सं. 2008, भूमिका पृ. 19-20
42. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर नई कहानी: संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं.: 1973, पृ. 41-42
43. लाल, डॉ. लक्ष्मीनारायण, (संपादक) कथा भारती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण-2005, भूमिका, पृ. 27
44. उद्धृत, उपाध्याय, डॉ. रमेश, हिन्दी कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.: 1999, पृ. 124-125
45. प्रकाश, आनंद हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 1997, पृ. 93
46. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास: 1900-1950, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 433
47. राय, विवेकी, श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1966, फ्लेपेसे
48. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2: 1951-1975, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2011, पृ. 60
49. सिंह, शिवप्रसाद, चर्चित कहानियाँ: शिव प्रसाद सिंह, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली सं.: 1997, पृ. 70

50. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2:1951-1975, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2011, पृ. 60
51. मिश्र, रामदरश चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.: 2001, पृ. 75
52. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2:1951-1975, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2011, पृ. 475
53. उपरिवत्, पृ. 476
54. डॉ सत्यकाम, नयी कहानी नए सवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र. सं.-2002, पृ.28
55. साभार, हंस, अंक-1, अगस्त, 2006, पृ. 3
56. उपरिवत्, पृ. 4-5
57. उपरिवत्. पृ. 13

तृतीय अध्याय

मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ

मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ

मार्कण्डेय की कहानियों में उज्जीवित ग्रामीण जीवन-यथार्थ को भलीभाँति समझने के क्रम में, उनकी ग्रामीण जीवन-संदर्भ की कहानियों का संक्षिप्त परिचय एवं ग्रामीण जीवन की संकल्पना को समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

3.1 मार्कण्डेय की कहानियाँ : एक परिचय

मार्कण्डेय की पहचान प्रेमचंद के बाद तथा 'नयी कहानी' के आस-पास के दौर में, एक ग्रामीण यथार्थवादी कहानीकार की बनती है। शेखर जोशी इस प्रसंग में लिखते हैं- " सन् 1936 में प्रेमचंद की मृत्यु के बाद हिंदी कहानी नगर-केन्द्रित हो गयी थी। मार्कण्डेय ने अपने कथा-लेखन की शुरुआत ग्रामीण परिवेश को केन्द्र में रखकर की थी और यही उनकी मुख्य कथाभूमि थी।"¹ उनका पहला कहानी-संग्रह 'पान-फूल' सन् 1954 में प्रकाशित होता है जबकि उनका कहानी-लेखन सन् 1952 से पहले ही शुरू हो जाता है। उनके जीवन काल तक उनके कुल सात कहानी-संग्रह - 'पान-फूल' (1954), 'महुए का पेड़', (1955), 'हँसा जाई अकेला' (1957), 'भूदान' (1958), 'माही' (1962), 'सहज और शुभ' (1964), 'बीच के लोग' (1975), आदि प्रकाशित होते हैं। जबकि उनकी शेष कहानियाँ उनके मरणोपरांत, 'हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ' शीर्षक से सन् 2012 में प्रकाशित होती हैं। कुल मिलाकर देखा जाए तो उनके विभिन्न कहानी-संग्रहों में ग्राम तथा ग्रामेतर दोनों जीवन की कहानियाँ हैं। किंतु उनकी पहचान स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के ग्रामीण जीवन के प्रतिनिधि कहानीकार की ही हैं।

उनकी कहानियों में उनकी सामाजिक चेतना प्रखर रूप में मिलती है। वे अपनी कहानियों में आजादी से जुड़ी वास्तविकताओं को स्वीकार करते हुए परिवर्तनकारी आशावादी स्वर को बुलन्द करते हैं। श्रीराम त्रिपाठी उनके संबंध में लिखते हैं- " मार्कण्डेय सामाजिक चेतना से लैस रचनाकार थे। उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर भारत का गाँव समाज अपनी खामी-खूबियों के साथ जीवंत हो उठता है, जिसमें सामंती मूल्यों से स्वाधीन चेतना के संघर्ष की गूँज सर्वत्र दिखायी - सुनायी देती है।"² जिससे प्रेमचंदोत्तर दौर में उनके द्वारा ग्रामीण जीवन-बोध की कहानी-धारा को सशक्त बनाने का प्रयास सामने में आता है। उनकी ग्रामीण जीवन से संबंधित मुख्य कहानियाँ निम्नांकित हैं :

‘गुलरा के बाबा’ (पान-फूल, 1954): यह ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि में ‘चरित्र’ के माध्यम से मानवीय संबंधों का ताना-बाना प्रस्तुत करने वाली कहानी है।

‘नीम की टहनी’(पान-फूल): यह ग्रामीण जीवन में अंतर्लिप्त अंधविश्वास तथा कुसंस्कार को आधार बनाकर लिखी गयी कहानी है।

‘सवरइया’(पान-फूल): यह मनुष्य और पशु के आत्मीय संबंधों को ग्रामीण जीवन की एक विशिष्ट पहचान के रूप में उकरेने वाली कहानी है।

‘पान-फूल’ : यह दो अलग-अलग वर्ग की बालिकाओं के माध्यम से ग्रामीण जीवन को उकरने वाली मानवीय रागात्मक संबंधों की कहानी है।

‘घूरा’ (पान-फूल): यह ग्रामीण स्त्री तथा उसके परिवार की कहानी है। यहाँ, स्त्री अपनी दयनीय सामाजिक स्थिति के बावजूद अपनी अस्मिता और अधिकार की लड़ाई लड़ती है।

‘मुंशीजी’ (पान-फूल): यह ग्रामीण पारिवारिक जीवन-स्थितियों की कहानी है। जहाँ, सामंती चरित्र और जीवन की विसंगतियों की ओर इशारा किया गया है।

‘सात-बच्चों की माँ’ (पान-फूल): यह ग्रामीण जीवन का सच, अनमेल विवाह के फलस्वरूप नारी-जीवन की हुयी दुर्गति को दर्शाने वाली कहानी है।

‘कहानी के लिए नारी-पात्र चाहिए’ (पान-फूल): यह विभिन्न वर्गों के ग्रामीण नारी-जीवन के वास्तविक चित्र को प्रस्तुत करने वाली कहानी है।

‘रामलाल’ (पान-फूल): यह ग्रामीण पारिवारिक जीवन के संबंधों की जटिलता को उकरने वाली कहानी है।

‘महुए का पेड़’ (महुए का पेड़, 1955): - यह ग्रामीण जीवन में मनुष्य के अपने पेड़-पल्लव से अपनत्व को दर्शाने वाली कहानी है, जो सवर्ण-सम्पन्न वर्ग की घृणित मानसिकता की ओर भी इशारा करती है।

‘जूते’ (महुए का पेड़): यह शहरी जीवन-बोध से कटे आम लोगों की अनभिज्ञता को गाँव के सवर्ण मानसिकता के साथ प्रस्तुत करने वाली कहानी है।

‘नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’ (महुए का पेड़): यह स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के कुत्सित रूप के परिणाम स्वरूप आक्रांत होने वाले गाँवों के पारंपरिक आचार-व्यवहार तथा जीवन -पद्धति को दर्शाने वाली कहानी है।

‘साबुन’ (महुए का पेड़): यह ग्रामीण शिक्षित वर्ग का गाँव के जीवन से पलायन तथा शहर में भी कुछ हासिल न कर पाने की पीड़ा को दर्शाने वाली कहानी है।

‘मन के मोड़’ (महुए का पेड़): यह ग्रामीण पारिवारिक जीवन के ताने-बाने को प्रस्तुत करने वाली कहानी है।

‘हरामी के बच्चे’ (महुए का पेड़): यह ग्रामीण जीवन के उच्च-वर्ग द्वारा निम्न-वर्ग पर होने वाले अत्याचार, अन्याय और शोषण को दिखाने वाली कहानी है।

‘मिट्टी का घोड़ा’ (महुए का पेड़): यह बाल-सुलभ संवेदना की कहानी है। रेल में यात्रा करते हुए एक व्यक्ति की कल्पना में एक शिशु और उसके मजदूर बाप की कहानी बन जाती है।

‘कल्याणमन’ (हंसा जाई अकेला, 1957): यह स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में भी जमींदारों के वर्चस्व और शोषण के बदस्तूर बने रहने की कहानी है।

‘सोहगइला’ (हंसा जाई अकेला): यह ग्रामीण जीवन में व्याप्त बाल-विवाह तथा तत्संबंधित थोथी मान्यताओं को दर्शाने वाली कहानी है।

‘दौने की पत्तियाँ’ (हंसा जाई अकेला): यह स्वातंत्र्योत्तर विकास-कार्यों की हकीकत को आम ग्रामीण-जन की विडम्बना के साथ उभारने वाली कहानी है।

‘बातचीत’ (हंसा जाई अकेला): यह ग्रामीण जीवन की सांस्कृतिक पहचान दालान और चौपाल की मण्डली के माध्यम से ग्रामीण जीवन के बदलते हालात तथा उसकी नब्ज को टटोलने वाली कहानी है।

‘हंसा जाई अकेला’: यह प्रेम-कथा के व्याज से स्वातंत्र्योत्तर बदरंग होती राजनीति की ओर संकेत करने वाली कहानी है।

‘चाँद का टुकड़ा’ (हंसा जाई अकेला): यह ग्रामीण जीवन में होने वाले विकास-कार्यों के नाम पर खेतिहर मजदूरों के ऊपर होने वाले शोषण को राजनीतिक भ्रष्टता से जोड़कर दिखाने वाली कहानी है।

‘प्रलय और मनुष्य’ (हंसा जाई अकेला): यह स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण-जीवन में बाढ़ आदि की समस्या को यथावत् बने रहने की सच्चाई को स्वातंत्र्योत्तर भ्रष्ट होती राजनीति के साथ उद्घाटित करने वाली कहानी है।

‘माई’ (भूदान, 1958): यह ग्रामीण आम-जन के लिए स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक विकास-

कार्यक्रम के विनाश-कार्यक्रम बन जाने की सच्चाई को दर्शाने वाली कहानी है।

‘धूल का घर’ (भूदान): यह एक ग्रामीण स्त्री की ‘माँ’ छवि को उसके सामाजिक परिपार्श्व के साथ उभारने वाली कहानी है।

‘भूदान’ : यह भूमिहीनों के बहाने भूदान-कार्यक्रम की सच्चाई को पैसे व्यंग्य के साथ उभारने वाली कहानी है।

‘बिंदी’ (भूदान): यह ग्रामीण नारी-जीवन को उसकी वस्तुपरकता के साथ उभारने वाली कहानी है।

‘शव-साधना’ (भूदान): यह गाँव के अपढ़-समाज में ढोंगी साधु-संन्यासियों के प्रभाव तथा उससे उद्भूत समस्याओं को विडम्बनात्मक रूप में दिखाने वाली कहानी है।

‘उत्तराधिकार’ (भूदान): यह भी स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में सामंती शोषण के बदस्तूर बने रहने की सच्चाई को कुत्सित सामंती मूल्यों के साथ उभारने वाली कहानी है।

‘दाना-भूसा’ (भूदान): यह सूखे की वजह से मनुष्य तथा मनुष्येतर जीवन की दुर्दशा को दर्शाने वाली कहानी है।

‘घुन’ (सहज और शुभ, 1964): यह शोषक-शोषित वर्ग के संबंधों की संश्लिष्टता को दर्शाने वाली, मानवीय संबंधों की उष्मा के शुष्क हो जाने की कहानी है।

‘आदमी का दुम’ (सहज और शुभ): यह स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के कुत्सित रूप की वजह से ग्रामीण जीवन में होने वाली राजनीतिक भटकाव की दशा को उभारने वाली कहानी है।

‘मधुपुर के सिवान का एक कोना’ (सहज और शुभ): यह गाँव के उच्चवर्ग द्वारा खेतिहर मजदूरों (बंधुआ) पर होने वाले शोषण को दिखलाने वाली कहानी है।

‘सहज और शुभ’ : यह ग्रामीण संवेदना के विविध आयाओं को वहाँ व्याप्त शुभ-अशुभ संबंधी रूढ़िगत मान्यताओं के साथ प्रस्तुत करने वाली कहानी है।

‘कानी घोड़ी’ (सहज और शुभ): यह गाँव के एक महाजन की बेईमानी से कमाने वाली धनलिप्सा को दिखाने वाली कहानी है, जो उसे अंततः अमानवीय बना देती है।

‘एक काला दायरा’ (सहज और शुभ): यह गाँव के सम्पन्न-समर्थ वर्ग की कारस्तानियों को बेपर्द करने वाली कहानी है।

‘बादलों का टुकड़ा’ (‘बीच के लोग’): यह ग्रामीण मजदूर की आर्थिक बदहाली तथा

शोषण को उभारने वाली कहानी है।

‘बीच के लोग’ (बीच के लोग, 1975) : यह गाँव में उभरने वाली परिवर्तनकारी चेतना को दर्शाने वाली कहानी है, जो यथास्थितिवाद को बनाए रखने वाले तत्त्वों के खिलाफ आवाज़ बुलंद करती है।

‘गनेसी’ (बीच के लोग): यह ग्रामीण जन की पुराने संस्कारों की जड़ता पर चोट करने वाली कहानी है।

‘हलयोग’ (हलयोग:मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, 2012): यह स्वतंत्रता के काफी वर्षों बाद भी, ग्रामीण जीवन में सवर्ण मानसिकता के पसरे होने के सच को दिखाने वाली कहानी है।

‘भविष्यवाचन’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ) :- यह ग्रामीण जीवन से जुड़ी हुयी एक चरित्र-प्रधान कहानी है। जहाँ ग्रामीण सामाजिक जीवन में व्याप्त ब्राह्मणवाद से संबंधित ज्योतिष, जन्म-मृत्यु, पाप-पूण्य, सुख-दुख आदि के पहलू का रेखांकन व्यक्ति चरित्र के अकेलेपन के साथ होता है।

‘ब्रह्मदोष’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):- यह कहानी भी ग्रामीण जीवन से जुड़ी हुयी एक चरित्र प्रधान कहानी है। इस कहानी में भी सदियों से चला आ रहा ब्राह्मणवाद का वह पोपलापन उजागर होता है, जहाँ समाज में शास्त्र, वेद, ज्ञान और पंडिताई को अस्त्र बनाकर अशिक्षित जनता को भरमाया जाता है।

‘बोझ भर राख’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):- यह ग्रामीण जीवन की एक चरित्र-प्रधान कहानी है। जहाँ व्यक्ति के अकेलेपन को सामाजिक परिपार्श्व के साथ उभारा गया है।

‘बवण्डर’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ) :- यह कहानी ग्रामीण जीवन की उस सच्चाई को अभिव्यक्त करने वाली है, जहाँ गाँव की दलित जातियाँ तथा पिछड़ी जनजातियाँ राजनीतिक पार्टियों द्वारा खेले जाने वाले वोट के खेल द्वारा छली जाती हैं।

‘खुशहाल ठाकुर’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):- यह ग्रामीण पृष्ठभूमि को रेखांकित करती हुयी एक चरित्र-प्रधान कहानी है। इस कहानी में गाँव का एक सामंत जो पैसे

और पहुँच से समर्थ होता है, उसकी कारस्तानियों को उजागर करने वाली कहानी है।

‘हल लिये मजूर’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):— यह कहानी भी ग्रामीण जीवन के सच को उसकी वस्तुपरकता में उज्जीवित करने वाली है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि स्वातंत्र्योत्तर बदलती लोकतांत्रिक सरकार का गुणात्मक प्रभाव ग्रामीण जीवन में नहीं होता है।

‘गड़ा हुआ धन’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):— यह ग्रामीण पृष्ठभूमि को रेखांकित करने वाली कहानी है जो ‘कथा’ के ज्यादा निकट है।

‘बरकत’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):— यह एक ग्रामीण गरीब मुसलमान बरकत को केन्द्र में रखकर लिखी गई कहानी है, जो गाँव में होने वाले विकास से महरूम रहता है।

‘माँ जी का मोती’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):— यह पृष्ठभूमि के रूप में ग्रामीण परिवेश का उल्लेख भर करने वाली कहानी है।

‘रक्तदान’ (हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ):— यह मार्कण्डेय की प्रारंभिक कहानियों में से एक है। यहाँ भी ग्रामीण परिवेश का उल्लेख भर है। इस कहानी में राष्ट्र की रक्षा-भावना से अनुप्राणित स्त्री-पुरुष की त्याग भावना दिखलायी गयी है।

मार्कण्डेय की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण-जीवन का बहुपरती यथार्थ अंकित होता है। उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन को उसकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पक्षों की संश्लिष्टता में उज्जीवित करने का प्रयत्न करती हैं। वे गाँव के जीवन की बद्धमूल समस्याओं के हर कोण को स्पर्श करते हैं। यही कारण है कि वे प्रेमचंद के बाद हिंदी कहानी-लेखन के दौर में बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। आलोचक ओम प्रकाश ग्रेवाल मार्कण्डेय के संबंध में लिखते हैं—“गाँव के जीवन का चित्रण करते समय अपनी श्रेष्ठ रचनाओं में मार्कण्डेय प्रेमचंद की परंपरा को जीवित रखने वाले साहित्यकार दिखाई देते हैं। उनके चित्रण में प्रेमचंद की ही स्वाभाविकता, अंतरंग जानकारी और लगभग वैसी ही परिपक्व समझ पायी जाती है।”³

प्रेमचंद ग्रामीण जीवन के भूमि-संबंधी जिन समस्याओं का संकेत अपनी ‘बलिदान’, ‘पूस की रात’ तथा ‘कफन’ आदि कहानियों में विशेष तौर पर करते हैं, उसकी अगली कड़ी को मार्कण्डेय अपनी कहानियों में दिखाते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में औपनिवेशिक ग्रामीण जीवन की

बदतर भूमि संबंधी व्यवस्था का पता इस सच से वाकिफ होने पर चलता है कि कृषि-आधारित ग्रामीण समाज में किसानों की संस्कृति से ग्रामीण आमजन (किसान) का मन उचाट हो जाता है। किसान का किसानों से मुक्त होने की उक्त प्रक्रिया को किसान की मृत्यु के रूप में (बलिदान) या जानवरों द्वारा खेत के चरे जाने पर मुस्कान की मुद्रा अपनाने के रूप में (पूस की रात) या फिर श्रम से विरतिकरण के रूप में (कफन) प्रेमचंद की कहानियों में भली-भांति देखा जाता है। जबकि मार्कण्डेय की कहानियाँ इसके आगे के सच को दर्शाने का प्रयास करती हैं। 'पूस की रात' का हल्कू जीवन के लिए अपर्याप्त बनती किसानों से पीछा छूटने तथा मजदूर बन कर जीवन को उन्नत करने की आशा से संचालित होकर मुस्कराता है, इस मुस्कराहट की वास्तविक तस्वीर क्या हो सकती है, उसे मार्कण्डेय की कहानी 'चाँद का टुकड़ा' के सनोहर की दशा से अनुमानित किया जा सकता है। कहने की बात नहीं है कि औपनिवेशिक ग्रामीण समाज का हल्कू (पूस की रात) अपने जीवन में परिवर्तन होने की जो भावी आशा पालता है, वह सनाहेर (चाँद का टुकड़ा) की दुर्गति में टूट कर बिखर जाता है। यही नहीं, मार्कण्डेय की 'दौने की पत्तियाँ' तथा 'भूदान' आदि कहानियाँ भी इस बात को उजागर करती हैं कि स्वातंत्र्योत्तर विकास-योजनाओं और कार्यक्रमों के बावजूद हल्कू (पूस की रात) के जीवन में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होता है। इसी प्रकार प्रेमचंद द्वारा उठाए गए ग्रामीण जीवन के विभिन्न पहलुओं- भूख, गरीबी, आर्थिक-विषमता, किसानों की मृत्यु, सामंती-महाजनी शोषण, ऊँच-नीच, भेद-भाव, धार्मिक अंधविश्वास आदि को स्वातंत्र्योत्तर परिप्रेक्ष्य में मार्कण्डेय की कतिपय कहानियाँ - 'गुलरा के बाबा' 'जूते', 'कल्याणमन', 'दाना-भूसा', 'महुए का पेड़', शव-साधना आदि उजागर करने का प्रयत्न करती हैं। तभी तो कहानी आलोचक सुरेन्द्र चौधरी को यह कहना पड़ता है-"वस्तुधर्मी कहानियाँ आंचलिक दौर में खूब लिखी गईं, मगर बहु वस्तुस्पर्शनी प्रतिभाएँ कम उभरीं। आज भी विषय और कथ्य की विविधता कम लेखकों में मिलती हैं। मगर इसके लिए आज प्रेमचंद की दुनिया की तरफ लौटना जरूरी नहीं है। मार्कण्डेय में वह पहचान मिल जाएगी।"⁴

मार्कण्डेय प्रेमचंदोत्तर दौर के स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण बोध और यथार्थ के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में उभरते हैं। उनकी कहानियों में पूर्ववर्ती कहानी धारा का प्रभाव तो मिलता ही है, उनसे परवर्ती कहानीकारों को बदलते यथार्थ को पकड़ने की प्रेरणा भी प्राप्त होती

है। इस प्रकार ग्रामीण जीवन और यथार्थ को चित्रित करने वाली प्रेमचंदोत्तर कहानीधारा के विस्तृत प्रवाह में कई पड़ाव तथा फलक उभरते हैं। जिसमें मार्कण्डेय एक महत्वपूर्ण कड़ी साबित होते हैं।

3.2 ग्रामीण जीवन की संकल्पना

भारत ग्रामों के देश के रूप में प्रसिद्ध है। इस देश की बहुसंख्यक जनता गाँवों में बसती है। इस देश की सभ्यता, संस्कृति और कृषि-व्यवस्था के केन्द्र में ग्राम ही सदैव विद्यमान रहा है। कहा भी जाता है- “ भारतीय जीवन की धड़कन और उसके दर्द को जानने के लिए हमें ग्राम्य-जीवन की नसें टटोलनी पड़ती हैं। नाना-प्रकार की समस्याओं से जूझते, अनेक तरह की कुप्रथाओं और रूढ़ियों के निरर्थक बोझ को ढोते, अज्ञान और अशिक्षा की शीत में ठिठुरते हुए भारतीय गाँव इस देश की करुण कहानी कहते हैं।”⁵ इसका तात्पर्य यह है कि ग्रामीण जीवन के यथार्थ की पहचान के बिना भारतीय जीवन में व्याप्त मूलभूत समस्याओं तथा उसके प्रमुख बिंदुओं को नहीं समझा जा सकता है। ग्रामीण जीवन के यथार्थ को समझने हेतु उसकी संकल्पना को समझना अतिआवश्यक है। यहाँ, निम्न विंदुओं के आलोक में ग्रामीण जीवन की संकल्पना को समझा जा सकता है:-

3.2.1 'ग्राम' पद की व्युत्पत्ति

ध्यातव्य है कि ग्रामीण शब्द ग्राम पद से ही निर्मित हुआ है और ग्राम कहने का अभिप्राय गाँव से होता है। यहाँ, ग्राम पद की व्युत्पत्ति के संदर्भ में डॉ. ज्ञान अस्थाना के मत को देखा जा सकता है। वे इस संदर्भ में लिखते हैं-“ पाणिनि ने ग्राम को एक स्वतंत्र धातु ही स्वीकार किया है जिसका अर्थ होता है 'आमंत्रण'। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो जीवन के आमंत्रण का मौलिक अधिकार ग्रामों को ही है। मूल रूप में सभ्यता और मानव की भारी सामग्री ग्रामों में ही प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य, बानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रम भी गार्हस्थ आश्रम पर ही आधारित हैं और गृहस्थ तो ग्रामों में रहता ही है। इस प्रकार बहुत संभव है कि इसी धातु के अर्थ पाठ पर 'ग्राम' शब्द प्रचलित हो गया हो।”⁶ जिसका कहने का स्पष्ट अर्थ यह है कि उक्त पद अपने अभिधात्मक अर्थ में भी, मनुष्य तथा उसकी सभ्यता को अपनी ओर खींचने की शक्ति रखता है।

सिद्धांत कौमुदी में 'ग्राम' पद की व्युत्पत्ति के संबंध में यह उल्लेख है-“ ग्राम' शब्द की

व्युत्पत्ति 'ग्रस' धातु में 'मन' प्रत्यय लगाने से स्वीकार की गई है। 'ग्रस' धातु का अर्थ होता है 'ग्रस्त करना' अर्थात् अपने में विलीन करने की शक्ति रखे, उससे 'ग्राम का बोध' होता है। 'ग्रस' धातु से 'ग्रास' अर्थात् ग्रास की शक्ति रखने वाला ग्राम कहलाता था।⁷ जिसका तात्पर्य ग्राम पद में अंतर्व्याप्त उस अर्थ-शक्ति से है, जो अपने में ग्रस्त करने अर्थात् समाविष्ट करने की भावना को रखता है। अंग्रेजी में 'ग्राम' के लिए 'विलेज' अथवा 'विला' शब्द का प्रयोग होता है। इन्साईकलोपेडिक डिक्शनरी के अनुसार— " विलेज' घरों का एक समूह है तथा वह स्थान होता है जो नगर से छोटा और हैमलेट से बड़ा है।"⁸ अर्थात् एक सीमित स्थान, जहाँ छोटे-छोटे घर बसे हों। डॉ. ज्ञान अस्थाना इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— "इंग्लैण्ड के आदि काल में भूमि के वे टुकड़ों और घरों के समूह जो छोटे-छोटे 'हैमलेट' से बिखरे रहते थे 'विलेज' कहलाते थे। अंग्रेजी भाषा के आधार पर 'ग्राम' वह भूमिखण्ड हुआ जो 'हैमलेट' अर्थात् 'परवा' से कुछ छोटा हो तथा जहाँ छोटे-छोटे घर बसे हों। आधुनिक युग में हिंदी में ग्राम का जो रूप प्रचलित है वह अंग्रेजी 'विलेज' के अनुरूप है।"⁹ जिसका तात्पर्य ग्राम पद के आधुनिक संदर्भ को स्पष्ट करना है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'ग्राम' पद एक स्वतंत्र धातु का अस्तित्व रखने के कारण ग्रामीण जैसे शब्द को निर्मित करने में सक्षम है। यह अपने अभिधात्मक अर्थ के अनुरूप मानव और उसकी सभ्यता को अपने में शामिल करने हेतु उसे आमंत्रित करता है। अंग्रेजी के 'विलेज' की तर्ज पर इसका हिंदी आधुनिक रूप उस सीमित भूमि-खण्ड का बोध कराता है जो वास करने उपयुक्त है। संक्षेप में कहा जाए तो मानव के अस्तित्व के साथ ही ग्राम का अस्तित्व जुड़ जाता है। जिसकी तस्दीक हमारी सभ्यता, संस्कृति और इतिहास भी करती है।

3.2.2 'ग्राम' की परिभाषा

उल्लेखनीय है कि गाँवों को समग्रता में पहचानने के क्रम में ही, 'ग्राम' पद की परिभाषा कई अर्थों में की जाती है। श्यामचरण दुबे 'ग्राम' की परिभाषा कुछ इस प्रकार करते हैं— " ग्राम' की संज्ञा जो अभी भी भारत में गाँवों के लिए प्रयुक्त होती है, का अभिप्राय उन अनेक परिवारों के समूह से होता था जो एक ही स्थान पर निवास करते थे।"¹⁰ जिससे तीन प्रमुख बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, ग्राम पद भारतीय प्ररिप्रेक्ष्य में, 'गाँव' के लिए व्यवहृत होता है। दूसरी, परिवार इसका एक प्रमुख घटक है। तीसरी, ग्राम में लोगों के बीच सामुदायिक भावना व्याप्त रहती है।

इसी प्रकार ग्राम की परिभाषा 'गाँव' के अर्थ में करते हुए विश्वमभरदयाल गुप्त कहते हैं-
 - " गाँव से सामान्यतः आशय पुरातन एवं पिछड़े क्षेत्र से लिया जाता है। यथार्थ में गाँव का आशय यह नहीं है। गाँव एक समुदाय है। सामुदायिक भावना, सामान्य जीवन, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र एवम् विशेष नाम उसे एक समुदाय की श्रेणी में प्रतिष्ठित करते हैं। एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाला व्यक्तियों का समूह जहाँ व्यक्ति कृषि व्यवसाय में सलग्न रहते हैं, आर्थिक एवं अन्य प्रकार से एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं तथा सामुदायिक एकता में बद्ध रहकर सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं, गाँव कहलाते हैं।"¹¹ जिसका तात्पर्य यह है कि ग्राम (गाँव) एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है, जिसका अपना एक नाम है। जिसकी विशिष्ट पहचान, वहाँ का सीधा-सादा सामान्य जीवन है। उनके बीच की सामुदायिक भावना है। जो उन्हें एक-दूसरे के प्रति निर्भर और संवेदनशील बनाए रखती है। इसी क्रम में ए.आर. देसाई ग्राम की परिभाषा ग्रामीण समाज को समझने के क्रम में कुछ इस तरह करते हैं- " ग्रामीण समाज की इकाई के रूप में गाँव वह रंगमंच है जहाँ ग्रामीण जीवन का प्रमुख भाग स्वयं प्रकट होता है तथा कार्य करता है। गाँव का विकास कृषि युग के उद्भव के साथ संबद्ध है। इस प्रकार गाँव व्यवस्थित रूप में सामूहिक मानव निवास की प्रथम स्थापना है और कृषि अर्थव्यवस्था के विकास की उपज है।"¹² जिससे कई प्रमुख तथ्य उभरते हैं। पहला, ग्राम(गाँव) की पहचान समाज की इकाई के रूप में है। दूसरा, यह मानव के सामूहिक निवास का प्रथम स्थल है अर्थात् इसका अस्तित्व मानव के प्रथम सामुदायिक अस्तित्व-भावना से जुड़ा हुआ है। तीसरा, ग्राम (ग्राम) कृषि के विकास का रंगक्षेत्र है और कृषि का विकास प्रकारांतर से समाज की अर्थ-व्यवस्था की दृढ़ता का परिचायक है। 'ग्राम' को परिभाषित करने के क्रम में यह भी कहा गया है - " गाँव वे क्षेत्र हैं जहाँ के निवासी सामुदायिक भावना में बद्ध होकर एक निश्चित क्षेत्र में सामान्य जीवन व्यतीत करते हुए कृषि और पशुपालन प्रमुख व्यवसाय के रूप में करते हैं।"¹³ जिसका मतलब ग्राम की मुख्य पहचान-सामुदायिक भावना के अंतर्गत कृषि तथा पशुपालन जैसे पहलुओं को प्रतिकित करना है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'ग्राम'(गाँव) की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती है। हाँ, बेशक उक्त संदर्भ में कई ऐसे सामान्य तत्त्व उभरते हैं जिससे 'ग्राम' (गाँव) परिभाषित होता है। ये सामान्य तत्त्व कुछ इस प्रकार हैं। जैसे, -भारतीय संदर्भ में 'गाँव' शब्द ग्राम की पहचान हेतु ही व्यवहृत होता है। यह गाँव जिसका कोई भौगोलिक क्षेत्र और नाम है, उसकी

विशिष्ट पहचान वहाँ का सहज-सरल जीवन तथा उसमें व्याप्त सामुदायिक भावना होती है। गाँव कृषि और पशुपालन कर्म का रंगक्षेत्र है। संक्षेप में, कहा जाए तो मानव में सामुदायिक वृत्ति को जगाते हुए उन्हें एक साथ सामूहिक रूप में निवास करने के लिए प्रेरित करने वाला क्षेत्र, जो कृषि तथा पशुपालन कर्म से जुड़ा है, ग्राम (गाँव) कहलाता है।

यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक जाति और समाज का अपना-अपना स्वरूप है। समाज का यह स्वरूप समय सापेक्ष में बदलाव से भी गुजरता है। जिसे उस समाज के प्राकृतिक और मानवीय एप्रोच में आए परिवर्तन के सापेक्ष में देखा जाता है। उक्त समाज के प्राकृतिक और मानवीय एप्रोच को समग्रता में उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक-सांस्कृतिक यथार्थ की संश्लिष्टता में लक्षित किया जाता है। उक्त बातें हर समाज की तरह भारतीय ग्रामीण समाज पर भी लागू हैं। अतः निष्कर्ष स्वरूप यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि ग्रामीण बोध के रचनाकार के लिए ग्रामीण जीवन की संकल्पना, 'ग्राम' पद की व्युत्पत्ति, 'ग्राम' की परिभाषा की समझ जरूरी है। 'स्वातंत्र्योत्तर' परिदृश्य में उभरे मार्कण्डेय की कहानियों में चित्रित ग्रामीण जीवन के यथार्थ को समझने के लिए यह अनिवार्य है।

3.3. मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ : विश्लेषण

मार्कण्डेय स्वतंत्रता बाद के हिंदी कहानी लेखन में अवतीर्ण होते हैं। इसी परिदृश्य में, वे अपनी पहचान ग्रामीण जीवन और यथार्थ के एक सशक्त कहानीकार के रूप में बनाते हैं। उन्हें परंपरा के रूप में बंगमहिला-प्रेमचंद समेत विभिन्न कहानीकारों की प्रेरणा मिलती है। ग्रामीण जीवन से उनका अंतरंग जुड़ाव उन्हें अपनी कहानियों में अपने समय के (स्वातंत्र्योत्तर) यथार्थ को निरूपित करने की ओर उन्मुख करता है। उनके निम्न कथन में उक्त तथ्य की संपुष्टि को देखा जा सकता है— “मैं पैदा हुआ एक साधारण किसान के घर, लेकिन प्राइमरी पास करने के बाद ही मुझे प्रतापगढ़ एक रिश्तेदार के यहाँ जाना पड़ा जहाँ मरे पिता उनकी ताल्लुकेदारी के प्रबंधक थे। यहाँ मेरे जीवन की सारी मान्यताओं को भारी धक्का लगा और मुझे दो वर्गों के अंतर्विरोध का साक्षात् दर्शन हुआ।... मरे लिए कहानी लिखने की बात यहीं से उठी।... हर बार , हर नए जीवनानुभव के साथ एक नया प्रश्न उठने लगा। मान्यताओं और आडम्बरों से ऊबकर यथास्थिति के विरुद्ध कुछ कहने की अकुलाहट ही शायद मरे लिखने का कारण बनी।”¹⁴ स्पष्ट है कि उनके अपने समय

का वस्तुगत संदर्भ ही उन्हें कहानियों के प्रणयन की ओर प्रवृत्त करता है। उनकी कहानियों में उज्जीवित ग्रामीण जीवन के यथार्थ को समग्रता में विश्लेषण हेतु उसके विविध पहलुओं पर दृष्टिपात करना जरूरी प्रतीत होता है। इस दृष्टि से उनकी कहानियों के यथार्थ का समग्र रूप, निम्न उपशीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है:— सामाजिक जीवन, राजनीतिक जीवन, आर्थिक जीवन, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन।

3.3.1 सामाजिक जीवन

मनुष्य के जीवन का आधार उसका समाज ही है। मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निर्धारित करता है। मनुष्य समाज के लिए है, और समाज मनुष्य द्वारा ही निर्मित किए जाते हैं। यह मनुष्य द्वारा निर्मित एक ऐसी संस्था के रूप में पहचाना जाता है, जहाँ मानव अपने विशिष्ट लक्ष्यों या उद्देश्यों को हासिल करने हेतु सचेष्ट रहता है। कहना न होगा कि मनुष्य अपने आचार-व्यवहार, रीति-नीतियों समेत विभिन्न कार्य समाज में रहकर ही निष्पन्न करता है। तभी तो मेकाइवर तथा पेज समाज की परिभाषा कुछ इस प्रकार करते हैं— “ समाज रीतियों और कार्य - प्रणालियों की, अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, उनके समूहों तथा विभागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तन जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है।”¹⁵ जिससे कई महत्वपूर्ण बातें उभरती हैं। पहली, समाज मानव-व्यवहार से जुड़ी हुई एक ऐसी व्यवस्था है, जहाँ मानव की पारस्परिक सामुदायिक भावना; उसकी रीति-नीतियाँ तथा उसके विभिन्न कार्य सुचारु रूप से निष्पन्न होते हैं। दूसरी, यह समाज व्यवस्था-जटिल है, क्योंकि इसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। अर्थात् इसकी शकल, इसके मूल्य-मानक परिवर्तन सापेक्ष होते हैं। तीसरी, समाज एक ऐसा धरातल है, जहाँ मानव विभिन्न रूपों, नामों तथा संबंधों में एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। उनका यह जुड़ाव परस्पर उनके कार्यों तथा आचरणों को लेकर है। यहाँ, सामाजिक संबंधों का जाल कहने के अभिप्राय से इस बात को समझा जा सकता है कि समाज की संरचना परिवार, नातेदारी, विवाह, जाति, उपजाति, वर्ग, सामाजिक रीति-नीति, मूल्य-आदर्श आदि से मिलकर होती है। उक्त सभी इकाइयाँ ही किसी समाज के स्वरूप या उसके यथार्थ रूप को गढ़ती हैं। भारतीय ग्रामीण जीवन का समाज भी इन इकाइयों से संचालित और परिचालित है।

उल्लेखनीय है कि भारतीय ग्रामीण समाज भी, अपने समय के प्रवाह में परिवर्तन मुखापेक्षी है। स्वतंत्रता, आधुनिकता तथा लोकतंत्र भारतीय ग्रामीण जीवन के सामाजिक यथार्थ में परिवर्तन घटित करने में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण समाज सामाजिक संगतियों-असंगतियों, जीवन के बुनियादी अभावों, जड़ताओं, जीवन-मूल्यों, मानदण्डों एवं विश्वासों से क्रियाशील है। डॉ. सुरेश सिन्हा इस संबंध में लिखते हैं— “ आज का ग्रामीण समाज परिवर्तित एवं अपरिवर्तित आधुनिक और परंपरागत बोध से ग्रस्त संक्रमण की स्थिति में है। भौतिकता के स्वरुहों के जीवन में, पारंपरिक संबंधों में मानों घुसपैठ कर रहे हैं और गाँव का समाज आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व का दर्द अनुभव कर रहा है।”¹⁶ जिसका तात्पर्य यह है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज संक्रमणशील परिस्थिति में होता है, क्योंकि सभ्यता के विकसित प्रवाह में आधुनिकता एवं भौतिकतावादी मूल्य अपनी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भूमिका निभाते हैं।

जैसा कि पूर्वोक्त है कि किसी भी समाज की अनिवार्य विशेषता है उसका बदलता स्वरुप। भारतीय ग्रामीण समाज में स्वतंत्रता के बाद तेजी से परिवर्तन होता है। इस बदलाव को वहाँ के सामाजिक जीवन के मूल्य क्षरण, नए मूल्य के बनने और नैतिकता तथा संबंधों और सोच के बदलने के क्रम में अवलोकित किया जाता है। डॉ. दिलीप भस्मे के अनुसार— “ भारतीय समाज व्यवस्था में आजादी के बाद तेजी से परिवर्तन आए। यंत्र-युग के कारण ग्रामांचलिक जन-जीवन में खान-पान, रोटी-बेटी व्यवहार, जाति-भेद आदि में काफी परिवर्तन आए। नारियों में शिक्षा आदि से परंपरागत जकड़न से मुक्त होने की भावना, समानाधिकार की भावना उभरती गई। विवाह, तिलक, पुनर्विवाह, यौन-संबंधों के बारे में दृष्टिकोण बदलते गए। संयुक्त परिवार टूटते गए। औद्योगीकरण, नागरीकरण और अर्थोपार्जन की विसंगतियों के कारण जीवन में विखराव आता गया।”¹⁷ जिससे यह समझा जा सकता है कि ‘स्वतंत्रता’ रूपी पहलू तथा उससे जुड़ी प्रक्रिया-लोकतंत्र, औद्योगीकरण एवम् नागरीकरण- आदि ग्रामीण जीवन के विभिन्न सामाजिक घटकों-परिवार, जाति, संबंध, संस्था, सोच एवं मान्यताओं को प्रभावित करते हैं। इतना ही नहीं, स्वतंत्रता के साथ शिक्षा तथा चेतना का प्रसार ग्रामीण सामाजिक जीवन की संघर्षपूर्ण स्थितियों में भी संक्रमण घटित करता है। यही कारण है कि परंपरित सामाजिक मूल्य भी चटखते हैं। डॉ. दिलीप भस्मे के निम्न कथन में इस तथ्य को देखा जा सकता है— “ शिक्षा प्रसार और वैज्ञानिक दृष्टि उभरने के कारण ग्रामांचलिक मान्यताओं के प्रति अविश्वास का भाव बढ़ता गया। जमींदार और किसानों में संघर्ष तेज हुए। राजनीतिक

भटकाव के कारण गाँव की एकता, आत्मीय भाव ओर सरलता में बाधा उत्पन्न होती गयी। मूल्यटूटन की स्थितियाँ उभरती गयीं।¹⁸ कहने की बात नहीं है कि सामाजिक स्थितियों और घटकों में तथा संस्थाओं और मान्यताओं में होने वाला बदलाव ग्रामीण या किसी भी समाज के जटिल तथा गतिशील होने की सच्चाई को व्यक्त करता है। यही कारण है कि औपनिवेशिक ग्रामीण जीवन और समाज का स्वरूप स्वातंत्र्योत्तर काल में यथावत् नहीं रहता है। क्योंकि, समय और काल के प्रवाह में नई स्थितियों और चेतना का उभरना भी स्वाभाविक होता है। डॉ. ज्ञानचंद गुप्त के निम्न कथन में उक्त तथ्य की संपुष्टि को देखा जा सकता है- “ गाँवों का स्वरूप भी बहुत कुछ बदल गया है। वहाँ के जीवन में मानों संक्रमण हो रहा है। परंपरा और प्रगति, अंधविश्वास और विज्ञान, स्वार्थलिप्सा और सरलता का संघर्ष गाँवों की जीवन स्थिति को नई भंगिमा प्रदान कर रहा है।”¹⁹ अर्थात् स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज संक्रमणशील परिस्थितियों से गुजरता है।

कहने की बात नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन में व्याप्त संक्रमणशीलता के परिणामस्वरूप उसके विभिन्न घटकों, मान्यताओं तथा मूल्यों में होने वाले बदलाव से हिंदी कथा-साहित्य अछूता नहीं रहता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ बदलते ग्रामीण जीवन के सामाजिक यथार्थ को बखूबी चित्रित करती हैं। मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर कथा-लेखन में सामाजिक संदर्भों के चित्रण को नई पहल के रूप में देखते हैं तथा इसे स्वातंत्र्योत्तर कहानियों की अभिनव विशेषता बतलाते हैं- “सामाजिक संदर्भों का वास्तविक चित्रण नए कथाकारों की कहानियों का प्रमुख तत्त्व बन गया। जीवन के सुख-दुःख को इन्होंने संदर्भों से उठाकर कहानियों का विषय बना लिया।”²⁰ यहाँ उनके द्वारा नए कथाकारों के संबंध में उद्धृत की गई सच्चाई उनके कहानी-लेखन की भी प्रमुख विशेषता बन कर उभरती है। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज की संश्लिष्ट छवि उनकी कहानियों में अपने यथार्थ रूप में उज्जीवित है। यहाँ उनकी कहानियों में, चित्रित स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन के यथार्थ का स्वरूप-विश्लेषण, निम्न शीर्षक विंदुओं के अंतर्गत किया जा सकता है। यथा- जीवन मूल्य-संक्रमण का यथार्थ, संबंधों के विघटन का यथार्थ, नारी जीवन : समस्यामूलक यथार्थ, अन्य सामाजिक विसंगतियों का यथार्थ आदि।

3.3.1.1. जीवन मूल्य संक्रमण का यथार्थ

सामान्यतः ‘मूल्य’ का अर्थ किसी वस्तु या कार्य के बदले प्रदत्त धनराशि से होता है। किंतु,

मानव जीवन के विस्तृत व्यवहार क्षेत्र में अब यह शब्द व्यापक अर्थ का संवाहक है। अब इस शब्द का व्यवहार वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार की कसौटी के रूप में भी किया जाता है। डॉ. राधा कमल मुखर्जी के मन्तव्य को इस संदर्भ में देखा जा सकता है— “ समाज द्वारा अनुमोदित वे इच्छाएँ और लक्ष्य मूल्य हैं, जो अवस्था, शिक्षा और सामाजिक रचना की प्रक्रिया से गुजरते हुए आंतरिक स्वरूप धारण कर चुके हैं तथा विषयनिष्ठ प्राथमिकता, मानक और लालसा के रूप में परिवर्तित हो गए हैं।”²¹ इसी तरह डॉ. रमेश चंद्र लारनियों के मत को इस संदर्भ में उद्धृत किया जा सकता है— “वस्तुतः मानवीय अभिलाषाओं से युक्त वे अभिवृत्तियाँ, जिनमें सौन्दर्य और आकर्षण होता है तथा सम्पूर्ण जीवन के लिए जिनका महत्व होता है, ‘नार्म’ बनने की प्रक्रिया से गुजरते हुए मूल्य का स्वरूप धारण करती हैं।”²² यहाँ, उद्धृत दोनों मंतव्यों को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाए तो ‘मूल्य’ से जुड़ी कई बातें उभरती हैं। पहली, ‘मूल्य’ शब्द किसी भी समाज के समग्र मानव-व्यवहार से अभिन्न रूप में जुड़ा है। दूसरी, ‘मूल्य’ समाज द्वारा स्वीकृत वे इच्छाएँ और अभिवृत्तियाँ हैं जिनमें समग्र मानव को आकर्षित तथा सौन्दर्यासिक्त करने की प्रबल संभावना मौजूद रहती है। तीसरी, किसी भी समाज में ‘मूल्य’ के बनने और उसके स्थिर होकर एक मानक के रूप में पहचाने जाने की एक प्रक्रिया है, जो सदैव गतिमान रहती है तथा जिसका समाज की सोच और स्थिति एवम् समाज के विकास के साथ गहरा जुड़ाव है।

कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी समाज के मूल्य उसके समय-संदर्भ से संदर्भित होते हैं। अर्थात् मूल्यों में संक्रमण होना एक स्वाभाविक कार्य-व्यापार है। इस संदर्भ में अपर्णा सारस्वत के निम्न कथन को पढ़ा जा सकता है— “ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ-साथ मूल्यों में भी परिवर्तन अवश्य घटता है। मूल्य सदैव उपयोगिता, सुख श्रम तथा चरमोत्कर्ष आदि से आयोजित होते हैं तथा मनुष्य की रुचियाँ एवं अनुभूतियाँ मूल्यों की बीज होती हैं। मानव की उन्नति-अवनति चाहे वह आंतरिक स्तर पर घटित हो अथवा बाह्य स्तर पर, मूल्यों पर अवश्य प्रभाव डालती है, पर यह प्रभाव पूर्व मूल्यों को पूर्णरूपेण विलीन नहीं करता, बल्कि उसमें समयानुकूल परिवर्तन का कारण बन जाता है। यह मूल्य परिवर्तन प्रक्रिया सतत एवं अनंत है। समाज के आरंभ के साथ ही इसका सूत्रपात हुआ है व समाज के निर्माण में, समाज क बदलाव में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका सदैव बनी रहती है।”²³ तात्पर्य यह है कि समाज में मूल्यों के संदर्भित-परिवर्तित होने की सतत्

प्रक्रिया चलती रहती है। यही नहीं, यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि मूल्यों के परिवर्तित स्वरूप अर्थात्, मूल्य-संक्रमण से सामाजिक यथार्थ भी बदलते रहते हैं। इसी कारण किसी भी समाज का यथार्थ सदैव एक-सा नहीं रहता है। किसी भी समाज के सामाजिक स्वरूप के निर्धारण में उस समाज के युग संदर्भों से संदर्भित मूल्य-संक्रमण की महती भूमिका रहती है।

उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज भी मूल्य-संक्रमण की प्रक्रिया से गुजरता है। स्वतंत्रता का पहलू तथा आधुनिकता की चेतना ग्रामीण सामाजिक जीवन में मूल्य-संक्रमण को घटाते हैं। ग्रामीण समाज में मूल्य-संक्रमण 'मूल्यों' के टूटने, बने रहने, तथा फिर नए रूप में अवतरित होने की सतत प्रक्रिया में लक्षित किए जाते हैं। डॉ. दिलीप भस्म के निम्न कथन में उक्त सच्चाई को पढ़ा जा सकता है- "आधुनिकता ने ग्राम-जीवन का रूप बदल डाला है। आज गाँवों में नए-पुराने की टकराहट है। व्यवस्था के प्रति विद्रोह, स्वीकृत मूल्यों के प्रति विद्रोह परंपरा के प्रति विद्रोह आदि विद्रोहधर्मी कोण उभरते रहे हैं।"²⁴ तात्पर्य यह है कि ग्रामीण जीवन में मूल्य-संक्रमण मूल्यों के टूटन उसके क्षरण तथा नए-मूल्यों, नयी-मान्यताओं के बनने के क्रम में दृष्टिगोचर होता है।

गौरतलब है मार्कण्डेय का कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन में हो रहे मूल्य-संक्रमण के पहलू को बहुत करीब से देखता-परखता है। एक यथार्थवादी कहानीकार से यह अपेक्षा रहती ही है कि वह जीवन को परिवर्तित होते रहने की प्रक्रिया से अभिन्न रूप में जुड़ा हो। मार्कण्डेय का कहानीकार इस अपेक्षा में खरा उतरता है। मार्कण्डेय स्वयं इस ओर संकेत करते हुए कहते हैं- "... इसलिए मेरे लिए सच्ची रचना वहीं कहीं छिपी है, जहाँ जीवन बदल रहा है।"²⁵ कहना न होगा कि जीवन में यही बदलाव सामाजिक जीवन की स्थितियों तथा उसके स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण सामाजिक जीवन में मूल्य-संक्रमण के यथार्थ को मानवीय मूल्य के रूप में (जो ग्रामीण जीवन की पहचान गढ़ते हैं) ग्रामीण सनातन मूल्यों को अपने युग संदर्भ के सापेक्ष में किसी तरह बने रहने में, स्थापित मूल्य या मान्यताओं के चटखने या क्षरण होने में, तथा युग-परिस्थितियों की माँग पर नई मूल्य-मान्यताओं के स्थापित होने के रूप अवलोकित किया जाता है। जिससे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन का सामाजिक यथार्थ भी अपने संश्लिष्ट रूप में उद्घाटित होता है।

3.3.1.1.1 'मूल्य' का शाश्वत रूप

भारतीय ग्रामीण समाज की एक पहचान उसकी सामुदायिक भावना है। जहाँ, मानव मनुष्यता के धरातल पर स्थित होकर दूसरों को देखता-परखता है, उसके साथ आचरण-व्यवहार करता है। ग्रामीण समाज की यही भावना एक मूल्य के रूप में पहचानी जाती है। जो समय-सापेक्ष से संदर्भित होने के बावजूद अपनी चिरंतनता बनाए रखती है। मार्कण्डेय ग्रामीण सामाजिक जीवन में उक्त मानवीय मूल्य के बने रहने के यथार्थ को अपनी कतिपय कहानियों में दिखलाते हैं।

उनकी गुलरा के बाबा' कहानी का इस संदर्भ में जिक्र करना स्वाभाविक और प्रासंगिक लगता है। प्रस्तुत कहानी मनुष्य की मानवीयता को ग्रामीण लोगों के बीच एक जीवन-मूल्य के रूप में बने रहने की कथा को कहती है। प्रस्तुत कहानी में 'बाबा' के चरित्र का मानवीय पक्ष उनके परिवार, जाति, वर्ग तथा काल आदि संदर्भों के बीच भी अपना शाश्वतरूप बनाए रखता है, जो मानवीय मूल्य की निरंतरता में चिरंतनता बनाए रखने की सच्चाई कहता है। इस कहानी का चैतू अहीर अपनी गरीबी से तंग तथा बेबस होता है। वह अपनी इस पीड़ा भरी विवशता के कारण ही बाबा (जो गाँव में एक गणमान्य व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं) की बातों की नाफरमानी करता है और बाबा को शक्ति प्रदर्शन की चुनौती देता है। बाबा उसकी चुनौती स्वीकार भी करते हैं। किंतु, बाबा को जब चैतू के घायल होने का समाचार मिलता है, वे अपने अपमान को परे कर उसकी हित-चिंता लिए उसके घर को ओर दौड़ पड़ते हैं। बाबा यह देखते हैं कि चैतू का घर अपनी जर्जरता को दर्शा रहा है। उसके घर के छप्पर का टूटा होना तथा वहाँ चतुर्दिक पसरी अभावग्रस्तता बाबा को दुःख देती है। जिस कारण दूसरे ही दिन, जो बाबा कभी चैतू को गुलरा के बाग से सरपत काटने हेतु मना कर चुके होते हैं, खुद अपने मजदूरों को चैतू के घर में नया छप्पर डलवाने के लिए सरपत काटने का आदेश देते हैं-"बड़े सबेरे जब पलाशों की लाली पर सूरज की किरणें एक-एक कर उतर रही थीं-गुलरा की सरपत में पच्चीस मजदूर लगे थे-कटाई हो रही थी। सुखई ने पूछा, 'क्या होगी सरपत बाबा?' "चेतुआ की छान्ह टूट गयी है रे!" बाबा ने उत्साह से कहा।"²⁶ यहाँ कहने की जरूरत नहीं है कि बाबा के कथन में जो उत्साह भाव है, वह ग्रामीण जीवन में रचे-बसे तथा निरंतरता में अपनी चिरंतनता बनाए रखने वाले मानवीय मूल्य को ही दर्शाता है।

इसी प्रकार मार्कण्डेय की कहानी 'घूरा' भी स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन में घृणा

द्वेष, छल-कपट तथा ईर्ष्या के बरक्स मानवीय मूल्य के साबुत बचे रहने की सचाई कहती है। यहाँ, घूरा का चरित्र मानवीय मूल्य का संवाहक और परिचायक है। घूरा प्रस्तुत कहानी की लंबरदार की आर्थिक मदद सिर्फ इस कारण करती है कि वह लंबरदार की बेटी को गाँव की बेटी मानती है तथा लंबरदार पर आए संकट को गाँव की मर्यादा पर आया संकट समझती है-“घूरा ने दिलासा दिया, ‘कन्या की बात है बबुआ, जैसे तुम्हारी तैसी हमारी, पर बबुआ....देखों, रात को बताऊँगी...” तिलक सबेरे ही जाने वाला था। ...आखिर रात को करीब दो पहर रात गये पाँच सौ रुपये आँचल में छिपा कर, घूरा आयी और बिना कुछ बोले लंबरदार के हाथों में थमा कर चली गयी। हाँ, जाते-जाते उसने कहा ‘कानों-कान साव को खबर न लगे बबुआ! वर्ना मेरी चमड़ी उधेड़ लेंगे।”²⁷ यद्यपि, घूरा अपने इस मानवीय कार्य को परिवार और समाज से गुप्त रखने का भरसक प्रयत्न करती है, पर रख नहीं पाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि उसे अपने बेहद चाहने वाले पति से दण्ड मिलता है। शारीरिक दण्ड! किंतु घूरा इस दण्ड को पाने के बावजूद खुद में एक आत्मिक तोष का अनुभव करती है-“घूरा की आँखें उस मार को याद करके भर आतीं। जिस साव ने उसे कभी दूब की सिटकून से नहीं हुआ था, इसी कारण उसे इतना पीटा पर उसके मन में जैसे प्रसन्नता थी।”²⁸ जिसका अर्थ यह है कि मार्कण्डेय का कहानीकार घूरा की प्रसन्नता के माध्यम से ग्रामीण सामाजिक जीवन में रक्षित उस मानवीय मूल्य को दर्शाना चाहता है, जो संक्रमणकालीन परिस्थितियों के मध्य साबुत बचा रहता है।

इसी तरह ‘बातचीत’ कहानी का जिक्र किया जाए तो यह देखा जाता है कि ग्रामीण जीवन में मानवीय मूल्य अपनी तमाम विघटनशील परिस्थितियों के मध्य जिंदा रहते हैं। प्रस्तुत कहानी में कहानीकार जग्गी के पिता के माध्यम से मानवीय मूल्य के शाश्वतरूप के बने रहने के सच को दिखाते हैं। जग्गी के पिता की वैयक्तिक, चारित्रिक दुर्बलता तथा गाँव के ठाकुर के द्वारा उसके साथ किया छलपूर्ण आचरण भी उसकी मानवीयता को खत्म नहीं कर पाता है। वह ठाकुर से अपनी नाराजगी रहने के बावजूद भी उसकी लड़की की शादी हेतु मदद करने को आगे आता है। क्योंकि वह लड़की की शादी में खर्च रूपी आयी रुकावट को पूरे गाँव की मर्यादा पर आए आंच के रूप में देखता है- “बूढ़े के मुँह से इतना ही निकला, भैया मैं चोर नहीं, आदमी भी हूँ। तुम्हारी सब दिक्कते समझ रहा हूँ पर मुझे अपने से अलग मत समझना। शादी की तैयारी करो, सारे जेवरों का इन्तिजाम मैं करूँगा।”²⁹ कहना न होगा कि जग्गी के पिता की यही आदमियत ग्रामीण समाज

में मानवीय मूल्य के बचे रहने के सच को प्रतिष्ठित करता है।

मार्कण्डेय की 'चाँद का टुकड़ा' कहानी में भी ग्रामीण सामाजिक जीवन में मानवीय मूल्य का सच देखा जाता है। प्रस्तुत कहानी में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण विकास के प्रतीक स्वरूप सड़क-निर्माण कार्य को कहानी की पृष्ठभूमि में रूप में दिखलाया जाता है। अभावग्रस्त ग्रामीण भूमिहीन सनोहर मजदूरी के वास्ते अपने गाँव से दूर सड़क बनाने के कार्य में अपना योग देने हेतु दूसरे गाँव पहुँचता है। वह अपने पीछे अपने अभावग्रस्त परिवार को छोड़ यहाँ आता है। उसकी शारीरिक हालत दिन-ब-दिन बिगड़ती जाती है; क्योंकि उसे भूखे रहते हुए मजदूरी करनी पड़ती है। ठेकेदार हफ्ता पूरे हुए बिना एक दमड़ी भी छोड़ने का राजी नहीं होता है। ऐसे माहौल में, जहाँ हर तरफ व्यक्ति को सिर्फ अपने स्वार्थ की पड़ी रहती है, सहुआइन का चरित्र मानवीय मूल्य का संवाहक बन कर इस कहानी में उपस्थित होता है। हालांकि, वह भी गाँव में आए नए मजदूरों को सिर्फ इसलिए ताकती है, क्योंकि वह उससे लाभ उठाना चाहती है। वह अपने सौदा सुलुफ को उन मजदूरों को बेचकर उनसे लाभ कमाना चाहती है। फिर भी उससे सनोहर की बेबसी देखी नहीं जाती है। चार दिनों तक भूखे रहते हुए सनोहर का फाँवड़ा चलाना ठेकेदार को तनिक भी करुणार्द नहीं करता है। किंतु, सहुअनियाँ जो सनोहर की तरह दूसरे मजदूरों की गाँठों पर निगाह जमाए रखती थी, उसकी मानवीयता उसे लाभ-नुकसान के फेर से दूर ले जाती है। उसका मरणासन्न सनोहर के प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार ग्रामीण सामाजिक जीवन में मानवीय मूल्य के विपरित परिस्थितियों में भी बने रहने की तस्वीर को प्रस्तुत करता है—“सनोहर उन्हें अब भी देख रहा था और सहुअनियाँ उसे डाँट रही थी, “दाहिजार के घर से चलेंगे, तो यह नहीं कि दो मुट्ठी पिसान-दाल बाँध लें। जाने कबन बहिन-मतारी बइठी हैं परदेश में! अब डोलना नहीं दुआर छोड़ कर! खा पी कर सुत रह! और तू छबिया, इसको खिलाकर एक खटिया दे देना, दो दिन से भूइयाँ पड़ा है।”³⁰ इसी तरह मार्कण्डेय की कतिपय अन्य कहानियों – 'जूते', 'मन के मोड़', 'सवरइया' आदि में मानवीय मूल्य को निरंतरता में भी अपनी चिरंतनता कायम रखते हुए देखा जाता है। उनकी 'जूते' कहानी में मनोहर के प्रति बहूजी के व्यवहार में, 'मन के मोड़' कहानी में देवर जीतू के प्रति द्रौपदी के व्यवहार में तथा 'सवरइया' कहानी में महाराजिन का अपने बेटे स्वरूप सवरइया के व्यवहार में मानवीय मूल्य के शाश्वत रूप का पहलू भली-भाँति उद्घाटित होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है मार्कण्डेय की पैनी नजर स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक

जीवन में मूल्य-संक्रमण के पहलू को अपनी दृष्टि में रखते हुए भी मानवीय मूल्य को देख और पहचान लेती है, जो अपनी अकिंचनता में ग्रामीण सामाजिक जीवन में घुले-मिले रहते हैं। यही नहीं, उनकी यथार्थ दृष्टि ग्रामीण सामाजिक जीवन में मानवीय मूल्य को उसकी संश्लिष्टता में दिखलाती है तथा उसे ग्रामीण सामाजिक जीवन की एक अभिन्न पहचान बतलाती है।

3.3.1.1.2 'मूल्य' का क्षरण

स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन में जहाँ एक ओर मानवीय मूल्य अपना शाश्वत रूप बनाए रखता है, वहीं दूसरी ओर समायिक परिस्थितियों में परंपरागत मूल्य का क्षरण भी देखा जाता है। मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों में ग्रामीण जीवन के बदलते यथार्थ को ग्रामीण सामाजिक जीवन के मूल्यों में क्षरण के रूप में देखा जाता है। इस संदर्भ में मार्कण्डेय की 'घूरा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। जहाँ, सामाजिक व्यवहार गत मूल्य में क्षरण होता है। इस कहानी के लंबरदार का घूरा के प्रति किया गया छल-पूर्ण आचरण ग्रामीण सामाजिक व्यवहार परक मूल्य तथा विश्वास को क्षतिग्रस्त करता है। कहानीकार इस संदर्भ में लंबरदार के उक्त छलपूर्ण व्यवहार की तह में जाकर यह दिखलाते हैं कि स्वार्थ और धन-लिप्सा जब मनुष्य के जीवन में घर कर जाते हैं तभी मनुष्य सामाजिक विश्वास और मूल्यों को चोटिल करता है। जिस घूरा की गुप्त आर्थिक मदद के कारण गाँव में लंबरदार की इज्जत और मान का रक्षण होता है उसी को अपने रुपये माँगने पर लंबरदार का टका-सा इन्कार भरा जवाब देना तथा अवसर का लाभ उठाना ग्रामीण जीवन में सामाजिक विश्वासपरक मूल्य को ध्वस्त करता है- " साल भर बीत गया। घूरा ने रुपयों के लिए मुँह नहीं खोला पर जब चैत की फसल कटी तो उसने कहा, 'बबुआ अब तो.....' ' जरूर-जरूर भौजी !' लंबरदार ने बात टाली फिर बाद को कहने लगे, 'रुपया तो नहीं जुट रहा है, कहीं कुछ खेत रेहन करा लेती।' 'खेत? भला मैं खेत कैसे लूँगी?' 'फिर अभी मुश्किल है घूरा!' उन्होंने कुछ कड़ाई से कहा, सबूत भी क्या था और आखिर में उन्होंने सीधे-सीधे कह दिया, 'कैसा रुपया?"³¹ यहाँ, उक्त कथन में स्पष्ट देखा जा सकता है कि स्वार्थ से प्रेरित लंबरदार मौके की नजाकत का फायदा उठाता है। वह खेत रेहन रखने की बात पहले पहल इसलिए करता है, क्योंकि वह जानता है कि एक स्त्री-घूरा के लिए यह वश की बात नहीं। दूसरा, वह इन्कार भरा जवाब इसलिए बड़ी चतुराई से दे पाता है; क्योंकि वह यह भी जानता है कि घूरा की मदद का

कोई गवाह नहीं है। घूरा उसे रात के अंधकार में सबसे छिप-छिपा कर जो मदद करती है।

इसी तरह ग्रामीण जीवन में सामाजिक विश्वास परक मूल्य को ध्वस्त होते हुए मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'एक काला दायरा' में भी देखा जाता है। इस कहानी में पाँचू की बिरादरी के लोग (?) ही उसके साथ जो व्यवहार करते हैं, उससे सामाजिक विश्वासपरक मूल्य को एक गहरा धक्का लगता है। इस कहानी का पाँचू जो अपने गाँव से दूर कानपुर की एक तेल मिल में काम करता है, अपनी पत्नी चम्पा को विदा करा कर अपने डेरे की ओर ले जाने को रात के अंधेरे में निकल पड़ता है। रास्ते में ही जहाँ, वह अपनी पत्नी के साथ कुँए पर पानी पीने हेतु रुकता है, उसे अपनी बिरादरी के लोग मिलते हैं (मनसुख अहीर का परिवार)। वे लोग ही उसे रात को अपनी पत्नी के साथ रुक जाने का आग्रह करते हैं—“ भइया, तुम भी गाँव-पुर के आदमी हो। तुम्हारी बहू हमारी बिटिया समान है। बेचारी को माँ-बाप की गोद छोड़ाकर पैदल ही घसीट रहे हो। देखो तो भला, पाँव में छाले पड़ गए हैं। लड़किन के बाबू भी वही नाँच देख रहे हैं, तुम भी जाकर देख न लो, कोई बहुत दूर तो है नहीं, अउर नाच भी ऐसी की देखी न होगी जिनगी में।”³² उनके इस आग्रह में, ग्रामीण सामाजिक जीवन में रचा-वसा विश्वास ही झलकता है। पाँचू भी इस विश्वास पर यकीन करता है। किंतु, उसे बदले में वह प्राप्त होता है, जिसकी वह कल्पना भी नहीं किए हुए होता है। सबेरे उसे बताया जाता है कि उसकी पत्नी चम्पा किसी दूसरे के साथ भाग गयी। वही लोग उसे यह धमकाते हुए कहते हैं कि तुम यहाँ से चुपचाप चले जाओ। इतना ही नहीं, वही लोग पाँचू के, जो अपनी पत्नी के कत्ल के लिए अदालत में हाजिर किया जाता है, खिलाफ गवाही देने वाले होते हैं। उक्त घटना से पाँचू का पूरा जीवन ही बदल जाता है तथा उसके ग्रामीण सामाजिक जीवन के विश्वास परक मूल्य ध्वस्त हो जाते हैं। कहानीकार मार्कण्डेय यहाँ ग्रामीण सामाजिक जीवन के उक्त मूल्य-क्षरण को पाँचू तथा उसकी पत्नी की जीवन-त्रासदी के रूप में दिखलाते हैं।

इसी तरह मार्कण्डेय की कहानी 'घुन' में भी सामाजिक मूल्य के रूप में संवदेना के क्षरण को देखा जाता है। ग्रामीण सामाजिक जीवन में मूल्य-क्षरण के एक अन्य रूप को मार्कण्डेय की कहानी 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना' में भी देखा जाता है। इस कहानी में स्वातंत्र्योत्तर कुत्सित राजनीति तथा गुटबंदी द्वारा सामाजिक जीवन में व्याप्त सामुदायिक एकता रूपी मूल्य क्षतिग्रस्त होता है। कहानीकार मार्कण्डेय इस सामाजिक यथार्थ को कहानी के एक पात्र बच्चन के माध्यम

से दिखलाते हैं। इस कहानी में गाँव में आए बच्चन को उसके परिवार की तरफ से यह हिदायत देते हुए दिखाया जाता है कि बुचऊ से दूर रहने में ही भलाई है। क्योंकि, गाँव में उसका हुक्का-पानी बंद है - “बड़ा चानस है, तोहरे बुचऊ का। तुम्हारा नाँव सुनते ही दउड़ा आएगा, लेकिन बहुत बोलना-डोलना नहीं उसके साथ, आज-काल हुक्का पानी बंद है।”³³ बच्चन को इस बात को सुनकर पहले-पहल अचंभा होता है। वह सोच नहीं पाता है कि जिस घर के दुवारे बुचऊ सब-समय रहा करता था, जो परिवार के हर कार्य में में सम्मिलित था—“ बाजार से धोती मँगानी हो, तीज-त्यौहार का सामान करना हो, उधार-बाढ़ी पैसा मँगाना हो; सबके लिए बुचऊ, यहाँ तक कि परिवार के बड़े से बड़े मौके पर, वह काम आता। परिवार की गोपनीय से गोपनीय बातें उसे मालूम रहतीं।”³⁴ वहीं बुचऊ, आज उसी परिवार द्वारा उपेक्षित है। बच्चन को प्रथमतः कुछ समझ में नहीं आता है, किंतु उसे अंततः पता चल जाता है—“ मैं बाहर निकल पड़ा, बात समझ मे आ गयी। शायद वह काका का विरोध करता है। किसी नई पार्टी में चला गया बुचऊ।”³⁵

इसी तरह ग्रामीण सामाजिक जीवन में मूल्य-क्षरण के अन्य रूप को मार्कण्डेय की कहानी ‘साबुन’ में देखा जाता है। इस कहानी में ग्रामीण जीवन के किसानों से जुड़े सामाजिक मूल्य, जो वहाँ के लिए एक मर्यादित और पारंपरिक कर्म है, उसके प्रति होने वाली अनास्था बोध को मूल्य-क्षरण के रूप में दर्शाया गया है। इस कहानी में यह द्रष्टव्य है कि स्वातंत्र्योत्तर नई पीढ़ी, शिक्षित होने के उपरांत अपनी पूर्व पीढ़ी के मूल्य बोध के साथ उस रूप में जुड़ने हेतु तत्पर नहीं दिखती है, जिसकी अपेक्षा पुरातन पीढ़ी किए हुए रहती है। इस कहानी में बटुक पुरातन पीढ़ी का प्रतिनिधि है, जबकि राजेश नई शिक्षित पीढ़ी का। इस कहानी का बटुक चाहता है कि उसका लड़का राजेश गाँव में रहकर खेत खलिहान और घर-द्वार देखे। परंतु राजेश पढ़-लिख जाने के बाद किसानों के कर्म को अपने माकूल नहीं पाता है। वह नौकरी हेतु शहर जाना चाहता है। इस कारण ही वह गाँव से पलायन करता है, किंतु शहर की चकाचौंध तथा उसमें बजबजाते भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद रूपी अपसंस्कृति में वह मिसफिट साबित होता है। कहानीकार मार्कण्डेय राजेश की पीढ़ी में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण शिक्षित नई पीढ़ी की उद्देश्यहीनता तथा ग्रामीण जीवन में किसानों से जुड़े सामाजिक मूल्य के क्षरण को बखूबी दिखलाते हैं। यहाँ कहानीकार कई बातों की ओर संकेत करता है। पहली, स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में विकास वास्तव में केवल एक नारा बनकर रह जाता है। दूसरी, ना तो किसानों से जुड़े मर्यादित कर्म रूपी मूल्य को नई शिक्षा के साथ जोड़ा जाता है और

ना ही राजेश जैसी नई पीढ़ी को गाँव से पलायन करने से रोकने हेतु गाँव की आधारभूत संरचना एवम् उसके संसाधनों के विकास की समुचित व्यवस्था की जाती है, जो ग्रामीण सामाजिक यथार्थ की नई तस्वीर प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण सामाजिक जीवन में होने वाले मूल्य-क्षरण पर कहानीकार की पैनी नजर होती है। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि चीजों की तह में जाती है। इसी कारण ग्रामीण सामाजिक जीवन के मूल्य-क्षरण के विभिन्न रूपों-सामाजिक व्यवहारगत मूल्य, सामाजिक विश्वासपरक मूल्य, सामाजिक संवेदना का सामुदायिक एकता रूपी मूल्य, किसानों की कर्म रूपी मर्यादित और पारंपरिक मूल्य आदि -को संश्लिष्ट रूप में उद्घाटित करती है।

3.3.1.1.3 नए मूल्य का निर्माण

उल्लेखनीय है कि समाज के निर्माण एवं उसके बदलाव के साथ मूल्यों के निर्माण को भी सापेक्ष रूप में देखा जाता है। समाज के मूल्य में संक्रमण, उसका क्षरण तथा उसकी जगह नये मूल्य के बनने की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। जिसे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन के संदर्भ में भी देखा जाता है। कहना न होगा कि ग्रामीण जीवन में भी नई परिस्थितियों तथा समय के प्रवाह स्वरूप मनुष्य की आस्था, उसके भाव-बोध तथा उसकी जीवन-दृष्टि में आया बदलाव समाज में स्थापित मूल्य-मान्यताओं को बदलकर उसकी जगह नए मूल्य के निर्माण हेतु आग्रहशील हो उठता है। यहाँ, दिलीप भस्म के निम्न कथन में भी उक्त सच को अवलोकित किया जा सकता है-“विकास की तेज रफ्तार के साथ गाँवों का सामाजिक ढाँचा परिवर्तित होता गया। नागरीकरण के प्रभाव से गाँवों की परंपरागत संरचना ध्वस्त होती गयी। नए मूल्य भी रेखांकित होने लगे।”³⁶ तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता, नागरीकरण, विकास, एवम् इनसे उद्भूत नयी चेतना गाँव की नयी पीढ़ी को परंपरा-विरोध, अनास्था बोध तथा नए मूल्य के निर्माण हेतु अग्रसर करती है।

डॉ. सुरेश सिन्हा का गाँव की नई पीढ़ी के संबंध में कहा गया निम्न कथन भी उक्त संदर्भ को प्रकाशित करता है-“ प्रतिष्ठित सत्य एवम् स्वीकृत नैतिक मानदण्ड झूठे पड़ गए हैं और न केवल समाज के प्रति के वरन् स्वयं अपने प्रति विद्रोह करने के लिए आकुल हैं, प्रयत्नशील हैं। उसके लिए हर संदर्भ अर्थहीन हो गये हैं और नैतिक मान्यताएँ बल्कि सारी की सारी आचार

संहिताएँ खोखली एवम् जर्जर पड़ गयी हैं।³⁷ यहाँ लक्ष्य किया जाए तो ग्रामीण जीवन में नई पीढ़ी की सोच और चेतना में आया बदलाव समाज में नई नैतिकता को गढ़ने हेतु तत्पर करता है। जो ग्रामीण सामाजिक जीवन के परिवर्तित यथार्थ को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। कहना न होगा कि मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों में नई पीढ़ी के उक्त प्रयास को देखा जाता है। उनकी कहानियाँ ग्रामीण सामाजिक जीवन में नए मूल्य के निर्माण स्वरूप परिवर्तित यथार्थ की सच्ची तस्वीर पेश करती है। जिसे उनकी 'सात बच्चों की माँ', 'हरामी के बच्चे', 'सोहगइला', 'बीच के लोग' तथा 'गनेसी' आदि कहानियों में देखा जा सकता है।

मार्कण्डेय की कहानी 'सात बच्चों की माँ' में नैतिकता के नए धरातल को छूने का प्रयास है, जिसे ग्रामीण सामाजिक जीवन में नए मूल्य गढ़ने की सदिच्छा स्वरूप देखा जाता है। इस कहानी की सत्रों ग्रामीण नारी की नई पीढ़ी की तरफ से नए मूल्यों की माँग करती हैं, क्योंकि पुरानी सामाजिक नैतिकता रूपी मूल्य उसके जीवन को त्रासद बनाने का ही प्रयास करते हैं। सत्रों के परंपरागत नैतिकता के प्रति अनास्था-बोध उसकी नयी चेतना के फलस्वरूप है, जो उसे खुद के जीवन-अनुभव से प्राप्त होता है।

इस कहानी की सोलह वर्षीय सत्रों का अनमेल विवाह पचास वर्षीय लँगड़े सरूप के साथ कर दिया जाता है। जहाँ, इस विवाह को लेकर सरूप तथा गाँव वालों के लिए खुशी और आश्चर्य का माहौल है, वहीं सत्रों के लिए ऐसा कुछ भी नहीं होता है। क्योंकि, इस विवाह के लिए उसकी मर्जी को जाने बगैर उसे सामाजिक रीतियों की चक्की में जोत दिया जाता है। उससे यह अपेक्षा भी की जाती है कि इस अनमेल विवाह की जकड़न में बँध कर अपना जीवन व्यतीत करे। यही स्त्री के लिए नैतिक रूप से मर्यादित आचरण है। किंतु, सत्रो इस पर चल नहीं पाती है या यूँ कहा जाए उसके तन-मन की चाह उसे उक्त नैतिक मार्ग से विचलित करती है। जिसका लाभ गाँव के कुछ गणमान्य (?) लोग उठाते हैं। दिन में वे समाज और नैतिकता के पहरेदार बन सत्रों को अनमेल विवाह की संस्था में खुद को बनाए रखने की हिदायत देते हैं, जबकि रात में उसके शरीर को भोगने की खातिर सारे नैतिक मूल्य की तिलांजलि दे देते हैं—“ एक दिन शोर मचा कि सत्रों भाग रही है। सारा गाँव उमड़ पड़ा।... मशाल जलाए गए और लोगों ने इधर-उधर ढूँढना शुरू कर दिया, पर गाँव के एक विशेष दल ने बड़े मनोयोग से इस काम में हाथ बटाया, ...ढूँढते-ढूँढते

सत्रों एक अरहर के पेड़ से सटी फफक-फफक कर रोती -कलपती पकड़ी गयी और घर लायी गयी, रखवाली का प्रबंध हुआ और उसी रात से फिर सरूप घर में नहीं सोया। पर सत्रों के बच्चे होते रहे और सरूप बाप बनता रहा।³⁸ स्पष्ट है कि समाज की परंपरागत नैतिकता की आड़ में सत्रों का शरीर भोगा जाता है तथा जबरन उसे सात बच्चों की माँ बनाया जाता है। इसी कारण उसका ममत्व जाग्रत ही नहीं होता है। किंतु, वह जीना चाहती है, प्रेम करना चाहती है। वह समाज की पोपली नैतिकता द्वारा थोप दिए गए रिश्तों से उन्मुक्त होकर एक स्त्री के रूप में जीना चाहती है।

कहना न होगा कि सत्रों ग्रामीण नारी की नयी चेतना स्वरूप समाज में नए मूल्य की प्रतिष्ठापना हेतु माँग करती है, जहाँ उसके जीवन में उसकी देह को भोगने हेतु प्रबंध न होता हो, बल्कि उसके जीवन में कोई उसे समझने वाला, उसे चाहने वाला, उसकी तन-मन की इच्छाओं को पूरा करने वाला हो। यहाँ, सत्रों के निम्न शब्दों में ग्रामीण सामाजिक जीवन में नैतिकता रूपी नए मूल्य के निर्माण की सदिच्छापूर्ण माँग द्रष्टव्य है— “कहने लगी तुम मुझे कुछ न देना, पर आना जरूर, नहीं तो मैं मर जाऊँगी।” मैंने कहा, यह लड़के बच्चे.... तो एक दुख उसके सीने में भर गया, ‘पंडित, इनका बोझ ढोते-ढोते मैं थक गयी हूँ। मैंने देख लिया है, ओफ...’ और वह बेतरह रोने लगी।³⁹ यहाँ, सात बच्चों की माँ, सत्रों का अपने ममत्वपरक मूल्यों को परे रख किसी पर पुरुष से प्रेम-प्रणय की चाहत रखना नैतिकता के नए मूल्य के प्रति आग्रहशील होना जाहिर करता है।

इसी प्रकार परंपरागत मूल्य की जगह नए मूल्य की माँग के प्रश्न को, मार्कण्डेय की ‘सोहगइला’ कहानी में भी देखा जाता है। इस कहानी की रनिया ग्रामीण सामाजिक जीवन की नई पीढ़ी के रूप में समाज में नए मूल्य के निर्माण हेतु प्रयासरत दिखायी गयी है। इस कहानी में रनिया का सोहगइला से जुड़ी नैतिक मान्यताओं के प्रति अनास्था-बोध उसके जीवन के आसपास घटते अनुभवों से प्राप्त चेतना स्वरूप दिखाया गया है। जिससे मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि का भी संज्ञान होता है कि वे चीजों को उसकी संश्लिष्टता में देखते-दिखाते हैं। इस कहानी में सोहगइला को विवाह से जुड़ी पारंपरिक नैतिकता रूपी मूल्य का पर्याय दिखाया गया है। जिसमें पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्री के लिए तय कर दिए गए नैतिक नियम-विधान का आदेश सन्निहित है। रनिया की माँ, अपनी बेटी को शादी के बाद विदा करते वक्त वैवाहिक नैतिकता की व्यावहारिक बातों के

साथ सोहगइला संबंधी परंपरागत नैतिक मूल्य को भी समझाती है तथा एक पतिव्रता पत्नी के रूप में इसे थामे रहने की हिदायत देती है। किंतु, विदाई के बाद रनिया के अपने ससुराल लौटते वक्त अपनी प्यास की बेहाल अवस्था में, उसे यह ध्यान नहीं रहता है कि कब उसके हाथों से सोहगइला छूट गया है, लुढ़क कर नीचे गिर गया है। पर, जब उसे ध्यान होता है, तब उसके चेहरे पर पश्चाताप की जगह व्यंग्य भरी मुस्कान होती है। यहाँ कहानीकार यह दिखाने की चेष्टा करता है कि रनिया के चेहरे पर व्यंग्य भरी मुस्कान उसकी नयी चेतना के परिणामस्वरूप ही है। विवाह की नैतिकता तथा सोहगइला से जुड़ी मान्यताओं को ता-उम्र ढोती हुयी उसकी माँ के जीवन का हश्र उसके सामने होता है। इस कारण ही वह सोहगइला से जुड़ी मूल्य-मान्यताओं को व्यर्थ समझती है तथा समाज में नारी के पक्ष से एक नए मूल्य की माँग करती है। यहाँ, ग्रामीण नारी द्वारा अपने भविष्य को पहचानने के अर्थ में नए-मूल्य की माँग को समझा जा सकता है।

इसी तरह 'बीच के लोग' कहानी में भी, ग्रामीण नई पीढ़ी को सामाजिक जीवन में नए मूल्य गढ़ने हेतु प्रयासरत देखा जा सकता है। इस कहानी का मनरा उक्त पीढ़ी की नयी चेतना और नयी बयार का प्रतिनिधित्व करता है। इस कहानी में दिखाया गया है कि स्वतंत्रता के दो दशक बीत जाने पर भी ग्रामीण सामाजिक जीवन में उच्चवर्गीय सवर्ण द्वारा दलित वर्ग का शोषण नहीं रुकता है। गाँव में कई ऐसे लोग भी रहते हैं, जो समय-समय पर वर्गीय विषमता और शोषण को लेकर उठने वाली आवाज को दबा देते हैं। वे ऐसा, गाँव के जीवन में शांति और सौहार्दपूर्ण वातावरण के बने रहने की दुहाई देते हुए करते हैं। जबकि, ग्रामीण सामाजिक वर्गों के बीच की आंतरिक स्थितियाँ और सचाईयाँ कतई ऊपरी तौर पर दिखने वाली स्थितियों जैसी नहीं होती हैं। तभी तो सालों से जमीन जोतने वालों को बेदखल करने हेतु साम-दाम-दण्ड भेद जैसे जुगत भिड़ाये जाते हैं।

इस कहानी के फउदी दादा ऐसे ही, बीच के लोग हैं, जो दोनों वर्गों के बीच तथाकथित शांति को बनाए रखने हेतु यथास्थिति को बनाए रखने में ही गाँव की मर्यादा बतलाते हैं। किंतु, गाँव की नयी पीढ़ी मनरा जैसे लोग, परिवर्तन हेतु संघर्ष का रास्ता रोके रखने वाली यथास्थितिवाद की मूल्य-चेतना के प्रति अनास्था व्यक्त करती है। मनरा जैसे लोग ग्रामीण सामाजिक जीवन में सवर्ण और दलित वर्गों के बीच के व्यवहारगत मूल्य को नए सिरे से गढ़ने को तत्पर दिखायी देते हैं। इसी कारण यथास्थितिवाद जैसे मूल्य की जगह परिवर्तनकामी नए मूल्य को गढ़ने को कटिवद्ध

हो जाते हैं।

ग्रामीण सामाजिक जीवन में नई पीढ़ी द्वारा सामाजिक जड़ मान्यताओं के प्रति अनास्था एवम नई मान्यताओं के निर्माण की सदिच्छा मार्कण्डेय की 'गनेसी' नामक कहानी में भी देखने को मिलता है। इस कहानी में ग्रामीण सामाजिक जीवन में जड़ हो गये विश्वास पर गनेसी अपनी आधुनिक चेतना के दम पर प्रहार करता है। गनेसी की आधुनिक मूल्य चेतना समूचे गाँव के सामाजिक यथार्थ को एक नया घुमाव देती है। गनेसी नई पीढ़ी का प्रतिनिधि बन गाँव के सामाजिक जीवन में नए मूल्य की स्थापना करता है जिसे जड़ मान्यताओं का प्रेमी कभी बर्दास्त नहीं कर पाता है।

अतः इस प्रकार ग्रामीण सामाजिक जीवन में मूल्य-संक्रमण के यथार्थ को मार्कण्डेय की कहानियों के माध्यम से कहने की कोशिश की जाए तो कई महत्त्वपूर्ण बिंदु दृष्टिगोचर होते हैं। पहला, ग्रामीण जीवन के मूल्य, वहाँ के सामाजिक यथार्थ को दर्शाते हैं। दूसरा, ग्रामीण जीवन के मूल्य, समाज के समग्र मानव-व्यवहार से अभिन्न रूप में जुड़े रहते हैं। जिसका समाज की सोच उसकी स्थिति और गति से गहरा जुड़ाव है। तीसरा, ग्रामीण सामाजिक जीवन को समझने के लिए मूल्य-संक्रमण की प्रक्रिया को समझना अति आवश्यक है, जो कि एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। चौथा, ग्रामीण जीवन में मूल्य-संक्रमण के पहलू को वहाँ के सामाजिक जीवन में मूल्य के शाश्वत रूप, मूल्य-क्षरण तथा नए मूल्य के बनने की सम्मिलित प्रक्रिया के रूप में ही समझा जा सकता है। अर्थात् मूल्य संक्रमण की उक्त सम्मिलित प्रक्रिया ही सामाजिक यथार्थ को प्रतीकित करती है। पाँचवा, ग्रामीण जीवन में मानवीय मूल्य अपने समय-संदर्भों से संदर्भित होने के बावजूद किसी-न-किसी प्रकार अपनी शाश्वत स्थिति कायम रखने में सक्षम रहते हैं, जैसा कि मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों - 'गुलरा के बाबा', 'घूरा', 'बातचीत', 'चाँद का टुकड़ा', 'जूते' 'मन के मोड़', 'सवरइया' आदि में भी अवलोकित होता है। छठवाँ, ग्रामीण जीवन के सामयिक मूल्य अपने समय-संदर्भों से संदर्भित होकर अपने क्षरण की ओर भी उन्मुख होते हैं, जैसा कि मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों- 'घूरा' 'एक काला दायरा', 'घुन', 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना' 'साबुन' आदि में दृष्टिगोचर होता है। सातवाँ, ग्रामीण जीवन में मूल्य-संक्रमण की सम्मिलित प्रक्रिया के रूप में नये मूल्य के बनने का आग्रह भी देखा जाता है, जैसा कि मार्कण्डेय की कतिपय कहानियाँ- 'सात बच्चों की

माँ', 'सोहगइला', 'बीच के लोग', 'गनेसी' आदि दर्शाती हैं। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन में मूल्य-संक्रमण की सम्मिलित प्रक्रिया को सामाजिक जीवन के यथार्थ के रूप में, उसकी ऐतिहासिक प्रवाहमानता के साथ दर्शाती हैं।

3.3.1.2 संबंधों के विघटन का यथार्थ

समाज मानव-व्यवहार की एक जटिल व्यवस्था है जिसमें संबंधों का एक जाल रहता है। अर्थात्, वहाँ संबंधों का एक अंतर्गुम्फन है, जिसमें व्यक्ति परिवार तथा उनके बीच उपजे रिश्तों को, उनकी सामाजिकता के बदलते स्वरूप को अवलोकित किया जाता है। यहाँ जटिल व्यवस्था कहने के अभिप्राय से इस तथ्य को भी समझा जा सकता है कि समाज में विद्यमान संबंध स्थिर नहीं रहते हैं। बल्कि, उनमें समय-प्रवाह तथा परिस्थिति सापेक्ष विघटन की प्रक्रिया घटती है, जो कि स्वाभाविक भी है। क्योंकि, इसी कारण सामाजिक यथार्थ का स्वरूप बदलता है। किसी भी समाज, चाहे वह स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज ही हो, के सामाजिक यथार्थ के बदलते स्वरूप को समझने के लिए सामाजिक संबंधों के विघटन की प्रक्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

कहना न होगा कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज भी स्वतंत्रता से उपजी परिस्थितियों तथा उससे जुड़े पहलुओं के प्रभाव से अछूता नहीं रहता है। ग्रामीण जीवन में रचे-बसे कथाकार और निबंधकार विवेकीराय इस संदर्भ में लिखते हैं- "विज्ञान राजनीति, रोजगार, नौकरी, कानून अवमूल्यन, वैयक्तिकता के उभार और परंपरा-विद्रोह आदि के प्रभाव विघटनवादी सिद्ध हो रहे हैं। विघटन ने गाँव समाज परिवार और व्यक्ति सभी को तोड़ा है। गाँव अपनी पहचान खोते जा रहे हैं।"⁴⁰ जिसका तात्पर्य यह है कि विघटन स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के व्यापक क्षेत्र को स्पर्श करता है। जिसका प्रभाव ग्रामीण जीवन के बदलते यथार्थ के संदर्भ में देखा जाता है। इस संदर्भ में यह कहना स्वाभाविक लगता है कि ग्रामीण सामाजिक जीवन में संबंधों के विघटन के यथार्थ को एक सम्मिलित प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, जिसमें संबंधों में उपजे तनाव, उसकी टूटन तथा उससे उद्भूत नए संबंध-स्वरूप न केवल सामाजिक मूल्यों, संघर्षों को दर्शाते हैं, बल्कि परिवर्तित सामाजिक यथार्थ को भी प्रतीकित करते हैं। कहना न होगा कि ग्रामीण समाज के व्यक्ति और परिवार रूपी घटक तथा उनकी सामाजिकता, स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में कतिपय कारणों-आर्थिक विषमता, दकियानूसी मान्यताएँ, आधुनिकताबोध, निजीस्वार्थ तथा अपसांस्कृतिक मूल्यों के

प्रसार आदि से विघटनवादी सिद्ध होती हैं। जिसे मार्कण्डेय की कहानियों में चित्रित होते हुए देखा जाता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण संबंधों के विघटन के यथार्थ को उसकी संश्लिष्टता में दर्शाती हैं।

3.3.1.2.1 वैयक्तिक संबंध

यह सर्वविदित सत्य है कि किसी भी समाज का मुख्य घटक व्यक्ति है, क्योंकि व्यक्ति के चतुर्दिक ही उसका समाज है। किसी भी समाज के भीतर का वैयक्तिक संबंध उस समाज की वास्तविक तस्वीर को प्रस्तुत करने में सहायक है। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन का वैयक्तिक संबंध विघटन की प्रक्रिया से गुजरता है। गाँव, घर तथा संयुक्त परिवार में रहने के बावजूद व्यक्ति के समक्ष ऐसी परिस्थितियाँ (अंतर और बाह्य) उत्पन्न होती हैं, जहाँ वह खुद को अकेला महसूस करता है। मार्कण्डेय की कहानियों में भी स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण व्यक्ति के जीवन में उपजा अकेलापन, एक दंश स्वरूप दृष्टिगोचर है। उनकी कहानियाँ व्यक्ति के इस अकेलेपन को सामाजिक संश्लिष्टता के साथ प्रस्तुत करती हैं। तभी उनकी कहानियों में व्यक्ति का अकेलापन कहीं उसकी स्वार्थ-प्रवृत्ति के कारण तो कहीं, परिस्थितियों के उपजे आतंक के कारण या फिर कहीं समाज में बलात् प्रविष्ट हुए अपसांस्कृतिक मूल्यों के कारण उपजते हुए अवलोकित होता है।

उनकी 'घूरा' और 'रामलाल' आदि कहानियों में स्त्री-पुरुष व्यक्ति चरित्र का अकेलापन मिलता है। उक्त दोनों कहानियों के पात्र परिस्थितियों से उपजे आतंक तथा परिवार के संबंधों में आए तनाव और बिखराव के परिणामस्वरूप स्वयं को अकेला और प्रताड़ित महसूस करते हैं। पहले 'घूरा' कहानी की बात की जाए। इस कहानी की 'घूरा' जो अपने पति की जीवितावस्था में घर की केन्द्रीय गृहणी के रूप में प्यार, सम्मान और सुख का बोध करती हैं, वही घूरा अपने पति जवाहिर के मरने के बाद अकेली पड़ जाती है। उसका यह अकेलापन केवल दाम्पत्य सुख के अभाव का अकेलापन नहीं है, बल्कि परिवार में स्वयं उपेक्षित हो जाने के कारण भी है— "वह घूरा जो रात के अँधेरे में पलंग के नीचे पैर नहीं रखती थी, सुख-सम्पति पाँवों पर लोटती थी, दुख और दरिद्रता की तो बात दूर रही, बच्चों की गाली सहती है और इस बरसात की रात में, सीलन भरे दालान में जमीन पर सो कर गुजार देती है।"⁴¹

वह अपनी बेटी धरमदेइया के अभावग्रस्त जीवन को लेकर चिंतित रहती है। वह चाहती

है कि उसके पति की सुख सम्पत्ति से उसकी लड़की वंचित न रह जाय। किंतु, घूरा का लड़का मंगरू तथा उसकी पत्नी अपनी संपत्ति को न बाँटने का एक नायाब तरीका ढूढ़ लेते हैं। वे घूरा पर चारित्रिक लांछन लगा कर उसे परिवार और समाज से प्रताड़ित कर देते हैं। कहानीकार मार्कण्डेय घूरा के माध्यम से व्यक्ति की पीड़ा तथा उसके अकेलेपन को ग्रामीण सामाजिक जीवन के संबंधों के विघटन के रूप में दिखलाते हैं। घूरा की पीड़ा और अकेलापन व्यक्ति, परिवार और समाज के संदर्भ में ग्रामीण सामाजिक जीवन के बदले हुए यथार्थ की तस्वीर रखता है। मार्कण्डेय की पैनी नजर उक्त तस्वीर को कुछ इस तरह पेश करती है - “घूरा की आँखों के नीचे की सलवटें आँसू से भर जाती हैं। एक नहीं हजारों पतली-तिरछी आँसू की रेखाएँ जो लगातार रिसती रहती हैं, जैसे कोई झरना। उसे अपने तन की चिंता नहीं है। एक बहुत पुराना अंगोछा जिसमें थिगलियाँ झूलती रहती हैं- चूतड़ और सीने-पीठ पर कई छेद हैं वह पागल की तरह सबसे घूम-घूम कर यही कहती है। उसके जेठ लड़के मंगरू को उसके ऊपर शक हो गया है।... पराया परायापन सह सकता है, पर जब अपनों से पराया-सा व्यवहार होने लगता है, तो वहाँ एक गहरी खाई खुद जाती है।”⁴² यहाँ, लक्ष्य किया जाए तो मार्कण्डेय घूरा के रूप में व्यक्ति के अकेलेपन को आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों की संश्लिष्टता में चित्रित करते हैं। घूरा के जीवन में उसके पति के मरने के बाद आर्थिक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। जहाँ, वह घर की केन्द्रीय गृहणी हुआ करती थी, वह जगह उसके जेठ लड़के मंगरू की पत्नी ले लेती है। इसी तरह जो घूरा समाज में अपनी ‘बड़ी कद्दावर औरत’ की छवि रखती थी, वही घूरा अपने परिवार के द्वारा लांछित होने पर समाज के समक्ष भी मजबूर दिखती है। इसी तरह जो घूरा, अपने परिवार में सम्मान की पात्र थी, एक पति के लिए आदर्श पत्नी तथा बेटे की लिए पूजनीय माँ, वही घूरा अपने पति की संपत्ति से अपनी लड़की को कुछ दे-देने के प्रस्ताव के कारण सिर्फ एक गाली बनकर रह जाती है- “दामाद के लिए मर रही है। इसी हरामजादी की नियत का फल भोग रहा हूँ।... उठ, चल यहाँ से, तेरा मुँह भी नहीं देखना चाहता।”⁴³ कहने का अभिप्राय यह है कि ग्रामीण सामाजिक जीवन के वैयक्तिक संबंध का विघटन उस समाज की आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा उसकी सोच और मूल्यों के विघटन की सम्मिलित प्रक्रिया में घटते हैं। यही, मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि भी संकेत करती है।

इसी प्रकार मार्कण्डेय की ‘रामलाल’ कहानी में भी व्यक्ति (पुरुष-चरित्र) का अकेलापन

दिखता है। इस कहानी का रामलाल भी अपने घर, परिवार और समाज के रहते हुए खुद को कहीं न कहीं भीतर से अकेला और तिरस्कृत पाता है। इस कहानी में भी मार्कण्डेय रामलाल का अकेलापन और उसकी प्रताड़ना आदि को उसके जीवन में परिवर्तित आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के मद्देनजर दर्शाते हैं। रामलाल की पत्नी के गुजरने के बाद उसकी भावज घर की केन्द्रीय गृहणी के रूप में अपने दबदबे को कायम रखने के लिए न तो संयुक्त संपत्ति को बाँटने देती है और ना ही रामलाल को घर के भीतर प्रमुख होने देती है। वह घर की बहू से अपनी सेवा के नाम पर उसका शोषण करती है- “बहू, तुम्हारी तो जवानी-बुढ़ापा कुछ जान ही नहीं पड़ता। एक हम लोगों को समय था कि हाथ-पैर में बिजलियाँ दौड़ा करती थीं। देखों, आज मेरे पेट में बड़ा दरद हो रहा है, जरा चिलम भर के लाओ, तब पैर में हाथ लगाओ!”⁴⁴ वह अपने घर के मालिकाने पर भी किसी का तनिक भी हस्तक्षेप बर्दास्त नहीं करती है, चाहे वह उसकी अपनी बहू हो या सम्पूर्ण सम्पत्ति के आधे मालिक रामलाल हों। वह अपने मालिकाने को सुरक्षित रखने हेतु रामलाल और बहू के बीच नाजायज संबंध होने की झूठी तोहमत लगा देती है। जिससे कि रामलाल का बेटा अपने पिता को पिता नहीं, बल्कि अपना शत्रु समझकर उसके कटा रहे – “बदमाश कहीं की, चली है मालिकन बनने। जाकर क्यों नहीं माँगती है दूध अपने बाप से, जिससे आँखें मिलाती है, जिसकी राह देखती रहती है।”⁴⁵ यहाँ, कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, रामलाल की पत्नी का गुजरना उसको अकेला कर जाता है। दूसरी, अपनी इच्छा (अपने बेटे-बहू के साथ अपनी भाभी से अलग रहने का विचार) में अपने बेटे का साथ न मिलना भी उसे अकेला करता है। तीसरी, परिवार के सदस्य द्वारा उस पर चारित्रिक लांछन का लगाना उसे अपने परिवार तथा समाज के भीतर ही प्रताड़ित करता है। चौथी, गाँव के जीवन में एक पिता की सांस्कृतिक छवि की मर्यादा का उसके जीवन में यथावत् न रहना भी उसे अकेला और प्रताड़ित करता है। इस प्रकार मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि रामलाल के जीवन में उसके वैयक्तिक संबंध के विघटन को उसके जीवन की सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों की संश्लिष्टता में दर्शाती है।

मार्कण्डेय की कहानी ‘कल्याणमन’ में भी गंगी के अकेलेपन को घर, परिवार और समाज के रहते हुए लक्ष्य किया जाता है। इस कहानी में भी सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन की परिस्थितियाँ गंगी के जीवन में, उसके वैयक्तिक संबंधों में विघटन पैदा करती हैं। यह अकेलापन मार्कण्डेय की कहानी ‘भविष्यवाचन’ के कुनाई पण्डित के जीवन में भी पसरा हुआ देखा जाता है।

कुनाई पण्डित घर-वार, धन-धान्य के अलावा एक परिवार की तथा उसमें बसने वाली संबंधों की उष्मा से वंचित एक भरे-पूरे समाज के मध्य अकेलेपन की पीड़ा से व्यथित रहता है। मार्कण्डेय की निम्न पंक्तियों में उक्त यथार्थ को लक्ष्य किया जा सकता है- “उसके पास घर-द्वार है, खेत-वारी है, इज्जत-बात है, चार जन मानते-जानते हैं, पर क्या उसके घर एक भोला, नन्हा बच्चा-कहते हैं गति नहीं होती संताने बिना, लेकिन यह सोहर।... यह संवदिया परसाद की है? यह बच्चा? - च. च... यह क्या सोचने लगा। उसका ध्यान उसकी हाथ की सुर्ती पर चला गया, जो अँगूठे की निरंतर रगड़ से गर्द हो गयी थी और वह उसमें चूना भी मिलाना भूल गया था।”⁴⁶ जिससे यह समझा जा सकता है कि कुनाई पंडित के जीवन में अपनी स्त्री तथा अपने बच्चे का अभाव उसे न सिर्फ वर्तमान से अन्य मनस्क करता है, बल्कि उसे अपने भावी-जीवन के प्रति भी बोझिल बना देता है।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘मुंशी जी’ का भी इस प्रसंग में जिक्र किया जा सकता है, जहाँ कहानीकार यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि ग्रामीण सामाजिक जीवन में संबंधों के विघटन के लिए खुद व्यक्ति की स्वार्थगत प्रवृत्ति तथा उसका अमर्यादित आचरण भी जिम्मेवार होता है। उसका स्वार्थगत आचरण और व्यवहार भी उसे घर-परिवार और समाज के समक्ष अकेला कर देता है- “अब मुंशी जी भी अकेले हो गए हैं। बीबी के साथ बीमार हैं पर कोई बात तक नहीं पूछता... आँखें धँस कर गढ़े में चली गयी हैं और कमर झुककर धनुष हो गयी है।... इधर कई दिनों के लगातार फाँके के बाद यह बुखार आया है। कहाँ जाएँ, किससे कहें?”⁴⁷ जिससे यह समझा जा सकता है कि मुंशी जी समाज में एक प्रताड़ित व्यक्ति हैं, जिसकी पूँछ-पछोर वाला तक कोई नहीं है। अमूमन गाँव के जीवन में यह तब ही देखा जाता है जब कोई व्यक्ति के रूप में अपनी सामाजिकता खो देता है। कहानीकार मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि यहाँ यह दिखाती है कि मुंशी जी की सामंती प्रवृत्ति, जैसे अपने नौकरों के साथ अमानवीय व्यवहार करना, शराब पीना, चोरी करना, अपनी पत्नी या स्त्री को केवल भोग की वस्तु समझना, केवल अपनी उदरपूर्ति का ख्याल रखना, तथा पारिवारिक-सामाजिक दायित्व से पूरी तरह कटा रहना आदि ही उन्हें घर-परिवार और समाज के रहते हुए भी अकेला कर देती है। आलोच्य कहानी में यह दिखाया जाता है कि समाज के लोग ही नहीं, बल्कि उनके परिवार के अपने तक उन्हें अकेला छोड़ देते हैं। वस्तुतः व्यक्ति की स्वार्थ-प्रकृति भी ग्रामीण सामाजिक जीवन में संबंधों के विघटन एक कारण बनती है। यही नहीं, मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि यह भी दिखालाती है कि ‘स्वतंत्रता’ से जुड़ी परिस्थिति, मसलन ग्रामीण

सामाजिक जीवन में क्षुद्र दलगत भ्रष्ट राजनीति का प्रवेश भी ग्रामीण व्यक्ति को अकेला कर देता है। मार्कण्डेय की कई कहानियाँ, जैसे “नौ सो रुपये और एक ऊँट दाना” ‘हंसा जाई अकेला’ आदि का इस संदर्भ में जिक्र किया जा सकता है।

अतः इस प्रकार यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण सामाजिक जीवन के संबंधों के विघटन के यथार्थ को विविध कोणों से देखती हैं। सामाजिक जीवन में संबंधों के विघटन का ही यह परिणाम है कि व्यक्ति घर-परिवार और समाज के रहने के बावजूद स्वयं को अकेला महसूस करता है तथा उसके वैयक्तिक संबंध कुंठित होते हैं। घूरा, रामलाल और मंगी जैसे व्यक्ति चरित्र जहाँ पारिवारिक तनाव तथा परिस्थितियों से उपजे आतंक के परिणामस्वरूप अकेले पड़ जाते हैं तथा उनके वैयक्तिक संबंध विघटित होते हैं, वहाँ मुंशीजी जैसे चरित्र अपनी सामंती सोच तथा अमर्यादित आचारण के कारण अपने को अकेले पाते हैं। इसी तरह स्वतंत्रता से जुड़ी परिस्थितियाँ तथा उनसे उपजा माहौल भी समाज में संबंधों के विघटन को जन्म देता है। बुचरू, हंसा और सुशीला जैसे व्यक्ति चरित्र इन्हीं परिस्थितियों में खुद को अकेला और अलग-थलग महसूस करते हैं। उनके वैयक्तिक संबंध समाज की दिशाहीन स्थिति के समक्ष कुंठित होने को अभिशप्त होते हैं। अतः कहा जाए तो मार्कण्डेय का कहानियाँ वैयक्तिक संबंध के विघटन के जरिये सामाजिक संबंधों के विघटन के यथार्थ को भली-भाँति उकेर पाने में सक्षम दिखती हैं।

3.3.1.2.2 पारिवारिक संबंध

समाज के मुख्य घटक के रूप में परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है। परिवार में ही संबंध की पहचान होती है तथा इसके जरिये सामाजिकता के निर्वाह का रास्ता प्रशस्त होता है। कहना न होगा कि परिवार मानव समुदाय की महत्वपूर्ण इकाई है। ग्रामीण सामाजिक जीवन में परिवार की एक अपनी पहचान और मर्यादा है। दूसरे अर्थों में, समझा जाए तो मनुष्य की प्रारंभिक एवम् मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले संगठनों एवम् संस्थाओं में परिवार का स्थान प्रथम और सर्वोपरि है। ग्रामीण सामाजिक जीवन में भी परिवार रूपी संस्था अहम है। इसकी परिभाषा देते हुए ई. वर्जस और लॉक लिखते हैं— “परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है, जिसमें ये विवाह, रक्त अथवा दत्तक संबंध से बँधे होकर एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं। इस गृहस्थी में वे एक-दूसरे पर पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि के रूप में प्रभाव डालते हैं और एक-दूसरे के साथ

संबंध स्थापित करते हैं। वे सब एक सामान्य संस्कृति को जन्म देते हैं और उस संस्कृति को बनाये रखते हैं।⁴⁸ जिससे परिवार के संबंध में कई महत्वपूर्ण बातें उजागर होती हैं। पहली, परिवार व्यक्तियों के समूह से बनता है अर्थात् परिवार समुदायिक भावना से युक्त होता है। दूसरी, संबंधों के निर्माण की आधार शिला यहीं रखी जाती है। चाहे वे संबंध जन्म-जात हों या अर्जित किए हुए। तीसरी, घर का निर्माण परिवार के भीतर ही है। चौथी, व्यक्ति के रिश्तों के सूत्र परस्पर यहीं गुम्फित रहते हैं। पाँचवीं, परिवार की अपनी एक सामुदायिक संस्कृति होती है जो उसकी पहचान को स्थिर करती है। अतः परिवार और पारिवारिक संबंधों को समझकर ही सामाजिक संबंधों के विघटन की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण परिवार और उसके पारिवारिक संबंधों का संश्लिष्ट यथार्थ मिलता है। उनकी कहानियाँ ग्रामीण पारिवारिक संबंधों को सामाजिक संबंधों के विघटन की प्रक्रिया में देखती-दिखाती हैं।

3.3.1.2.2.1 संयुक्त परिवार के ढाँचे का विघटन

ग्रामीण समाज की सामुदायिक भावना उसकी अभिन्न पहचान है। किंतु, इस सामुदायिक भावना का सूत्रपात प्रथमतः परिवार के अंतर्गत ही होता है। “समाज-शास्त्रियों के अनुसार परिवार दो प्रकार के होते हैं-एक संयुक्त परिवार दूसरा व्यक्तिवादी या आणविक परिवार। संयुक्त परिवार भारतीय समाज-व्यवस्था का सबसे बड़ा अंग है- में पति-पत्नी के अतिरिक्त नाबालिग बच्चे पितृ कुल के चार-पाँच पीढ़ियों के बंध-बंधव तथा निस्सहाय स्त्रियाँ होती हैं, लेकिन आणविक तथा व्यक्तिवादी परिवार केवल पति-पत्नी तथा नाबालिग बच्चों तक सीमित होता है।⁴⁹ सादियों से ग्रामीण परिवार का ढाँचा संयुक्त रूप लिए हुये रहा है। स्वतंत्रता पूर्व संयुक्त परिवार ग्रामीण सामाजिक जीवन की मुख्य छवि होती रही है। किंतु, स्वतंत्रता बाद इस ढाँचे में विघटन की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने के क्रम में संयुक्त परिवार के ढाँचे को विघटित होते हुए स्पष्ट रूप से दिखलाती हैं। उनकी कहानियों में संयुक्त परिवार के ढाँचे का विघटन कई कोणों से निरखा-परखा हुआ चित्रित होता है। यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कुछेक कहानियों के संदर्भों की पड़ताल- प्रासंगिक लगती है।

सबसे पहले उनकी ‘सवरइया’ कहानी का जिक्र किया जाए। इस कहानी में दिखाया गया है कि परिवार के ही व्यक्ति की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति तथा मालिकाई की महत्वाकांक्षा न सिर्फ संयुक्त

परिवार के ढाँचे को विघटित करती है, बल्कि संबंधों को भी तार-तार कर देती है। इस कहानी में महाराजिन का संयुक्त परिवार उनके ही पट्टीदारों की स्वार्थ और कपट पूर्ण मनोवृत्ति के कारण टूट कर बिखर जाता है। संयुक्त परिवार के टूटते ही पट्टीदारों की व्यक्तिवादी सोच, जिसमें शामिल रहता है महाराजिन की सम्पत्ति को हड़प कर स्वयं सर्वेसर्वा बन जाने का भाव, महाराजिन के प्रति उनके संबंधों की उष्मा को भी शुष्क कर देती है। वे न सिर्फ महाराजिन का आर्थिक शोषण करते हैं, बल्कि उसका जीना भी मुहाल कर देते हैं। आलोच्य कहानी में उनके द्वारा महाराजिन की जमीन कुर्क करवाने तथा उसके बैल सवरइया को हड़पने का षडयंत्र ग्रामीण सामाजिक जीवन में संबंधों के विघटन का ही यथार्थ प्रस्तुत करता है- “पट्टीदारों ने सिपाहियों को अपने दरवाजे पर बैठाया। कुर्क-अमीन की सेवा सत्कार की, मिले-जुले, फिर बाद को लोग महाराजिन के दरवाजे पर आये। पट्टीदार ने कहा, “साहब इस घर की इज्जत बहुत रही है, अभी तक कोई गैर चौखट लांघ कर अन्दर नहीं गया। यही बरधा है, चाहे कुर्क कर लो।”⁵⁰

इसी प्रकार मार्कण्डेय की ‘घूरा’, ‘रामलाल’, ‘साबुन’ आदि कहानियों में भी संयुक्त परिवार के विघटन का संकेत है, जहाँ संबंध विघटित होते हुए नजर आते हैं। घूरा और रामलाल आदि कहानियों में भी परिवार में व्यक्तिवादी सोच का पनपना तथा संबंधों के प्रति संदेहपूर्ण मनोवृत्ति का जागृत हो जाना परिवार को ही केवल नहीं तोड़ता है, बल्कि संबंधों को भी विघटित कर देता है। कहानीकार मार्कण्डेय घूरा के जीवन की दुर्दशा को दिखलाते हुए उक्त सच को कुछ इस प्रकार उद्घाटित करते हैं- “घूरा दुकान में पैर नहीं रख सकती। डर है, कहीं कुछ चुरा कर दामाद को न दे दें। “बुद्धू ताला बन्द रखना। देखो, जब घुरिया घर में जाए तो नजर रखना।” मंगरू कहता है और जब सांझ को दुकान से दूर दीवार के सहारे बैठी हुयी घूरा कहती है, कि चिलम तमाखू?” तब मंगरू गुराता है - “एक चिलम तमाखू, एक चिलम तमाखू, कितनी तमाखू चूसती है ! अभी तो दिया था न, चल, हट यहाँ से !”⁵¹ जिससे इस तथ्य को समझने में तनिक देर नहीं लगती है कि मंगरू की व्यक्तिवादी सोच तथा मालिकाई की महत्वाकांक्षा उसे न केवल अपनी माँ घूरा के प्रति संवेदनशून्य बनाती है, बल्कि उसे अपने परिवार के अंग भी मानने नहीं देती है। इसी तरह मार्कण्डेय की ‘साबुन’ कहानी में भी संयुक्त परिवार के टूटने का संकेत है। यहाँ दो पीढ़ियों की सोच का अंतर परिवार को दरकने की ओर प्रवृत्त करता है। इस कहानी में नई शिक्षित पीढ़ी का शहर में नौकरी करने की इच्छा स्पष्ट व्यक्त होती है जिसके लिए कई परिस्थितियाँ जिम्मेवार होती

हैं। पहली, नई शिक्षित पीढ़ी के मनोनुकूल जीवन-यापन हेतु ग्रामीण जीवन में समुचित आधारभूत संरचना का अभाव। दूसरी, नगर के जीवन का आकर्षण। तीसरी, खेती के बजाय नौकरीपेशा कहलाने की तीव्र इच्छा आदि। आलोच्य कहानी में बटुक का परिवार बिखर जाता है। राजेश शहर की चकाचौंध की ओर अपनी उम्मीदों को लिए गाँव से पलायन तो करता है पर वहाँ की आपाधापी, शिफारिस, घूस-भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद आदि जैसे अपसांस्कृतिक माहौल में खुद को मिसफिट पाता है।

अतः यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण सामाजिक जीवन में पारिवारिक संबंधों के यथार्थ के रूप में संयुक्त परिवार के ढाँचे के विघटन को एक सत्य-स्वरूप विविध कोणों से देखती-दिखाती हैं। उनकी कहानियाँ इस तथ्य की तस्दीक करती हैं कि परिवार में व्यक्तिवादी सोच का पनपना, सामाजिक-आर्थिक महत्वाकांक्षा स्वरूप स्वयं को सर्वेसर्वा समझने की चाह का उत्पन्न होना, पीढ़ियों की सोच में अंतर आना, संबंधों में विश्वसनीयता का हास होना तथा नगर-जीवन के मूल्य संक्रमण का व्याप्त होना आदि संयुक्त परिवार के ढाँचे को तोड़ने के साथ-साथ संबंधों के विघटन को भी जन्म देता है।

3.3.1.2.2.2 दाम्पत्य संबंध

परिवार के संदर्भ में दाम्पत्य संबंध की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। दाम्पत्य संबंध परिवार के अंतर्गत स्त्री-पुरुष, या पति-पत्नी के संबंधों पर आधारित रहता है। ग्रामीण जीवन में पति-पत्नी के संबंधों को समझे बिना न तो पारिवारिक संबंध को समझा जा सकता है और ना ही व्यापक स्तर पर सामाजिक जीवन में संबंधों के विघटन के यथार्थ को। ग्रामीण जीवन में सदियों से चली आ रही पितृसत्ता की संस्कृति के परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुष की स्थिति न समाज में समान धरातल पर देखी जाती है और ना ही परिवार के अंदर।

मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन के दाम्पत्य संबंध के विविध फलक दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर जीवन-मूल्य और संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में परिवार के भीतर स्त्री-पुरुष के संबंधों का यथार्थ रूप चित्रित हुआ है। यहाँ, प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है। मार्कण्डेय की 'मुंशी जी' कहानी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इस कहानी में पत्नी की स्थिति सामंती नैतिकता से आक्रांत नजर आती है। यहाँ

पुरुष की भोगवादी दृष्टि स्त्री को पत्नी के रूप में भी केवल भोग्या समझती है। पति उसे अपना वासनात्मक आनंद हेतु एक खिलौना समझता है। यहाँ, पत्नी समाज तो दूर, अपने परिवार के अंदर ही शोषित और अपमानित है। घर की चौहद्दी के भीतर उसकी सीमित दुनिया में पूर्ण समर्पित पत्नी (स्त्री) के साथ जो कुछ एक पुरुष(पति) करता है, उसे कहानीकार मार्कण्डेय की पैनी नजर बखूबी दिखाती है। ग्रामीण जीवन में एक पुरुष पर सामाजिक और आर्थिक तौर पर आश्रित रहने वाली एक स्त्री (पत्नी) का अपमान कुछ इस तरह भी हो सकता है, कि उसे दूसरी स्त्री के समक्ष एक पति द्वारा नंगा करने का धिनौना खेल खेला जाता है। कहानीकार मार्कण्डेय उक्त दृश्य को आलोच्य कहानी की नौकारानी के कथन के जरिए कुछ इस प्रकार प्रकट करते हैं- “मैं डर कर पीछे हट गयी थी और भागना चाहती थी, पर वह दरवाजे पर खड़ा था। भूत की तरह दौड़ कर उसने अपनी बीबी को नंगा कर दिया और ठहाका मार कर हँसने लगा, “कैसी सुन्दर है... कैसी.... और तू !! तू भी सुन्दर है !”⁵² जिससे यह साफ पता चलता है कि सामंती नैतिकता में मदांध एक पुरुष को स्त्री के हर रूप में चाहे वह पत्नी या कुछ और हो, केवल सुन्दर अनावृत्त देह नजर आती है, जिसे वह भोग लेना चाहता है। इस कहानी में यह भी देखा जाता है कि पत्नी का स्वतंत्र व्यक्तित्व न होने के कारण वह अपना इतना अपमान होने पर भी वह अपने पति के साथ बँधी रहती है। उस वक्त भी, जब पति (मुंशी जी) का साथ उसका समाज और उसके बेटे (परिवार) तक छोड़ देते हैं - “ अब मुंशीजी भी अकेले हो गए हैं। बीबी के साथ बीमार हैं पर कोई बात तक नहीं पूछता... ।”⁵³ परंतु, इसके बावजूद भी मुंशीजी अपनी बीमार पत्नी को अकेला छोड़ अपनी मस्ती में बेफ्रिक रहते हैं। जिससे यह जाहिर होता है कि पुरुष अपने आनंद में कैद स्त्री या पत्नी को घर पर पड़ी एक वस्तु से ज्यादा कुछ नहीं समझता है, जिससे जब जरूरत पड़ी अपने अनुकूल काम ले लिया। बस्स!

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘शव-साधना’ में पति-पत्नी के संबंध का एक अलग रूप दृष्टिगोचर है। जहाँ, बदलते हुए हालात में पति-पत्नी के संबंधों में व्याप्त कोमलता, एकनिष्ठता तथा समर्पण आदि भाव शिथिल होते हैं। यहाँ, दाम्पत्य जीवन में एक-दूसरे के साथ बँधे रहने के बावजूद भी एक-दूसरे के प्रति प्रतिबद्धता का भाव नदारद रहता है। ‘शवसाधना’ कहानी में घेंचू और सुखी के दाम्पत्य संबंध के विघटन का यथार्थ चित्र मिलता है। पति-पत्नी संबंध के विघटन का एक रूप मार्कण्डेय की ‘कल्याणमन’ कहानी में भी दृष्टिगोचर होता है। इस कहानी की पत्नी

मंगी अपने पति बंगा की उत्तरदायित्व हीनता और नशाखोरी को बर्दास्त करती हुयी चलती है तथा खुद अपने परिवार का भरण-पोषण का भार अपने कंधे पर ले लेती है। किंतु, अपने बच्चे को भूखा रखकर बंगा की नशाखोरी उसे इतना उद्विग्न कर देती है कि वह बंगा को अपने जीवन से निकाल फेंक देने पर उतारू हो जाती है। वह अपने शराबी पति बंगा को रात की ठंड में अकेला मरने हेतु छोड़ देती है। उसे तनिक भी हिचक नहीं होती है कि वह अपने पति के साथ ऐसा कर रही है- - “मंगी ने दरवाजा खोला तो वह पानी में भींग कर सिकुड़ा भींगे पिल्ले की तरह थर-थर काँप रहा था... उसकी जबान टूटती जा रही थी... मंगी का कलेजा जल कर रह गया। बच्चे की भूख, अपनी परेशानी और बंगा की नशाखोरी, उसे लगा, जैसे कोई भूत ठहाका लगाकर बत्तीसों दाँत बाये खड़ा हो। जैसे किसी ने उसके पेट में कस कर एंड़ी मार दी हो। उसने झटके से दरवाजा बंद कर दिया...।”⁵⁴ स्पष्ट है कि पति-पत्नी संबंध में उत्तरदायित्व का जो एक संतुलन होता है, वह यहाँ, कहीं भी नजर नहीं आता है। इसी असंतुलन से आजिज आकर मंगी अपने दाम्पत्य जीवन और संबंध की तिलांजली दे देती है। इसी प्रकार पति-पत्नी के संबंध के विघटन को मार्कण्डेय की ‘सात-बच्चों की माँ’ तथा ‘कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए’ आदि कहानियों में भी देखा जाता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन के सामाजिक संबंध के यथार्थ को समझने हेतु पारिवारिक जीवन के दाम्पत्य संबंध को समझना बेहद जरूरी है। मार्कण्डेय की कहानियाँ इसका जीवंत प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। जहाँ, पति-पत्नी के संबंधों का विघटन समाज की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक तथा मूल्यगत सोच को भी दर्शाता है। ‘मुंशी जी’ कहानी में जहाँ स्त्री के प्रति सदियों से चली आ रही सांमती सोच का पता चलता है, तो ‘शवसाधना’ में वैयक्तिक इच्छाओं का प्राबल्य देखा जाता है। ‘कल्यानमन’ कहानी में जहाँ, दाम्पत्य जीवन में उत्तरदायित्व का असंतुलन दाम्पत्य संबंध की डोर को तोड़ने हेतु अग्रसर दिखायी देता है वहीं, ‘सात-बच्चों की माँ’ में जबरन थोप दिए जाने वाला बंधन दाम्पत्य संबंध को कुंद कर देता है। ‘कहानी के लिए एक नारी पात्र चाहिए’ में स्त्री की आर्थिक दुरवस्था तथा समाज से मिली पुरुष की भोगवादी सोच भी दाम्पत्य संबंध को विघटित करने की ओर उसे उन्मुख करती है। सारतः कहा जाए तो दाम्पत्य संबंध का विघटन न सिर्फ उस परिवार की सही तस्वीर पेश करता है, बल्कि उस समाज की भी, जिससे वह परिवार गहरे रूप में जुड़ा है। मार्कण्डेय की कहानियाँ दाम्पत्य संबंध के विघटन के माध्यम से ग्रामीण समाज की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत करती हैं।

3.3.1.2.2.3 माता-पिता और संतान तथा अन्य नाते-रिश्तों का संबंध

ग्रामीण पारिवारिक संरचना में पति-पत्नी संबंध के अलावा माता-पिता और संतान अर्थात् पुरानी पीढ़ी तथा नई पीढ़ी का संबंध महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी प्रकार अन्य नाते-रिश्तों के मुताबिक भाई-भाई, भाई-बहन, सास-बहू, भाभी-ननद आदि के पारिवारिक संबंध न सिर्फ अपने परिवार की पहचान स्थिर करते हैं, बल्कि आस-पास के समाज को भी प्रभावित करते हैं। यहाँ पहले, माता-पिता और संतान के संबंध की बात की जाए, तो यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि माता-पिता का संतान के साथ खून का रिश्ता होता है। और बहुतायत ऐसा देखा जाता है कि ग्रामीण जीवन में इस रिश्ते को निभाने का यथासंभव प्रयास दोनों ओर से होता है। किंतु, स्वतंत्रता उपरांत उपजी परिस्थितियों में अधकचरी आधुनिकता, अधूरी शिक्षा तथा आर्थिक जरूरतों ने पारिवारिक संबंधों को बेतरह प्रभावित किया है।

डॉ. वी.पी. चौहान इस संदर्भ में प्रकाश डालते हैं- “ स्वतंत्रता परवर्ती ग्रामीण परिवेश में व्यक्ति और परिवार के बीच खाई बढ़ती जा रही है, नयी पीढ़ी के बीच संघर्ष युगीन संदर्भ में गति पा रहा है। माँ-बाप, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि संबंध भी संयुक्त परिवारों के विघटन से खण्डित हो रहे हैं। तनाव की यह प्रक्रिया समूचे व्यक्तित्व को अंदर और बाहर घेरे हुए हैं।”⁵⁵ जिसका कहने का तात्पर्य यह है कि संबंधों के विविध रूप नयी परिस्थितियों तथा संदर्भों में विघटन की प्रक्रिया में शामिल हैं। अर्थात् बदलते ग्रामीण परिदृश्य तथा सामाजिक परिस्थितियों ने अन्य संबंधों की तरह माता-पिता और संतान के संबंधों को भले पूरी तरह तोड़ न पाया हो, पर कुछ हद तक उसे शिलीभूत करने में अवश्य सफल हुआ है। इसे प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों में लक्ष्य किया जा सकता है।

इस संदर्भ में मार्कण्डेय की ‘घूरा’, ‘रामलाल’, ‘कल्यानमन’, ‘साबुन’ आदि का जिक्र किया जा सकता है। ‘घूरा’ कहानी में, जब घूरा (माँ) अपने पति की जायदाद से अपनी विपन्न बेटी के परिवार की गरीबी को दूर करने हेतु अपने बेटे से मदद की बात करती है, तो बेटा अपनी सगी माँ को प्रताड़ित करता है। बेटा अपनी माँ के चरित्र पर लांछन लगाता है। वह अपने बहनोई से अपनी माँ के नाजायज संबंध की बात पूरे समाज में इसलिए प्रतिष्ठित करता है, ताकि समाज भी उसके बहनोई के परिवार की मदद न करने पर उसे स्वीकृति और समर्थन दे सके। वह अपनी माँ

की सामाजिक प्रताड़ना रूपी व्यवहार को न्यायसंगत ठहराने हेतु माता-पुत्र संबंध की गरिमा और सनातनता की तिलांजलि दे देता है- “दामाद के लिए मर रही है। इसी हरामजादी की नियत का फल भोग रहा है। अब तो जेहल ही बाकी बची है, वह भी हो जाए। उठ, चल यहाँ से तेरा मुँह भी नहीं देखना चाहता।”⁵⁶ जिससे यह समझा जा सकता है कि बेटे के लिए पैसा ही सब-कुछ है। पैसे का मोह उसे सारे संबंधों को शिथिल करने हेतु अग्रसर करता है।

इसी तरह ‘रामलाल’ कहानी में बेटा अपने बाप को प्रताड़ित करता है, क्योंकि उसके कानों में अपने चतुर्दिक लोगों के द्वारा इस बात को भर दिया जाता है कि उसके पिता की बुरी नजर उसकी पत्नी पर है। यही नहीं, मार्कण्डेय की कहानियाँ- ‘उत्तराधिकार’ और मुंशीजी’ आदि में पिता-पुत्र संबंध के विघटन के अन्य फलक को विस्तृत होते हुए देखा जाता है। जहाँ, नई पीढ़ी (पुत्र) पुरानी पीढ़ी (पिता) के सांमती आचरण के खिलाफ खड़ी नज़र आती है। ‘उत्तराधिकार’ कहानी में पुत्र शरन अपने जमींदार पिता जोगेश सिंह के कामुक और एय्यास आचरण के कारण घर से अलग रहता है। पिता का स्त्रियों के प्रति भोगवादी दृष्टिकोण शरण को उसे पिता से दूर ले जाता है। इस कहानी में शरन मंगल के साथ संवाद स्थापित करने के क्रम में, उक्त सच को प्रकट करते हुए कहता है कि, वह बचपन से ही पिता को जानवर की कामुकता अपनाते हुए देखा है। जिसे वह (नई पीढ़ी) कतई स्वीकार नहीं कर पाता है। इसी तरह ‘मुंशीजी’ कहानी में उसके पढ़े-लिखे नौकरीशुदा बेटे अपने पिता के निठल्ले, एय्यास और कपटपूर्ण आचरण को बर्दास्त नहीं करते हैं, और उनसे अलग हो जाते हैं - “लड़का चला गया तो फिर न लौटा। इसी तरह धीरे-धीरे सभी बच्चे मुंशीजी से अलग हो गए।”⁵⁷ अतः समग्रता में विचार किए जाने पर इस बात को समझा जा सकता है कि माता-पिता और संतान के संबंध का विघटन आर्थिक कारणों, गलतफैमियों, परिवार के अंतर्बाह्य कुचक्रों, युगीन परिस्थितियों, पुरातन थोथी मान्यताओं आदि के कारण तीव्रतर होता है।

इसी प्रकार ग्रामीण जीवन में परिवार के अन्य नाते रिश्तों के संबंधों का विघटन भी सामाजिक यथार्थ की अलग तस्वीर गढ़ने के क्रम में लक्ष्य किया जाता है। मूलतः आर्थिक कारण तथा उससे जुड़ी स्वार्थपरता, सम्पत्ति-मोह, वैमनस्य, तथा मालिकाई स्पर्धा आदि ने ग्रामीण जीवन में विशेष कर स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में, परिवार के अन्य नाते-रिश्तों यथा भाई-भाई, बुआ-भतीजी, जेठानी-देवरानी, आदि के पारस्परिक संबंधों को विघटित करने का उपक्रम किया है। मार्कण्डेय की

कहानी 'मन के मोड़' में भाई-भाई, देवर-भाभी तथा देवरानी-जेठानी आदि संबंधों के विघटन को देखा जाता है। यहाँ इस विघटन के पीछे आर्थिक कारण के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वार्थ और ईर्ष्या आदि भावनाएं भी होती हैं। इसी तरह 'बिन्दी' कहानी में भी अपनी बुआ और उसके बेटे पारस द्वारा बिन्दी का शोषण इस बात की स्वीकृति देता है कि सगे-संबंधों में एक शिथिलता आ गयी है। इस कहानी में बुआ और उसके बेटे सिर्फ इसलिए अनाथ लड़की बिन्दी को अपने पास रखते हैं ताकि उसकी सारी सम्पत्ति को स्वयं भोग सके।

इस प्रकार समग्रता में मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन के संबंधों के विघटन के यथार्थ को देखा जाए, तो कई बातें उजागर होती हैं। पहली, उनकी कहानियों में यह देखा जाता है कि व्यक्ति घर, परिवार और समाज के बीच अपने को अकेला महसूस करता है; उसके वैयक्तिक संबंध कुंठित होते हैं। जिसके लिए कभी व्यक्ति की क्षुद्र सोच, अपने को सुखी करने की इच्छा तो कभी पारिवारिक तनाव तथा उससे उपजी परिस्थितियाँ तथा उससे उपजा माहौल आदि भी प्रमुख कारक बनते हैं। दूसरी, उनकी कहानियों में यह भी लक्ष्य किया जाता है कि बदलते समय के साथ परिवार की परिकल्पना भी बदलती है। संयुक्त परिवार का ढाँचा भी उत्तरोत्तर टूटता है। जिसके लिए परिवार में व्यक्तिवादी सोच का पनपना, आर्थिक और सामाजिक रूप में किसी एक के सर्वेसर्वा बनने की तीव्र महत्वाकांक्षा का जन्म लेना तथा परिवार के सदस्यों के बीच विश्वसनीयता का ह्रास होना आदि प्रमुख कारण सिद्ध होते हैं। तीसरी, उनकी कहानियाँ यह भी दिखाती हैं कि परिवार की कल्पना में बदलाव के साथ परिवार के मध्य पति-पत्नी के संबंध भी परिवर्तित और विघटित होते हैं। जिसके लिए कभी सदियों से चली आ रही सामंती पुरुषवादी सोच, तो कभी दंपति में वैयक्तिक इच्छाओं का प्रबल हो जाना, तो कभी दाम्पत्य संबंध में उत्तरदायित्व का असंतुलन होना तो कभी स्त्री द्वारा उसका आर्थिक और दैहिक शोषण करने वाली समाज की कुप्रवृत्तियों का प्रतिकार करना आदि प्रमुख कारक सिद्ध होते हैं। चौथी, उनकी कहानियाँ यह भी दिखाती हैं कि मनुष्य की अर्थ-लिप्सा परिवार के अन्य नाते रिश्तों में अपनेपन की उष्मा को शुष्क कर देती है।

सारतः कहा जाए तो संबंधों में विघटन का उक्त रूप ग्रामीण जीवन के सामाजिक यथार्थ को नए रूप में पेश करने की ओर अग्रसर रहता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ सामाजिक यथार्थ के उक्त पहलू को बड़ी सूक्ष्मता और सक्षमता से उज्जीवित करती हैं।

3.3.1.3 ग्रामीण नारी जीवन: समस्यामूलक यथार्थ

किसी भी समाज की कल्पना पुरुष अकेले नहीं कर सकता है। वहाँ नारी की भी अपनी महती भूमिका है। नारी परिवार और समाज की रीढ़ कहलाती है। ग्रामीण परिवार और समाज में भी नारी की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। उल्लेखनीय है कि भारतीय ग्रामीण जीवन सदियों से सामंती व्यवस्था से पोषित होता रहा है। जिसके कारण ही नारी को एक तरफ आदर्श के रूप में महान बताया जाता है- “भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान एकाकी है, उत्तम है, स्नेह, ममता और प्रेम का प्रतीक है। वह मानव जीवन का रस है, अमृत है और प्राण है।”⁵⁸ तो दूसरी तरफ, व्यवहार के स्तर पर उसे सदा एक दासी और भोग्या ही समझा जाता रहा है- “कहा जाता है कि नारी की दासता का इतिहास उत्तर वैदिककाल से शुरू हुआ था और आज के इस वैज्ञानिक युग में भी नारी एक हद तक उपेक्षित ही है। औरत को मात्र भोग की वस्तु समझकर इसके प्रति वासनात्मक दृष्टि रखने की आदिम मानसिकता आज के सभ्य एवं शिक्षित पुरुष समुदाय में भी पायी जाती है।”⁵⁹

गौरतलब है कि, ग्रामीण नारी जीवन को धर्म, परंपरा और नैतिकता की आड़ में सदैव संकुचित और सीमित करने का प्रयास होता रहा है। स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में नारी के एक वर्ग को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तर पर पुरुषों के समकक्ष आने का अवसर प्राप्त होता है। उनमें शिक्षा तथा अपने अधिकार को प्राप्त करने की भावना भी बलवती होती है- “स्वतंत्रता संग्राम ने युगों की सुषुप्त नारी के कानों में जागरण का संदेश फूँका। परिणाम स्वरूप चिर संतप्त नारी हृदय में नवचेतना की चिनगारी प्रज्वलित हो उठी।”⁶⁰ किंतु, यह सुअवसर शहरी नारियों तक ही सीमित रहता है। स्वतंत्रता बाद भी, ग्रामीण नारी का जीवन-वृत्त अधिकतर चूल्हा-चौकों और पति-बच्चों के ईद-गिर्द ही घूमता है। उनकी शिक्षा-साक्षरता तक जाकर ही सीमित रह जाती है। ग्रामीण जीवन में नारी की इच्छाओं तथा स्वतंत्र विचारों को पनपने तथा व्यक्त होने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि, अज्ञान और अंधकार की चारदीवारी में बंद नारी बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा-विवाह निषेध, पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों के नीचे दबा दी जाती है। उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण सामाजिक जीवन के यथार्थ स्वरूप नारी जीवन के समस्यामूलक पक्ष को देखने की एक कोशिश होती है। उनकी कहानियाँ विवाह की आड़ में नारी पर थोपी जाने वाली सामाजिक कुरीतियों तथा प्रेम के नाम पर उनके दैहिक शोषण को

बखूबी दिखलाती हैं। यहाँ प्रमाण स्वरूप उनकी कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उक्त संदर्भ की पुष्टि की जा सकती है।

3.3.1.3.1 बाल विवाह

ग्रामीण सामाजिक जीवन में बाल-विवाह की प्रथा बहुत गहरे में आबद्ध है। स्वातंत्र्योत्तर काल ही नहीं, बल्कि आज भी सुदूर गाँव देहात के पिछड़े इलाकों में, यह प्रथा बदस्तूर जारी है। ग्रामीण जीवन का अशिक्षित तथा पुरातनपंथी समुदाय आज भी इसे ढो रहा है।

ध्यातव्य है कि वैवाहिक जीवन की विसंगति स्वरूप बाल-विवाह में स्त्रियों का जीवन ही ज्यादा अवरुद्ध होता है। एक तरफ तो उसका बचपन, खेलकूद तथा उन्मुक्त जीवन पीछे छूट जाता है तो दूसरी तरफ उनकी शिक्षा अधूरी रह जाती है। और तो और उन्हें कच्ची उम्र से ही पितृसत्तात्मक समाज की मान्यताओं, परंपराओं, नैतिकताओं तथा आदर्शों को ढोने हेतु विवश कर दिया जाता है। उनका जीवन और बालमन पतिव्रता धर्म तक ही सीमित और संकुचित कर दिया जाता है। यहाँ उक्त तथ्य के आलोक में मार्कण्डेय की 'सोहगइला' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। इस कहानी में बाल-विवाह तथा उससे जुड़ी मान्यताओं प्रथाओं तथा नैतिकता के मध्य स्त्री के जीवन को संकुचित होते हुए दिखाया गया है।

आलोच्य कहानी में यह द्रष्टव्य है कि रनिया का व्याह तब होता है जब उसकी उम्र गुड्डे-गुड्डियों से खेलने की होती है। उसका उन्मुक्त जीवन और स्वच्छंद बचपन पर्दा-प्रथा जैसी रूढ़िगत मान्यताओं से परिसीमित कर दिया जाता है। प्रस्तुत कहानी के निम्न दृश्य में उक्त सच का यथार्थ चित्र मिलता है- "घूँघट से दुलहिन का मुँह ढँक गया। देह पहले से ही ढँकी थी। दिखायी पड़ रहे थे केवल वे दो नन्हें-नन्हें हाथ जिनमें लाल रंग का सोहगइला गुलाब के फूल की तरह लटक रहा था।"⁶¹ जिससे यह समझा जा सकता है कि रनिया का व्यक्तित्व बाल-विवाह के फलस्वरूप दुलहिन के रूप में पर्दा-प्रथा जैसी ग्रामीण रूढ़िगत मान्यताओं के निर्वाह में पूरी तरह ढँक जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि रनिया का स्त्री के रूप में उसका व्यक्तित्व कहीं छिप जाता है तथा केवल दिखायी देता है सोहगइला, पतिव्रता धर्म का पर्याय बन चुकी मान्यताएँ। इस कहानी में यह द्रष्टव्य है कि बालावस्था में ही रनिया की शादी कर दी जाती है। शादी के बाद रनिया की विदाई की घड़ी में उसकी माँ उसे स्त्रियों का पतिव्रत धर्म, त्याग-सेवा, सहिष्णुता आदि मूल्यों

को निभाने-मानने हेतु हिदायत देती है, जो कि उसे ग्रामीण पितृसत्तात्मक समाज द्वारा मिला हुआ होता है - “उसके दोनों निरीह खुले हुए नन्हें-नन्हें हाथों को पकड़ कर उनमें सोहगइला दबाते-दबाते माँ की बरसाती नदी-सी आखें किनारों को लाँघकर बह चली थी, “इन्हें छोड़ना नहीं। कुल-परिवार की लाज का धियान रखना!...” “सास-ससुर का कहना मानना। जहाँ बैठाएं वहीं बैठना, जहाँ उठाएं, वहीं...”⁶² अर्थात् वह उसे पातिव्रत धर्म निभाने में ही एक स्त्री या पत्नी की सार्थकता होने के फलसफे को समझाती है। यहाँ स्पष्ट समझा जा सकता है कि रनिया को दी गयी हिदायतों में ही उसका बचपन और उन्मुक्त जीवन कहीं गुम हो जाता है। तथा उसका संसार उसके पति के इर्द-गिर्द ही सिमट-सा जाता है।

किंतु मार्कण्डेय का कहानीकार इस कहानी में बाल-विवाह के साथ तुरंत ही लाद दिए जाने वाले उक्त आदर्शों और मान्यताओं को निस्सार बताया है। जिसके कारण रनिया जैसी कई लड़कियों का जीवन विकसने के पहले ही भार-स्वरूप बन जाता है। ग्रामीण समाज में व्याप्त उक्त मान्यताओं और प्रथाओं का प्रतिकार रनिया जैसी लड़कियों की निजी चेतना और बोध के जरिए ही हो सकता है, ऐसा इस कहानी में बताया गया है। तभी रनिया सोहगइला के अपने हाथ से छूट जाने पर अपने चेहरे पर एक मुसकान लिए नज़र आती है। क्योंकि, वह जब एक तरफ सोहगइला को देखती है तथा दूसरी तरफ अपनी माँ की दुर्दशा को, तब उसे सोहगइला संबंधी सारी मान्यताएँ निस्सार प्रतीत होती हैं- “फिर माँ के कालिख में डूबे, रूखड़े हाथों की असंख्य काली रेखाओं के जाल में फँसी, उसकी आँखें, दूर बैठी हुयी बहू और सामने लुढ़के सोहगइला; दोनों को देखने में असमर्थ होती जा रही क्योंकि वह अब बच्ची नहीं रह गयी थी और सामने खड़े भविष्य को पहचान रही थी।”⁶³ जिसका संकेत यह होता है कि ग्रामीण समाज में स्त्रियों का भविष्य बाल-विवाह तथा सोहगइला संबंधी रूढ़िगत मान्यताओं से मुक्ति में ही व्याप्त है।

अतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की ‘सोहगइला’ कहानी ग्रामीण सामाजिक जीवन में बाल-विवाह के विद्यमान रहने के सच को इंगित करते हुए उस तथ्य को भी उज्जीवित करती है, जहाँ बाल-विवाह ग्रामीण लड़कियों के जीवन के भोले बचपन, उन्मुक्त जीवन तथा शैक्षणिक विकास को अवरूद्ध करने का कार्य करता है। यहाँ इस बात का भी संकेत है कि रनिया जैसी ग्रामीण लड़कियों का भविष्य बाल-विवाह तथा उससे जुड़ी थोथी मान्यताओं से निजात पाने में ही है।

3. 3.1.3.2 अनमेल विवाह

भारतीय ग्रामीण सामाजिक जीवन में विवाह की एक विसंगति के रूप में अनमेल विवाह का प्रकरण भी खूब व्याप्त मिलता है। प्रायः इस तथ्य को लक्ष्य किया जाता है कि भारतीय ग्रामीण समाज में अधिकतर अनमेल विवाह का रूप वृद्ध विवाह होता है, जहाँ जवान युवतियों का विवाह वृद्ध पुरुषों के साथ कर दिया जाता है। इस अनमेल विवाह का एक प्रमुख कारण विवाह और उससे जुड़ी दहेज-प्रथा है। जिससे समाज में नारी की स्थिति बड़ी दयनीय बनी रहती है। डॉ. ज्ञानचंद गुप्त इस संबंध में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं - “दहेज-प्रथा एक सामाजिक बुराई तो है ही साथ ही अन्य बुराइयों की जड़ भी है। पारिवारिक कलह, अनमेल विवाह, अंतर्जातीय विवाह आदि सब इसी के विकसित रूप हैं।”⁶⁴ दरअसल, भारतीय ग्रामीण समाज में पुत्र-पुत्री के प्रति व्यवहारगत अंतर की मान्यता सदियों से रही है, और बड़ी तीव्र रही है। जहाँ पुत्र के जन्म लेने पर बधाइयों का ताँता लगता है, वहीं पुत्री के जन्म लेते ही चारो ओर एक मायूसी छा जाती है। क्योंकि, पुत्र जहाँ वंशबेल माना जाता है, वहीं कन्या एक बोझ ! इसी कारण पितृपक्ष कन्या का शीघ्र विवाह कर बोझ से हल्कान होना चाहता है। पिता पक्ष कभी अपनी आर्थिक विवशता तो कभी कन्या के जरिए अपने परिवार की दशा सुधारने हेतु अपनी पुत्रियों का जैसे-तैसे विवाह कर अपने कार्यभार से मुक्त हो लेना चाहता है। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव उस लड़की पर पड़ता है जिसका कि अनमेल विवाह कर दिया जाता है। उस लड़की का जीवन खिलने से पहले ही कुंठित हो जाता है तथा उसका वैवाहिक जीवन एक अभिशाप बन जाता है।

ग्रामीण सामाजिक जीवन का उक्त सच मार्कण्डेय की कहानी ‘सात बच्चों की माँ’ में द्रष्टव्य है। इस कहानी में सोलह वर्षीय सत्रों का विवाह उसके पिता अपनी आर्थिक मजबूरियों तथा अपनी आर्थिक दशा को सुधारने हेतु पचास वर्षीय लँगड़े सरूप के साथ कर देते हैं। चारों तरफ इस अनमेल विवाह को लेकर खुशी और आश्चर्य का मिश्रित भाव होता है, पर सत्रों के लिए यह भविष्य का एक सवाल बन जाता है। सत्रों अनमेल विवाह तथा अपने भविष्य से आतंकित होकर घर से भागने की कोशिश करती है, पर समाज के नैतिक पैरोकार और पहरेदार उसे विवाह के सामाजिक बंधन में बँधे रहने के लिए बाध्य करते हैं। और यही लोग रात के अँधरे में सत्रों को शरीर का भोग करते हैं। सत्रों की तन की भूख तथा जरूरत भी उसे अवैध संबंधों की ओर उन्मुख करती है। और वह समय के अंतराल में, सात बच्चों की माँ में तब्दील हो जाती है। पर एक स्त्री

के रूप में, उसका मन अतृप्त रहता है। जिसे वह गाँव के देवी पंडित के प्रेम में ढूढ़ने की कोशिश करती है। इसी कोशिश में वह अपने पति और बच्चों को छोड़ देवी के साथ अपनी एक अलग दुनिया बसाती है। वह देवी के प्रति अपने सच्चे प्रेम का परिचय देती है, तन और मन दोनों उसे सौंप देती है। किंतु, देवी का पुरुषवादी मन सत्रों के प्रेम पर कहीं नहीं टिकता है। उसे सत्रों एक दुर्बल चरित्र वाली स्त्री ही लगती है, जो कभी भी उससे धोखा कर सकती है- “तन उसने दिया था सो दिया ही था, मन से भी उसने कुछ नहीं बचाया। पर मुझे उसके ऊपर लगातार शक बना रहता था।”⁶⁵ इसी शक के कारण सत्रों का जीवन पुनः त्रासद हो जाता है। देवी उसे जीवन के मँझधार में अकेला छोड़ देता है। सत्रों अपनी वस्तुस्थिति को अंततः समझती है कि ग्रामीण समाज नारी को केवल भोग की वस्तु ही समझता है जिसे जब चाहे भोग लिया फिर छोड़ दिया या फिर किसी के साथ जबरन नाथ दिया ताकि उसके साथ भोगी जा सके। इस कहानी में सत्रों का यह कथन समाज के समक्ष नारी की वस्तुस्थिति को ही दर्शाता है- “मैं तो केवल मशीन थी, भूख और अँधेरे में राक्षस मुझे खाते रहे।”⁶⁶

अतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की उक्त कहानी ग्रामीण सामाजिक जीवन में व्याप्त अनमेल विवाह के पीछे छिपी कन्या को बोज़ स्वरूप तथा विनिमय की वस्तु समझने की भावना को बखूबी दर्शाती है। इस अनमेल विवाह में स्त्री मात्र एक भोग्य वस्तु बन कर रह जाती है, जहाँ उसकी इच्छाएँ, चाहत तथा प्रेम सभी कुंठित होते हैं। कहानीकार मार्कण्डेय उक्त कहानी के जरिए यह बतलाते हैं कि अनमेल विवाह समाज में केवल विसंगतियों को जन्म देता है, जहाँ सबसे ज्यादा कुंठित होता है, स्त्री का जीवन और व्यक्तित्व।

3.3.1.3.3 विधवा विवाह निषेध: विधवा जीवन के संदर्भ में

भारतीय ग्रामीण जीवन और समाज अपने पारंपरिक आदर्शों तथा धार्मिक मूल्यों की छवि के लिए पहचाना जाता रहा है। किंतु समय-प्रवाह में, इस समाज में कई विसंगतियाँ परंपरा और मूल्य की शकल में अपनी जड़ें जमा लेती हैं। उनमें प्रमुख हैं,- सती-प्रथा, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा-विवाह निषेध मान्यता तथा स्त्री-शिक्षा निषेध आदि। जिनसे स्त्री-जीवन बुरी तरह प्रपीड़ित होता है। हमारे समाज सुधारकों ने स्त्री की आंतरिक पीड़ा और त्रास को समझते हुए ही उक्त विसंगतियों को समाज से दूर करने की जद्दोजहद की है। इसी संघर्ष की एक कड़ी विधवाओं का

पुनर्विवाह है। डॉ. वी.पी. चौहान इस संदर्भ में कुछ इस तरह प्रकाश डालते हैं- “ईश्वरचंद्र विद्यासागर, राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती आदि के अथक प्रयत्नों के बाद हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (हिंदू विडो रिमैरिज एक्ट 1856) पास हुआ। इस अधिनियम के अनुसार विधवाओं को विवाह करने का अधिकार प्राप्त हुआ।”⁶⁷

उल्लेखनीय है कि विधवा-विवाह सती-प्रथा के विरोध में आता है। जहाँ, एक ओर स्वातंत्र्योत्तर या उत्तर औपनिवेशिक ग्रामीण समाज में सती-प्रथा बिल्कुल समाप्तप्राय हो जाती है। वहीं, दूसरी ओर विधवा पुनर्विवाह एक विवाद या समस्या का विषय कमोवेश बनी रहती है। स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के कहानीकार मार्कण्डेय की कहानियों में विधवा-जीवन के जितने भी चित्र मिलते हैं, उनमें सभी की सभी स्त्रियाँ पुनर्विवाह से वंचित अपनी जिंदगी को जीते हुए दिखायी गयी हैं। जिससे ग्रामीण समाज में भी विधवा पुनर्विवाह के प्रश्न की असहजता को भली-भाँति समझा जा सकता है। मार्कण्डेय ग्रामीण जीवन के वैधव्य से पीड़ित स्त्रियों का अपनी कहानियों में यथार्थ चित्रण करते हुए प्रकारांतर से यह संकेत करते हैं कि अपवाद स्वरूप कुछ विधवाओं का पुनर्विवाह भले हो जाता हो, परंतु अधिकांश विधवाएँ कष्टपूर्ण त्रासद जीवन जीने को अभिशप्त होती हैं। उनकी कहानियों के ये पात्र-महाराजिन, घूरा, दुखना आदि अपने जीवन में पुनर्विवाह से दूर अपने-अपने स्तर पर वैधव्य जीवन की यंत्रणा को झेलती हुयी जीती हैं।

विधवा महाराजिन पात्र उनकी ‘सवरइया’ कहानी में विन्यस्त है। महाराजिन के विधवा होने के बाद से ही उसके पट्टीदार उसे तंग करना शुरू कर देते हैं। उसके खिलाफ षडयंत्र करते हैं, क्योंकि उन्हें यह भली-भाँति संज्ञान होता है कि ग्रामीण विधवाएँ कमजोर होती हैं। उसका पलटवार नहीं कर सकती हैं-“महाराजिन की खेती-बारी सब चौपट हो गयी।... किसी ने दाना चुरा लिया, तो किसी ने खड़ी फसल ही काट ली। घर में अनाज-पानी था, सब धीरे-धीरे खा-पी गयी और गहने भी एक-एक कर बिकते गये। जेठी का समय, मालगुजारी का चड़ास लग गया। पियादा बार-बार आया और लौट गया। पट्टीदार ने उसका कान भरा और उसने तहसील में जाकर वारन्ट कटवा दिया।”⁶⁸ जिससे यह समझा जा सकता है कि ग्रामीण स्त्री की दुनिया पति के ईद-गिर्द ही होती है। पति के साथ ही उसका अस्तित्व नज़र आता है। परंतु, पति के गुजर जाने के बाद उसका अस्तित्व ही बौना हो जाता है। यही महाराजिन के साथ ‘सवरइया’ कहानी में दिखाया गया

है। यहीं नहीं, मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि उन स्थलों को भी छू लेती हैं, जो अक्सर नजरअंदाज हो जाया करती हैं। ग्रामीण विधवाओं के भीतर जो जीवन के प्रति उत्साह में कमी आती है, उसे भी मार्कण्डेय का कहानीकार महाराजिन के जरिए कुछ इस प्रकार दिखाता है- “महाराजिन का ध्यान एकाएक अपने पैरों की तरफ चला गया। नाखून बढ़ गए थे और पैरों पर बेतरह झुर्रिया पड़ गयी थीं। “उंह!” वे झुँझला पड़ीं, “अखिर विधवा के पैरों की क्या गिनती? किसके लिए सिंगार-बनाव, जब वे ही नहीं रहे तो...”⁶⁹

इसी तरह मार्कण्डेय की ‘घूरा’ कहानी में भी विधवा स्त्री के ऊपर परिवार के भीतर व्यवहारगत आचरण के तुरंत बदल जाने का यथार्थ चित्रण मिलता है। गाँव की जो घूरा, अपने पति के जीवित रहते परिवार और समाज के समक्ष अपना एक स्थान रखती है, वही घूरा, अपने पति के गुजरने के बाद दुरदरा दी जाती है- “वह घूरा जो रात के अँधेरे में पलंग के नीचे पैर नहीं रखती थी, सुख सम्पत्ति पावों पर लोटती थी, दुख और दरिद्रता के तो बात दूर रही, बच्चों की गाली सहती है और इस बरसात की रात में, सीलन भरे दालान में जमीन पर सो कर गुजार देती है।”⁷⁰ अर्थात् विधवा के प्रति सामाजिक उपेक्षा तो दूर पारिवारिक रवैया भी उसके अस्तित्व को नकारने जैसा होता है। जिससे ग्रामीण सामाजिक जीवन में विधवाओं की वस्तुस्थिति का स्पष्ट संज्ञान होता है।

इसी प्रकार ‘महुए के पेड़’ कहानी में दुखना-विधवा स्त्री के प्रति, जो सामाजिक रवैया दिखाया गया है, वह भी ग्रामीण जीवन में विधवा स्त्री के अस्तित्व को नकारने वाला है। दुखना अपने पति के मरने के बाद पूरी तरह अकेली हो जाती है। गौरतलब है कि ग्रामीण जीवन में अकेली औरत को कमजोर माना जाता है। गाँव का ठाकुर भी दुखना के पति के मरने के दूसरे दिन जमीन की बेदखली का हुकूमनामा भेज देता है। उसका सब-कुछ छीन लेने के बाद भी वह संतोष नहीं पाता है। वह दुखना का एकमात्र सहारा महुए के पेड़ से भी उसे अलग करने हेतु उसका तरह-तरह से उत्पीड़न करता है। यहाँ दुखना के निम्न कथन में उसके साथ हुए अन्याय तथा उसमें अंतर्निहित उसकी पीड़ा को समझा जा सकता है- “यह जो सामने का खेत है न ! यह मेरा ही था। बाग में पचासों पेड़ थे। पर सब ठाकुर ने ले लिया। यह तो चाहता है कि मैं जल्दी से मर जाऊँ, तो वह इतनी जमीन और यह पेड़ और पा ले।”⁷¹ इस प्रकार समग्रता में कहा जाए तो ग्रामीण समाज में विधवा-जीवन नारी की परिवार और समाज के मध्य दुर्दशा को ही व्यक्त करता है जिसे

मार्कण्डेय की कहानियाँ बखूबी दिखलाती हैं। उनकी कहानियों में विधवा जीवन के रूप में नारी के प्रति परिवार, समाज तथा परंपरा और आदर्श के द्वारा सदा उपेक्षा का भाव ही मिलता है।

अतः समग्रता में ग्रामीण नारी जीवन के समस्यामूलक पक्ष को मार्कण्डेय की कहानियों के बरक्स विचार करने पर निष्कर्ष स्वरूप कई तथ्य छन कर आते हैं। पहला, ग्रामीण नारी जीवन का यथार्थ, सामाजिक जीवन की वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करता है। दूसरा, स्वतंत्रता बाद के ग्रामीण जीवन में विवाह की विसंगतियों के रूप में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा पुनर्विवाह निषेध या त्रासद विधवा जीवन, न केवल समाज के पिछड़े होने का संकेत करता है, बल्कि नारी जीवन की विडम्बनात्मक स्थिति का भी बोध कराता है। तीसरा, मार्कण्डेय की कहानियाँ बाल-विवाह, अनमेल विवाह तथा विधवा जीवन की तह में जाकर उसके सामाजिक-आर्थिक कारणों का आलोचनात्मक रूप रखती हैं। चौथा, उनकी कहानी में बाल-विवाह को स्त्री के व्यक्तित्व के विकसित होने में आने वाली बाधा स्वरूप दिखाया जाता है, जहाँ एक तरफ एक नारी का बचपन, खेल-कूद, शिक्षा तथा उन्मुक्त जीवन अवरुद्ध होता है तो दूसरी तरफ उसे पितृसत्तात्मक समाज को बनाये रखने वाली पाठशाला में प्रवीण हाने हेतु जबरन जोत दिया जाता है। पाँचवा, अनमेल विवाह के जरिए उनकी कहानी इस सच को बताती है कि शादी के लिए ग्रामीण समाज में पुरुष होना ही काफी होता है। साथ ही यहाँ, यह भी दर्शाया जाता है कि अनमेल विवाह स्त्री के जीवन को दयनीय, त्रासद और नारकीय बना डालता है। जिसके पीछे छिपी होती है, स्त्री जीवन से जुड़ी दहेज-प्रथा तथा स्त्रियों को विनियम की वस्तु समझने वाली मान्यताएँ आदि। छठवाँ, उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन में नारी की उपेक्षा तथा प्रताड़ना के सच को उजागर करती हैं। इस उपेक्षा में परिवार समाज तथा सामाजिक मान्यताएँ जिम्मेवार होती हैं। सातवाँ, उनकी कहानियों में यह सच मिलता है कि ग्रामीण सामाजिक जीवन में स्त्री-पुरुष संबंध के होने या उसके संदेह में सदा नारी को प्रपीड़ित और लांछित होना पड़ता है, जो सीधे-सीधे ग्रामीण समाज की पितृसत्तात्मक सोच को ही बेपर्दा करता है।

3.3.1.4 अन्य सामाजिक विसंगतियों का यथार्थ

भारतीय ग्रामीण सामाजिक जीवन का यथार्थ, वहाँ व्याप्त कई विसंगतियों को अपने तर्ज समेटे हुए है। उन्हीं में से प्रमुख हैं, -जातिगत भेद-भाव, छुआछूत की रूढ़ मान्यता आदि। सदियों

से ग्रामीण समाज की विसंगति बने उक्त पहलुओं से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज भी उबर नहीं पाया है। मार्कण्डेय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में उक्त विसंगतियों के बने रहने का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। यहाँ, इसकी पड़ताल निम्न उपशीर्षकों के अंतर्गत है :-

3.3.1.4.1 जातिगत भेद-भाव

ग्रामीण जीवन में जातिगत भेद भाव तथा उससे उपजी घृणा की भावना सदियों से सामाजिक जीवन का हिस्सा रही हैं, क्योंकि भारतीय समाज सुदूर पहले से ही वर्ण तथा जाति व्यवस्था के साथ पोषित होता आया है। ग्रामीण जीवन में जमींदारी-प्रथा तथा उससे जुड़े सामंती मूल्य और संस्कार ने सदैव जातिगत भेद को बढ़ावा देने का कार्य किया है। गौरतलब है कि स्वतंत्रता उपरांत जमींदारी-प्रथा के टूटने के बाद भी ग्रामीण जीवन में सामंती मूल्यों के पूरी तरह ध्वस्त न होने के कारण जाति भेद पूरी तरह मिट नहीं पाता है। ग्रामीण जीवन सवर्ण और अवर्ण जातियों में बँटा हुआ रहता है। सवर्ण जाति के लोग अपने को निचली जाति के लोगों से हर मायने में श्रेष्ठ मानने का दंभ लेकर जीते हैं। सवर्ण जातियों में जन्म लेना, उन्हें कुदरत का फरमान लगता है। इसी कारण अपने को निचली जातियों से श्रेष्ठ समझना उन्हें ईश्वरीय आदेश-सा प्रतीत होता है। पर ज्योंहि, कोई निचली जाति का व्यक्ति इस आदेश की नाफरमानी करता है, या उसे चुनौती देता है, उसी क्षण उनकी घृणा उनके मन के कोटरे से बाहर निकलकर सामाजिक जीवन में पसर जाती है।

यहाँ उक्त तथ्य के प्रमाण में, मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। इस कहानी में गरीब चैतू अपने घर की टूटी छप्पर को पुनः छाजने हेतु गाँव के ठाकुर के बाग में सरपत काटने घुसता है। बाग के मालिक बाबा के मना करने पर भी जब वह सरपत काटना नहीं छोड़ता है तो बाबा उसे लड़ने हेतु चुनौती देते हैं। बाबा द्वारा दी गयी चुनौती को स्वीकार कर लड़ने हेतु तैयार होना गाँव के ठाकुर समुदाय को बुरी बात लगती है। बाबा से लड़ाई में चैतू की हार पर यह समुदाय यकायक आक्रामक हो जाता है। इस कहानी में मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि भले ही गुलरा के बाबा को चिर परिचित सामंत के रूप में नहीं दिखलाती है, परंतु बाबा के आस-पास का ठाकुर समुदाय अपने पुराने तेवर में ही मौजूद रहता है। जिन्हें निचली जाति के किसी भी व्यक्ति की चुनौती या नाफरमानी नागवार प्रतीत होती है। कहानी का यह दृश्य –“अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का ! अब इन कमीनों की

हिम्मत इतनी हो गयी?" देवी सिंह ने मुँह बनाते हुए कहा⁷² इस बात का द्योतक है कि गाँव की सवर्ण जातियों में श्रेष्ठता का दंभ बराबर बना हुआ है। निचली जातियों के प्रति इनकी घृणा सदैव इनके अंदर कुंडली मारे बैठी रहती है, जो अवसर पाने पर अपना घृणा रूपी फन काढ़ लेती है।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'जूते' में भी जातिगत भेद तथा उसकी घृणा का सच व्यक्त है। इस कहानी में मनोहर जैसे छोटे बालक के मन में बचपन से ही इस बात को स्थापित करने की कोशिश है कि उसकी जाति के लोगों का जीवन चुपचाप मार, गाली और अपमान सहते हुए, बड़ी जाति के लोगों के लिए अपना सेवा-धर्म निभाते हुए, चलने में है। इस कहानी में बालक मनोहर का चिलचिलाती धूप से बचने के लिए खुलेआम पलास के पत्तों को अपने पाँवों में बाधने से हिचकना, ग्रामीण सामाजिक जीवन में जातिगत भेद की खाई के न मिटने तथा उसके दंश के समाज में व्याप्त रहने के सच का बयान करता है। यहाँ, कहानी के निम्न शब्दों में उक्त सच को समझा जा सकता है- "मालकिन के वे शब्द, जो उन्होंने मनोहर को एक दिन पलास की पत्तियों के जूते पहने देखकर कहा था, शौकीन होता जा रहा है? बाप ने कभी जूतों का मुँह देखा था? अभी से तेरा पाँव जलने लगा।"⁷³

इसी तरह मार्कण्डेय की कहानी 'मधुपुर के सिवान का एक कोना' में भी गाँव की ऊँची जाति के ठाकुर को यह दंभ है कि मुन्नन जैसे नीची जाति के मजदूर का जीवन बिना कुछ कहे उनकी गुलामी करना है। मार, गाली और लात चुपचाप सहना है- "ऐबी साला! एक काम ठीक से नहीं करता।.... आज तेरी दूसरी आँख भी फोड़ कर छोड़ूँगा। वह उसके सीने पर चढ़ कर मनमाना घूसे चला रहा था और मुन्नन चुप था, जैसे मर चुका हो।"⁷⁴ यहाँ ऊँची जाति के ठाकुर का मुन्नन जैसे नीची जाति के व्यक्ति का शोषण, उसपर अपना दंभपूर्ण अधिकार साफ देखा जा सकता है। यहीं नहीं, स्वतंत्रता के वर्षों बाद की परिस्थितियों में भी, ग्रामीण समाज में सवर्ण जातियों की जातिगत भेद-भाव की भावना यथावत् रहती है। सवर्णों के अंदर अपने को श्रेष्ठ समझने का दंभ उनकी जातिगत भेद-भाव की घृणित भावना को पोषित करता है। जिसे मार्कण्डेय की कहानी 'हलयोग' में भी लक्ष्य किया जा सकता है। यहाँ, स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तित परिस्थितियों में, एक दलित के शिक्षित होने तथा अध्यापक बनने के बाद भी गाँव के सवर्णों द्वारा उक्त सच को

स्वीकार न करने का दंभ भली-भाँति उजागर है-“ अपनी नंगई और कठहुज्जती के लिए मशहूर रघुवर पण्डित का कहना था कि, 'लुटिया ही डूब गयी गाँव के ब्राह्मन-ठाकुरों की। कोप होगा। महामारी और नाती पनाती संकर बरन हो जायेंगे। इसी को कलिकाल कहते हैं। अब चमार वेद बाँचेंगे और बच्चों का विद्यारंभ करेंगे।”⁷⁵

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण समाज की सवर्ण जातियों का गाँव में नीची समझी जाने वाली जातियों के साथ दंभपूर्ण भेदभाव का व्यवहार तथा उसका सच बेहद गंभीरता से उठाती हैं। साथ ही यह, सवर्ण मानसिकता में सदियों से पल रही उस घृणा की भावना को भी भली-भाँति दर्शाती हैं, जो किसी भी समाज में मनुष्य-मनुष्य के बीच व्यवधान उपस्थित करती है।

3.3.1.4.2 छुआछूत की भावना

छुआछूत या अशुभ्यता की भावना भारतीय समाज, विशेष कर भारतीय ग्रामीण समाज की सदियों से पहचान बताने वाली एक ऐसी विसंगति है, जिसे मिटाने की कोशिश भरसक हुयी है, पर वह पूरी तरह समाज से निर्मूल नहीं हो सकी। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान राष्ट्रीयता और जनचेतना के बाधक तत्त्व के रूप में महात्मा गाँधी इसे पहचाने थे। तभी वे, इसे समाज से बाहर निकाल फेंकने के लिए आगे आए थे। गाँधीजी का छोटी जातियों के प्रति समानतामूलक मानवीय व्यवहार तथा उन्हें हरिजन कहना स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान यह एक संदेश था कि मनुष्य-मनुष्य में भेद रखने वाला समाज कभी भी स्वतंत्र नहीं हो सकता है।

किंतु स्वतंत्रता बाद भी छुआछूत की दुर्भावना से भारतीय समाज निर्मूल नहीं हो पाया है। इस संबंध में सी. राजेश्वर राव लिखते हैं- “यद्यपि वैज्ञानिक रूप से छुआछूत पर रोक लगा दी गयी है, फिर भी यह कुत्सित प्रथा देश के कई भागों में प्रचलित है जहाँ उन्हें कुओं तालाबों मंदिरों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों का उपयोग नहीं करने दिया जाता। वे सड़क, पानी आदि की सुविधाओं से वंचित और मुख्य आबादी से अलग-थलग बसी गंदी बस्तियों में अमानुषिक जीवन बिताने को विवश हैं।”⁷⁶ जिससे इस कुत्सित भावना का देश के कई हिस्सों में बने रहने का सच मालूम पड़ता है। ग्रामीण जीवन में इसकी स्थिति को लेकर कुछ इस प्रकार कहा जाता है- “ जहाँ तक छुआछूत को मिटाने और मंदिरों में बिना रूकावट के जाने का प्रश्न है, शहरों में भले ही स्थिति कुछ सुधर

गयी हो देहातों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया है।”⁷⁷ कहने का अभिप्राय यह है कि ग्रामीण समाज अब भी छुआछूत की भावना से निर्मूल होने की एक प्रक्रिया में है।

मार्कण्डेय की स्वातंत्र्योत्तर लिखी हुयी कहानियों में भी इस बात के संकेत मिलते हैं कि छुआछूत की भावना ग्रामीण सामाजिक यथार्थ की संश्लिष्ट छवि का एक हिस्सा है। इस संदर्भ में उनकी ‘हंसा जाई अकेला’ कहानी का ज़िक्र किया जा सकता है, जहाँ यह देखने को मिलता है कि गाँधी के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए हंसा का दलितों के साथ उठना-बैठना, गाँव के सवर्णों को नागवार प्रतीत होता है। इसके लिए वे न सिर्फ हंसा की आलोचना करते हैं, बल्कि उसके माध्यम से गाँधी के उन सिद्धांतों की भी भर्त्सना करते हैं, जहाँ यह बतलाया गया है कि मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं होता है। सब समान होते हैं, न कोई ऊँचा और ना कोई नीचा— “मिल गया ससुर को एक काम। गन्ही बाबा का पायक काहे नहीं हो जाता। कौनों कँगरेसी जात कुजात मेहरारू मिल जाती। गन्ही को कोई विचार थोड़े है, चमार-सियार का छुआ-छिरका तो खाते है।”⁷⁸ यहाँ इस बात को समझा जा सकता है कि अश्वपृथता की भावना से जन्मी घृणा इस कदर समाज में व्याप्त रहती है कि गाहे-बगाहे सवर्ण मानसिकता के लोग ‘चमार-सियार’ जैसे शब्द व्यक्त करते हुए पाये जाते हैं। अर्थात् नीची जाति वाले लोगों को पशुता के धरातल का समझा जाता है। यही नहीं, इस कहानी में यह भी द्रष्टव्य है कि नीची जाति वाले लोगों को ही हमेशा गाँव की रामलीला में राक्षस आदि बनना पड़ता है— “भाईयों ! राम, राजा था। देखो छोटी जात का कोई कभी राम नहीं बनने पाता है। राक्षस सब बनते है।”⁷⁹ अर्थात् गाँव के जीवन में छोटी जात का व्यक्ति पशु और राक्षस के समान एवम् समाज से तिरस्कृत है। सामाजिक संरचना में उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

इसी प्रकार मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘घुन’ में भी छुआछूत की भावना का ग्रामीण समाज में बने रहने का संकेत मिलता है। इस कहानी में जब नाथू अपने घर के सामने साहूकार (महाजन) की बेटी को अपनी पत्नी द्वारा दी गयी बजरी की लिट्टी को खाते हुए देखता है, तो उसे यह लगता है कि उसकी पत्नी अनर्थ कर रही है। इसलिए वह अपने परिवार को उस अनर्थ से बचाने हेतु बच्ची के हाथों से लिट्टी को झिटकते हुए कहता है — “यह का अनर्थ करती हो, भगेलू की माँ? अगर कोई अड़ोस-पड़ोस का देख लगा तो आग-लग जाएगी सारे गाँव में ! एक

तो वैसे ही गाँव में रहना मुहाल है।⁸⁰ जिससे इस तथ्य को भली-भाँति समझा जा सकता है कि छुआछूत की जिस भावना को समाज में धर्म-अधर्म, पाप-पूण्य, उचित-अनुचित पहलुओं द्वारा सदियों पहले प्रतिष्ठित किया गया है, उससे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज भी मुक्त नहीं हो पाता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय कहानियाँ ग्रामीण सामाजिक यथार्थ के अन्य पहलू के रूप में, जातिगत भेद-भाव तथा छुआछूत की भावना को आलोचनात्मक तेवर के साथ उठाती हैं। उनकी कहानियों में, सवर्ण जातियों के अंदर कुंडली मारे श्रेष्ठता का दंभ तथा निचली जातियों के प्रति घृणास्पद अशुभ्यता की भावना का यथार्थ चित्रण होता है। जिससे ग्रामीण समाज की विसंगतिपूर्ण छवि भली-भाँति स्पष्ट होती है।

इस प्रकार मार्कण्डेय की कहानियों में अभिव्यक्त ग्रामीण सामाजिक यथार्थ के समग्र पहलुओं पर विचार किए जाने पर निष्कर्ष स्वरूप कई तथ्य उभर कर आते हैं। पहला, ग्रामीण समाज संबंधों का एक जाल है, इस जाल में नाते-रिश्ते, मूल्य-आदर्श, सामाजिक रीति-नीति परस्पर गुँथे रहते हैं। दूसरा, ग्रामीण समाज परिवर्तनशील है। स्वतंत्रता रूपी पहलू औपनिवेशिक ग्रामीण समाज के प्रत्येक घटक को अपने-अपने स्तर पर प्रभावित करता है। मार्कण्डेय की कहानियों में सामाजिक जीवन मूल्य संक्रमण के यथार्थ के अंतर्गत मानवीय मूल्य के रूप में मूल्यों के शाश्वत रूप, मूल्य-क्षरण, तथा नए-मूल्य का निर्माण की प्रक्रिया सामाजिक गतिशीलता का ही परिचायक सिद्ध होती हैं। जहाँ, एक ओर सामाजिक परिवर्तनशीलता में मानवीय मूल्य किसी तरह अपनी निरंतरता को बनाए रखते हैं, वहीं नयी पीढ़ी परंपरा-विरोध तथा नए मूल्यों की स्थापना हेतु अग्रसर रहती है। तीसरा, ग्रामीण सामाजिक यथार्थ सदा एक-सा नहीं रहता है, बल्कि इसमें परिवर्तन या संक्रमण की गुंजाइश बनी रहती है। इसी कारण व्यक्ति, परिवार, तथा उससे जुड़ी मान्यताओं के प्रति धारणा बदलती रहती है। व्यक्ति घर, परिवार और समाज के मध्य होने के बावजूद अपने को अकेला पाता है तथा उसके वैयक्तिक संबंध कुंठित होते हैं। मार्कण्डेय की कहानियों में व्यक्ति के संबंधों के विघटन के पीछे पारिवारिक तनाव, आप-पास के परिवेश तथा परिस्थितियों से उपजे आतंक का यथार्थ चित्रण है। इसी तरह परिवार की परिकल्पना बदलने के साथ संयुक्त परिवार का ढाँचा टूटता है। मार्कण्डेय की कहानियों में इसके प्रमुख कारकों -व्यक्ति की क्षुद्र सोच, परिवार के किसी एक की सामाजिक-आर्थिक मालिकाई की महत्त्वाकांक्षा, नगरीय जीवन का मूल्य संक्रमण आदि का यथार्थ चित्रण है। यही नहीं, परिवार के भीतर पति-पत्नी के संबंध, माता-पिता-संतान तथा

अन्य नाते रिश्तों का संबंध भी विघटन की प्रक्रिया में लक्ष्य किए जाते हैं। मार्कण्डेय की कहानियाँ जहाँ, दाम्पत्य संबंध के विघटन के पीछे सदियों से चली आ रही पुरुष की सामंती सोच, स्त्री-पुरुष की वैयक्तिक इच्छाओं का प्राबल्य, दाम्पत्य जीवन के उत्तरदायित्व का असंतुलन, तथा स्त्री का पुरुष की भोगवादी सोच के प्रति प्रतिकारात्मक रवैया का संश्लिष्ट यथार्थ प्रस्तुत करती हैं, वहीं माता-पिता-संतान तथा अन्य नाते रिश्तों के विघटन के लिए मुख्य रूप से आर्थिक कारण, परिवार में उपजी गलतफ़ैमियों, परिवार के अंतर्बाह्य होने वाले कुचक्रों, युगीन परिस्थितियों, पीढ़ियों की सोच के अंतर्द्वन्द्व आदि तत्त्वों को प्रमुख तौर पर निरूपित करती हैं। चौथा, ग्रामीण सामाजिक यथार्थ की वास्तविक छवि गढ़ने में नारी जीवन का यथार्थ प्रमुख होता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ इसी कारण ग्रामीण नारी के विवाह, प्रेम तथा उसके यौन-प्रतारणा से उपजे सच की संश्लिष्ट छवि प्रस्तुत करती हैं। उनकी कहानियाँ ग्रामीण नारी के विवाह पहलू के अंतर्गत बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध आदि वैवाहिक विसंगतियों के जरिए ग्रामीण जीवन के कई सच को उकेरती हैं। इन सत्यों में स्त्रियों का बचपन, खेलकूद, उन्मुक्त जीवन, शिक्षा के छूट जाने की वास्तविकता तो अंतर्निहित रहती है। साथ ही साथ ये तथ्य भी अनुस्यूत रहता है कि स्त्रियों पर उसके बालपन में ही पितृसत्तात्मक संस्कारों का थोप दिया जाना, न सिर्फ स्त्री-पुरुष के बीच की खाई को चौड़ा करता है, बल्कि स्त्री की इच्छा, चेतना, स्वतंत्रता तथा अधिकार को कुंद करके उसके अस्तित्व को नकार देता है। पाँचवा, ग्रामीण सामाजिक जीवन का यथार्थ, वहाँ के जातिगत भेद-भाव, छुआछूत की भावना तथा ऊँची जातियों के दंभपूर्ण आचरण का समन्वित रूप है, जिसे मार्कण्डेय की कहानियाँ बखूबी उजागर करती हैं। सारतः कहा जाए, तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं को ऊपरी तौर पर अवलोकन नहीं करती हैं, बल्कि उसकी तह में पहुँचकर उसके कार्य-कारण संबंधों को भी खँगालती हैं। मार्कण्डेय के कहानीकार का आलोचनात्मक तेवर उनकी यथार्थ-दृष्टि को एक निश्चित दिशा देता है।

3.3.2 राजनीतिक जीवन

राजनीति से जुड़ा हुआ जीवन या जीवन को प्रभावित करने वाली राजनीति की पहचान किसी भी समाज की यथार्थ परक समझ विकसित नहीं होती है। ग्रामीण समाज और जीवन भी बिना उसके राजनीतिक पहलू के बिना उसकी सही तस्वीर नहीं प्रस्तुत की जा सकती है। स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद भी राजनीति के पहलू ने समग्र भारतीय जन-जीवन को प्रभावित किया

है। स्वतंत्रता से पहले राजनीति का अर्थ या पर्याय देश-सेवा, त्याग और संघर्ष से जोड़ा जाता रहा है, तथा इसका एकमात्र लक्ष्य 'स्वतंत्रता' की प्राप्ति था। किंतु, स्वतंत्रता के बाद इसका अर्थ, पर्याय और लक्ष्य बदल गया है। वस्तुतः इसका संबंध प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शासन, सत्ता, सरकार अथवा शक्ति से स्थापित हो गया है।

राजनीति का संबंध समाज व्यवस्था के सुसंचालन से है, जो समाज की समस्त शक्तियों को प्रभावी तरीके से क्रियान्वित करने वाली एक अंतिम सत्ता का प्रतीक बनकर समाज में अपनी पहचान गढ़ती है। स्वातंत्र्योत्तर परिप्रेक्ष्य में राजनीति न केवल ग्रामीण समाज-व्यवस्था, बल्कि अखिल भारतीय समाज-व्यवस्था को दिशा देने हेतु अग्रसर होती है। इसी राजनीति के द्वारा ग्रामीण जीवन का विकास निर्धारित करने हेतु शासन या सत्ता द्वारा कई नीतियाँ, कई संगठन, कई योजनाएँ तथा कई पहल की जाती हैं। इसी राजनीति की सदिच्छा के प्रमाण स्वरूप भूमि-सुधार, योजना-विकास, कृषि-क्रांति, जमींदारी-प्रथा उन्मूलन, ग्राम-पंचायत तथा न्यायतंत्र आदि पहलुओं पर शासन पक्ष पर द्वारा ध्यान देने की पहल होती है। परंतु व्यवहारिक स्तर पर राजनीति का दुष्प्रभाव ही ज्यादा ग्रामीण जीवन पर पड़ता है। सुविधाओं का लाभ ग्रामीण आम आदमी से दूर बना रहता है तथा राजनीति पार्टीबाजी, गुटबाजी तथा वैमनस्य के माहौल से ग्रामीण जीवन को पाट देती हैं। स्वातंत्र्योत्तर राजनीति का दुष्प्रभाव ग्रामीण जीवन के हर क्षेत्र पर पड़ता है। क्योंकि, स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में स्वार्थ, अपसंस्कार तथा भ्रष्टाचार अपने को मूल्य आदर्श स्वरूप स्थापित कर लेता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के वास्तविक चरित्र को ग्रामीण आम-आदमी के यथार्थ से जोड़कर देखने की कोशिश करती हैं। मार्कण्डेय राजनीति के विसंगतिपूर्ण रूप के द्वारा ग्रामीण जीवन की बनती नई यथार्थ तस्वीर को उज्जीवित करने की संजीदा कोशिश अपनी कहानियों में करते हैं। यहाँ, निम्न उपशीर्षकों के अंतर्गत मार्कण्डेय की कहानियों में चित्रित ग्रामीण जीवन की राजनीति या राजनीति से प्रभावित ग्रामीण जीवन की समग्र सच्चाई को परखा जा सकता है।

3.3.2.1 दलबाजी-पार्टीबाजी

जैसा कि पूर्व उल्लिखित है कि स्वतंत्रता पूर्व राजनीति का पर्याय देश-सेवा, त्याग और संघर्ष था तथा इसका लक्ष्य जनता को जागृत कर राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के सूत्र में बाँध

कर देश के लिए आजादी को हासिल करना था। राष्ट्रीय नेताओं के रूप में महात्मा गाँधी जैसे व्यक्तित्वों का अखिल भारतीय स्तर पर आगे आना तथा राजनीति के जरिए गाँव और नगर को जोड़ना, उक्त सदिच्छा का ही परिणाम था। किंतु, स्वतंत्रता बाद 'राजनीति' के चरित्र में व्यापक परिवर्तन होता है। ग्रामीण जीवन में जो राजनीति पैठ करती है उसका उद्देश्य ग्रामीण परिवेश और माहौल में एक अस्थिरता उत्पन्न करना ही होता है, क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति, दलबाजी और पार्टीबाजी तक सीमित होने लगती है। राजनीति में दलगत संकुचितता उसको व्यापक और महत् लक्ष्य से विरत कर स्वार्थ रूपी दलदल में ठेल देती है। स्वतंत्रता पूर्व की राजनीति के आदर्शों और मूल्यों को भुलाकर अपने दलगत स्वार्थ को सर्वोपरि कर तथा उसके जरिए अपना स्वार्थ साधना स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में एक आम बात बन जाती है। इसी राजनीति की दलगत संकुचितता के कारण ग्रामीण जीवन की तस्वीर बदलने लगती है। इससे गाँवों की सामुदायिक भावना तथा आपसी एकता की भावना दरकती है। अब यह सोचा जाने लगता है कि अमुक व्यक्ति से मेल जोल कहीं हमारे दलगत राजनीतिक स्वार्थ के आड़े तो नहीं आ रहा है। अर्थात् कहने का अभिप्राय यह है कि पहले जहाँ निस्वार्थ सामुदायिक भावना प्रमुख थी, वहाँ अब अपने-अपने राजनीतिक हित प्रबल हो जाते हैं। उक्त तथ्य के प्रमाण के तौर पर मार्कण्डेय की कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है।

यहाँ, उक्त प्रसंग में मार्कण्डेय की कहानी 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना' का ज़िक्र स्वाभाविक है। आलोच्य कहानी में पृष्ठभूमि के तौर पर, स्वतंत्रता के पहले के गाँव का राजनीतिक माहौल तथा स्वतंत्रता के बाद की राजनीति से उपजे परिदृश्य को बेहतर ढंग से निरूपित किया गया है। इस कहानी में कथावाचक जब कुछ वर्षों के अंतराल पर अपने गाँव पहुँचता है, तो उसे गाँव के माहौल में परिवर्तन का अनुभव होता है। वह तब अचरज में पड़ जाता है जब उसके काका-काकी (उसका परिवार) गाँव के उस बुचरू से मिलने को मना करते हैं, जो कुछ साल पहले न सिर्फ़ उसके परिवार, बल्कि पूरे गाँव में अपनी केंद्रीय पहचान रखता था। यह बुचरू था, जो आजादी से पूर्व गाँव भर में गाँधी के राजनीतिक सिद्धांतों का प्रचारक हुआ करता था और सबके दुःख-सुख का सहभागी भी। जिसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। वह सबको प्यार करता था तथा सबसे स्नेह और आदर पाने का अधिकारी भी था - "गाँव में सबको सिगरेट की डिबिया और साबुन देता। गाँजा की पोटली खोलता और ऊपर से महात्मा गाँधी का संदेश पिलाता।

“चमार, मुसहर भर, पासी... सबके हाथ मिलाये से देसवा जागी। गन्ही जी उन्हीं के हैं। कहत रहे चौपाटी पर कि, वह हमको सबसे पियारे हैं। उन्हीं का हूँ। देश है गरीब लोग का। सुराज मिलते ही इनका राज लौट आयी।” और वह गाँव की छोटी जातियों को, घूम-घूम कर आश्वासन देता कि “भाई तुम्हारा राज है... आंदोलन में हाथ लगाये रहो।”⁸¹ जिससे यह जाहिर होता है कि स्वतंत्रता पूर्व बुचरू जैसे निश्चल व्यक्ति के लिए राजनीति एक जनांदोलन का रूप थी, जिसके लिए समाज के हर जाति और तबके को मिलकर संघर्ष करने की जरूरत है। और आजादी, देश के गरीब लोगों का राज, अर्थात् उनके जीवन में होने वाला गुणात्मक परिवर्तन था।

किंतु, आजादी के साथ देश का बटवारा होना बुचरू जैसे राजनीतिक निष्ठावान व्यक्ति के लिए गरीब जनता की आवाज़ को अनसुना करना तथा राजनेताओं के राजनीतिक स्वार्थों की टकराहट मालूम पड़ा। इसी कारण बुचरू के लिए आजादी का कोई मतलब नहीं रह जाता है- “हम तो खाली लड़ना सीखे थे... इसी से आजादी आवै वाली रही। जवहिरों लाल, गन्हियों महतमा इहै कहे थे, देसवा हमारे जीव के समान है- कैसे बटी?’ का होगा, अस सुराज लेके।... कुछ भवा जरूर है गड़बड़।... हमारे मन में तो अन्हियार छाय गया है।”⁸² परिणाम स्वरूप बुचरू जैसे लोग, राजनीति में खरी-खरी कहने वाले दरकिनार कर दिए जाते हैं। ऐसे माहौल में बुचरू का अन्य दल में चला जाना ही अब महत्त्वपूर्ण हो जाता है जबकि गाँव के हित के लिए उसका निस्वार्थ बात करना, गौण साबित होता है। इसलिए ही कथावाचक के काका बुचरू का विरोध करते हैं तथा समूचे गाँव से उसे अलग-थलग करने हेतु दवाब बनाते हैं। इस कहानी के कथावाचक को गाँव में कुछ समय बिताने के पश्चात् उक्त सच का अहसास हो जाता है- “मैं बाहर निकल पड़ा, बात समझ में आ गयी। शायद वह काका का विरोध करता है। किसी नयी पार्टी में चला गया बुचरू।”⁸³ अर्थात् गाँव के सामुदायिक जीवन में पार्टी बड़ी हो गई, मनुष्य का अपनापन छोटा पड़ जाता है। जिससे स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के विसंगतिपूर्ण प्रभाव को समझा जा सकता है। कहानी के अंत में बुचरू का यह निम्न कथन उक्त सच की ही संपुष्टि करता है- “आखिर गाँव से यह अँधेरा कब जाएगा? अब तो हम, जैसे सब कुछ पाकर स्वराज का सुख भोगने लगे हैं। हमारे भीतर का आदमी कहाँ चला गया?”⁸⁴

इसी प्रकार मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘बीच के लोग’ का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में यह भली-भाँति देखा जाता है कि, गाँव के जीवन में राजनीति

का दलगत रूप पूरे परिवेश को विषाक्त बना देने की ओर प्रवृत्त हुआ है। जहाँ, मनुष्य एक-दूसरे पर सहज विश्वास नहीं करता है। जहाँ, वर्षों पुराने संगी-साथी एक-दूसरे को संदेह करने लगते हैं तथा आपसी सौहार्द कर्पूर की भाँति उड़ जाता है- “भाषण शुरू न करो भइया नहीं तो कोई पाल्टी तुम्हें पकड़ लेगी और फिर बुझावन महतों की तरह तुम्हारे घर में भी गुप्त सभा होने लगेगी।... वह कुछ बोले कि फउदी दादा निगाली से मुँह हटा कर बिगड़े, इसमें का बात है, भाई, सभा-सोसाइटी के लिए सबको आजादी है। जब लाल झण्डा पाल्टी का कोई कार्यकर्ता बुझावन के दुवारे आय गया तो’... आय नहीं गवा, ले आया गया। मनरा बाकायदा लाल झण्डा- पाल्टी का मिम्बर है। तुम कहाँ हो फउदी दादा !”⁸⁵ स्पष्ट है कि राजनीति की पार्टीबाजी शक्ल से पूरे परिवेश में संदेह और वैमनस्य का भाव रिसने लगता है। यही नहीं, स्वातंत्र्योत्तर राजनीति का पार्टीबाजी स्वरूप गाँव के सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर भी अपना प्रभाव डालता है। उक्त सच को मार्कण्डेय की कहानी ‘हंसा जाई अकेला’ में देखा जाता है। जहाँ, गाँव की दो पार्टियों के लोग अपने-अपने लक्ष्यों को पूरा करने में इतना बेसब्र हो जाते हैं, कि उनके समक्ष परंपरागत रामलीला का उत्सव ही धरा का धरा रह जाता है- “उन्हीं दिनों गाँव में रामलीला होने को थी। बाबू साहब की पार्टी के राम-लक्ष्मण बने थे। पर रावण बनने वाला कोई नहीं मिलता था।... सहसा लड़कों ने तालियाँ बजायी और हंसा दादा को घेर लिया। जल्दी-जल्दी काला चोंगा रावण के गले में डाल दिया गया।... हाथ में तलवार ली और गरज कर बोले, मैं रावण हूँ, कहाँ है दुष्ट राम?”... रावण भाषण देने लगा, “भाईयो ! राम राजा था। देखो, छोटी जात को कोई कभी राम नहीं बनने पाता है। राक्षस सब बनते हैं। बिराहिम, कालू, भुलई, फेदर, सभी की पालटी है, हमारी। यह जनता की लड़ाई है। बोल दो धावा।”... किसानों के बंदर बने लड़के भी अपना चेहरा लगाये, गदा लिए, जनता की पार्टी में शामिल हो गये। राम बेचारे अकेले बैठे रह गये। रामायण बंद हो गयी।”⁸⁶ यहाँ, यह भली-भाँति स्पष्ट है कि गाँव के सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल में पार्टीबाजी का भूत पूरी तरह सवार हो जाता है।

इस प्रकार यह कहना समीचीन लगता है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति की दलगत संकुचितता का गाँव के जीवन में अस्थिरता उत्पन्न करने के प्रभाव को मार्कण्डेय की कहानियों में गंभीरता से दिखलाने का प्रयास होता है। उनकी कहानियों में उक्त प्रभाव के परिणाम स्वरूप ग्रामीण जीवन

की सामाजिक-सांस्कृतिक भावना के खंडित होने का सच भी भली-भाँति उजागर होता है।

3.3.2.2 सत्ता-लोलुपता

पूर्वोक्त है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में विशद चारित्रिक परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही राजनीति में दलगत संकुचितता तथा सत्ता लोलुपता प्रबल हो जाती है। राजनीति में समाज के जन-जन को जोड़ने की मिशन चेतना सत्ता हाथियाने की दुरभिसंधियों तथा अपना स्वार्थ साधने के कुचक्रों में बदल जाती हैं। जिससे ग्रामीण जीवन और भी विसंगतिपूर्ण बनने की ओर उन्मुख होता है। स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में उनका सत्तारोहण होता है जिनको सिद्धांत, सेवाभावना, कर्तव्यनिष्ठा तथा नैतिकता से कोई मतलब नहीं होता है, बल्कि जिनमें केवल पद, सत्ता तथा शक्ति को हाथियाने की लोलुपता भरी रहती है। यही वजह है कि अपने दिलों में राष्ट्रप्रेम की भावना रखने वाले लोग स्वातंत्र्योत्तर राजनीति से उपेक्षित होते जाते हैं और उनकी जगह छद्म रचने वाले दोहरे चरित्र वाले लोग अपनी पैठ बनाते हैं तथा स्वयं का विकास करते हैं। आम जनता की प्रथामिकताओं और समस्याओं को दरकिनार कर अपना केवल अपना हित साधते हैं। कहना न होगा कि, ग्रामीण जीवन राजनीति के इस विरूपित चरित्र से और भी विसंगतिपूर्ण बनता जाता है। यहाँ मार्कण्डेय की कहानियों को उक्त सच के प्रमाण के रूप में देखा जा सकता है।

इस संदर्भ में मार्कण्डेय की कहानी 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना' का जिक्र करना स्वाभाविक है। इस कहानी में मार्कण्डेय का बड़ा पैना व्यंग्य राजनीति में घुसपैठ करने वाले दोहरे चरित्र के व्यक्ति के ऊपर है। प्रस्तुत कहानी में कथावाचक के काका के माध्यम से राजनीति के विरूपित चरित्र को दिखलाया गया है, जो कहानी के एक प्रसंग में, ग्रामीण औरतों के वार्तालाप के क्रम में, कुछ इस प्रकार उभर कर आता है—“एक इनहूँ आदमी है न मइया... कांग्रेस के जिलवा भर के मालिक, मुदा बात जो चाहे कर लें। भला कह तो दो, किसी का छुआ पानी पीने को। कहते हैं, सिधानत मानै से, करै से अन्तर है। एक खदर का कुरता-धोती धरे हैं। मिटिन में जाना होई, तो पहिन लेंगे, फिर घर लौट कर जैसे के तैसे।”⁸⁷ जिससे यह जाहिर होता है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में पैठ करने वाले लोग वे हैं, जिनका जीवन और चरित्र दोहरा है। जो ग्राम-सेवा, समाज-सेवा तथा देश सेवा की आड़ में स्वयं की सेवा करते हैं। जिनमें आम आदमी के सरोकारों तथा समस्याओं की कोई सुध नहीं है। जिन्हें अपनी राजनीति में न सामाजिक नैतिकता की जरूरत है और ना ही गाँधीवादी मूल्यों की। जिनका एकमात्र मकसद सत्ता, पद और शक्ति को पाना तथा

उससे चिपके रहने की दिलचस्पी में फिक्रमंद बने रहना है। उक्त कहानी के पात्र बुचरु का निम्न कथन न सिर्फ इस कहानी के कथावाचक के काका के चरित्र पर प्रकाश डालता है, बल्कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के विरूपित चेहरे को भी उजागर करता है- “राजनेत तो गन्ही महात्मा के साथ चली गयी बच्चन! विचार नहीं रहा अब, अउर बिना विचार के नीति कहाँ?... हमका छोड़ा, नेता लोगों को देखा, उनका भी वही हाल। जिस कुरसी पर बैठ गये-बस वह उनकी हो गयी। अब तो कुरसी की नेति है। गन्ही महात्मा का कुल काम-धाम धरा रहा गया।”⁸⁸ जिससे राजनीति में कुर्सी-सत्ता पाने की लोलुपता का प्रधान हो जाना समझ में आता है। इसी सत्ता की चाहत में वोट की राजनीति, जातियों तथा धर्मों का ध्रुवीकरण भी मुख्य हो जाता है, और जनता के बुनियादी सवाल तथा सामाजिक विसंगतियों को दूर करने की सदिच्छा का उपशमन होता है। ‘नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’ के बुचरु के निम्न कथन में ग्रामीण जीवन का उक्त सच द्रष्टव्य है - “क्या हो रहा है। धरम के नाम पर, जाति के नाव पर वोट उगहात हैं। ठाकुर के ठाकुर, ब्राह्मन के ब्राह्मन, कहाँ गयी गरीबी? कहाँ गया छुवा-छूत...? अब विचार नहीं रहा, बस वोट रह गया है। “गड़बड़ तो यह है, कि लोक में से बात की मर्जाद उठ गयी है। कहने-करने में भेद हो गया है।”⁸⁹

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी- ‘हंसा जाई अकेला’ के सुशीला जैसे चरित्र के जरिए इस सच को दिखलाने की चेष्टा हुई है, जहां सत्ता-लोलुपता राजनीति में अपनी निष्ठा और ईमानदारी रखने वाले व्यक्तियों को दरकिनार और उपेक्षित कर देती है। ‘हंसा जाई अकेला’ की निम्न पंक्तियों में उक्त सत्य को तथा राजनीति की विरूपता को आसानी से पढ़ा जा सकता है- “इधर दिन रात सुशीला जी खँजड़ी बजाती, घूमती रहतीं और रात हंसा के घर लौट आती... चुनाव के दो दिन पहले उन्हें नोटिस मिली कि वह बापू के आदर्शों को तोड़ रही हैं, इसलिए उन्हें काम से अलग किया जाता है। वह हँस पड़ी थीं, ईश्वर ने पति से अलग किया अब बापू के नकली चेले उन्हें जनता से अलग करना चाहते हैं।”⁹⁰ इसी तरह का व्यवहार प्रस्तुत कहानी के हंसा के साथ भी होता है जिसके लिए राजनीति का मतलब ‘गन्ही महात्मा’, ‘जवाहिरलाल’, ‘जनता की फौज’ और ‘सुराज’ आदि था। किंतु, आजादी मिलने के बाद उसे उसी राजनीति द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत किया जाता है। कहानी के निम्न कथन में ग्रामीण जीवन के उक्त सच को तथा उक्त सच में अंतर्निहित कहानीकार के पैसे व्यंग्य को आसानी से समझा जा सकता है- “आजादी मिली, तो उसे रुपये मिले। राजनीतिक पीड़ित था, वह। पर वह रुपयों की गड्डी ले कर हँसता रहा, और फिर

उन्हें गाँव की दीवारों में एक-एक कर टाँग आया।⁹¹

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के विरूपीकरण को बड़ी गंभीरता से उठाने की पहल करती हैं। जहाँ, राजनीति में सत्ता-लोलुपता की भावना सर्वोपरि हो उठती है। उनकी कहानियों में, स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के विरूपीकरण का ग्रामीण जीवन में पड़े प्रभाव का भी सूक्ष्म निरूपण होता है। जहाँ, समाज में अपना हित साधने वाले, दोहरा जीवन जीने वाले तथा सत्ता के लोलुप व्यक्ति राजनीति में फिट हो जाते हैं तथा राजनीति को देशसेवा समझने वाले निस्वार्थ व्यक्ति उपेक्षित और तिरस्कृत होते हैं। जिससे ग्रामीण जीवन का यथार्थ और भी विसंगतिपूर्ण बनता जाता है।

3.3.2.3 पंचायती-राज

उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता बाद की राजनीति तथा उस राजनीति को दिशा देने वाले प्रजातांत्रिक सरकार और शासन द्वारा ग्रामीण जीवन को परिवर्तित करने की कई पहल होती हैं। पंचायती-राज भी प्रजातांत्रिक शासन की एक महत्वपूर्ण राजनीतिक पहल थी। जहाँ, लोकतांत्रिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण प्रधान लक्ष्य था। इससे संबंधित भारत सरकार की रिपोर्ट के अनुसार जिसे उद्धृत करते हुए डॉ. वी.पी.चौहान लिखते हैं- “पंचायती राज का लक्ष्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण है, जिससे गाँव का प्रत्येक व्यक्ति सत्ता का साझेदार बन सके उसकी रीति-नीति में उसकी विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन में जागरूकता के साथ भाग ले सके। सरकारी स्तर पर पंचायती-राज का उद्देश्य प्रजातंत्र के कार्य में करोड़ों व्यक्तियों को लाकर प्रजातंत्र को वास्तविक बनाना है।⁹² वे आगे भी लिखते हैं- “इस प्रणाली से स्थानीय प्रशासन का समस्त कार्य ग्राम-पंचायत द्वारा नियंत्रित एवम् संपादित होता है। ग्रामजीवन का अग्रगामी विकास योजनाओं ने ग्रामीण परिवेश में नयी हलचलों को जन्म दिया है। सामुदायिक विकास योजनाओं में संलग्न विभिन्न कार्यकर्ता ग्रामजीवन में प्रजातंत्र की सार्थकता का बोध कराते हैं। अतः सरकारी सामुदायिक विकास योजनाओं ने गाँव को लोक-सभा से जोड़ दिया है।⁹³ जिससे स्वातंत्र्योत्तर प्रजातांत्रिक सरकार की राजनीतिक सदिच्छा को भली-भाँति समझा जा सकता है। जहाँ पंचायती-राज द्वारा प्रजातांत्रिक सरकार का विकेन्द्रीकरण, ग्रामीण जीवन को लोकसभा से जोड़कर उसका अग्रगामी विकास, प्रत्येक व्यक्ति को प्रजातंत्र का साझेदार बनाना तथा उसे उसके राजनीतिक अधिकार-बोध का अनुभव कराना आदि

पहलुओं को प्रमुखता दी गयी थी।

यहाँ, इस बात से असहमत होना संभव नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक परिवर्तन में, भारत में लोकतंत्र की बहाली तथा ग्रामीण जीवन की सूरत बदलने की नीयत से सत्ता का विकेन्द्रीकरण ग्रामीण जन-जीवन में नई उम्मीदों को जगाता है। पर, इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि उक्त राजनीतिक सदिच्छा सैद्धांतिक या कागजी स्तर पर तो बहुत ठीक लगती है परंतु इसका व्यवहारिक रूप ग्रामीण जीवन में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं करता है, क्योंकि प्रजातंत्र सामंतवाद की ऊँगली पकड़कर आगे बढ़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्ता गाँवों में पहुँचने के बाद भी गाँव के विशिष्ट जनों, (सामंतों-सवर्णों) सामर्थ्यवान वर्ग के हाथों की कठपुतली बनी रहती है। जहाँ, आम-आदमी की ना कोई बात सुनी जाती है ना ही उसे कोई अधिकार प्राप्त होता है। उक्त तथ्य के प्रमाण के रूप में मार्कण्डेय की कहानी 'बातचीत' का उल्लेख किया जा सकता है। जहाँ, कहानी के एक प्रसंग में, गाँव वालों की आपसी बातचीत में ग्रामीण-जीवन की उक्त पीड़ा रूपी सच का कुछ इस प्रकार उद्घाटन होता है- "रामू ने गदोरी पर सुर्ती रखते हुए कहा, "हर विधा हमी को तो पिसना है, दादा। मरेंगे, जरेंगे, अन्न जाएंगे पर मजा दूसरे मारेंगे। देखों न ! पंचाइत बनी थीं किसानों के फायदे के लिए लेकिन सरपंच हो ही गये गयादीन ठाकुर। खूब मुट्ठी गरम होती है।"⁹⁴ जिससे यह तथ्य भली-भाँति स्पष्ट होता है कि गाँव के गयादीन ठाकुर जैसे सम्पन्न-समर्थ सामंत ही पंचाइती राज का फायदा लूटते हैं। वे ही सर्वेसर्वा बन कर खुद अपना हित साधते हैं, जबकि रामू जैसा ग्रामीण आमजन, जिसे देश की प्रजातांत्रिक सत्ता पंचायती राज के माध्यम से शासन से जोड़ना चाहती थी, उपेक्षित ही होता है।

मार्कण्डेय की अन्य कहानियों - 'बवण्डर' और 'खुशहाल ठाकुर' में भी ग्रामीण जीवन के उक्त सच को देखा जाता है, जहाँ पंचायत गाँव के सम्पन्न सामंत वर्ग के गिरफ्त में होती है। यही नहीं, प्रजातांत्रिक व्यवस्था का हर स्तंभ गाँव के इन्हीं लोगों के इशारों पर अपना कार्य करने को आगे बढ़ता है- "खुशहाल सिंह का जवार के भारी कश्तकार और रोजगारी हैं।... सरकारी अहलकारों में उनकी बड़ी कदर है। कोई अफसर आया तो बैठकी उन्हीं के यहाँ लगती है। ग्राम पंचायत आयी उनके आगे कोई परचा नहीं भरता। उन्हीं की देख-रेख में सब-कुछ चलता है और सुमिरन और धनीराम-जैसे कुछ लोग जो राय देते हैं, उन्हीं के अनुसार काम-धाम होता है।"⁹⁵ स्पष्ट है कि पंचायती राज के द्वारा प्रजातंत्र को आम-आदमी से जोड़ने का महत् कार्य धरा का धरा

रह जाता है। इसी तरह 'बवण्डर' कहानी में भी यह ज़िक्र है कि गाँव में पंचायत गाँव के सामंतों के यहाँ बैठती है। वहाँ उन्हीं की सुनी जाती है। उनके हित के लिए ही वहाँ फैसले लिए जाते हैं। यहाँ तक कि गाँव की निचली जातियों का अपने ऊपर हुए अन्याय और शोषण के खिलाफ किया जाने वाले संघर्ष को दबाने का निर्णय भी यहीं लिया जाता है- "जोधा घर पहुँचकर अपने गमछे से मुँह का पसीना पोंछ रहा था कि सोनारी घबरायी हुयी दोड़ी आयी और बोली ठाकुर ने तुरंत बुलाया है। झूरी काका दौड़े आये थे। कह रहे थे भारी पंचायत बैठी है। बड़के ठाकुर के यहाँ। पुलिस के बड़े-बड़े अफ़सर और घूरपुर के बलवंत राय भी आये हैं।"⁹⁶

अतः इस प्रकार कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन के पंचायती राज के व्यावहारिक सच की ओर संकेत करती हैं। जहाँ, ना तो रामू जैसे ग्रामीण आमजन या विपन्न वर्ग के हित और सरोकार सधते हैं और ना ही उन्हें अपने राजनीतिक अधिकार का कोई विशेष लाभ प्राप्त होता है। अपितु, इसका फायदा ग्रामीण जीवन के विशिष्ट जन, संपन्न-सामर्थ्यवान सामंती वर्ग ही उठाता है। जिसका नतीजा यह होता है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आमजन के जीवन में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है।

3.3.2.4 लोकतंत्र और चुनाव

स्वतंत्रता बाद भारत में लोकतंत्र का स्थापित होना एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक घटना है। गौरतलब है कि इस लोकतंत्र में चुनाव की एक महती भूमिका है। चुनाव में अपने मतों का प्रदर्शन कर चुनने की प्रक्रिया है जिसके माध्यम से किसी भी व्यक्ति, वस्तु, विषय या कुछ भी जो अभिप्सित है, उसका चुनाव किया जाता है। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में चुनाव का एक विशिष्ट अर्थ है। इस संदर्भ में डॉ. वी.पी. चौहान प्रकाश डालते हुए लिखते हैं- "राष्ट्रीय संदर्भ में चुनाव सरकार विनिर्माण का एक साधन है। स्वाधीन भारत में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के कारण देश के प्रत्येक व्यस्क नागरिक को मताधिकार का अवसर मिला,... प्रजातांत्रिक व्यवस्था से ग्रामीणों में भी राजनीतिक चेतना व अधिकार बोध जगा।"⁹⁷ जिससे स्वतंत्र भारत में चुनाव की अर्थवत्ता का तो पता चलता ही है, साथ ही साथ पिछड़े ग्रामीण जीवन में इससे राजनीतिक चेतना और अधिकार जगने का भी संकेत मिलता है।

पर इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि चुनाव ग्रामीण जीवन में पूर्ववर्ती प्रत्येक

समीरकणों में बदलाव करने की चेष्टा भी खूब करता है। चुनाव के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण समाज विशेषकर जाति-धर्म के ध्रुवीकरण के दौर से ज्यादा गुजरता है। समाज अवसरवाद तथा गुटबाजियों के माहौल से परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रसंग में डॉ. वी.पी. चौहान सियाराम तिवारी का मत उद्धृत करते हुए लिखते हैं- “स्वाधीनता के बाद भारत के ग्राम जीवन को उन्नत करने के जो प्रयत्न हुए, उन्होंने उल्टे तोड़ दिया। सबसे अधिक तोड़ा चुनाव ने चाहे वह लोकसभा, विधानसभा का चुनाव हो या ग्रामपंचायत का चुनाव हो। जहाँ-जहाँ प्रजातांत्रिक पद्धति का राजनीति में प्रवेश हुआ, वहाँ-वहाँ उसने बीज बोया। फलस्वरूप राजनीति के दाव-पेंच ने गाँव के जीवन में घुसकर विषाक्त बना दिया।”⁹⁸ जिससे इस तथ्य को भली-भाँति समझा जा सकता है कि चुनाव भी राजनीति का एक हथकंडा स्वरूप ग्रामीण जीवन में अस्थिरता उत्पन्न करने का ही प्रयत्न है।

यहाँ, उक्त तथ्य के प्रमाण के तौर पर मार्कण्डेय की कहानियों का उल्लेख स्वाभाविक है। इस संदर्भ में मार्कण्डेय की कहानी ‘हंसा जाई अकेला’ का जिक्र किया जा सकता है। इस कहानी में चुनाव के माहौल में ग्रामीण आमजन को त्रस्त होते हुए देखा जा सकता है। इस कहानी में चुनाव जातियों का ध्रुवीकरण करने के रूप में समाज के सम्मुख एक नए तथ्य के रूप में उभरता है, साथ ही साथ यह पूरे परिवेश में एक गहमागहमी की सृष्टि कर देता है। यहाँ, यह भली-भाँति लक्ष्य किया जाता है कि समूचा गाँव राजनीतिक शिविरों में बँट गया है। जहाँ, चुनाव के प्रत्याशी द्वारा ग्रामीण आमजन के राजनीतिक मतों के प्रयोग किए जाने के अधिकार के हनन की साफ कोशिश होती है। जिसका नतीजा यह है कि ग्रामीण आमजन ही ज्यादा संकटग्रस्त होता है- “गाँव में चुनाव की धूम मची थी। बाबू साहब बभनौटी के साथ कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। उनके पेड़ों पर इश्तिहार टाँग दिए जाते, तो उनके आदमी उखाड़ देते। किसान बुलवाये जाते, उन्हें धमकाया जाता। खेत निकाल लेने की, जानवरों को हँकवा देने की बातें कही जातीं...”⁹⁹ स्पष्ट है कि ग्रामीण आमजन को चुनाव के जरिए राजनीतिक मताधिकार मिलने की जगह गाँव के विशिष्ट और सम्पन्न वर्ग के द्वारा केवल धमकियाँ और धौंस मिलती हैं। यहाँ, इस बात को भी समझा जा सकता है कि चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी गाँव के पुराने सामंत ही हैं जिनका मकसद राजनीति के जरिए ग्राम सेवा या ग्रामीण विकास करने के बजाय अपनी पुरानी सत्ता, अपने अधिकार और धौंस को कायम रखते हुए स्वयं के हितों का विकास करना है।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘दौने की पत्तियाँ’ में भी चुनाव से संबंधित ग्रामीण जीवन

के इस सच को दिखलाया गया है, जहाँ चुनाव पैसा, पहुँच और दौंव-पेंच का पर्याय है। जहाँ, चुनाव के जरिए ग्रामीण समाज को उसका ईमानदार प्रतिनिधि नहीं प्राप्त होता है, बल्कि वहाँ ऐसे लोग चुने जाते हैं, जिनके पास जन-बल, धनबल होता है या फिर वे लोग जो इसे अपने हित में करने की सौदेबाजी में निपुण होते हैं। प्रस्तुत कहानी के निम्न प्रसंग में इस सच का संज्ञान लिया जा सकता है- “ सिंचाई मिनिस्टर इसी खित्ते के तो रहने वाले हैं। पिछली बार चुनाव में तिवारी जी ने धन-जन से बड़ी मदद की थी, उनकी। कितने आदमी तो गाय-बैल की तरह बाड़े में रात भर बंद किए रहे और सबेरे ही लारी में भर-भर कर उन्हें पोलिंग स्टेशन पहुँचा कर वोट ले लिया गया था। लोग कहते हैं, तिवारी जी ने कमाल कर दिया था। सिंचाई मिनिस्टर तो इतने खुश कि तिवारी जी की अकल के गुलाम हो गये तब से।”¹⁰⁰ स्पष्ट है कि चुनाव लोकतंत्र को मजबूत करने की बजाय लोकतंत्र पर ही प्रश्न चिह्न लगा देता है।

इस प्रकार यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ लोकतंत्र और चुनाव से जुड़े ग्रामीण जीवन के व्यवहारिक सच को उज्जीवित करती हैं। जहाँ, चुनाव लोकतंत्र को प्रभावी बनाने के बजाय उसके किले को ही ध्वस्त करने पर तुल जाता है। जहाँ चुनाव के जरिए ग्रामीण जीवन का विकास करने वाले ईमानदार प्रतिनिधि चुने जाने की जगह गाँव का पुराना सामंत तथा समर्थवान विशिष्ट वर्ग ही चुना जाता है, क्योंकि चुनाव दौंवपेंच तथा जन-बल-धनबल से लड़ा और जीता जाता है। फलतः ग्रामीण जीवन के बुनियादी सरोकार और समस्याएँ उपेक्षित होते हैं तथा ग्रामीण जीवन नई विसंगतियों से परिपूर्ण होता है।

3.3.2.5 पुलिस और न्याय-व्यवस्था

जैसा कि उल्लेखनीय है कि लोकतंत्र में चुनाव के साथ न्याय-व्यवस्था भी महत्त्वपूर्ण होती है और उससे भी अहम है, न्याय-व्यवस्था का सार्वजनीन तथा पारदर्शी होना। इसी न्याय-व्यवस्था का एक प्रमुख अंग पुलिस है। दूसरे शब्दों में, समझा जाए तो पुलिस शासन-व्यवस्था को प्रतिकित करती है और उसी की नैतिकता और चरित्र किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण आधार है। दरअसल, पुलिस-व्यवस्था लोकतंत्र की उस सदिच्छा को मूर्त रूप देने के लिए है, जहाँ उसका प्रधान दायित्व लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा करते हुए सामाजिक सुरक्षा एवं शांति को कायम करना होता है तथा समाज को अपराध-मुक्त बनाना होता है। लोकतंत्र में पुलिस

का कर्तव्य शासन की नीतियों से प्रतिबद्ध होते हुए समाज में विशृंखला उत्पन्न करने वाले तत्त्वों से समाज को बचाना तथा मुक्त करना है। पुलिस द्वारा अपने उक्त कर्तव्य को निभाने हेतु उनमें क्षमता तथा चरित्र का होना अपरिहार्य होता है।

किंतु, इस संदर्भ में यह उल्लेख करना भी स्वाभाविक प्रतीत होता है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में ग्रामीण जीवन के संदर्भ में पुलिस के रक्षक रूप की बनिस्बत भक्षक रूप ही ज्यादा दृष्टिगोचर होता है। यहाँ मार्कण्डेय की कहानी में निरूपित यथार्थ के जरिए स्वातंत्र्योत्तर उक्त सच की परीक्षा की जा सकती है। इस परिप्रेक्ष्य में मार्कण्डेय की कहानी 'एक काला दायरा' का ज़िक्र प्रासंगिक लगता है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि ग्रामीण जीवन का एक आमजन, भोला-भाला पाँचू अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ अपने गाँव लौट रहा होता है, किंतु उसके साथ रास्ते में एक ऐसी घटना घटती है, जिससे वह अपनी पत्नी चंपा को हमेशा के लिए खो देता है तथा उसकी खुद की जिंदगी भी जेल की सलाखों के पीछे कैद हो जाती है। उक्त कहानी में पाँचू की पत्नी का बलात्कार होता है फिर उसकी हत्या कर दी जाती है, और तो और अदालत में झूठे गवाहों के द्वारा उसी को उसकी पत्नी का हत्यारा करार दिया जाता है। चंपा के हत्यारे अपने पैसे, पहुँच और प्रभाव से निर्दोष पाँचू को हत्यारा साबित कर देते हैं। जिसमें सबसे बड़ी भूमिका न्याय व्यवस्था तथा उसके अंतर्गत पुलिस-व्यवस्था की होती है। इस कहानी में यह भली-भाँति दिखाया गया है कि पुलिस, कानून और न्याय सब समर्थवान तथा रसूखवालों के इशारे पर नाचते हैं। वहाँ तक ग्रामीण आमजन की पहुँच बौनी साबित होती है। इस कहानी में चंपा के हत्यारों द्वारा पाँचू के धमकाने के निम्न प्रसंग में इस तथ्य को समझा जा सकता है कि पुलिस और न्याय-व्यवस्था ग्रामीण जीवन के विशिष्ट जनों की जेब में कैद रहती है- "देख, चुपचाप घर जाकर हल्दी-गुड़ पी और नौकरी पर जा। थाने पर रपट लिखाने गया तो वहीं बन्द कर दिया जाएगा और वहाँ से भी बचा तो..."..."चम्पा का इंतजाम हम लोगों ने कर दिया है, तुम अब कोई दूसरी खोज लेना, अच्छा....।"¹⁰¹ यहाँ यह समझा जा सकता है कि सिर्फ पुलिस नहीं, अपितु उससे आगे की भी न्याय-प्रक्रिया और उसकी व्यवस्था उनकी गिरफ्त में होती है, तभी वे पाँचू को सभी जगह देख लेने की बात कहकर धमकाते हैं। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि इस कहानी के जरिए ग्रामीण जीवन के उस सच को दिखलाती है, जहाँ प्रजातंत्र की पुलिस और न्याय-व्यवस्था पाँचू जैसों के जीवन को नई विसंगतियों से पूर्ण कर देने का कार्य करती है। जहाँ, पुलिस और न्याय-व्यवस्था अपनी

भ्रष्टता में गाँव के विशिष्ट जनों, पैसे और पहुँच वालों के हितों की रक्षा करती है। उनके अपराधों को ढकने का कार्य करती है। इस कहानी के पाँचू की मानसिक उहापोहावस्था तथा उसके अंतर्गत अपने को समाज के समक्ष असहाय-लाचार, तथा अजनबी समझना, ग्रामीण आम-जन की त्रासदी को ही दर्शाता है- “लगता है ऊपर से नीचे तक अँधेरे का एक घेरा है, जो मुझ जैसे कितने ही लोगों को अपने भीतर कसता जा रहा है- इनकी भाषा अलग है, इनका व्यवहार अलग है।”¹⁰²

इसी प्रकार स्वातंत्र्योत्तर न्याय-व्यवस्था तथा उससे जुड़ी पुलिस व्यवस्था के काले कारनामों, मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘बवण्डर’ में भी उजागर होता है। जहाँ, यह दिखाया गया है कि न्याय-व्यवस्था के जरिये समाज में शांति और सुरक्षा को कायम रखने वाली प्रतिबद्ध पुलिस, सवर्णों द्वारा दलितों के नरसंहार के समय नदारद रहती है। वह न सिर्फ दलितों का नरसंहार होने में मदद करती है, बल्कि नरसंहार के जघन्य अपराधियों के कुकृत्य को कानूनी जामा पहना देती है- “दस घण्टे के बाद पुलिस घटनास्थल पर पहुँची। उस पूरे स्थान को पी.ए.सी. के जवानों ने घेर लिया और बचे लोगों को राहत देने की बात तो दूर रही उन्हें दुबारा पीटा गया और घसीटकर एक जगह बैठा दिया गया।... जाँच की कहानी इस तरह बनायी गयी - रात इन जरायमपेशा मुसहरों ने घूरपूर को ठाकुरों की बस्ती पर हमला किया और बहुत-सा सामान लेकर भाग निकले। गाँववालों ने हमालवर्णों का पीछा किया और देखते-देखते आस-पास से कई हजार लोग जमा हो गये। चारों ओर से जुटी, भीड़ से वे घण्टों लड़ाई लड़ते रहे और उसी आवेश में यह भयंकर घटना घटी।”¹⁰³ स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर न्याय व्यवस्था का प्रमुख अंग पुलिस-व्यवस्था, पैसे और पहुँच वालों के इशारों पर कार्य करने वाली संस्था प्रतीत होती है।

इस प्रकार यह कहा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानीकार-दृष्टि प्रजातंत्र के पुलिस और न्याय-व्यवस्था के भ्रष्ट होते रूप को भली-भाँति देखती और दिखाती है। उनकी ‘एक काला दायरा’ और ‘बवण्डर’ जैसी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति और लोकतंत्र के व्याहारिक पक्ष को गंभीरता से उठाती हैं। जहाँ, पाँचू-चंपा तथा गाँव की दलित जातियों-जनजातियों का जीवन त्रासदी बन जाता है। जहाँ, लोकतंत्र को समृद्ध करने की सदिच्छा रखने वाली पुलिस और न्याय-व्यवस्था पैसे और पहुँच वालों के इशारों पर नाचती है।

3.3.2.6 नेता और सरकारी तंत्र की भ्रष्टता

स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में राजनीति का विशद चारित्रिक परिवर्तन होता है। देश-सेवा की भावना रखने वाले ईमानदार और कर्तव्य परायण लोग राजनीति में उपेक्षित होते हैं या उनको दरकिनार किया जाता है। राजनीति में भ्रष्ट और आपराधिक प्रवृत्ति के लोग अपनी पकड़ बनाते हैं। यही नहीं, ग्रामीण जीवन में तो राजनीति के जरिए जो विकास करने वाले पदों या संस्थानों का गठन किया जाता है, उन सभी पर गाँव के विशिष्ट जन, समर्थवान, पैसा और पहुँच रखने वाले पुराने सामंत ही पदासीन हो जाते हैं। जिसका नतीजा यह होता है कि भ्रष्ट नेता तथा भ्रष्ट तंत्र विकसित होता है, जो स्वातंत्र्योत्तर राजनीति की महत्वपूर्ण विकास पहल पर ही कालिख लगा देते हैं। और जनता के विकास की आड़ में स्वयं का विकास करते हैं, स्वयं समृद्ध होते हैं।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का उक्त सच बड़ी गंभीरता से उठाया गया है। यहाँ, उनकी कहानियों का जिक्र प्रमाण के तौर पर किया जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'प्रलय और मनुष्य' कहानी का उल्लेख करना स्वाभाविक लगता है, जहाँ, मार्कण्डेय बड़े पैने व्यंग्य के साथ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के चरित्र पर टिप्पणी करते हैं। यहाँ, वे बाढ़ से उत्पन्न समस्या के संदर्भ में ग्रामीण जीवन की स्थिति को स्वातंत्र्योत्तर राजनीति तथा सरकारी तंत्र की भ्रष्टता से जोड़ कर दिखाते हैं। आलोच्य कहानी के निम्न दृश्य में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के सच को मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि भली-भाँति दिखाती है- "...मेढ़क एक लकड़ी के टुकड़े पर बैठा, सोचने लगा। सहसा एक ओर से एक सफेद, गोल चीज बहती हुयी आयी, मेढ़क कूद कर उस पर बैठ गया, ... वह सोच ही रहा था कि मेझुकी स्नेह भरे स्वर में बोली "डरो नहीं, यह खादी की टोपी है। इसकी दीवारों के बीच हम सुरक्षित हैं... यह इस लोक की सबसे बड़ी ढाल है। इसके पीछे कुछ भी छिप सकता है।"¹⁰⁴ जिससे इस बात को बड़ी सहजता से समझा जा सकता है कि राजनीति एक आड़ है। जिसके पीछे मनुष्य अपनी भ्रष्टता, अपना स्वार्थ तथा अपनी करस्तानियों को छिपाने का कार्य करता है। यहाँ यह उल्लेख करना भी प्रासंगिक लगता है कि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ऐसे ही मनुष्य जो राजनीति को अपने लिए ढाल की तरह इस्तेमाल करते हैं, वे ही नेता (?) बन जाते हैं। जनता को आगे ले जाने के वास्ते नहीं, बल्कि अपने को आगे ले जाने के लिए। वे नेता के रूप में विभिन्न पदों या संस्थानों पर काबिज होकर उसका भरपूर दुरुपयोग करते

हैं। ऐसे ही नेताओं के चरित्र को मार्कण्डेय की उक्त कहानी 'प्रलय और मनुष्य' बखूबी दिखलाती है- "हेल्सा कहने लगा, "यह एक सदस्य है असेम्बली का। राजनीति से इसका कोई संबंध नहीं, पर राजनीति के बिना अर्थनीति का कोई भी मतलब नहीं होता प्रजातंत्र में, इसीलिए चीनी मील से कमाये दो लाख रुपये लगा कर इसने धारा-सभा की एक सीट खरीद ली। कभी उस पर बैठ जाता, कभी नहीं, पर इस कुर्त्त की हर जेब में इसने 'महिला-सेवा-कर्म से लेकर 'बाल-विचार-परिषद' तक और 'साहित्य-धर्म' से लेकर 'लोक जीवन -अध्ययन मण्डल' तक अपनी सेवाओं का विस्तार किए था। अब सरकार को कितने चरखे चाहिए, और किस विभाग को कितनी वर्दियाँ चाहिए, फिर चरखे और वर्दी को एक रुपये में बनवा देना और शेष रुपयों को आमदनी के भण्डार में जमा कर लेना, इसके बाये हाथ का काम था।"¹⁰⁵ जिससे कई तथ्य उद्घाटित और सत्यापित होते हैं। पहला, राजनीति में पूंजी का प्रवेश होता है। दूसरा, राजनीति में पैसा पूंजी की तरह लगाया जाता है और सेवा के रूप में कमाया और उगाहा जाता है। तीसरा, राजनीति में स्वतंत्रता पूर्व के निष्ठावानों के उलट ऐसे लोगों का प्रवेश होता है, जिनका सरोकर पैसा कमाना, अपना स्वार्थ-साधना होता है। चौथा, राजनीति के जरिए विभिन्न विकास परक पदों या संस्थानों में ऐसे लोग काबिज होते हैं जिनके लिए सेवा एक छद्म होता है। पाँचवा , राजनीति के जरिए ग्रामीण जीवन का विकास करने की सदिच्छाओं की भ्रष्ट नेता व व्यक्ति द्वारा पूर्ण रूप से तिलांजलि दे दी जाती है।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'आदमी की दुम' में भी, ऐसे नेता के चरित्र पर व्यंग्य किया गया है। इस कहानी के मिसिर जी जैसे, ग्रामीण जीवन के विशिष्ट, समर्थवान तथा पैसे और पहुँच की हैसियत रखने वाले राजनीति तथा उसके जरिए विभिन्न पद-संस्थानों का दुरुपयोग करते हुए अपना विकास करते हैं तथा जनता के सेवक कहलाने का छद्म रचते हैं- "मिसिर जी हमारी ग्राम सभा के सभापति हैं। धर्म-परायण आदमी हैं।... बड़ी माया है इनके पास। जगह-जमीन, रुपया-पैसा इज्जत-बात का क्या कहना ! ... कई स्कूलों के वे मैनेजर और ब्लाक कमेटी के ऊँचे अधिकारी भी हैं। इधर चार-पाँच कोस में वे विकास कार्यों के प्रतीक हैं। मैं दूसरे लोगों को विकास-कार्यों के बारे में समझाता हूँ लेकिन विकास मिसिर जी करते हैं। उनके पास एक नन्हीं-सी मुस्कान है, जिसकी पूँछ में हर विकास-कार्य के लिए 'हाँ' की तख्ती लटकी रहती है।"¹⁰⁶ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में पैठ करने वाले ऐसे नेताओं की भ्रष्टता का कोई अंत नहीं होता है। वे जनता की पीड़ा,

आह तथा संकट को भी अपने फायदे के लिए भुनाते हैं। मार्कण्डेय अपनी कहानी 'प्रलय और मनुष्य' में गाँव के बाढ़ पीड़ितों की समस्याओं तथा उनकी सेवा को ढाल बनाकर अपना स्वार्थ साधने वाले नेता के चरित्र का उद्घाटन कर स्वातंत्र्योत्तर राजनीति की हकीकत को जाहिर करते हैं - "हेल्सा हँसने लगा, "इसने बाढ़ देखकर तत्काल 'बाढ़ पीड़ित संघ' बनाया और सबसे पहले स्वयं दस हजार का दान देकर फंड खड़ा किया। इस सारे क्षेत्र में अनाज-कपड़ा बाँटने का काम सँभाला। सरकार और जनता से लाखों लिया और किश्तियों पर चढ़ कर चना-गुड़ बाँटने लगा।"

107

यहाँ इस प्रसंग में, यह भी उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में न सिर्फ भ्रष्ट नेता पैठ करते हैं, बल्कि उससे एक भ्रष्ट तंत्र भी विकसित होता है। उस तंत्र का ग्रामीण जनता की समस्याओं और सरोकारों में कोई दिलचस्पी नहीं रहता है। वे सिर्फ काम कर देने का छद्म रचते हैं तथा जो उन्हें पैसे खिला दें, उन्हीं की सेवा या उनका काम करते हैं। मार्कण्डेय की 'प्रलय और मनुष्य' कहानी में सरकारी तंत्र से जुड़े लोगों के इस सच का उद्घाटन होता है- "आदमी साँस ले कर बोलने लगा, "मैं इन्जीनियर था। तंत्र के काम को किसी तरह रंग कर दिखा देने वाले ठेकेदारों को, पूरा रुपया देता था। सीमेन्ट की जगह माटी भरवा देता था। बड़े-बड़े बाँधों में बाल भरवा कर खड़ा कर दिया था। इस तरह सामान और पूरा दाम ही हड़प नहीं करता था, बल्कि ठेकेदारों के मुनाफे में आधा हिस्सा ले लेना तो जैसे मेरा अधिकार हो गया था। आज घर की एक ठोकर खाकर मेरा पूरा निर्माण ध्वस्त हो गया।"¹⁰⁸ इसी तरह के ढोंग रचने का क्रम मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'दौने की पत्तियाँ' में भी उजागर होता है। जहाँ ग्रामीण जीवन में विकास करने का छद्म रचते हुए सरकारी तंत्र अपनी भ्रष्टता को ही प्रदर्शित करता है- "इन्जीनियर बड़ा हँसता था, क्योंकि इस नन्हें-से काम के लिए इतना बड़ा पँवारा खड़ा करने की क्या जरूरत थी? यही हजार रुपये और एक मूर्त भैंस, जो अब दी ही , तभी दे देते तो बिना लखनऊ गये ही काम हो जाता। उनका तो यही काम है। जिस पार्टी ने रुपये ज्यादा दिये, उनकी ओर से फीते का रुख जरा-सा मोड़ लिया। फिर नये शिकार, ताजा रुपये और इस तरह गाँव के गाँव चंदा करके अपनी हद इस खूबसरती से बचा लेते हैं कि नहर का पानी भी मिले और जगह भी खराब न हो। अब क्या कोई परायी सरकार है?... जनता को कैसे नाराज करे?"¹⁰⁹ यहाँ ग्रामीण जीवन में विकास

की आड़ में सरकारी तंत्र का जनता की सरकार के नाम पर अपने हितों और स्वार्थों के साधने का सच समझ में आता है।

अतः समग्रता में विचार करने पर यह कहना समीचीन जान पड़ता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन से जुड़े उस सच को बड़े पैने व्यंग्य के साथ दिखलाती हैं, जहाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के जरिए ग्रामीण जीवन के विभिन्न विकास पदों या संस्थानों पर काबिज नेता तथा उसके आस-पास फैला भ्रष्ट तंत्र केवल अपने हित साधता है। जिससे ग्रामीण आम जन-जीवन ही विसंगतिपूर्ण बनता है।

इस प्रकार मार्कण्डेय की कहानियों में निरूपित ग्रामीण राजनीतिक जीवन के यथार्थ पर विचार किए जाने पर कई तथ्य उभर कर आते हैं। पहला, मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि स्वातंत्र्योत्तर होने वाले राजनीतिक परिवर्तन को ग्रामीण आमजन के जीवन में होने वाले गुणात्मक परिवर्तन के साथ जोड़कर देखती है। उनकी यथार्थ-दृष्टि चीजों का सतही रूप न देखकर उसके भीतर पैठने में दिलचस्पी दिखाती है। दूसरा, उनकी यथार्थ-दृष्टि की सूक्ष्मता का ही परिचायक होता है कि ग्रामीण जीवन की स्वातंत्र्योत्तर राजनीति से प्रभावित-परिवर्तित सच्चाई अपने व्यवहारिक रूप में दृष्टिगोचर होती है। तीसरा, उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में नैतिकता, निष्ठा, देश-प्रेम, निस्वार्थ प्रेरणा तथा जनसेवा आदि मूल्यों के क्षरण तथा उसकी उपेक्षा आदि विषयों को व्यंग्यात्मक तरीके से उठाती हैं। पाँचवा, उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति की दलगत संकुचितता तथा सत्ता लोलुपता की भावनाओं के चलते ग्रामीण जीवन में अस्थिरता के माहौल तथा नई विसंगतियों के उत्पन्न होने के सच को दिखलाती हैं। छठवाँ, उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर लोकतंत्र और शासन की राजनीतिक सदिच्छाओं के व्यवहारिक सच को दिखलाती हैं, जहाँ पंचायती-राज का लाभ ग्रामीण विशिष्ट जन, पैसे और पहुँच से समर्थवान या पुराने सामंत ही उठाते हैं और ग्रामीण आमजन पिसता रहता है। सातवाँ, उनकी कहानियाँ लोकतंत्र को स्थापित करने वाली राजनीति द्वारा की गयी पहल के रूप में चुनाव तथा पुलिस और न्याय-व्यवस्था की प्रक्रिया एवम् नेता और सरकारी तंत्र की भ्रष्टता की सच्चाई को ग्रामीण आमजन के जीवन से जोड़कर देखती-दिखाती हैं। आठवाँ, उनकी कहानियों में चुनाव की विश्वसनीयता पर धनबल, जनबल तथा दावपेंच की अपसंस्कृति द्वारा प्रश्न चिह्न लगाये जाते हुए देखा जाता है। जहाँ, गाँव

के विशिष्ट जन, समर्थवान या पुराने सामंत ही चुनाव के प्रत्याशी होते हैं या जनता के बीच से चुने जाने वाले प्रतिनिधि का छद्म रूप लेते हैं। नौवां, उनकी कहानियाँ यह भी दिखलाती हैं कि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में पुलिस का भय तथा अत्याचार आमजन के जीवन में व्याप्त होता है। जिसका नतीजा यह होता है कि ग्रामीण आमजन अपने चतुर्दिक निस्सहायता पूर्ण एक अंधेरे का माहौल देखता है। दसवाँ, उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में घुसपैठ करने वाले स्वार्थी, मुनाफाखोर तथा केवल अपना हित साधने वाले चरित्रों को बड़ी बारीकी से देखती-दिखाती हैं, जो नेता के रूप में आम जनता का शोषण करते हैं। उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर शासन के आस-पास उगते और फैलते भ्रष्ट तंत्र को भी बखूबी दिखलाती हैं।

3.3.3 आर्थिक जीवन

किसी भी समाज की सम्पूर्ण जीवन-प्रक्रिया आर्थिक ढाँचे पर आधृत होती है। आर्थिक ढाँचे में होने वाला बदलाव समूचे सामाजिक जीवन में परिवर्तन घटित करता है। इसी कारण मार्क्स समाज के परिवर्तन के मूल में आर्थिक जीवन और उसकी परिस्थितियों की संश्लिष्टता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

मार्क्सवाद की वैचारिकी का प्रभाव मार्कण्डेय के व्यक्तित्व पर भी पड़ता है। जिससे उनका लेखकीय रुझान मार्क्सवाद की ओर सहज मुड़ जाता है। इस सच्चाई की ओर इशारा करते हुए आलोचक विद्याधर शुक्ल लिखते हैं—“ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं के पीछे मार्कण्डेय का एक विशिष्ट राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण है। जिससे उनकी वामपंथी पक्षधरता स्पष्ट होती है।”¹¹⁰ जिससे मार्कण्डेय के यथार्थबोध के पीछे एक ठोस वैचारिक आधार के होने का मतलब भी समझ में आता है। पर, यहाँ यह भी उल्लेख करना प्रासंगिक है, कि मार्कण्डेय की कहानियों में मार्क्सवाद या वामपंथ विचार के रूप में चस्पाँ नहीं रहता है- बल्कि, वह उनके यथार्थबोध को सघन करने का कार्य करता है। ‘कहानी और समाज’ शीर्षक से प्रकाशित एक बातचीत (मार्कण्डेय और सुरेन्द्र तिवारी) के प्रसंग में मार्कण्डेय कहते हैं—“मार्क्सवाद कहानी में विचारधारा की माँग नहीं करता बल्कि वह जीवन के यथार्थ के चित्रण की माँग करता है। जिस तरह की सामाजिक परिस्थितियाँ हों उनमें सामाजिक जीवन के परिवर्तन की आकांक्षा को आधार देने वाली कहानियाँ लिखी जाती हैं तो वे सही मार्क्सवादी कहानियाँ हैं।”¹¹¹ जिसका साफ मतलब यह कहना है कि उनका मार्क्सवाद विचारों की शकल में नहीं, बल्कि जीवन यथार्थ को देखने और उसे चित्रित करने की दृष्टि में अंतर्निहित रहता है। इसी कारण वे ग्रामीण जीवन की प्रत्येक

स्थितियों तथा उसके परिवर्तन में अर्थ की भूमिका को तलाशते हैं, तथा उसे अपनी कहानियों में रेखांकित करने का प्रयास करते हैं। मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण ही वे ग्रामीण जीवन के उस पक्ष पर विशेष ध्यान देते हैं, जहाँ ग्रामीण समाज आर्थिक विषमता से पूर्ण होकर दो वर्गों (शोषक-शोषित) में विभक्त होता जाता है। वे इसी कारण अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन की विभिन्न आर्थिक श्रेणियों को उक्त दो वर्गों में ही विशेष रूप से अंतर्भुक्त होते हुए दिखलाते हैं।

उनकी कहानियाँ एक तरफ ग्रामीण जीवन के उच्च वर्गीय लोगों के रूप में जमींदार, महाजन, पूँजीपति, ठेकेदार तथा नवसामंत जैसे चरित्रों का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं, तो दूसरी तरफ निम्न वर्गीय लोगों के रूप में किसानों और श्रम से जुड़े रहने वाले किसान, भूमिहीन, खेतिहर मजदूर आदि चरित्रों के विसंगतिपूर्ण जीवन की सचाई को उकेरने का प्रयास करती हैं। वे स्वयं भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन के दो वर्ग अपनी सम्पूर्ण संश्लिष्टता में उभरते हैं—“मेरी कहानियों में शुरु से ही सामंती परिवेश की इस दुरवस्था और भूमि-संबंधों के कारण उत्पन्न गरीब किसानों का अंतर्द्वन्द्व चित्रित हुआ है।”¹¹² जिससे यह समझा जा सकता है कि उनकी कहानियाँ ग्रामीण समाज के दो विशेष वर्गों के जीवन को उज्जीवित करती हैं। जहाँ, एक ओर सामंती समाज व्यवस्था तथा संस्कार को बनाये रखने में अपना हित देखने वाले लोग हैं, तो दूसरी ओर किसानों से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जुड़ा रहने वाला गरीब आमजन।

मार्कण्डेय इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि स्वातंत्र्योत्तर शासन का पूँजीवादी ढाँचा ग्रामीण जीवन में आर्थिक विषमता को दूर करने के बजाय उसे विसंगतियों से परिपूर्ण करने का कार्य करता है। इसी कारण वे स्वातंत्र्योत्तर समय में ऊपरी तौर पर होने वाले बदलाव को न महत्त्व देकर उससे होने वाले गुणात्मक परिवर्तन के आकांक्षी होते हैं। उनका लेखन उक्त परिवर्तन की सदिच्छा को लिए हुए रहता है। जिसका परिणाम यह है कि उनकी कहानियाँ ग्रामीण आर्थिक जीवन की उस वास्तविकता से हमारा परिचय कराती हैं, जहाँ एक ओर ग्रामीण जीवन में शोषण करने वाले लोग होते हैं, उनके हितों की रक्षा और पोषण करने वाली शासन-व्यवस्था की नीतियाँ हैं, तो दूसरी तरफ इससे उत्पन्न होने वाली विसंगतियाँ तथा इनसे पिसते हुए लोग। यही नहीं, वे अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन में वर्ग-संघर्ष के लिए बनती हुयी स्थितियों को भी तलाशने की कोशिश करते हैं, जो उनकी परिवर्तनकामिता को ही द्योतित करता है। यहाँ उनकी कहानियों में उज्जीवित ग्रामीण आर्थिक जीवन का विश्लेषण निम्न शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है।

3.3.3.1 आर्थिक विसंगतियाँ और ग्रामीण जीवन-

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन को रोमानी दृष्टि से नहीं देखते हैं, बल्कि वे उसे समाज के मूलभूत आधार अर्थात् अर्थ से जुड़े पक्ष की पूरी संश्लिष्टता में देखते हैं। इसी कारण ग्रामीण जीवन में व्याप्त आर्थिक परिस्थितियाँ, विसंगतियाँ उनकी यथार्थ-दृष्टि से ओझल नहीं होती हैं। वे आर्थिक विषमता से त्रस्त ग्रामीण जीवन और समाज की एक-एक परत को बड़ी बारीकी से उकेरने की चेष्टा करते हैं। वे अपनी कहानियों में इस सच को बखूबी दिखलाते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन और समाज, एक वर्गहीन और समरूप समुदाय नहीं है, बल्कि वहाँ तीव्र आर्थिक और सामाजिक असमानताएँ व्याप्त हैं, और उससे एक तीव्र असंतोष चारों ओर पसरा है। वहाँ एक ओर, जमीन के मालिक के रूप में सम्पन्न और समर्थ उच्च वर्ग है, तो दूसरी ओर काश्तकार, भूमिहीन, खेतिहर मजदूर जैसा विपन्न शोषित निम्नवर्ग, जिसे दबाने-कुचलने का एक सतत् कुचक्र चलता रहता है। मार्कण्डेय अपनी कहानियों में इसी शोषित वर्ग के जीवन की विसंगतियों का यथार्थ प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें निम्न बिंदुओं के अंतर्गत विश्लेषित किया जा सकता है।

3.3.3.1.1 जमींदार, सेठ-साहूकार के आर्थिक शोषण से त्रस्त ग्रामीण शोषित वर्ग

जैसा कि सर्वविदित है कि ग्रामीण जीवन के शोषित वर्ग के चेहरे वहाँ के गरीब किसानों, भूमिहीनों, मजदूरों आदि में ही देखने को मिलते हैं। जबकि, वहाँ के जमींदार, सेठ-साहूकार आदि लोग उच्चवर्गीय जमात का अभिन्न हिस्सा हैं। जिनका सामंती जीवन-संस्कार तथा सामंती-व्यवस्था से गहरा नाता है। स्वतंत्रता पूर्व ग्रामीण जीवन में बद्धमल जमींदारी-प्रथा इन लोगों (जमींदार, सेठ-साहूकार) को ग्रामीण समाज में अपना प्रभुत्व कायम रखने में अहम भूमिका निभाती है। इस जमींदारी प्रथा से ग्रामीण शोषित वर्ग पर कड़ी मार पड़ती है। उनका जीवन कठिनाईयों और कर्ज के सिलसिले से घिर जाता है। जमींदारों की शोषण-भावना इस प्रथा के कारण निरंतर बढ़ती ही जाती है। स्वतंत्रता पूर्व के इस परिदृश्य के संबंध में डॉ. बी.पी. चौहान लिखते हैं—“स्वतंत्रता से पूर्व साम्राज्यवादी अंग्रेज, पूँजीपति और जमींदार शोषण की तीन इकाई थी। राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेज, नगरों में पूँजीपति और गाँवों में जमींदार मनमाना शोषण कर रहे थे और जनता इनकी नृशंसताओं की शिकार थी। जमींदार गाँव के मालिक थे, शासक थे एवं समस्त गाँव की सामूहिक जिंदगी के नियंता थे।... ग्रामीण जनता पर अत्याचार और अनाचार उन्हीं की दृष्टि में परिभाषित होते थे।”¹¹³ जिससे ग्रामीण जीवन में जमींदारों के अत्याचार और शोषण से ग्रामीण आमजन की जिंदगी के त्रस्त होने की वास्तविकता समझ में आती है।

वैसे इस संदर्भ में, यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि अंग्रेजी हुकूमत के आने के बाद जमींदारी-प्रथा तथा जमींदारों को खूब बढ़ावा मिलता है। जिसके परिणाम-स्वरूप ग्रामीण निम्न वर्ग का खूब शोषण होता है। जमींदार अपने इलाके के सर्वेसर्वा होने के कारण ग्रामीण शोषित वर्ग पर जोर-जुल्म करना, उन्हें मारपीट करना, उनसे बेगार लेना आदि अपनी आदत में शुमार कर लेते हैं। यही नहीं, वे किसानों से मनमाना लगान वसूल करने तथा उनके लगान या कर्ज न चुका पाने की स्थिति में उन्हें जमीन से बेदखल कर देने में सिद्धहस्त होते हैं। जिससे किसानों का जीवन विसंगतिपूर्ण बनता जाता है। इस संबंध में रजनी पामदत्त लिखती हैं—“जैसे-जैसे किसानों की कठिनाइयाँ बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे उसके ऊपर कर्ज का बोझ भी ज्यादा बढ़ता जाता है और उसकी कठिनाइयों में बृद्धि हो जाती है। इस तरह वह एक दुश्चक्र में फँस जाता है, जिसकी अंतिम परिणति यह होती है कि वह अपने जीवन में बेदखल कर दिया जाता है।”¹¹⁴ जिससे यह समझा जा सकता है कि स्वतंत्रता पूर्व की जमींदारी-प्रथा तथा सामंती व्यवस्था का प्रभाव ग्रामीण शोषित वर्ग का जीवन विसंगतियों से परिपूर्ण करने वाला होता है।

किंतु स्वतंत्रता उपरांत सत्ता का हस्तांतरण शासन की निगाहों को ग्रामीण जीवन को ओर मोड़ता है। जिसके परिणाम स्वरूप ग्रामीण जीवन की अर्थ-व्यवस्था को जमींदारी-प्रथा के कारण चरमराते हुए देखकर शासन की एक राजनीतिक पहल के रूप में जमींदारी उन्मूलन की घोषणा होती है। जिससे ग्रामीण शोषित जन-जीवन में नए उत्साह का जगना स्वाभाविक हो जाता है। डा. ज्ञानचंद गुप्त स्वातंत्र्योत्तर लोकतांत्रिक सरकार की इस नयी पहल में अंतर्निहित सदिच्छाओं को कुछ इस प्रकार बतलाते हैं—“जमींदारी-उन्मूलन कृषकवर्ग में स्वामित्व की भावना जगाने वाला वह कदम है जिससे कृषक-वर्ग में चेतना जगे तथा वह सरकारी प्रोत्साहन या उद्यम और नवीन प्रविधियों से लैस हो कृषि प्रगति में संलग्न हों।”¹¹⁵ किंतु, इन सदिच्छाओं के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर शासन-व्यवस्था में सामंतों का वर्चस्व ग्रामीण कृषक रूपी शोषित वर्ग को जमींदारी-प्रथा तथा उसके आतंक-अत्याचार से उबरने नहीं देता है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ. गोपाल राय लिखते हैं—“आजादी मिलने के बाद, कांग्रेस की सरकार ने भूमि-सुधार की दिशा में कदम बढ़ाया पर शासन में जमींदारों और भूमिपतियों का वर्चस्व होने के कारण उसके आंशिक रूप में भी लागू होने में बहुत विलम्ब हो गया। जमींदारी उन्मूलन का कानून हिंदी क्षेत्र के कुछ राज्यों में तो 1955 के पहले लागू ही नहीं हो पाया। जमींदारी उन्मूलन के बावजूद वास्तविक खेती करने वालों को जमीन नहीं मिली। उसका लाभ अधिकतर भूमिपतियों ने उठाया।”¹¹⁶ जिससे स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण जीवन में जमींदारों के वर्चस्व और उनकी शोषण-भावना के बदस्तूर बने रहने का सच

मालूम पड़ता है। यहाँ प्रमाणस्वरूप उक्त सच की संपुष्टि हेतु मार्कण्डेय की कहानियों का जिक्र और विश्लेषण किया जा सकता है।

इस संदर्भ में पहले मार्कण्डेय की 'कल्याणमन' कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। यह कहानी स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में ग्रामीण आमजन का शोषण और उसकी असुरक्षा की भावना को दर्शाती है। आलोच्य कहानी में यह देखा जाता है कि स्वातंत्र्योत्तर जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन की घोषणा के बावजूद भी मंगी जैसे ग्रामीण आमजन को यह सहज विश्वास नहीं होता है कि जमीन को जोतने वाला ही जमीन का मालिक होगा, क्योंकि वह अब तलक जमींदार लोग को यही देखती आती है—“लोग जमीन के लिए आदमी की गरदन भी काट सकते हैं।”¹¹⁷ वह अपने चतुर्दिक यही मंजर देखती है कि जमींदार लोग साम-दाम-दण्ड-भेद की नीतियों की बदौलत अपनी जमीन, अपने प्रभुत्व और आतंक को बनाए रखने में कामयाब होते हैं। वह अपने इस बोध को अपने बेटे पनारू से भी साझा करती है—“बड़ा कानून सीख के बैठा तो है, भला बची है कि एक बिस्सा भूँय किसी मजूर-धतूर के पास? सभी तो खेत जाते रहे थे। कोई मार खाकर इस्तीफा लिख गया, तो किसी को बहका कर सादे कागद पर अँगूठे की टीप ले ली, इन लोगों ने। किसी को सौ-दो सौ देकर टरकाया। कहीं रह गया है कुछ? वह तो कहो मुझे, जो बैठी हुयी हूँ बज्जर की तरह छाती पर।”¹¹⁸ किंतु, उसका बेटा पनारू जमींदारों की उक्त चालाकियों को समझ नहीं पाता है और इसी कारण गाँव का जमींदार पनारू को ही मंगी के खिलाफ खड़ा कर देता है, ताकि उसके कल्याणमन को हड़प लिया जाए। मंगी टूटे मन के साथ इस सच को स्वीकारती है—“मैं जानती थी कि यह संभाल नहीं पाएगा इसे तुम लोग फँसा लोगे... और हुआ भी तो वही।”¹¹⁹ यहाँ, मंगी के उक्त कथन की पीड़ा के जरिए मार्कण्डेय जमींदारी-प्रथा से जुड़े उस सच का ही संकेत करते हैं, जहाँ स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के जमींदार अपनी चालाकियों के जरिए न सिर्फ जमीन पर अपने प्रभुत्व को कायम रखने में सफल होते हैं, बल्कि ग्रामीण शोषित वर्ग के आर्थिक जीवन को विसंगतिपूर्ण बनाने में भी प्रमुख कारक सिद्ध होते हैं।

मार्कण्डेय की 'महुए के पेड़' कहानी में भी जमींदारों द्वारा आमजन या शोषित वर्ग के शोषण की अनवरतता को उक्त कहानी के प्रमुख पात्र दुखना के जरिए दिखालाया गया है। आलोच्य कहानी की दुखना का पति दस बीघे का काश्तकार है, जो श्रम को अपने जीवन में महत्वपूर्ण मानता है। परंतु, वह एक दिन अत्यधिक श्रम के दबाव में ही आकर मारा जाता है। उसके मारे जाने के तुरंत बाद ही, गाँव का जमींदार दुखना को एक अकेली निस्सहाय स्त्री समझ उसे उसकी जमीन से बेदखल करने का फरमान सुना देता है—“दुखना ने बड़ी दौड़-धूप की। लोगों

के सामने हाथ फैलाया, गिड़गिड़ाई पर कोई काम न आया। अन्त में वह हमेशा के लिए चल बसा और दूसरे दिन ही ठाकुर ने बेदखली का हुकूमनामा भेज दिया।¹²⁰ स्पष्टतः यहाँ स्वतंत्रता पूर्व ग्रामीण जीवन में जमींदारों की दबंगई और उनकी शोषणपूर्ण मानसिकता की चरम स्थिति को समझा जा सकता है। जिससे ग्रामीण आमजन का आर्थिक जीवन विसंगतिपूर्ण बन जाने की अग्रसर होता है। आलोच्य कहानी की दुखना के जीवन में भी यह परिस्थिति उत्पन्न होती है— “दुखना के पास एक लिपी-पुती, साफ-सूथरी झोपड़ी, दो-एक बरतन मिट्टी की गगरी और झोपड़ी के सामने हहराता हुआ एक महुए का पेड़ है।¹²¹ गाँव के जमींदार द्वारा दुखना की जमीन हथिया लेने के बाद भी उसकी नीयत उसके महुए के पेड़ को हड़पने की ओर लगी रहती है। जिस वजह से वह दुखना पर नाना तरह के अत्याचार करता है, और एक दिन दुखना की अनुपस्थिति में उसकी बदनीयत कुछ इस तरह उघड़ती है—“उन्होंने सम्पत्ति पर जल्दी ही कब्जा कर लेना उचित समझा; क्योंकि देर होना, इसमें ठीक नहीं है और लुहारों के टाँगे महुए की जड़ पर चलने लगे।¹²² जिससे ग्रामीण जीवन में व्याप्त जमींदारों की शोषण-भावना तथा उसकी क्रूरता जाहिर होती है। इसी कारण ग्रामीण शोषित वर्ग का जीवन आर्थिक विपन्नता की ओर अग्रसर होता हुआ विसंगतिपूर्ण बनता जाता है।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘हलयोग’ में भी यह तथ्य मिलता है कि स्वतंत्रता उपरांत गाँव का सामंत ग्रामीण शोषित वर्ग से बेगार लेना, मुफ्त सेवा लेना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। वह ग्रामीण शोषित वर्ग को उसके श्रम का उचित मूल्य दिए बिना उससे अत्यधिक काम लेने की बलात् मानसिकता को खुले आम प्रकट करता है—“बलवंत राय के लड़कों का कहना था कि वह हमारी पुश्तैनी ज़मीन है जिस पर मुसरहटी बसी है। हमारे पुरखों ने ही उन्हें बसाया था। इसलिए उनके हर मौक्रे पर चाहे वह खेती-बारी हो चाहे ब्याह-शादी मुसहरों को नाममात्र की मजूरी अथवा रस-दाने पर काम करना जरूरी था।¹²³ जिससे यह सच उजागर होता है कि जमींदार स्वतंत्रता उपरांत भी अपनी शोषणपूर्ण मानसिकता तथा दबंगई को नहीं त्यागता है।

वैसे इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण शोषित वर्ग केवल जमींदारों-सामंतों द्वारा ही शोषित नहीं होता है, बल्कि ग्रामीण सामंती समाज-व्यवस्था के तीसरे पाये सेठ-साहूकार वर्ग द्वारा भी प्रपीड़ित होता है। यहाँ प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की ‘घुन’ कहानी का जिक्र किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में ग्रामीण आमजन रूपी शोषित वर्ग के चौतरफे शोषण तथा उनसे उत्पन्न विसंगतिपूर्ण जीवन स्थितियों को भली-भांति दर्शाया गया है। इस कहानी में ऐसा द्रष्टव्य है कि मानो, इन दोनों (जमींदार-सेठ-साहूकार) के बीच ग्रामीण शोषित वर्ग

पिस जाने के लिए ही अभिशप्त है। ग्रामीण शोषित वर्ग के लिए एक तरफ कुआँ है, तो दूसरी तरफ खाई।

इस कहानी का प्रमुख पात्र नाथू अपने अनाज के उचित मूल्य को लेकर चिंतित नज़र आता है। उसके अंदर यह बात चोर की भाँति बैठी रहती है कि ठाकुर (जमींदार) सूद के एवज़ में उसका अनाज औने-पौने दाम में तुलवा लेगा—“ कहीं ठाकुर औने-पौने तौला न ले! सूद की देनी और वह भी, ठाकुर की। जो मन में आएगा वही भाव काट लेंगे। जबरा मौरै- रोवै न देय।”¹²⁴ जिससे यह सच समझ में आता है कि जमींदारी प्रथा के टूटने के बावजूद भी स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में गरीब काशतकार के अंदर जमींदारों की शोषणवृत्ति और दबंगई का डर बैठा रहता है। गाँव के जमींदार और साहूकार के बीच एक होड़-सी मची रहती है कि कौन गरीब काशतकारों (शोषित वर्ग) को ज्यादा लूट सके; उनसे ज्यादा फायदा उठा सके। ग्रामीण जीवन के उक्त सच को प्रस्तुत कहानी के उस प्रसंग में दिखाया गया है, जब भगेलू की माँ (नाथू की पत्नी) साहूकार के पास अनाज के बदले सौदा लेने जाती है। उस समय साहूकार का निम्न कथन, —“बड़ा लहसून-मिर्चा ले रही हो मालिकन! कुछ छोंक-बघार का जोग है का? फिर तिरछी देख कर चिल्लाने लगा। कहने लगा, ‘अरहर रखी है ठाकुर के लिए, और तिरछी के लिए महाजन है। इसमें एक भी सबूत दाना है जो तुम्हें सउदा दूँ?... लो यह ले जाओ, एक पोटी लहसुनी, फिर तिरछी अरहर के बोरे में डालते हुए दो सूखे मिर्चे फेक, मुँह फेर कर बैठ गया—”¹²⁵ इस बात की ओर संकेत करता है कि उसके तथा ठाकुर (जमींदार) के बीच गाँव के काशतकारों के शोषण को लेकर एक प्रतिस्पर्धा चल रही है।

अतः इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उस सच को दर्शाया गया है, जहाँ ग्रामीण शोषित वर्ग जमींदारों-सेठ-साहूकारों के समवेत शोषण, अत्याचार और तिरस्कार का पात्र बनता है, जो ग्रामीण शोषित वर्ग को आर्थिक रूप से विपन्न करता हुआ विसंगतिपूर्ण जीवन-स्थितियों की ओर धकेलता है।

3.3.3.1.2 ग्रामीण शोषित वर्ग की अभावग्रस्तता और गरीबी

देखा जाए तो स्वतंत्रता के बाद समूचे देश में नई आशाओं का उठना स्वाभाविक ही था, क्योंकि पराधीनता के बंधन टूटे थे और देश को स्वयं अपने नव-निर्माण का सुअवसर प्राप्त हुआ था। कहने की बात नहीं है कि ग्रामीण शोषित वर्ग के लिए इन आशाओं का विशेष महत्त्व था, क्योंकि स्वतंत्रता पूर्व से ही वह गरीबी-अभाव से जूझ रहा था। यह वर्ग देश की पराधीनता के

माहौल तथा अपने जीवन में पसरी अभावग्रस्तता और भूख से बुरी तरह प्रभावित था। अतः स्वतंत्रता उपरांत इस वर्ग की आखों में बेहतर जिंदगी के सपनों का आना स्वाभाविक हो जाता है। यह वर्ग सत्ता और शासन द्वारा जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन, समानाधिकार, मताधिकार, अभिव्यक्ति की आजादी तथा ग्रामीण जीवन का सर्वांगीण विकास के लिए की गई घोषणाओं के उपरांत, यह विश्वास करने लगा था कि अब तमाम सुविधाएँ उसे प्राप्त होंगी; उसका जीवन खुशहाल होगा तथा उसके जीवन-विकास का एक नया पथ प्रशस्त होगा। किंतु, उनके सपने एक-एक कर टूटने लगते हैं। स्वशासन की दहलीज पर जिस जोर-शोर से सरकारी घोषणाएँ होती हैं, वे खोंखली साबित होती हैं, और सरकारी वायदें कागजी आकड़े बन कर रह जाते हैं।

इसी क्रम में पंचवर्षीय योजनाओं की ओर ध्यान दिया जाता है, परंतु उसका प्रभाव विपरीत ही होता है, क्योंकि योजना-व्यय ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण धनी और ग्रामीण गरीब के बीच के भेद को और बढ़ा देता है। अर्थात् ग्रामीण जीवन में अमीर ज्यादा अमीर और गरीब ज्यादा गरीब होता जाता है। जिससे ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन में कोई गुणात्मक परिवर्तन संभव नहीं होता है। इसी कारण यह वर्ग 'आजादी' को एक अदृश्यमान चिड़िया समझता हुआ अपने अंत-बाह्य दोनों स्तरों पर क्रमशः टूटता है। जिसे स्वतंत्रता के ठीक बाद की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखे गए मार्कण्डेय के उपन्यास 'अग्निबीज' की पात्रा श्यामा के कथन में कुछ इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है—“स्वतंत्रता के आने की बात कब से सुनाई पड़ती है। लोग कहते हैं कि वह आ गई है लेकिन यहाँ तो कहीं दिखाई नहीं पड़ी। आखिर वह गई कहाँ? हो सकता है, कहीं बीच में अटक गई हो, क्योंकि यहाँ तो सब कुछ वैसा ही है... गुलामी से बदतर।”¹²⁶ स्पष्ट है कि श्यामा का उक्त कथन शोषित वर्ग की ही पीड़ा को व्यक्त करता है। वैसे भी, शोषण पर आधृत और वर्गों में विभक्त ग्रामीण समाज में आमजन रूपी शोषित वर्ग के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन की अपेक्षा करना बेमानी-सा है, क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर शासन-व्यवस्था पूँजीवादी विकास के जिस ढाँचे को अपनाती है, वह समाज को वर्ग-विहीन बनाने के बजाय वर्गों के बीच विद्यमान खाई को और चौड़ा करती है। वह शोषण को निर्मूल करने के बरक्स शोषण को बढ़ावा देने वाली स्थितियों को जन्म देती है। इसी कारण ग्रामीण शोषित वर्ग का जीवन स्वतंत्रता उपरांत भी बद से बदतर बनता जाता है। तभी कथाकार मार्कण्डेय इस पूँजीवादी विकास के ढाँचे की भर्त्सना करते हैं—“ग्राम समाज की स्वतंत्रता और स्वावलंबन को वापस करने के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का परित्याग आवश्यक है। जो वर्तमान शासकों की शक्ति और सामर्थ्य से बाहर जा चुका है।”¹²⁷ कहने का तात्पर्य यह है कि स्वातंत्र्योत्तर शासन-व्यवस्था की पूँजीवादी विकास-भावना, ग्रामीण जीवन की आर्थिक

विषमता को दूर नहीं कर पाती है, जिसके प्रभावस्वरूप ग्रामीण शोषित वर्ग गरीबी और अभावग्रस्तता के भँवर में धँसता चला जाता है, जो उसके जीवन की आर्थिक विसंगतियों का एक प्रमुख कारण बनता है।

वैसे, ध्यानपूर्वक देखा जाए तो भारतीय ग्रामीण जीवन का गरीबी से अनन्य संबंध रहा है। गाँवों की आर्थिक व्यवस्था में कृषि-व्यवस्था का महत्त्व हर समय-काल में समझा जाता रहा है, जो पूर्णरूपेण प्रकृति पर अवलंबित है। इसी कारण प्रकृति का प्रभाव (अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि के रूप में) तथा उनसे उद्भूत बाढ़, सूखा, और अकाल की विपरीत स्थितियाँ ग्रामीण शोषित वर्ग को आर्थिक रूप से प्रपीड़ित करती रही हैं। उल्लेखनीय है कि इस वर्ग को खेती से जो उपज हाथ में आती है, उसका अधिकांश लगान के रूप में चला जाता है तथा उससे बची उपज को बेचने की घड़ी में व्यापारी या महाजन अपनी मर्जी से तोल-मोल कर लूट-खसोट करते हैं। जिससे इस वर्ग के जीवन में अर्थाभाव उत्पन्न होता है, जो उसे साहूकारों-महाजनों से ऋण लेने की ओर प्रवृत्त करता है। इस प्रकार ऋण से उपजा सूद इसके जीवन की गरीबी को और बढ़ा देता है। जिसके परिणाम स्वरूप ही इस वर्ग के जीवन में रोजी-रोटी जैसी बुनियादी समस्या उत्पन्न होती है। तिस पर, जमींदार महाजन तथा नवसामंत आदि की शोषण नीति अपना स्वार्थपूर्ण खेल खेलती है। ग्रामीण जीवन की उक्त दीन अवस्था को पूँजीपति वर्ग तथा भ्रष्ट शासन-व्यवस्था बढ़ावा देते हैं। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उक्त सच को मार्कण्डेय की कहानियाँ प्रमाणस्वरूप दिखलाती हैं।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम उनकी 'गुलरा के बाबा' कहानी का जिक्र करना स्वाभाविक लगता है। आलोच्य कहानी का चैतू ग्रामीण शोषित वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करता है जिसके गाँव के ठाकुर के बाग से सरपत काटने की घटना के पीछे उसकी अभावग्रस्तता तथा उसके समाज का आर्थिक वैषम्य प्रमुख कारण होता है—“चैतू का छप्पर टूटा पड़ा था। बखरी का ओसार भी छान्ह का ही बना था- वह भी सड़ गया था।”¹²⁸ चैतू अपने टूटे घर को फिर से छाजने हेतु गाँव के ठाकुर के बाग में सरपत काटने अनधिकृत ढंग से प्रवेश करता है और ठाकुर द्वारा पूछे जाने पर धृष्टता से जवाब देता है। जिसके पीछे उसकी वह पीड़ा है, जो सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न होती है—“सलाम ठाकुर!” खुश रहो चैतू ; लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो?” “सरपत काट रहे हैं ठाकुर !” अच्छा कल से मत काटना!” ऐसे ही काटूंगा” और चैतू लटक कर हँसिया चलाने लगा।¹²⁹ स्पष्ट है कि चैतू अपनी गरीबी से तंग आकर तथा सामाजिक आर्थिक विषमता से क्षुब्धा होकर ही गाँव के ठाकुर से धृष्ट आचरण करता है। इसी तरह ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन की अभावग्रस्तता का एक और दृश्य तब उभर जाता है जब गाँव में अतिवृष्टि रूपी प्राकृतिक समस्या

उत्पन्न होती है। इस संदर्भ में मार्कण्डेय की 'घूरा' कहानी का अवलोकन किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में ग्रामीण शोषित वर्ग की लाचारी स्पष्ट नज़र आती है। इस कहानी के राजराम के घर में अतिवृष्टि के दौरान वर्षा का पानी घुस जाता है, क्योंकि वह गरीब आमजन है और अभावों से परिपूर्ण भी। जबकि दूसरे लोग, जो सामर्थ्यवान हैं, उसका घर सुरक्षित रहता है—“गाँव के पटवारी हैं, इसी साल नयी बखरी बनवायी है और पानी का रास्ता बाँध दिया है।”¹³⁰ जिससे यह जाहिर होता है कि वर्षा के रूप में विपत की घड़ी गाँव की सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त आर्थिक विषमता का उभार देती है। राजराम की तरह इस कहानी की घूरा की भी यही दशा है, जो गाँव की आर्थिक विषमता को कुछ इस प्रकार उजागर करती है—“घूरा की विपत का कोई ओर नहीं। गाँव के बीच घर ठहरा। ठाकुर बाम्हन होती तो दूसरी बात थी, जिसे देखो अपने-अपने दरवाजे पर ऊँची मेड़ बाँध दिए हैं, चारों ओर से बखरी डूब रही है।”¹³¹

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'जूते' भी शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले बाल मनोहर के परिवार की अभावग्रस्तता के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आमजन की गरीबी का यथार्थ प्रस्तुत करती है। आलोच्य कहानी में यह दिखाया गया है कि गाँव के ठाकुर के घर बेगार करने वाले मनोहर की माँ, ना तो उसे अच्छा खिला पाती है और ना अच्छा पहना पाती है। बाल मनोहर की तीव्र लालसा एक जूते को लेकर होती है, क्योंकि वह पलास की पत्तियों को अपने पैरों में बाँधकर जेठ महीने की झुलसा देने वाली ताप का मुकाबला करने में अपने को असमर्थ पाता है। यही कारण है कि बाल मनोहर संकल्पित हो उठता है—“मैं बड़ा होकर जरूर एक जूता बनावाऊँगा। चाहे उसके लिए कितना ही काम क्यों न करना पड़े।”¹³² जो मनोहर के जीवन में सामान्य बुनियादी चीजों के अभाव के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण शोषित वर्ग की, ग्रामीण आमजन की गरीबी को ही प्रतिबिम्बित करता है। उसके समाज की आर्थिक-विषमता को ध्वनित करता है। मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'साबुन' में भी स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण शोषित वर्ग, बहुसंख्यक आमजन के जीवन में व्याप्त गरीबी का चित्र है। आलोच्य कहानी का पिता अपने बच्चे को पर्याप्त शिक्षा मुहैया कराने में असमर्थ-सा दिखता है, क्योंकि वह दैनंदिन जीवन की जरूरतों के साथ अपने बच्चे का शिक्षा-भार उठाने में अपने को अवश पाता है। वह कर्ज के बोझ तले दबता जाता है। जिसका दुष्परिणाम परिवार में अशांति का उत्पन्न होना होता है—“अब काम नहीं चलता मुन्नी की माँ! कर्ज बढ़ता जा रहा है भाई! राजेश से कहो, इतना खर्च न किया करे। गाँव के लड़को को नहीं देखती, नमक-तेल तक घर से ढोकर ले जाते हैं, अपने हाथ से रोटी सेकते हैं, पढ़ते हैं। तुम्हारे राजेश के मारे, भाई नहीं चलती...।”¹³³ जिससे यह समझा जा सकता है कि ग्रामीण

जीवन और परिवार में अर्थ की महती भूमिका है, जिसका अभाव जीवन में दूसरी समस्याओं को उत्पन्न करता है। 'महुए के पेड़' कहानी में भी ग्रामीण जीवन में शोषण परक समाज-व्यवस्था के बने रहने के संकेत मिलते हैं, जो दुखना जैसे ग्रामीण बहुसंख्यक लोगों के जीवन को गरीबी की ओर धकेलता है—“दुखना के पास एक लिपी-पुती, साफ-सुथरी झोपड़ी दो एक बरतन, मिट्टी की गगरी और झोपड़ी के सामने हहराता हुआ एक महुए का पेड़ है। यही उसकी कुल सम्पति है।”¹³⁴ मार्कण्डेय की 'कल्याणमन' कहानी भी ग्रामीण जीवन की मंगी जैसे बहुसंख्यक लोगों (शोषित वर्ग) के जीवन की गरीबी तथा सामान्य बुनियादी जरूरतों के लिए दिन-रात की जाने वाली हाड़-तोड़ मेहनत को उजागर करती है—“मंगी सबेरे, रहठ्ठे का खरहरा लेकर निकलती सारे बागीचे की पत्तियाँ बटोर डालती, उन्हें इक्ठ्ठा कर के बड़े-बड़े गाँज बना देती और साल भर उसी से भाड़ के ईंधन का काम चलाती। बरसात के चार महीने, वह सिंघाड़ों के पीछे लगती। उस बियावान, जंगली सिवान में जब लोग पाँव रखते थरथराते तो वह कमर भर पानी में बिना किसी रोशनी, बिना किसी डर के चली जाती...।”¹³⁵ स्पष्टतः यहाँ ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन की वास्तविक स्थिति का बोध होता है।

मार्कण्डेय की 'चाँद का टुकड़ा' कहानी भी ग्रामीण खेतिहर मजदूर सनोहर के माध्यम से ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन की गरीबी तथा उस पर होने वाले शोषण को बखूबी दर्शाती है। आलोच्य कहानी में यह देखा जाता है कि सनोहर जैसे ग्रामीण आमजन के जीवन में आर्थिक तंगी इस कदर व्याप्त रहती है कि उसे मजदूरी हेतु दूसरे गाँव जाना पड़ता है। उसके जीवन की गरीबी के सच को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि वह अपने लिए दो जून की रोटी जुटाने हेतु भूखा-प्यासा चार दिनों तक पत्थर पर फरसा चलाता रहता है। किंतु, उसकी भूख तथा उससे उत्पन्न बीमारी से गाँव के ठेकेदार को कोई सरोकार नहीं रहता है। ठेकेदार सनोहर को मजदूरी देने से इन्कार करता है, क्योंकि उसका हफ्ता पूरा नहीं होता है। वह इस बात को समझना नहीं चाहता है कि सनोहर भूखा-प्यासा रहते मजदूरी कैसे कर सकेगा। उक्त सच को गाँव के ठेकेदार तथा अन्य मजदूरों के निम्न वार्तालाप में समझा जा सकता है—“उन्होंने ठेकेदार से कहा, 'साहेब सनोहर भूखों मर रहा है, उसकी चार दिन की मजूरी...'।” “हफ्ता पूरा भी नहीं हुआ।” ठेकेदार बिगड़ कर बोला। “साहेब हम कमकर हैं, बिना खाये दिन भर फरसा चलाएँगे तो कैसे जान बचेगी।” “बेकार की बात है। वह बीमार होगा। भूख से कोई कैसे मर सकता है?”¹³⁶

मार्कण्डेय की 'दाना-भूसा' कहानी में भी ग्रामीण जीवन की गरीबी का करुण चित्र उज्जीवित है। आलोच्य कहानी में सूखा पड़ने की स्थिति तथा उससे उत्पन्न ग्रामीण आमजन की

विसंगतियों का भली-भाँति चित्रण है। सूखे की वजह से बंसन का पूरा परिवार बेहाल होता है, चाहे बंसन की पत्नी राजी हो, उसके बच्चे या उसके बकरी-बैल। सब इंतजार करते हैं बंसन के बाहर से घर आने का, इस अपेक्षा के साथ कि वह जरूर उनके लिए कुछ-न-कुछ खाने को लाएगा। किंतु, जब बंसन घर लौटता है तो उनके लिए थोड़ा-सा गुड़ ही ला पाता है, जिसमें तमाम मरे हुए चींटे चिपके रहते हैं। बंसन उसी गुड़ का रस बनाकर अपनी पत्नी और बच्चों को देता है, और स्वयं भूखा रह जाता है, क्योंकि उसके लिए रस नहीं बचता है। इस पर भी बंसन अपने बकरी-बैल के खाने का कुछ प्रबंध न कर पाने पर दुःखी होता है, जो ग्रामीण आमजन की पशु-प्रेम-संवेदना को दर्शाती है। बंसन ही नहीं, उस गाँव के तमाम लोग जो बंसन के वर्ग में आते हैं, उनकी दशा कुछ इस प्रकार होती है—“...गाँव में किसके घर पर भोजन हो रहा है इस ठाले में। भगवान का कोप ही तो है कि साल-साल भर मरने-जरने पर भी एक महीने का दाना-भूसा घर में नहीं आता।”¹³⁷ जिससे ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन में गरीबी के व्याप्त होने को समझा जा सकता है।

यही नहीं, मार्कण्डेय अपनी कहानी ‘बादलों का टुकड़ा’ के माध्यम से उस सच को भी उजागर करते हैं, जो यह दर्शाता है कि स्वतंत्रता बाद भी साहूकारों-महाजनों के ऋण तले दबा किसान, भूमिहीन-मजदूर के रूप में अपनी गरीबी और भूख से जद्दोजहद करता है। गाँव के महाजन के कर्ज के बोझ तले दबा वह अपने जीवन को झोंक रहा होता है। महाजन का कारिंदा ऋण अदाएगी की एवज़ में उसके घर बँधी बकरी को जबरन खोलकर ले जाता है, और वह जड़वत ताकता रहता है। लपसी का घोल पीकर अपनी क्षुधा का शमन कर लेना उसकी नियति बन जाती है। उसके समक्ष उसका बीमार बच्चा कराहता है पर वह उसका इलाज करा पाने में अपने को असमर्थ पाता है—“कुनाई एक खाट पर नंग-धिड़ंग, चित्त लेटा था। उसका फूला हुआ पेट और उसकी उभरी हुई नीली नसें ही सबसे पहले उसे दिखायी पड़ीं क्योंकि उसका सिर पेट के अनुपात में बहुत छोटा था। उसे देखकर कुनाई अपनी निरंतर रोने वाली एक पतली और रेंघती हुयी आवाज़ में रोने लगा।”¹³⁸ स्पष्ट है कि कुनाई का कुपोषित शरीर उसके परिवार की गरीबी और अवशता को ही प्रतिबिम्बित करता है।

इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन की शोषणपरक समाज-व्यवस्था में व्याप्त आर्थिक विषमता और गरीबी के चित्र को सक्षम तरीके प्रस्तुत करती हैं। ग्रामीण जीवन के बहुसंख्यक आमजन या शोषित वर्ग का जीवन स्वतंत्रता-पूर्व ही नहीं, उसके बाद भी भूख और गरीबी से संत्रस्त रहता है, जो ग्रामीण जीवन की आर्थिक विसंगति को ही जाहिर करता है।

अतः इस प्रकार ग्रामीण जीवन की आर्थिक विसंगतियों को मार्कण्डेय की कहानियों के बरक्स कहा जाए तो कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, ग्रामीण जीवन में स्वातंत्र्योत्तर जमींदारी उन्मूलन की घोषणा के बावजूद जमींदारों की सामंती प्रवृत्ति (अहंकार, अत्याचार, शोषण और तिरस्कार करना आदि) यथावत् रहती है। ग्रामीण शोषित वर्ग का आर्थिक शोषण करने में गाँव का सेठ-साहूकार भी जुटे रहते हैं, जो समवेत रूप में ग्रामीण शोषित वर्ग को आर्थिक विसंगतियों के दलदल में धकेलता है। दूसरी, स्वतंत्रता बाद भी ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन में बुनियादी जरूरतों के अभावस्वरूप गरीबी यथावत् कायम रहती है, जो ग्रामीण आर्थिक वैषम्य की खाई को क्रमशः चौड़ा ही करती है तथा जिससे ग्रामीण शोषणमूलक समाज-व्यवस्था को बढ़ावा मिलता है। तीसरी, ग्रामीण शोषित वर्ग का गाँव से पलायन उनके जीवन के समग्र शोषण, तिरस्कार, अभाव आदि को समवेत रूप में प्रतीकित करता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण शोषित वर्ग के आर्थिक जीवन की विसंगतियों को सक्षम ढंग से प्रस्तुत करती हैं।

3.3.3.2 विकास योजनाएँ और ग्रामीण जीवन

जैसा कि विदित है कि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण भारत के सर्वांगीण विकास हेतु राष्ट्रीय स्तर पर कई विकास योजनाएँ बनायीं और अपनायी गईं, जिसका सर्वप्रथम कार्य ग्रामीण आर्थिक जीवन में बदलाव और विकास को घटित करना था। किंतु, इन विकास योजनाओं का ग्रामीण आर्थिक जीवन में जो प्रभाव पड़ा, उससे वास्तविक रूप में अवगत होकर ही ग्रामीण आर्थिक जीवन को सम्पूर्णता में जानने की पहल हो सकती है। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि भी ग्रामीण आर्थिक जीवन से जुड़े उक्त पहलू को बड़ी बारीकी से देखती है तथा उसकी वस्तुस्थिति को अपनी कहानियों के जरिए उकेरने का प्रयास करती है। उनकी कहानियों में विकास योजनाओं-कार्यक्रमों का सच ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन के बुनियादी प्रश्नों के साथ सम्पृक्त होकर उज्जीवित होता है। जिसे यहाँ पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत होने वाले विश्लेषण के जरिए समझा जा सकता है।

3.3.3.2.1 पंचवर्षीय योजनाएँ

ग्रामीण आर्थिक जीवन में परिवर्तन घटित कर ग्रामीण जीवन का सर्वांगीण विकास हेतु स्वतंत्रता उपरांत शासन और सत्ता द्वारा पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारंभ गईं हैं। इस पंचवर्षीय योजना को ग्रहण करने के समक्ष सोवियत रूस और चीन जैसे देशों द्वारा इसके जरिए प्राप्त की गई आर्थिक सहित सामग्रिक सफलता थी। भारत में इसकी शुरुआत सन् 1951 में हुई। जिसके

नियोजन का ढाँचा कुछ इस प्रकार था—“भारत में सन् 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत की गयी। भारतीय नियोजन में जिस सिद्धांत को आधार बनया गया उसे अंग्रेजी में ‘ट्रिकल-डाउन थ्योरी’ या “आय का वृत्तीय बहाव” के रूप में जाना जाता है। इसमें यह मानकर चला जाता है कि एक क्षेत्र में किसी उत्पादक गतिविधि के प्रारंभ करने से विविध क्षेत्रों में उसकी प्रतिक्रिया होती है और उसका प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पड़ता है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष उत्पादक गतिविधियों से उत्पन्न आय से लाभान्वित लोग उन बहुत सी वस्तुओं के लिए माँग का निर्णय करते हैं जो उपभोक्ताओं की पसंद की प्रथम पंक्ति में हैं और इससे अंततः अतिरिक्त आय एवं रोजगार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं।”¹³⁹ जिससे यह समझा जा सकता है कि इसका प्रयोजन ग्रामीण भूमि-सुधार, कृषि-उन्नयन तथा रोजगार उत्पन्न करने आदि पहलुओं के द्वारा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में समग्र रूप से बदलाव घटित करना था। मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण जीवन के उक्त बदलाव को बड़ी बारीकी से देखता है तथा उसकी वास्तविकता को अपनी कहानियों में उजागर करता है। जिसे निम्न विंदुओं के अंतर्गत देखा-समझा जा सकता है।

3.3.3.2.1.1 कुटीर उद्योग या लघु व्यवसायिक संस्थान

उल्लेखनीय है कि पंचवर्षीय योजना में गाँव का समग्र विकास करने की सदिच्छा में, गाँवों में कुटीर उद्योग या लघु पैमाने पर व्यवसायिक संस्थानों के विकास की सद्भावना अंतर्निहित रहती है, क्योंकि स्वतंत्रता उपरांत की शासन-नीति इसे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ और आत्मनिर्भर बनाने के साथ इसे राष्ट्र नव-निर्माण की एक प्रक्रिया समझती है। कुटीर उद्योग पर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में अत्यधिक मात्रा में धन का व्यय होता है लेकिन गाँव की आर्थिक तस्वीर में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं हो पाता है। ग्रामीण जीवन में अर्द्धबेकारी-बेकारी, अकर्मण्यता, गरीबी आदि के पहलू यथावत् ही रहते हैं। हाँ, इसका फायदा जरूरतमंदों की जगह उन लोगों को मिलता है जो पहले से सम्पन्न होते हैं।

वैसे, यह सच है कि पंचवर्षीय योजनाओं की सदिच्छा में कुटीर-उद्योग या लघु सांस्थानिक विकास की भावना रहती है, पर इसके क्रियान्वयन का स्वरूप इसके लक्ष्य या प्रयोजन को बेमानी सिद्ध कर देता है। यह आर्थिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण नवसामंत तथा सरकारी तंत्र तथा उसके कर्मचारीगण की सम्मिलित भ्रष्टता की भेंट चढ़ जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि इससे संबंधित सरकारी आँकड़े तो प्राप्त हो जाते हैं, पर उसका जमीनी सच ग्रामीण जीवन का आर्थिक बदलाव नहीं कर पाता है। फलतः ग्रामीण बहुसंख्यक जन का जीवन नई विसंगतियों से पूर्ण हो जाता है। डॉ. राजेन्द्र कुमार का निम्न मंतव्य उक्त तथ्य पर व्यापक प्रकाश डालता है—“कुटीर

उद्योगों में जन-शक्ति का समुचित उपयोग किया जा सकता है। कुटीर उद्योग भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लिए वरदान सिद्ध हो सकते हैं लेकिन इन उद्योगों के लिए सरकार से प्रोत्साहन नहीं हो पाता।... सरकार की पंचवर्षीय योजनाओं के लिए अधिक संख्या में आँकड़े मिलते हैं, लेकिन ये आँकड़े कागजी ही हैं, नहीं तो गाँवों का स्वरूप ही बदल जाता।”¹⁴⁰ उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की कहानी ग्रामीण उद्योग या लघु संस्थानों के विकास के वास्तविक सच को उजागर करने का प्रयास करती है।

इस संदर्भ में उनकी कहानी ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’ की चर्चा स्वाभाविक है। आलोच्य कहानी में इस तथ्य का जिक्र है कि गाँवों में स्वातंत्र्योत्तर सरकार के विकास-कार्यक्रमों से जुड़ी सूचनाएँ पहुँच रही होती हैं। इस कहानी के बसावन के निम्न कथन से यही प्रतीत होता है— “हमको भी ऐसा लगता है कि रमजान; सरकार एक-से एक अच्छी योजनाएँ हमारी भलाई के लिए बनाती जा रही है— नहर, नलकूप, रेल, तार लेकिन यह राष्ट्रीय विकास-खंड तो भाई खूब है। एक मेम्बर बन जाओ फिर चाहे रुपये उधार लो चाहे बिजनेस करो, सबकी सुविधा है।”¹⁴¹ बसावन जैसों को यह लगने लगता है कि ग्रामीण उन्नयन की प्रक्रिया में घरेलू उद्योग या छोटे पैमाने पर व्यवसायिक संस्थानों के प्रोत्साहन से गाँव के जीवन में अकर्मण्यता स्वरूप अर्द्धबेकारी-बेकारी का निदान संभव हो सकता है।

वह मुर्गी पालन के रूप में आदर्श-कुक्कुट गृह योजना के अंतर्गत अपने जीवन की भावी राह देखता है। ऐसे में, सरकारी अधिकारियों द्वारा आदर्श कुक्कुट-गृह के रूप में आर्थिक विकास-कार्यक्रम के अंतर्गत ग्रामीण शोषित वर्ग के रूप में बहुसंख्यक जन को एक उम्मीद दिखाई देती है। रमजान भी इस उम्मीद के आकाश में विचरण करते हुए देखा जाता है— “रमजान जैसे इस नई दुनिया के चमत्कार में अंधा हुआ जा रहा था। चारों ओर मुर्गियाँ, चारों ओर अंडे, चारों ओर रुपया, जैसे कोई बाढ़ आ गयी हो और वह आकंठ उसमें डूब गया।”¹⁴² सरकारी अधिकारी भी उनकी चाहत को यह कह कर और बढ़ाते हैं— “कलक्टर साहब ने लौट कर माला पहनी, स्वागत स्वीकार किया और बच्चों के अभ्यर्थना गीत के बाद विकास खंडों द्वारा गाँव की आर्थिक दशा में क्रांतिकारी परिवर्तन की बात समझायी। फिर आदर्श-कुक्कुट गृह की स्थापना पर खुशी प्रकट करते हुए उन्होंने बताया कि अकेले इस योजना से यह गाँव शहरों से भी ज्यादा समृद्ध बन सकता है। किस तरह कुछ दिनों में गृह के पास बिजली-पानी की कलें और अपनी मोटर हो जाएँगी। जो शहरों में अंडे पहुँचाएँगी... इस सबका उन्होंने व्यौरेवार विवरण कह सुनाया।”¹⁴³ जिससे रमजान जैसे लोग सत्ता के द्वारा किए जाने वाले विकास रूपी वायदें के आकर्षण में बँध कर अपनी मुर्गे-मुर्गियाँ आदर्श

कुक्कुट-गृह को दे देते हैं। गाँव में आनन-फानन में कुक्कुट-गृह का उद्घाटन भी हो जाता है। बी.डी. ओ., तहसीलदार, कलक्टर, विकास अधिकारी आदि सभी तथाकथित गणमान्य लोग उद्घाटन समारोह में उपस्थित होते हैं। वहाँ, फिर गाँव के आर्थिक विकास के लिए लंबे-चौड़े भाषण होते हैं। पर अंत में, सारे मुर्गी-मुर्गे और अंडे साहबों के चपरासी मेम के नाम—“मेम साहब को बड़ा शौक है, मुर्गे के गोस्त का”¹⁴⁴ पर ले जाते हैं। और देखते-देखते आदर्श-कुक्कुट गृह खाली हो जाता है। रमजान जैसे लोग, जो थोड़ी बहुत मुर्गे-मुर्गियाँ उनके पास उनकी जीविका का आधार होती हैं, उसे वे खो देते हैं। रमजान जैसे लोग छोटे पैमाने पर व्यवसायिक संस्थानों के रूप में आर्थिक विकास कार्यक्रम के नाम पर बुरी तरह ठगे जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके लिए आर्थिक विकास-कार्यक्रम आर्थिक विनाश-कार्यक्रम बन जाता है। जबकि इन सारी चीजों का अर्थात् आर्थिक विकास कार्यक्रम का गाँव का सम्पन्न तथा अधिकारी वर्ग भरपूर लाभ उठाता है और ग्रामीण शोषित वर्ग अंततः संतुष्ट होता हुआ आर्थिक विसंगतियों का शिकार होता है।

अतः यह कहना समीचीन लगता है कि मार्कण्डेय की कहानी ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’ स्वातंत्र्योत्तर पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत छोटे पैमाने पर व्यवसायिक संस्थानों की स्थापना तथा उसके द्वारा ग्रामीण आर्थिक जीवन में गुणात्मक बदलाव के लिए जो पहल की जाती है उसकी जमीनी हकीकत को दिखाती है।

3.3.3.2.1.2 उन्नत कृषि-व्यवस्था का प्रबंधन और ग्रामीण आर्थिक जीवन

जैसा कि पूर्वोक्त है कि भारत की जनता का एक विराट हिस्सा कृषि व्यवस्था से जुड़ा है तथा उसकी अर्थव्यवस्था का मूल आधार कृषि-कर्म है। इस सच को समझते हुए ही पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत यह महसूस किया जाता है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ और विकसित करने के लिए कृषि-व्यवस्था के उन्नत प्रबंधन की आवश्यकता है। इस कारण ही स्वतंत्रता बाद गाँवों में कृषि-कर्म को उन्नत वैज्ञानिक संसाधनों से सुसम्पन्न करने की पहल होती है। ट्रैक्टर, थ्रेसर, ट्यूबवेल, रासायनिक खाद, उत्तम किस्म के बीज आदि द्वारा कृषि-कर्म को उन्नत करने की प्रचेष्टा की जाती है। कृषि से जुड़े यंत्रों तथा मशीनों का कृषि कर्म में व्यवहार की शुरुआत होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जमीन को जोतने, उसमें बीज बोने, उसकी सिंचाई करने, उगी हुयी फसल को काटने, उसमें से अनाज अलग करने आदि कार्यों को पारंपरिक तरीके से करने के बजाय मशीनों-यंत्रों द्वारा किया जाने लगता है। यही नहीं, बड़ी-बड़ी सिंचाई परियोजनाओं का विकास-नहर-निर्माण, ट्यूबवेल, पम्पिंग-सेट, एवं पाताल कुँओं के माध्यम से सिंचाई का कार्य ग्रामीण जीवन की कृषि-व्यवस्था को नया आयाम देने को तत्पर हो जाता है। किंतु, इन तमाम चीजों

के बावजूद जो जमीनी सच्चाई होती है वो पूरी उजली और चमकदार नहीं होती है, क्योंकि प्रथम तो भूमि का असमान वितरण गाँवों को समृद्ध किसानों और विपन्न किसानों-भूमिहीनों में बाँट देता है। दूसरी, गाँवों में कृषि योग्य जमीन केवल बड़े किसानों के पास ही होती है।

इस संदर्भ में यहाँ स्वातंत्र्योत्तर (1961-62) परिदृश्य में कृषियोग्य भूमि की सीमाओं के संबंध में भारत सरकार (वित्त मंत्रालय) की एक रिपोर्ट को देखा जा सकता है—“1 हेक्टेयर से कम भूमि वाले किसान 39.1 प्रतिशत; 1 से तीन हेक्टेयर वाले 3.5 प्रतिशत और 20 हेक्टेयर तथा उससे अधिक भूमि वाले केवल 1 प्रतिशत।”¹⁴⁵ यानि, सबसे अधिक जनसंख्या उन किसानों की है (39.1 प्रतिशत) जिनके पास 1 हेक्टेयर से भी कम जमीन और सबसे अधिक संख्या उनकी (जमींदारों की केवल 1 प्रतिशत) जिनके पास 20 हेक्टेयर या इससे भी अधिक जमीन है। लेकिन असली तथ्य तब उभर कर आता है जब इस रिपोर्ट को संज्ञान में लिया जाता है कि सबसे कम भूमि वाले 39.1 प्रतिशत लोगों के पास कुल मिलाकर कितनी भूमि होती है—“सबसे कम भूमि वाले सबसे अधिक लोगों के पास 6.9 प्रतिशत और सबसे अधिक भूमि वाले सबसे कम लोगों के पास 11.6 प्रतिशत।”¹⁴⁶ जो स्पष्टतः कृषि योग्य भूमि के असमान वितरण के सच को जाहिर कर देता है। जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण जीवन में एक तरफ वे लोग होते हैं, जिनके यहाँ बिजली से चलने वाले नलकूप, ट्रैक्टर, खेती-उर्वरक खाद तथा सस्ती खेतिहर मजदूरी की विपुल श्रम-शक्ति होती है और इनसे बड़े-बड़े फार्मों पर पूँजीवादी ढंग से खेती होती है। जिसका अधिकांश उत्पादन बाजार के लिए होता है तथा जिसके बल पर भारत का पुराना भू-स्वामी वर्ग (सामंत वर्ग) पूँजीपति वर्ग के तौर-तरीके को अपना कर पूँजीवादी शोषण करने में प्रवृत्त होता है। जबकि ग्रामीण जीवन में दूसरी तरफ वे लोग होते हैं जिनमें अधिकांश छोटे किसान होते हैं, न तो उनके पास पर्याप्त भूमि होती है और न कृषि-प्रबंधन को दुरुस्त करने हेतु समुचित पूँजी। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि ये लोग स्वातंत्र्योत्तर काल से ही अपने कृषि-प्रबंधन को उन्नत करने से पिछड़ते जाते हैं। बाढ़ और सूखे की स्थितियाँ इनके कृषि-कर्म और जीवन में प्रकोप स्वरूप आती हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि इनकी दशा सोचनीय बनी रहती है। यही नहीं, खेतिहर आबादी की दशा भी दयनीय बनी रहती हैं। नेशनल सैंपल सर्वे 1961-62 रिपोर्ट के अनुसार—“खेतिहर आबादी में अखिल भारतीय स्तर पर 30 से 35 प्रतिशत तक ऐसे लोग हैं, जो भूमिहीन हैं, और जिन्हें आकस्मिक तथा आंशिक रूप से ही रोज़गार मिल पाता है। आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, मैसूर, उड़ीसा और बिहार में तो ऐसे लोग 50 से 55 प्रतिशत तक हैं।”¹⁴⁷ जिससे यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि छोटे विपन्न किसानों एवं खेतिहरों की वह अवस्था नहीं होती

है जिससे वे उक्त कृषि-प्रबंधन में अपने को पूरी तरह शामिल कर पाते हैं। दरअसल, स्वातंत्र्योत्तर शासन-व्यवस्था की विकास नीतियों में अंतर्निहित पूँजीवादी सोच कृषि विकास के क्षेत्र में भी देखने को मिलती है। एस. जी. सरदेसाई के निम्न लेख—‘ग्रामीण इलाकों में वर्ग संघर्ष और जातिगत टकराव’ में ग्रामीण जीवन के उक्त सच को देखा जा सकता है—“कृषि के क्षेत्र में पूँजीवादी विकास ने मध्यवर्गीय तथा गरीब किसानों की भूमि से बेदखली की प्रक्रिया को तेज बना दिया है। भूमिहीनों की संख्या भारी तादाद में बढ़ गयी है... कुल मिलाकर इस प्रक्रिया ने एक ओर पूँजीवादी जमींदारों और धनी किसानों और दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्रों के गरीब लोगों के बीच वर्गीय खाई को तीव्र कर दिया है।”¹⁴⁸

कहने का अभिप्राय यह है कि स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों में भी शासन की गलत नीतियों के कारण छोटे किसान, खेतिहर, भूमिहीन सहित ग्रामीण आमजन ही त्रस्त होते हैं। तिस पर सरकार द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं में भेद-भाव पूर्ण रवैया उक्त अवस्था को और भी सोचनीय बनता है। ए.आर. देसाई इस संबंध में कुछ इस तरह प्रकाश डालते हैं—“ग्रामीण क्षेत्र में नए पूँजीवादी और समृद्ध सम्पन्न किसानों के साथ असमान प्रतिद्वंद्विता के परिणाम स्वरूप मध्य और गरीब खेतिहरों की आर्थिक दशा बिगड़ गयी है। सरकार बीज, उर्वरक, सिंचाई, उधार, बिक्री की सुविधाएँ केवल उनको ही प्रदान करती हैं जो उनके लिए भुगतान कर सकते हैं अथवा जिनकी साख हैं।”¹⁴⁹ जिससे यह समझा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन में कृषि-व्यवस्था और प्रबंधन को उन्नत करने हेतु जो पहल होती है, वह ऊपरी तौर पर उजली जरूर प्रतीत होती है, पर उसकी वास्तविक छवि खुरदरी होती है। अर्थात् विकास-कार्यों की जिन्हें ज्यादा जरूरत होती है वह वंचित ही रहता है या उनके जीवन में इनसे नई विसंगतियाँ जन्म लेती हैं। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि स्वातंत्र्योत्तर उक्त घटनाओं ओर परिस्थितियों को बड़ी सूक्ष्मता से निहारती है तथा ग्रामीण जीवन की वास्तविकता को अपनी कहानियों में उकेरने का प्रयास करती है। यहाँ उक्त सच को मार्कण्डेय की कहानियों के बरक्स प्रमाणपुष्ट किया जा सकता है।

सबसे पहले उनकी ‘दौने की पत्तियाँ’ कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी स्वातंत्र्योत्तर पंचवर्षीय योजना के अनुरूप गाँव में नहर-निर्माण के विकास कार्य की पृष्ठभूमि में रचित है। इस कहानी का भोला कोयरी एक छोटे किसान के रूप में ग्रामीण आमजन का प्रतिनिधित्व करता है। जिसके पास अपनी छोटी सी जमीन (जमीन का एक टुकड़ा कहना ज्यादा संगत लगता है) होती है, जिस पर वह सब्जियाँ उगाता है जो उसकी जीविका का आधार भी है। उसकी यह जमीन चतुर्दिक पेड़-पौधों से घिरी होती है, सजी-सँवरी होती है। जिस कारण ही गाँव

वाले उसकी इस जमीन की खूबसूरती को ध्यान में रखते हुए उसे दुलहिन कहकर पुकारते हैं। भोला को अपनी जमीन पर लहलहाता दौने का गाछ बहुत प्रिय है। एक तरह से यह सब-कुछ उसके लिए वैभव सदृश्य होता है। वह गाँव में आने-जाने वालों के बीच अपने वैभव (दौने की पत्तियाँ) को बाँटता रहता है। एक दिन अचानक, उसकी हँसी-खुशी एक उदासी में तब्दील हो जाती है, क्योंकि गाँव में पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत कृषि-व्यवस्था को उन्नत करने हेतु नहर-निर्माण का कार्य शुरू होता है और वह कार्य गाँव के सामंत तिवारी जी के खेत तक आकर रुक जाता है। तिवारी जी यह कतई नहीं चाहते हैं कि गाँव के नहर-निर्माण का कार्य उसकी जमीन को ग्रास करता हुआ आगे बढ़े। वे बदली हुयी राजनीतिक परिस्थिति में भी अपनी जमीन को बचा लेने का हुनर जानते हैं। वे अपनी सामर्थ्य और पहुँच को भुनाते हुए नहर का रास्ता अपनी जमीन से घुमा कर भोला कोयरी की जमीन की ओर कर देते हैं, जो भोला कोयरी की वैभव-खुशी को अचानक चिंता में बदल देता है।

तिवारी जी का यह हुनर कुछ इस प्रकार होता है—“इंजीनियर बड़ा हँसता था, क्योंकि इस नन्हे-से काम के लिए इतना बड़ा पँवारा खड़ा करने की क्या जरूरत थी? यही हजार रुपये और एक मुर्दा भैंस, जो अब दी ही, तभी दे देते तो बिना लखनऊ गये ही काम हो जाता। उनका तो यही काम हैं।”¹⁵⁰ जिससे यह समझा जा सकता है कि विकास योजनाओं को लागू करने वाला सरकारी तंत्र अपनी अंध-भ्रष्टता में कुछ भी नहीं देखता है, क्योंकि उसे सिर्फ अपनी जेबों को भरने की फिक्र है। सत्ता पर काबिज नेता भी तिवारी जैसों के हितों की रक्षा करते हैं, क्योंकि चुनाव की घड़ी तिवारी जी जैसे लोग उनके हित को साधते हैं—“...सिंचाई मिनिस्टर इसी खित्ते के रहने वाले हैं। पिछली बार चुनाव में तिवारी जी ने धन-जन से बड़ी मदद की थी उनकी। ...लोग कहते हैं तिवारी जी ने कमाल कर दिया था। सिंचाई मिनिस्टर तो इतने फिदा कि तिवारी जी की अकल के गुलाम हो गये।”¹⁵¹ जो यह दर्शाता है कि सत्ता पर काबिज नेताओं (?) को सिर्फ अपनी कुर्सी से मोह है। इस कारण ही वह न तो शासन तंत्र की भ्रष्टता देखता है और ना उस लापरवाही को, जो भोला जैसे लोगों की सिर्फ जमीन को नहीं रौंदती है, बल्कि उसके वर्तमान और भविष्य के अरमानों को भी कुचल देती है। जिसका परिणाम यह होता है कि भोला-कोयरी जैसों के लिए कृषि-कर्म को विकसित करने वाले विकास कर्म उनके जीवन में खुशी की जगह मायूसी लेकर आते हैं।

इसी तरह मार्कण्डेय कृषि-कर्म को उन्नत करने वाले विकास-प्रबंधन में उनसे उपजी नई समस्याओं के निराकरण करने हेतु वैकलिक नीतियों के अभाव के सच को भी अपनी कहानियों में दिखाते हैं। यहाँ इस चीज को समझने से पहले इस सच को समझने की आवश्यकता है कि

स्वातंत्र्योत्तर आद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में जो विकास का पूँजीवादी मॉडल तैयार होता है, उसमें बड़े उद्योगों को विकसित करने की प्राथमिकता रहती है। जिससे ग्रामीण जीवन में रोजगार का अवसर उत्पन्न नहीं होता है और कृषि पर अतिरिक्त बोझ बढ़ता है। 'धर्मयुग' में प्रकाशित कुमार प्रशांत के लेख के निम्न अंश को इस संदर्भ में पढ़ा जा सकता है—“बड़े उद्योगों को विकसित कर, रोजगार के अवसर पैदा करने वाली उद्योग-नीति एक मरीचिका साबित हुयी है।... केन्द्रीय बृहत् उद्योगों के इन परवीकारों के कारण गाँवों में न रोजगार के अवसर पैदा हुए और न दूसरी जरूरतों के संसाधन जुटाए गए। परिणाम यह हुआ कि खेती पर बोझ बढ़ता गया।”¹⁵² जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि जहाँ एक ओर खेती पर बड़े बोझ से भूमिहीन श्रमजीवियों का जीवन प्रभावित होता है, वहीं दूसरी ओर खेती-कर्म का मशीनीकरण इनके जीवन में बचे-खुचे काम के अभाव रूपी संकट को तीव्र कर देता है, क्योंकि जो काम इनको सम्पन्न किसानों (अधिक भूमि वाले बड़े किसानों) के खेतों में श्रम करने के रूप में मिल रहा होता है, वहाँ आधुनिक मशीनों के व्यवहार स्वरूप उसका अभाव उत्पन्न होने लगता है। 'धर्मयुग' में प्रकाशित कुमार प्रशांत के लेख के अनुसार—“आधुनिक मशीनों और यंत्रों के प्रचलन ने भी बेरोजगारी को प्रभावित किया है। आजकल ट्रैक्टर द्वारा खेतों की जुताई, बुआई और थ्रैसर द्वारा अनाज की सफाई हो रही है। इससे मजदूरों की आवश्यकता न के बराबर होती है। गाँवों में फसल की कटाई के समय ही मजदूरों की पुकार होती है, शेष समय वे बेकार रहते हैं।”¹⁵³ स्पष्ट है कि यह स्वातंत्र्योत्तर शासन-व्यवस्था द्वारा अपनायी गयी आर्थिक-नीतियों (विकास परक) के अधूरेपन को दर्शाता है, जहाँ कृषि-कर्म और कृषि-व्यवस्था में व्यवहृत वैज्ञानिक संसाधनों तथा आधुनिक मशीनों के कारण खेतिहर भूमिहीन मजदूरों के जीवन के समक्ष उत्पन्न नई स्थितियों के लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था निर्मित नहीं की जाती है।

इसे प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की कहानियों में भी लक्ष्य किया जा सकता है। उनकी कहानी 'मधुपुर के सिवान का एक कोना' के एक पात्र वचन के माध्यम से उक्त सच का संज्ञान कुछ इस प्रकार लिया जा सकता है—“अब तो टूवबेल नहर, जाने क्या-क्या बन रहे हैं। मुदा बरक्कत नहीं किसान के घर। उत्तर के सिवान में नहर आ गयी, उधर दौरी-दवन की मजूरी-धतूरी थी, वह भी गयी।”¹⁵⁴ इसी तरह ट्रैक्टर के आने और उससे खेतों की जुताई आसान हो जाने के कारण भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की पूँछ-पछोर कम हो जाने की आशंका उनके आर्थिक जीवन को नए संकट के रूप में घेर लेती है। जिसे आलोच्य कहानी में भी लक्ष्य किया जाता है—“ठाकुर-बाह्यन, सब जोतने लगे। अब तो टक्कर आ रहा है, टक्कर तो चाहे तो एक दिन में सारे गाँव का खेत जोत-

बो दे।”¹⁵⁵ यहाँ ऊपरी तौर पर यह प्रतीत हो सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन में कृषि-कर्म के उन्नत प्रबंधन और विकास हेतु जो यंत्रीकरण की प्रक्रिया होती है, उसके प्रति एक नकारात्मक रवैया है। जबकि वस्तुस्थिति कुछ और है। मार्कण्डेय की कहानियाँ विकास की आलोचना करने के बजाय विकास-नीतियों के अधूरेपन को दर्शाने का महत् कार्य करती हैं। जहाँ, गाँव के जीवन में प्रत्यक्ष उतरकर विकास संबंधी नीतियों बनाने की माँग दिखायी देती है।

इस प्रकार कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण आर्थिक विकास कार्यक्रम के रूप में पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत कृषि-कर्म और कृषि-व्यवस्था को उन्नत करने वाले प्रबंधन की जमीनी हकीकत को उजागर करने का महत् कार्य करती हैं। उनकी कहानियाँ, इन विकास कार्यक्रमों को लागू करने वाले शासन तंत्र की अंध भ्रष्टता के साथ सत्ता के मद में चूर नेताओं की गाँव के सामंती ताकतों से उस मिलीभगत को भी बेपर्दा करती हैं जिसके कारण गाँव के जरूरतमंद लोग (छोटे किसान आदि) विकास-कार्यक्रम के लाभ से न सिर्फ वंचित होते हैं, उल्टे क्षतिग्रस्त होते हैं। उनकी कहानियाँ कृषि-कर्म के उन्नत प्रबंधन के लिए आवश्यक यंत्रीकरण की प्रक्रिया से जुड़ी नीतियों के अधूरेपन को भी दर्शाती हैं। जिससे ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन (खेतिहर, भूमिहीन मजदूर आदि) का आर्थिक जीवन और भी विसंगतिपूर्ण बनता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की यथार्थ दृष्टि अपनी कहानियों के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक विकास की जमीनी हकीकत को दर्शाती है।

3.3.3.2.1.3 'भूदान' का सच और ग्रामीण आर्थिक जीवन का विकास

मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि ग्रामीण जीवन के भूमि संबंधों पर अधिक ठहरती है, क्योंकि उनकी नज़र में स्वतंत्रता पूर्व तथा स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की मुख्य समस्या, भूमि से ही संबंधित है। इसी कारण वे कहते भी हैं कि—“मेरी कहानियों में शुरु से ही सामंती परिवेश की इस दुरवस्था और भूमि संबंधों के कारण उत्पन्न गरीब किसानों का अंतर्द्वन्द्व चित्रित हुआ है।”¹⁵⁶ उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक विकास कार्यक्रम के अंतर्गत ग्रामीण जीवन में भूमि के समान वितरण तथा आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए जमींदारी उन्मूलन, चकबंदी आदि के साथ भूदान आंदोलन भी होता है। भूदान आंदोलन अपनी सदिच्छा में एकांगी न होकर बहुद्देशीय परिवर्तनकामी चेतना को समाहित किए हुए रहता है। सत्ता का प्रत्येक गाँव में विकेंद्रीकरण, भूमि एवं सम्पत्ति पर प्रत्येक का अधिकार एवं प्रत्येक कार्य का समान फल इस आंदोलन के उद्देश्य में निहित होता है। किंतु, इस भूदान आंदोलन का ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन के जीवन में कोई गुणात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है। शुरुआती दिनों में एक उत्साह का माहौल जरूर बनता है पर

इसका बेहतर ढंग से क्रियान्वयन करने में होने वाली चूक तथा भ्रष्टता इसकी सदिच्छाओं को लील लेती है। डॉ. राजेन्द्र कुमार के अनुसार—“भूदान आंदोलन से प्रारंभ में निश्चित ही भूमिहीन श्रमिकों और वर्ग में एक नवीन चेतना का संचार हुआ, लेकिन यह नई दिशा यौवन से पहले ही मुरझा गयी। भूदान आंदोलन में जो सपने देखे गये, वे सफल नहीं हो पाये। सर्वोदयी नेताओं के भ्रष्टाचार के कारण संकल्पित लक्ष्य नष्ट हो गया।”¹⁵⁷

यद्यपि स्वातंत्र्योत्तर भारत में भूमिहीनों को भूमि देने के लिए बड़े भू-स्वामियों पर हदबंदी लागू करने हेतु कानून बनाये जाते हैं। तथापि उन कानूनों से विशेष परिवर्तन नहीं होता है। एक ओर जहाँ स्वयं कानून में हदबंदी संबंधी बहुत सी छूट दी गयी होती हैं वहीं दूसरी ओर भू-स्वामियों द्वारा इस कानून से एक कुशल नट की तरह बच निकलने हेतु नित नए पैंतरे इजाद कर लिए जाते हैं। यहाँ, कानून में अंतर्व्याप्त छूट रूपी सहूलियत का उदाहरण दिया जा सकता है। सी. राजेश्वर राव की पुस्तक भारतीय कृषि की समस्या के अनुसार—“चीनी की मिलों द्वारा संचालित ईख के फार्मों को छूट; बड़ी पूँजी के विनियोग द्वारा सुधरे हुए और दक्षता से प्रबंधित बड़े फार्मों को छूट; धार्मिक, दातव्य और शैक्षणिक संस्थानों द्वारा अधिकृत जमीनों को छूट; चाय कॉफी, रबड़, इलायची, दालचीनी, काली मिर्च और सिनकोना के बागानों को छूट; मान्यताप्राप्त सहकारी फार्मों को छूट। इनके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में कई अन्य प्रकार की ज़मीनों को भी हदबंदी कानून से छूट मिली हुयी है, जैसे बगीचे, मछलियों वाले तालाब, देवोत्तर या विशिष्ट फार्म, युद्धवीर सैनिकों को दी गयी ज़मीने, वाणिज्य संस्थानों की ज़मीने और जलाने की लकड़ी पैदा करने वाली ज़मीने।”¹⁵⁸ जिससे यह समझा जा सकता है कि भूमि का एक बड़ा भाग कानून की ज़द में नहीं आ पाता है।

दूसरी ओर, बड़े भू-स्वामी द्वारा अपनी जमीनों को कानून की जद से बचाने हेतु उसे अपने बच्चों, संबंधियों और विश्वस्त नौकरों के नाम ही नहीं, गर्भस्थ शिशुओं और पालतु पशुओं तक के नाम कर देने की चालाकी का एक सिलसिला चल पड़ता है। वाकई में, भू-स्वामी द्वारा कानून की सीमा में रहकर कानून का उल्लंघन किस सफाई से किया जा सकता है, उसका एक नायाब उदाहरण देखा जा सकता है। ‘स्टेट्समैन’ के 3 अप्रैल 1968 के अंक की एक रिपोर्ट के अनुसार—“अभी हाल में एक ऐसे जमींदार- जो पहले मंत्री भी रह चुके हैं- का मामला प्रकाश में आया है, जो अप्रैल 1955 में, हदबंदी कानून लागू होने से पहले ही सचेत हो गये। उन्होंने अपने तथा अपने भाई के पाँच बेटों के बीच अपनी संयुक्त सम्पत्ति को रैयतवारी प्रबंध के अंतर्गत हस्तांतरित कर दिया। तब उनके बेटों ने अपनी जमीनों के कुछ हिस्सों को अपनी पत्नियों और बच्चों के बीच दर-रैयतवारी व्यवस्था के अंतर्गत बँटवारा कर दिया। बेनामदारों में परिवार के नौकर और कुछ अन्य लोग भी

थे। चूँकी इस बँटवारे से आधी कम जमीने ही बाँटी जा सकीं, इसलिए 534 एकड़ जमीन को जलाशय घोषित कर दिया गया, हांलाकि, उन ज़मीनों में मछली पालने के बजाय खेती-बारी की जाती रही।¹⁵⁹ स्पष्ट है कि भूदान की पृष्ठभूमि में छिपा यह सच ग्रामीण जीवन के सम्पन्न वर्ग की चालाकियों की एक मुहिम है, जिससे अंततः ग्रामीण निम्न वर्ग रूपी आमजन ही संत्रस्त होता है। कहना न होगा कि मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि की ज़द में भूदान से जुड़ी उक्त सारी सचाइयों होती हैं। वे ग्रामीण जीवन से जुड़े भूदान के वास्तविक पहलू को अपनी इसी नाम की एक कहानी के जरिये दिखलाने की कोशिश करते हैं।

आलोच्य कहानी का रामजतन हलवाहा ग्रामीण निम्न वर्ग का होता है, जो “धरती पर धरम का अवतार लेकर आदमी का हृदय बदलने वाले”¹⁶⁰ बिनोवा से प्रभावित रहता है। वह देखता है कि लोग अपनी भूमि भूदान कार्यक्रम के अंतर्गत दान कर रहे हैं। उसके पास एक छोटी मगर उपजाऊ जमीन है जो विवाद में उलझी रहती है। गाँव का ठाकुर भी भूदान कार्यक्रम में अपना नाम शुमार कर यशःप्रार्थी होना चाहता है। दरअसल, उसकी नज़र रामजतन की छोटी सी उपजाऊ जमीन पर होती है, इस कारण वह रामजतन को भूदान की पाँच बीघा तरी वाली जमीन देने का प्रलोभन देता है। रामजतन गाँव के ठाकुर की चिकनी-चुपड़ी बातों में तथा अपने आस-पास फैले भूदान कार्यक्रम के उत्साह की फाँस में आ जाता है और अपनी विवादित उपजाऊ जमीन छोड़ देता है। गौरतलब है कि भूमि वितरण की प्रक्रिया में रामजतन को पाँच बीघा तरी वाली जमीन का कागज जरूर मिलता है, पर उसका रहस्य तब खुलता है, जब वह भूदान ‘कमेटी के मंतिरी’ जी से मिलता है—“भूदान-कमेटी के मंतिरी जी ने तो कब का रामजतन को समझा बुझा दिया है कि ठाकुर को जिस दान से उसे भूँय मिली थी, वह केवल पटवारी के कागज़ पर थी। असल में वह कब की गोमती नदी की पेट में चली गयी है।”¹⁶¹ रामजतन को अपनी एक बीघा उपजाऊ जमीन से हाथ धोना पड़ता है जबकि दूसरी ओर भूदान कार्यक्रम के नाम पर ठाकुर-स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य का नवसामंत-रामजतन को उसकी जमीन से बेदखल करने में कामयाब होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इसका लाभ सम्पन्न लोग ही उठाते हैं या उसकी आड़ में अपना हित साधते हैं। जबकि रामजतन जैसे लोगों का जीवन संत्रस्त होता है—“कुछ के पास मजूरी-धतरी का सहारा है, पर रामजतन की तो हलवाही भी छुड़ा दी गयी। पिछले कई महीनों से नहर में फावड़ा चलाते-चलाते उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया है। महीने भर से साँस की बीमारी के कारण वह चारपाई पर पड़ा हाँफ रहा है। बार-बार उसकी साँसे बढ़ जाती है, उसका शरीर काँपने लगता है। जसवंती छाती पीट-पीट कर रोती है...।”¹⁶²

मार्कण्डेय अपनी 'भूदान' कहानी के माध्यम से उस सच को उजागर करते हैं जो यह दर्शाता है कि गाँव का नवसामंत सम्पन्न वर्ग स्वातंत्र्योत्तर भूदान आंदोलन को अपने हित में साध पाने में कामयाब होता है।

इस प्रकार देखा जाए तो पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत या उसके समानांतर जो आर्थिक विकास कार्यक्रम अपनाए जाते हैं, उनके समस्त पहलुओं पर मार्कण्डेय की पैनी नजर रहती है। इसलिए तो वे उसके ऊपरी चमकदार परत के नीचे छिपे उस खुरदरे सच को उजागर कर पाने में सक्षम होते हैं। इसी कारण वे ग्रामीण भूमि-सुधार संबंधी आंदोलन-पहल हो या कृषि-उन्नयन आदि या फिर रोजगार उत्पन्न करने हेतु विभिन्न स्थितियों समेत लघु कुटीर उद्योग और लघु व्यवसायिक सांस्थानिक इकाइयों का विकास, सभी की जमीनी सच को दिखलाने का प्रयास करते हैं। वे इन पहलुओं से जुड़े ग्रामीण निम्न वर्ग रूपी आमजन के जीवन की आर्थिक विसंगतियों के पक्ष को उजागर करते हुए यह दर्शाते हैं कि इसका लाभ सम्पन्न वर्ग ही उठा पाते हैं, साथ ही शासन तंत्र की भ्रष्टता इसे इसकी सदिच्छाओं को पूर्ण नहीं होने देती है। उनकी कहानियों में विकास-नीतियों के अधूरेपन को भी लक्ष्य किया जाता है जो ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन को नए संकटपूर्ण स्थितियों से ग्रस्त कर देता है।

अतः इस प्रकार मार्कण्डेय की कहानियों में निरूपित ग्रामीण आर्थिक जीवन के पक्ष तथा उसमें चित्रित यथार्थ को समग्रता में देखा जाए तो कई बातें निकलकर आती हैं। पहली, मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आर्थिक जीवन सच के उस हिस्से को उद्घाटित करने का समवेत प्रयास करती है जो विकास रूपी दावों और नारों के नीचे दबा रहता है। दूसरी, उनकी कहानियाँ ग्रामीण आर्थिक जीवन की दो मुख्य श्रेणियाँ—निम्न वर्ग (शोषित-सर्वहारा वर्ग) और उच्च वर्ग (समृद्ध-शोषक वर्ग) में मुख्य रूप से बँटे समाज की वास्तविकता को रूपायित करने का प्रयास करती हैं, जहाँ मार्कण्डेय की संवेदना उस वर्ग के प्रति स्पष्ट झलकती है जो विपन्न और उपेक्षित है। तीसरी, उनकी कहानियाँ इस सत्य की तस्दीक करती हैं कि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण निम्न वर्ग के रूप में बहुसंख्यक जनता आर्थिक विसंगतियों की ओर क्रमशः बढ़ती है। जिसके लिए जमींदार-सेठ-साहूकार आदि शोषक प्रमुख रूप से जिम्मेवार होते हैं। जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन की घोषणाओं के बावजूद सामंतों का अत्याचार, आतंक और शोषण यथावत् रहता है। यही नहीं, निम्न वर्ग जमींदार और सेठ-साहूकारों आदि शोषण संस्थानों के बीच पिसने को बाध्य होता है। चौथी, उनकी कहानियों में इस सच से अवगत हुआ जा सकता है कि गरीबी और अभावग्रस्तता ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन का साथ नहीं छोड़ती हैं। जिसके लिए सामंतों की साम-दाम-दण्ड-

भेद नीति, महाजनों की सूदखोरी, प्रकृति का प्रकोप, ठेकेदारों की अंधस्वार्थता, सत्ता के नशे में चूर शासन की मनोवृत्ति तथा शासन की पूँजीवादी नीतियाँ आदि समवेत रूप से कारण बनती हैं। पाँचवीं, उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन से होने वाले पलायन के भी संकेत करती हैं। ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन गरीबी-अभाव ग्रस्तता, जातिगत दंश, सामाजिक उपेक्षा, रोजगार का अभाव और किसानों की मार आदि पहलुओं से इतना व्यथित होता है कि वह अपने अस्तित्व को बनाए-बचाए रखने हेतु गाँव से पलायन करना हितकर समझता है। जबकि ग्रामीण जीवन की उभरती नई शिक्षित पीढ़ी शहरी चकाचौंध के आकर्षण, किसानों से जुड़े मूल्यों की उपेक्षा, अपने माकूल काम के लिए गाँव में आधारभूत संरचना के न होने की स्थितियाँ आदि के कारण गाँव से शहर की ओर रुख करती है तथा वहाँ स्वयं को मिसफिट पाकर अपने जीवन की निरुद्देश्यता से त्रस्त होती है। छठवीं, उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में जमींदारी-प्रथा उन्मूलन, पंचायती-राज, पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत होने वाले आर्थिक विकास कार्यक्रम, भूदान आदि आंदोलन की जमीनी सच को उद्घाटित करती हैं। जहाँ, गाँव की गरीबी, बेरोजगारी और अकर्मण्यता को दूर करने हेतु कुटीर उद्योग या छोटे पैमाने के व्यवसायिक संस्थानों के विकास के प्रयास का लाभ गाँव के सम्पन्न वर्ग तथा सरकारी कर्मचारी-अधिकारी गण को ही प्राप्त होता है, जबकि जरूरतमंद ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन उपेक्षित होता है। नई आर्थिक विसंगतियों से घिर जाता है। जहाँ, एक ओर ग्रामीण कृषि-कर्म तथा कृषि-व्यवस्था के उन्नत प्रबंधन हेतु कृषि कर्म का यंत्रीकरण सहित नवीन प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल होता है पर इसका लाभ सम्पन्न किसानों को ही मिलता है, जो नवीन पूँजीवादी बनने की ओर अग्रसर रहते हैं। जबकि दूसरी ओर, कृषि कर्म या व्यवस्था को उन्नत प्रबंधन से ग्रामीण छोटे किसान, खेतिहर भूमिहीन मजदूर आदि के जीवन के समक्ष उपजी नई समस्याओं के निदान-निराकरण हेतु आर्थिक विकास नीतियों में किसी वैकल्पिक व्यवस्था का अंतर्वेशन नदारद रहता है। जिससे ग्रामीण निम्न वर्ग को आर्थिक विकास-कार्यक्रम का लाभ नहीं मिल पाता है। जहाँ, भूदान आंदोलन में निहित बहुदेशीय हितेच्छा सत्ता के लोभी नेताओं तथा सरकारी तंत्र की भ्रष्टता, नवसामंतों के पैसे और पहुँच की सामर्थ्य तथा शासन की विकास नीतियों के पूँजीवादी ढाँचे में निहित स्वार्थवादिता, प्रपंच और कुर्सी की राजनीति आदि की बलि चढ़ जाती है।

सारतः कहा जाए तो स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में भी ग्रामीण समाज में आर्थिक विषमता का चित्र कायम रहता है। ग्रामीण जीवन से जुड़े विभिन्न कार्यक्रम आंदोलन और विकासनीतियाँ ग्रामीण निम्न वर्ग रूपी किसानों, भूमिहीन, खेतिहर मजदूरों आदि के जीवन का आर्थिक उन्नयन करने के

बजाय उन्हें त्रस्त करती हैं। मार्कण्डेय की कतिपय कहानियों में ग्रामीण जीवन का उक्त आर्थिक पक्ष आलोचनात्मक तेवर को लिए हुए है जो यथार्थ को उसकी ऐतिहासिक अविच्छिन्नता और संश्लिष्टता में देखने का आग्रह दिखाता है।

3.3.4 धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का यथार्थ

3.3.4.1 धार्मिक जीवन

उल्लेखनीय है कि भारतीय जीवन और उसकी संस्कृति में 'धर्म' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव जीवन के प्रत्येक मोड़ पर तथा ग्रामीण समाज की विभिन्न परिस्थितियों के मध्य गाहे-बगाहे धर्म अपनी विविध शक्तों और विभिन्न भूमिकाओं में बराबर उपस्थित होता रहा है। इसी कारण धर्म या धार्मिक चेतना ग्रामीण जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप में देखा और विचारा जाता है।

ग्रामीण जीवन में धर्म मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों उसके नैतिक बल तथा उसके जीवन के उदान्त लक्ष्य के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। यह एक पवित्र सांस्कृतिक-विश्वास के रूप में भी ग्रामीण जीवन की पीढ़ी-दर-पीढ़ी व्यवहारपरकता में शामिल पाया जाता है। जिससे ग्रामीण जीवन क्रम निर्धारित और संपादित होता है। डॉ. वी.पी. चौहान ग्रामीण जीवन में धर्म के स्थान को रेखांकित करने के क्रम में कहते हैं—“भारतीय ग्रामीण समाज को संचालित करने वाले तत्त्वों के अंतर्गत धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परम सत्ता में विश्वास करने की भावना धर्म का उद्गम स्थल है। विश्व मानवता के इतिहास का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि जिन व्यक्तियों का प्रकृति से जितना प्रत्यक्ष संबंध होता है अथवा जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर जितने अधिक निर्भर करते हैं उनका विधाता की परम सत्ता में उतना ही अधिक विश्वास होता है। भारतीय ग्रामीण जनता अपनी आजीविका के लिए कृषि पर, प्रकारोत्तर से प्रकृति पर निर्भर करती है।”¹⁶³ जिससे यह तथ्य समझ में आता है कि ग्रामीण जीवन के कृषि-कर्म और प्रकृति से गहरे जुड़े रहने के कारण ही उनकी प्रकृति की नियंता शक्ति के रूप में धर्म के प्रति या परम सत्ता के प्रति गहरी अस्तिकता होती है। मार्कण्डेय सरीखे यथार्थवादी कहानीकार ग्रामीण जीवन में व्याप्त धर्म की वस्तुस्थिति को या धार्मिक चेतना को उसकी सम्पूर्णता में पकड़ने का प्रयास करते हैं। उसे ग्रामीण जीवन के अन्य संदर्भों और पक्षों के साथ जोड़कर उसका संश्लिष्ट रूप दिखलाने की चेष्टा करते हैं। वे धर्म को मानवीय जीवन को उदात्त बनाने वाले मानवीय मूल्य के रूप में भी देखते हैं तो उसे ग्रामीण जीवन को प्रतिगामी बनाने वाली रूढ़ चेतना के रूप में भी। वे अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन में व्याप्त धर्म-चेतना तथा धार्मिक मान्यताओं के समग्र रूप को अभिव्यक्त करने के क्रम में धर्म की विकृत या मिथ्या चेतना को ज्यादा अनावृत्त करते हैं। उनकी कहानियों में चित्रित

और विवेचित ग्रामीण धार्मिक यथार्थ का निम्न शीर्षकों के अंतर्गत अवलोकन किया जा सकता है:

3.3.4.1.1 ग्रामीण-जीवन में व्याप्त आस्तिकता

उल्लेखनीय है कि किसी भी समाज और उसके जीवन पर दृष्टिपात किया जाए तो यह साफ दिखायी देता है कि धर्म के प्रति मनुष्य सदैव दो दृष्टिकोण लेकर चला है। पहला आस्तिक तो दूसरा नास्तिक रहा है। नास्तिक दृष्टिकोण यानि नास्तिकता का संबंध धर्म या ईश्वर या परम सत्ता के प्रति एक नकार दृष्टि से है। यहाँ, धर्म या ईश्वर के अस्तित्व के प्रति एक संदेह तथा अविश्वास पूर्ण भावना सदैव विद्यमान रहती है। यहाँ इस बात का विरोध रहता है कि जगत् के सारे क्रिया व्यापारों का नियंता कोई ईश्वर है। यहाँ किसी भी ऐसी शक्ति के प्रति सहज विश्वास की भावना नहीं रहती है, जिसको प्रत्यक्ष देखने और अनुभव किए जाने में कोई दिक्कत आती हो।

दूसरी तरफ, आस्तिक एप्रोच यानि आस्तिकता है, जो धर्म को दो रूपों में पहचानने की कोशिश करती है। उसके पहले वाले रूप में, धर्म को ईश्वर का पर्याय तथा प्रकृति की विराट सत्ता या जगत् के क्रिया व्यापारों को संचालित करने वाली शक्ति का दर्जा देने के बावजूद वहाँ इस बात पर सर्वाधिक बल रहता है कि धर्म, ईश्वर या परम सत्ता को अपने भीतर ही खोजा जा सकता है। मनुष्य अपने उच्चतर मानवीय मूल्य के फलक को विस्तृत करने के उपक्रम में धर्म को निभाने या ईश्वर को प्राप्त करने के मायने देखता है। कहने की बात नहीं है कि मानवीय मूल्य या मानव मूल्य को पहचानने की प्रक्रिया व्यक्ति का अपने स्वार्थजनित कामनाओं तथा विकारों से ऊपर उठने की प्रचेष्टा में होती है। जबकि इसके दूसरे रूप में, अंधश्रद्धा पर आधारित विश्वास ही धर्म का पर्याय बन जाता है। आस्तिकता से जुड़ी धर्म की मिथ्या चेतना ग्रामीण जन-जीवन को विसंगतिपूर्ण बनाये रखती है। इसी मिथ्या चेतना का परिणाम यह होता है कि धर्म को व्यापक स्तर पर समझने के बजाय उसे बाह्य कर्मकाण्डों, धार्मिक अनुष्ठानों तथा रूढ़ रीतियों-नीतियों में पर्यवसित मान लिया जाता है।

मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन में धर्म से जुड़ी आस्तिकता के रूप में धर्म की उक्त मिथ्या चेतना को ग्रामीण जीवन की विसंगतियों को बनाये रखने में तथा ग्रामीण समाज में गुणात्मक परिवर्तन न होने के लिए जिम्मेवार कारण के रूप में देखती हैं। इस संदर्भ में प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की 'घूरा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। इस कहानी में धर्म को पाप-पुण्य की कसौटी पर कसने की मनोवृत्ति देखी जाती है, जिसके पीछे धर्म-भीरुता की भावना अंतर्निहित रहती है। धर्म-भीरुता या धर्म की मिथ्या चेतना ग्रामीण आमजन को वस्तुस्थिति की यथार्थपरक समझ में बाधा पहुँचाती है। आलोच्य कहानी में जब अतिवृष्टि के दौरान समूचा गाँव संत्रस्त रहता है, खासकर

ग्रामीण आमजन, उस समय अपने समक्ष आये संकट से सुरक्षित बचने की चिंता या फिक्र के बजाय यह सोचने में लगा रहता है कि ऐसी भीषण परिस्थिति में यदि घर के गाय-बैल मारे जाते हैं तो उससे उसकी धर्म की हानि हो जाएगी। वह अनजाने में ही सही, पाप का भागीदार ठहरा दिया जाएगा और ईश्वर के अभिशाप से उसका भावी जीवन संकटग्रस्त हो जाएगा—“व्यास का बुढ़वा वरधा बैठ गया है, अपने से उठ नहीं सकता— बड़ी कमाई कराया, इसी खूँटे पर बारह बरस से सानी-पानी कर रहा था। अब आखिरी समय है, कहीं छॉह धरा देनी चाहिए, वर्ना मर जाएगा तो बड़ा सराप लगेगा।”¹⁶⁴ यहाँ ध्यान दिया जाए तो उक्त कथन में दो बातें मुख्य रूप से संकेतित मिलती हैं। पहली, ग्रामीण आमजन में पशु-प्रेम का होना। दूसरी, ग्रामीण आमजन का अपने वर्तमान को यथार्थ परक समझने के बजाय अनागत जीवन को लेकर चिंतित होने वाली धर्मभीरुता का प्रदर्शन करना।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘हरामी के बच्चे’ में ग्रामीण आस्तिकता से जुड़ी धर्म की मिथ्या चेतना स्वरूप हिंदू धर्म को ब्राह्मणवाद से जोड़कर देखे जाने का जिक्र है। इस कहानी का एक ब्राह्मण व्यक्ति सारे बुरे कर्मों को करता है। यहाँ तक कि, स्त्रियों के व्यापार जैसे अधर्म कार्य भी करता है—“भगवान बचाये इस लीला से, जिसका बाप बिना संध्या-बदन के अन्न का टुकड़ा मुँह में नहीं डालता था, उसी का बेटा तिरियों का व्यापार करता है।”¹⁶⁵ वह अपने ही गाँव की एक स्त्री (सत्ती) का जीवन बर्बाद कर देता है। फिर भी सत्ती के पिता जैसे पुरातन पीढ़ी के लोगों में यह धारणा बद्धमूल रहती है कि ब्राह्मण जाति का व्यक्ति होने के कारण उसके सारे कर्म उचित ही होंगे। ऐसे लोग ब्राह्मण जाति की सेवा में ही अपनी मुक्ति तथा धर्म के प्रति अपनी आस्था देखते हैं—“... मालिक की सेवा हमारा धर्म है।... उनके जूती के तरे ही हमारी मुक्ति है। चाहे जो करें, चाहे...।” ... “हम मरती बार यह सुनना नहीं चाहते। मालिक की सेवा ही, धरम है। चाहे मालिक जो करे, चाहे सत्ती के मार डाले, और का का कही।”¹⁶⁶ स्पष्ट है कि यहाँ ब्राह्मणत्व को धर्म से जोड़कर देखे जाने की मानसिकता को आसानी से समझा जा सकता है। दरअसल, यहाँ ब्राह्मणत्व पर प्रश्न किए जाने को अपने धर्म के बिगड़ने तथा उसके कोप से त्रस्त होने की बात से परंपरागत ग्रामीण मानसिकता जाहिर होती है। यही नहीं, आलोच्य कहानी में जब एक ब्राह्मण व्यक्ति की उक्त नीच कर्मों के लिए हत्या की बात उठती है, तो पुरानी पीढ़ी इसे ब्रह्महत्या से जोड़कर देखती है—“ एक ब्राह्मण को मार डालने का पाप-ब्रह्महत्या का पाप।”¹⁶⁷ जिससे ग्रामीण जीवन के आस्तिकता बोध में धर्म की मिथ्या चेतना को व्याप्त होते हुए देखा जाता है, जो शोषण के विरुद्ध उठने वाली चेतना को कुंद कर यथास्थिति को बनाये रखने का कार्य करती है।

प्रस्तुत कहानी का सरजू जो शोषण को निर्मूल कर सामाजिक परिवर्तन लाना चाहता है, उसके आगे ग्रामीण जीवन की आस्तिकता में छिपी धर्म की मिथ्या चेतना एक रोड़ा बनकर उपस्थित होती है। इसी कारण वह ग्रामीण जीवन की मिथ्या चेतना के प्रतीक सत्ती के पिता जैसे लोगों को सामाजिक परिवर्तन के रास्ते से हटा देने हेतु उद्धत हो जाता है—“बूढ़े के मरे चेहरे पर खून दौड़ आता है। जी में आता है, टीप दूँ गला इसका-झंझट खत्म हो जाए।”¹⁶⁸ जिससे कहानीकार की यथार्थ-दृष्टि की उस संश्लिष्टता को समझा जा सकता है, जिसके कारण ही वे धार्मिक जीवन के आस्तिकता बोध को सामाजिक जीवन के यथार्थ से जोड़कर दिखलाते हैं।

इसी तरह ग्रामीण आस्तिकता के रूप में धर्म की मिथ्या चेतना स्वरूप ब्रह्मदोष के लगने तथा उससे होने वाली क्षति को देखे जाने वाली मानसिकता को मार्कण्डेय की कहानी ‘हलयोग’ में देखा जाता है। मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘महुए के पेड़’ में ग्रामीण आस्तिकता-बोध के रूप में धर्म की मिथ्या चेतना स्वरूप तीर्थ-स्नान आदि के सच को दिखलाया जाता है। यहाँ भी मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि धर्म से जुड़ी उक्त मिथ्या चेतना को ग्रामीण जीवन की विसंगतिपूर्ण स्थिति को यथावत् रहने के संदर्भ में दिखलाती है। आलोच्य कहानी में, ग्रामीण जीवन में इस धारणा को बद्धमूल देखा जाता है कि तीर्थस्नान आदि से मनुष्य के पूर्व तथा वर्तमान जन्म के पाप धूल जाते हैं। आलोच्य कहानी की दुखना भी अपनी गरीबी, अभावग्रस्तता और निस्सहायता बोध के मध्य तीर्थ-स्नान को अपने जीवन को धर्म-सम्मत बनाने के संदर्भ में एक महत् कार्य के रूप में देखती है—“कई साल से दुखना के मन में तीर्थ-यात्रा की बड़ी लालसा है। अगल-बगल की पड़ोसिने कई बार गंगा-स्नान कर आयीं। मलमास नहा डाला, गरज में पैदल चलकर काशी का पुण्य लूट आयीं, पर दुखना कहीं न जा सकी।”¹⁶⁹

कहना न होगा कि उक्त मिथ्या चेतना आदि ही ग्रामीण आमजन को नियतिवादी बना देती है; उसे संघर्ष और परिवर्तन से दूर ले जाती है, जो ग्रामीण सामाजिक परिवर्तन में प्रतिगामी कारक बनता है। प्रस्तुत कहानी की दुखना भी अपनी जमीन, अपना घर-बार, अपने अस्तित्व का बोध कराने वाले एकमात्र महुए के पेड़ आदि को अपने जीवन से छिन जाने को तथा वर्षों अपने ऊपर हुए तमाम शोषण व अत्याचार को नियति का फैसला मान लेती है, जिसके पीछे उसका आस्तिक बोध स्वरूप धर्म से जुड़ी मिथ्या चेतना होती है—“हरखू की माई जमींदार को कोसती-कोसती पहुँची, पर दुखना ने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वह महुए के तने के पास चली गयी, खून सी लाल तने की लकड़ी को हाथ से छुआ, झोपड़ी की दीवारों को देखा, और घूम कर हरखू की माई से कहने लगी—“हरखू की माँ, चलती हो तीर्थ को? मैं तो चली।”¹⁷⁰ इस प्रकार यह देखा जा सकता

है कि मार्कण्डेय की उक्त कतिपय कहानियाँ ग्रामीण आस्तिकता के रूप में, धर्म की मिथ्या चेतना स्वरूप धर्म को पाप-पुण्य की कसौटी पर कसने, धर्म के बिगड़ने, उसका कोप होने, धर्म को ब्राह्मणत्व से जोड़कर देखने, ब्राह्मणदोष के लगने तथा धर्म को बाह्य कर्मकाण्डों-रिवायतों में सीमित कर देने आदि को ग्रामीण जीवन की विसंगतियों को यथावत् बने रखने के रूप में दिखलाती हैं।

इसी तरह मार्कण्डेय की कतिपय अन्य कहानियों में ग्रामीण धार्मिक आस्तिकता के रूप में व्यक्ति द्वारा अपने तमाम स्वार्थों, वर्गहितों से ऊपर उठने के क्रम में जो मानवीय पहल होती है, उसे अपना धर्म निभाने के रूप में दिखाया जाता है। जिसे मार्कण्डेय ग्रामीण धार्मिक जीवन के सच के रूप में दिखलाते हैं। इस संदर्भ में मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा' 'घूरा' तथा 'गनेसी' आदि कहानियों को देखा जा सकता है।

अतः इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण धार्मिक जीवन के यथार्थ के रूप में ग्रामीण आस्तिकता से जुड़े सच के रूप में, जहाँ व्यक्ति द्वारा अपना मानवीय कर्म करने को अपना धर्म निभाने के रूप में दिखाती हैं। वहीं वे यह भी दिखाती हैं कि ग्रामीण आस्तिकता का ही एक अन्य रूप, धर्म की जगह उसकी मिथ्या चेतना को अपनाकर चलता है, जो ग्रामीण आमजन को वस्तुस्थिति से दूर ले जाता है। उसे सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन से विरत कर उसके जीवन में विसंगतियों को बनाए रखने का कार्य करता है।

3.3.4.1.2 परंपरागत रूढ़ियों की चिंतनहीन स्वीकृति और अन्य ग्रामीण अंधविश्वास

उल्लेखनीय है कि भारतीय ग्रामीण जीवन के आस्तिकता बोध के पहलू के अतिरिक्त वहाँ व्याप्त परंपरागत रूढ़ियों की चिंतनहीन स्वीकृति और अन्य अंधविश्वास वहाँ के धार्मिक जीवन को ही दर्शाते हैं। कहना न होगा कि शिक्षा का अभाव ग्रामीण धार्मिक जीवन को अंधविश्वास और रूढ़ मान्यताओं की निर्बुद्धिपरक स्वीकृति की ओर मोड़ता है। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि ग्रामीण धार्मिक जीवन के यथार्थ को विवेकपूर्ण तरीके से देखती है। इसी कारण उनकी कतिपय कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में शिक्षा के अभाव तथा पर्याप्त चेतना के विकास न होने के कारण सदियों से ढोयी जा रही रूढ़ियों और अंधविश्वासों का आलोचनात्मक चित्रण होता है। डॉ. लक्ष्मण दत्त गौतम इस संदर्भ में लिखते हैं—“मार्कण्डेय ने जन-जीवन में रचे-बसे अंधविश्वासों को देखा है और उन्हें ध्वस्त होते देखने का स्वप्न भी देखा है। यही नहीं, सम्पूर्ण संकल्प के साथ उसने उन रूढ़ियों पर प्रहार करने का कोई अवसर नहीं जाने दिया। भारतीय जन-जीवन में जो धार्मिक रूढ़ियों जड़ जमाए हैं उनसे लेखक समझौता नहीं कर पाता।”¹⁷¹ जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि की जड़ में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की रूढ़ मान्यताएँ और

अंधविश्वास रहते हैं। तभी तो वे स्वातंत्र्योत्तर काल के सच को उजागर करने वाले अपने उपन्यास 'अग्निबीज' में सागर (पात्र) के माध्यम से यह कहलवाते हैं—“धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों के खिलाफ कितने ही सुधारवादी आंदोलन हुए लेकिन उनसे क्या संस्थाएँ बदलीं?...।”¹⁷² यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कहानियों के जिक्र और विश्लेषण के माध्यम से उक्त सच को समझा जा सकता है।

इस संदर्भ में सबसे पहले उनकी कहानी 'नीम की टहनी' का उल्लेख करना प्रासंगिक लगता है। कहानीकार आलोच्य कहानी का प्रारंभ जिस परिवेश के चित्रण से करते हैं, वह काफी संकेतपरक है—“सूरज डूबते ही सारा गाँव डाइनों के काले लहंगे में उलझ कर बेहोश हो जाता है। हवा को झोंका अपनी खूंखार अंगुलियों से, खपरैल के घरों तथा फूस की झोपड़ियों को रह-रह कर छूता है, और वे दुबक कर एक भयानक खामोशी में डूब जाती है।”¹⁷³ जिसका तात्पर्य यह है कि ग्रामीण जीवन में भूत-प्रेत, चुड़ैल-डाईन आदि के होने का अंधविश्वास बहुत गहरे में बद्धमूल रहता है। कहने की बात नहीं है कि गाँव के जीवन की गरीबी, अभावग्रस्तता आदि के अंधकार से मिलकर उनका डर और भी स्याह तथा भयावह बन जाता है। आलोच्य कहानी में नीम के पेड़ को लेकर ग्रामीण जीवन में सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अंधविश्वास इस कदर हावी रहते हैं कि इन पर प्रश्न करना आदि व्यक्ति के भावी जीवन के लिए हितकर नहीं समझा जाता है।

दरअसल, सदियों से नीम के पेड़ से जुड़ा जो लोक-विश्वास होता है, वह अंधविश्वास में तब्दील हो जाता है और रूढ़िगत ढंग से ढोया जाता है। इस कहानी में यह दिखलाया गया है कि ग्रामीण जन रोग, बीमारी या महामारी को ईश्वरीय प्रकोप के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि वे चेचक की महामारी में महारानी माँ के प्रकोप का प्रक्षेपण कर लेते हैं। गाँव में चेचक फैलने की घटना की महारानी माँ के प्रकोप के रूप में चिन्तनहीन स्वीकृति स्पष्ट देखी जाती है—“कितने अपशकुन साथ-साथ हो रहे हैं। नगड़ की लड़की तो अब-तब हुयी है—महारानी की बड़ी डाली है, बेचारे के दो-दो जवान बेटे माई की गोदी में सो गये।”¹⁷⁴ यही नहीं, गाँव में यह बात भी अंधविश्वास की हद तक प्रचलित एवम् स्वीकृत रहती है कि महारानी-देवी वाली नीम की टहनियों से चेचक की व्याधि से ग्रस्त लोगों का रोग निदान होता है—“दो दिन हुए, उसे होश नहीं हो रहा है। चेचक के दाने, सारे शरीर में फैल कर मिल गये हैं। लोग कहते हैं अब तो महारानी वाली नीम की टहनियों की ही आशा है।”¹⁷⁵ देखा जाए तो स्वातंत्र्योत्तर समय-काल में भी चेचक जैसी बीमारी में चिकित्सा के नाम पर देवी को शांत करने के लिए पूजा-आरजा कराना तथा नीम की टहनियों को व्यवहार में लाना ग्रामीण जीवन में व्याप्त अशिक्षा, अज्ञान, अंधकार, अभावग्रस्तता तथा पिछड़ेपन की स्थितियों को दर्शाता है—“बड़ा अनर्थ हो रहा है भाई! रामजस की मेहरारू को भी बड़ा

तेज बुखार है। तीनों बच्चे बेहोश पड़े हैं। अब क्या होगा भला? माली भी तो लगा लिया था, बेचारे ने पूजा आरजा करायी लेकिन बच्चों ने अभी तक आँखें न खोलीं।”¹⁷⁶ स्पष्ट है कि ग्रामीण जीवन में अंधविश्वास गढ़े जाते हैं, और वे जड़ होकर जम जाते हैं।

इसी तरह ग्रामीण जीवन में किसी के द्वारा देखे जाने पर नजर लग जाने की रूढ़ि की चिन्तनहीन स्वीकृति सहज देखी जाती है। गाँव में अक्सर माताएँ अपने बच्चों को लोगों से छिपा कर रखना चाहती हैं। उसका खान-पान भी इस तरह करना चाहती हैं ताकि जमाने की बुरी नजर उसे न लग जाए। ग्रामीण जीवन में उक्त अंध रूढ़ि की चिन्तनहीन स्वीकृति के सच को मार्कण्डेय की ‘मन के मोड़’ कहानी में देखा जाता है। स्पष्ट है कि ऐसी रूढ़ि मान्ताएँ और अंधविश्वास अपढ़ मानसिकता से घिरे परिवेश और समाज में पनपते हैं, और तेजी से फलते-फूलते हैं। इसी तरह मृत्यु की घटना को किसी व्यक्ति के जन्म के साथ जोड़कर देखने तथा किसी व्यक्ति को सुलक्षणी-कुलक्षणी कहते हुए उसे शुभ-अशुभ बताने की रूढ़ि रिवायतें आदि ग्रामीण धार्मिक जीवन में व्याप्त अंधविश्वास को ही दर्शाता है, जो ग्रामीण आम जनजीवन को संत्रस्त करता है। इस संदर्भ में प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की ‘बिंदी’ कहानी का जिक्र किया जा सकता है। इस कहानी में बिंदी का शोषण उसके सगे वाले ही करते हैं। उसके अपने ही उसे कुलक्षणी बताकर उसकी सम्पत्ति का भोग करते हैं; उसे मारते-पीटते हैं—“कलमुँही अब पानी भरने के लिए चाकर लगेगा, तुम्हारे लिए। सारा खान्दान हजम कर सिर पर तो बैठी है, भगवान भी नहीं पूछता इसको।” और बुआ पानी पी-पी कर कोसती, बात-बात में उसे झोंकती टुकराती, पाँव से मार देती।”¹⁷⁷ यही नहीं, गाँव के लोग भी बिंदी को अभागिन समझकर अपनी निबुर्दिपरकता का परिचय देते हुए उसके कुलक्षणी होने को परोक्ष ढंग से समर्थन करते हैं। तभी तो बिंदी के ऊपर होने वाले तमाम अत्याचार और शोषण का गाँव वालों की ओर से पुरजोर विरोध नहीं होता है, जो यह साबित करता है कि ग्रामीण जन शिक्षा तथा विवेक-चेतना के अभाव में किसी भी रूढ़ि मान्यता, बात आदि को बिना कुछ सोचे-बिचारे अपना लेता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की उक्त कतिपय कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण धार्मिक जीवन में व्याप्त रूढ़ियों और अंधविश्वासों की चिन्तनहीन स्वीकृति का सच भलीभाँति उजागर होता है। जिससे ग्रामीण जन-जीवन विसंगतिपूर्ण बना रहता है, संत्रस्त होता है।

3.3.4.1.3 स्वार्थ और मनौतियाँ

ग्रामीण जीवन शिक्षा, विकास और सुविधाओं के अभावों से सदा व्याप्त रहा है। उनसे

जूझता रहा है। यहाँ के बहुसंख्यक लोग अपने जीवन की दैनंदिन छोटी-से छोटी जरूरतों के लिए ईश्वर (परम सत्ता) की ओर ताकने का कार्य पहले-पहल करते हैं। प्रकृति के मध्य रहने वाले ये ग्रामीण जन अपने इच्छित कार्यों की पूर्ति हेतु, अपने आफत-विफत से निदान पाने हेतु, प्रकृति के विभिन्न उपादानों को दैवीय रूप प्रदान कर उनके समझ प्रार्थना निवेदन करते रहते हैं। उनकी अपने स्वार्थ (बुनियादी जरूरत ज्यादा) की पूर्ति हेतु ये मनौतियाँ उनके धार्मिक जीवन में बहुत गहरे समायी हुयी हैं, जो ग्रामीण जीवन में धर्म के आस्तिकपरक बोध या परम सत्ता में चरम आस्था का ही एक रूप है। उल्लेखनीय है कि ग्रामीण जीवन का उक्त पहलू कहानीकार मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता है। जिसका प्रमाण उनकी कतिपय कहानियाँ—“भूदान’ ‘सहज और शुभ’ ‘बवण्डर’ आदि प्रस्तुत करती हैं।

कहानीकार मार्कण्डेय अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के उक्त सच को ग्रामीण जन-जीवन की अभावग्रस्तता, जहालत, अशिक्षा तथा विवशता के साथ उजागर करने का प्रयास करते हैं। वे अपनी कहानियों में यह स्पष्ट दिखलाते हैं कि विभिन्न देवी-देवता में आस्था रखनेवाले ये ग्रामीण जन अपने मन में एक संकल्प धारण किए हुए रहते हैं और उसे पूरा करने हेतु अपने प्रकृतिपरक देवी-देवताओं, पीर-बाबाओं या किसी संत-महात्मा आदि के समक्ष निवेदन-प्रार्थना करते हैं तथा इसी में मरते-खपते रहते हैं। यही उनका ग्रामीण धार्मिक जीवन स्वरूप स्वार्थ और मनौतियों का सच है। इस संदर्भ में सबसे पहले उनकी ‘भूदान’ कहानी का ज़िक्र किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में ग्रामीण जीवन में लोगों द्वारा आनन-फानन में कंकड़-पत्थर जोड़ कर किसी की याद (मरणोपरांत) में चबूतरा तैयार कर पूजे जाने की रूढ़ परंपरा देखी जाती है। इस कहानी में बनसत्ती के चौरे का जिक्र इसी का उदाहरण है। ग्रामीण आमजन रामजतन जो विनोबा को धर्मावतार के रूप में देखता है, वह भी उक्त रूढ़ परंपरा में शामिल होता है। वह दिन-रात अनथक परिश्रम के बावजूद जब अपने जीवन में कुछ सुखद घटते हुए नहीं देखता है तो मन ही मन बेहद दुःखी रहने लगता है। इसी बीच गाँव में ग्रामीण भूमिहीनों को सरकार द्वारा भूमि आवंटित करने की सूचना पहुँचती है, जो उसमें एक नए उत्साह को जगाती है। वह अब अपने भावी जीवन को आशा भरी निगाहों से देखना शुरू करता है। यही कारण होता है कि गाँव के रास्ते गुजरते वक्त उसके पाँव अनायास बनसत्ती के चौरे के पास ठिठक जाते हैं। वह उस देवी के समझ मनौती स्वरूप अपनी जिन भावनाओं का प्रकटीकरण करता है वह ग्रामीण जीवन में व्याप्त उसकी धर्मभीरुता होती है जो धर्म की मिथ्या चेतना स्वरूप एक अंधविश्वास के रूप में बड़े गहरे में गाँव के धार्मिक जीवन में समाविष्ट रहती हैं—“जै बनसत्ती माई, तुम्हें कड़ाही चढ़ाएँगे माई, गरीब पर

दया करो महारानी। जसवंती तुम्हें पियरी चढ़ाना न भूलेगी माई, इस साल भूल-चूक छिमा करो माई!”¹⁷⁸ जिससे कई बातें जाहिर होती हैं। पहली, ग्रामीण गरीब जन का यह विश्वास (अंधविश्वास) कि, देवी (कंकड़-पत्थर जोड़कर किसी की याद में बनाया गया चबूतरा आदि) के सामने मनौती रखने से उसके जीवन के दुःख दूर हो जाएँगे। दूसरी, उनकी स्वार्थ की पूर्ति होने पर तमाम चढ़ावा देने की रूढ़ परंपरा का व्याप्त होना। तीसरी, ग्रामीण आमजन के जीवन में धर्म के रूप में धर्म का भय व्याप्त होना। चौथी, ग्रामीण आमजन की उक्त मनौतियों के पीछे उनका बदहाल, बुनियादी जरूरतों के अभाव से परिपूर्ण जीवन का होना।

मार्कण्डेय की स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य को उभारने वाली एक अन्य कहानी ‘बवण्डर’ में भी ग्रामीण धार्मिक जीवन को प्रदर्शित करने वाली स्वार्थ-पूर्ति हेतु मनौतियों की रूढ़ रिवायत को दर्शाया गया है। जिससे ग्रामीण जीवन की अशिक्षा, जहालत, अभाव और अंधविश्वास का पता चलता है। आलोच्य कहानी में ग्रामीण गरीब जनजाति और उसके समाज में धर्म की मिथ्या चेतना स्वरूप अंधविश्वास कुछ इस प्रकार पसरा रहता है—“क्वार के महीने में अपनी एक देवी को छौना काटकर उसका खून और कच्ची शराब चढ़ाते हैं और खुद उसी को पीकर खुशी में नाचते-गाते हैं। भूत-प्रेत और टोना-टोटका इनमें भी वैसे ही जड़ जमाये हैं जैसे दूसरी जनजातियों में। बच्चों को स्कूल भेजने का प्रचलन इनमें आज भी नहीं है।”¹⁷⁹ यहाँ इस बात को समझा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन में धर्म की मिथ्या चेतना के पसरने के पीछे वहाँ पर्याप्त शिक्षा और चेतना का अभाव तथा ग्रामीण आमजन की आर्थिक बदहाली होती है। उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि ग्रामीण धार्मिक जीवन के उक्त पहलू को उसकी संश्लिष्टता में देखती है। जिसे मार्कण्डेय की ‘सहज और शुभ’ कहानी के निम्न प्रसंग में लक्ष्य किया जा सकता है—“असल में ये लोग बहुत गरीब थे, इसलिए अपनी जरूरतों के आगे शौक की बात जानते ही न थे। रुचि की चीजों में समय और शक्ति का खर्च एकदम न हो, इसी के लिए जरूरतमंदों ने अपने लिए कुछ नैतिक नियम बना रखे थे। मसलन वे पत्थर पर पानी चढ़ा कर अपनी विपत्ति टल जाने की आशा कर लिया करते थे। हर दुख के लिए दैवी दवा उनके पास थी, इसलिए वे भीरू थे और कोई काम करते हुए ईश्वर द्वारा उसे देखे जाने की बात किया करते थे। एक बार बकरे को काटकर देवी को चढ़ाते थे, दूसरी ओर चींटों को सत्तू बाँटा करते थे।”¹⁸⁰

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के आस्तिकपरक बोध स्वरूप धार्मिकता के प्रदर्शन के रूप में स्वार्थ-पूर्ति हेतु मनौतियों की रूढ़ रिवायत का एकांगी चित्रण नहीं करते हैं, बल्कि वे समस्या की तह में जाकर उसके मूलभूत कारणों को उजागर करते हैं।

3.3.4.1.4 तंत्र-मंत्र का आकर्षण

उल्लेखनीय है कि ग्रामीण जीवन के आस्तिकतापरक बोध स्वरूप धर्म की मिथ्या चेतना का एक रूप, वहाँ बद्धमूल तंत्र-साधना के प्रति ग्रामीण जन-जीवन का आकर्षण है। जिसके लिए भी ग्रामीण आमजन का अशिक्षित, निर्बुद्धिपरक व्यवहार जिम्मेवार होता है। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में विकास की घोषणाओं के साथ वहाँ परिवर्तन का काम तो होता है पर वहाँ पर्याप्त शिक्षा और विवेकपरक चेतना का अभाव बना ही रहता है। ग्रामीण साधारण जन में तंत्र-साधना के रूप में ओझा ओर बाबाओं के प्रति विश्वास तथा उनके द्वारा किए गये तमाम चमत्कार पूर्ण कार्य में उनकी दिलचस्पी उनके जीवन को विसंगतियों से पूर्ण करने का कार्य करती है। दरअसल, ग्रामीण साधारण जन स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में होने वाले तमाम विकास-कार्य के बावजूद जब अपने जीवन की मूलभूत समस्याओं का निदान होते हुए नहीं देखता है, तभी वह अपने जीवन में चमत्कार घटित कराने के लिए तंत्र-साधना की ओर मुड़ता है।

कहना न होगा कि कहानीकार मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि ग्रामीण धार्मिक जीवन को भली-भांति देखती है। जिसका प्रमाण है उनकी 'शव-साधना' जैसी कहानी। आलोच्य कहानी ग्रामीण धार्मिक जीवन में व्याप्त तंत्र-मंत्र और शव-साधना जैसी दकियानूसी सोच या धर्म की मिथ्या चेतना को अनावृत्त करती है। मार्कण्डेय अपनी इस कहानी के जरिये यह दिखलाते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन और समाज के लिए तंत्र-मंत्र और शव-साधना आदि बातें स्वास्थ्यबद्धक नहीं हैं, क्योंकि कुछ आडम्बरी और ढोंगी किस्म के धूर्त ग्रामीण धर्मभीरु मन को बहला-फुसला कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए उनके जीवन को त्रासद मोड़ पर ला खड़ा कर देते हैं।

इस कहानी में यह देखा जाता है कि ग्रामीण जीवन और परिवेश में धर्म, अवतार और चमत्कार की बातें जंगल की आग की तरह द्रुत फैलती हैं, क्योंकि वहाँ आँखों देखी घटना की जगह कानों सुनी बातें, ज्यादा मायने रखती हैं—“माघ-पूस की ठारी और चुड़इनियों के भीट की झरबेरी के घने, काले झाड़। बाबा इसी में एक दिन चरवाहों को समाधिस्थ मिले थे और उनके इस विस्मय-जनक अवतरण की बात आग की तरह चारों ओर फैल गयी थी।”¹⁸¹ जिससे यह तथ्य आसानी से समझा जा सकता है कि ग्रामीण अपढ़ परिवेश में किसी आडम्बरी को स्वयं को साधु-संत, धर्म या भगवान का पर्याय सिद्ध करने में तनिक भी देर नहीं लगती है। इस कहानी में भी उक्त सच को तब देखा जाता है जब अपढ़ घेंचू अपनी पत्नी सुखी से यह कहता है—“भगवान का एक रूप ही समझो बाबा को।” घेंचू रोज लौट कर सुखी से कहता है और बिना कुछ खाये-पिये खटिया में धँस जाता।¹⁸² वैसे भी, ग्रामीण जीवन में तंत्र-मंत्र करने वाले आडम्बरी सहज ही अपढ़

लोगों को डरा कर—“कोई राज-विग्रह होगा या महामारी फैलेगी”¹⁸³ —तो कभी उनकी सुप्त या अतृप्त इच्छाओं को हवा देकर—“रतन, साहब पिछले जनम में तेरे ऊपर नाराज था, चार जनमों तक लगातार तुम्हें वैधव्य से भुगतना है”— बाबा एक दिन रतनजोत से कह रहे थे,¹⁸⁴ तो कभी अपने को शक्ति-संपन्न और चमत्कारी सिद्ध करने के क्रम में शव-साधना जैसा ढोंग रच कर—“ बाबा आजकल शव-साधना कर रहे हैं। रोज रात मुर्दहवा घाट जा, मुर्दे की लाश पकड़ कर मंत्र का जाप करते हैं। दारू से नहाते हैं। मुर्दे के मांस का भक्षण करते हैं। रात को भक्त मठिया पर नहीं जाते”¹⁸⁵ अपना स्वार्थ साधने की ओर प्रवृत्त रहते हैं।

गौरतलब है कि मार्कण्डेय अपनी इस कहानी में केवल ग्रामीण जीवन में गहरे व्याप्त तंत्र-मंत्र और शव-साधना के प्रति रुझान को ही न दिखलाते हैं, बल्कि उसकी तह में जाकर इसकी मिथ्या-चेतना पर प्रहार करते हैं। तभी वे इस कहानी में बाबा के ढोंग का पर्दाफाश करते हुए उसकी सच्चाई को उजागर करते हैं। प्रस्तुत कहानी में यह दिखलाया जाता है कि बाबा समाज से विद्रोह के नाम पर साधुओं का धर्म, लोक से परे बताने का ढोंग करता है। स्वयं बाबा घेंचू की पत्नी का दैहिक शोषण करते हैं, जिस कारण वह गर्भवती होती है। और यही बाबा अपनी जटा काटकर स्वयं चम्पत होने के फेर में रहते हैं—“तो कल कैंची लाना न भूलना। यह लंबी जटा तो भागने भी न देगी” “ठाकुर द्वारा का चंदा तो तुम्हारे ही पास... बस उसे बाँध लेना। कहीं दूर चलेंगे, सुखी।”¹⁸⁶ जिससे तंत्र-मंत्र तथा शव-साधना की वास्तविकता उजागर होती है और यह भी कि सारा ताम-झाम एक आडम्बर होता है, जो ग्रामीण जन की जिंदगी को त्रासद मोड़ पर ला देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मार्कण्डेय अपनी उक्त कहानी में तंत्र-मंत्र तथा शव-साधना आदि कर्मकाण्डों को ग्रामीण जन-जीवन को गुमराह करने के संदर्भ में दिखलाते हैं।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘खुशहाल ठाकुर’ में भी तंत्र-मंत्र से जुड़ी जादू-टोना और झाड़-फूँक की प्रक्रिया कहानी के एक प्रसंग में दिखलायी गयी है। जिससे ग्रामीण जीवन में तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, झाड़-फूँक आदि मिथ्या चेतना के बहुत गहरे में व्याप्त होने का सच पता चलता है—“...उसमें तो बड़ी मालकिन की आत्मा चुड़इन बनकर घूमती है। गाँव वालों ने ओझा को बुला लिया।”¹⁸⁷ किंतु, आलोच्य कहानी में भी मार्कण्डेय कहानी के पात्र हिराऊ के माध्यम से ग्रामीण जीवन की उक्त मिथ्या चेतना पर प्रहार करते हैं—“ओझा चिल्लाता रहा। बोल-बोल, कौन है तू... हिराऊ यह सब सह नहीं पायी और ओझा को गाली देने लगी ससुरा, पापी, इसका माँस गल जायेगा। मेरी फूल-जैसी गोपी को इसने बाँस के छरके से मारा है। यह ओझा नहीं राक्षस है।”¹⁸⁸ इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय अपनी कहानियों के माध्यम से ग्रामीण-धार्मिक जीवन में व्याप्त

तंत्र-मंत्र, शव-साधना, झाँड़-फूँक, ओझा-बाबा के आदि की मिथ्या-चेतना को अनावृत्त करने का कार्य करते हैं।

समग्रता में मार्कण्डेय की कहानियों में चित्रित ग्रामीण धार्मिक जीवन पर विचार किए जाने पर निम्न बिंदु प्रमुख होकर उभरते हैं। पहला, प्रकृति के मध्य घिरे हुए ग्रामीण आम जन-जीवन में धर्म का पहलू बेहद महत्वपूर्ण है। दूसरा, ग्रामीण आमजन का धर्म को देखने का अपना नजरिया है। कभी इनका धर्म, मानवीय उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति में देखा जाता है तो कभी यह सदियों से चली आ रही रूढ़ियों की चिंतनहीन स्वीकृति परक अंध-श्रद्धा में। तीसरा, ग्रामीण धार्मिक जीवन में व्याप्त धर्म की मिथ्या चेतना स्वरूप धार्मिक अंधविश्वास ग्रामीण साधारण जन को गुमराह करता है, उसे वस्तुस्थिति के संज्ञान से दूर ले जाता है। चौथा, ग्रामीण धार्मिक जीवन में व्याप्त धर्म की मिथ्या-चेतना के पीछे वहाँ के समाज और जीवन में व्याप्त पर्याप्त शिक्षा, चेतना तथा बुनियादी जरूरतों ओर सुविधाओं का अभाव होता है। पाँचवा, ग्रामीण धार्मिक जीवन में व्याप्त धर्म की मिथ्या चेतना पर मार्कण्डेय की कहानियाँ प्रहार करती हैं, क्योंकि उनकी यथार्थ-दृष्टि धर्म की मिथ्या चेतना को ग्रामीण जीवन और समाज के लिए स्वास्थ्यवर्धक नहीं समझती है। छठवाँ, ग्रामीण धार्मिक जीवन के आस्तिकतापरक पहलू स्वरूप धर्म की मिथ्या चेतना – धर्मभीरुता, ब्राह्मणवाद, तीर्थ-स्नान आदि बाह्याचार, परंपरागत रूढ़ियों की चिंतनहीन स्वीकृति, भूत-प्रेत-डाइन का अंधविश्वास, तंत्र-मंत्र, झाँड़-फूँक, ओझा बाबा का चमत्कार आदि— ग्रामीण आमजन के जीवन को समस्याओं से परिपूर्ण करती है तथा सामाजिक परिवर्तन और विकास के लिए प्रतिगामी सिद्ध होती है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन के यथार्थ को समग्रता में उज्जीवित करने के क्रम में धर्म के पहलू को प्रमुख मानते हुए उसे विवेकपूर्ण ढंग से देखती हैं। इसी कारण एक तरफ जहाँ ग्रामीणजन के मानवीय उच्चतर कर्मों को करने को अपना धर्म निभाने के क्रम में दिखाया जाता है तो दूसरी तरफ ग्रामीण जन की अंधश्रद्धा के फलस्वरूप धर्म की जगह उसकी मिथ्या चेतना को अपनाने और ढोने के सच को दर्शाया जाता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ धर्म की उक्त मिथ्या चेतना पर चोट करती हैं, उसे अनावृत्त करने का कार्य करती हैं।

3.3.4.2 सांस्कृतिक जीवन

जैसा कि विदित है कि किसी भी समाज की अपनी एक संस्कृति होती है और उस संस्कृति से संस्पर्शित जीवन ही उस समाज का सांस्कृतिक जीवन कहलाता है। दरअसल, समाज और संस्कृति का संबंध अटूट और अन्योन्याश्रित है, क्योंकि किसी भी संस्कृति का आधार उसका समाज ही होता है। डॉ. दिलीप भस्मे इस संबंध को कुछ इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—‘समाज और संस्कृति

का संबंध अन्योन्याश्रित है। संस्कृति का आधार 'समाज' है, एवं समाज को सूचारु ढंग से संचालित करने वाली पद्धति संस्कृति है। जब संस्कृति समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ बन जाती है तब सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया का और नए मूल्यों का निर्माण शुरू हो जाता है। ये नए मूल्य वर्तमान और भविष्य के समाज की आवश्यकतानुकूल बन जाते हैं।¹⁸⁹ जिससे दो बातें संकेतित होती हैं। पहली, समाज को नियंत्रित एवं गतिशील करने वाले आधार के रूप में संस्कृति एक महत्वपूर्ण आयाम है। दूसरी, संस्कृति का पहलू सतत् गतिशील एवं परिवर्तनशील रहता है, किंतु इसमें परिवर्तन समाज की माँग के आधार पर ही होते हैं। जिससे यह सिद्ध होता है कि समाज से संस्कृति का संबंध अटूट बना रहता है। ग्रामीण समाज की भी एक अपनी संस्कृति है जो सदियों से उसकी पहचान को दर्शाती रही है। डॉ. राजकुमारी सिंह इस संबंध में लिखती हैं—“प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है और वह अपने में संस्कृति की एक अविच्छिन्न गौरवमय धारणा को लिए चलती है। अतः संस्कृति एक सामाजिक विरासत के रूप में प्रत्येक अंचल जीवन में व्याप्त है। वस्तुतः ग्रामीण संस्कृति प्रत्येक अंचल में बसे प्राणियों के जीवन का अंग है। अंचल में व्याप्त, पर्व, त्यौहार, संस्कार, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, खेलकूद आदि एकता व अखण्डता के सूचक हैं।”¹⁹⁰ स्पष्ट है कि ग्रामीण जीवन के लिए संस्कृति उनके जीवन-समुच्चय को प्रतीकित करती है तथा ग्रामीण जन इसमें अपनी विरासत को देखते हैं। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति के प्राण ग्रामीण संस्कृति में ही छिपे हैं। इसलिए भी, ग्रामीण संस्कृति से युक्त सांस्कृतिक जीवन कहानीकार मार्कण्डेय के लिए एक महत्वपूर्ण पक्ष है। किंतु, इसे वे विच्छिन्न रूप में न देखकर ग्रामीण जीवन के अन्य पक्षों और संदर्भों की संश्लिष्टता में देखते हैं। उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ में ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन का संस्पर्श भी है। इसे इन बिंदुओं के रूप में अवलोकित किया जा सकता है—प्रकृति प्रेम (धरती पशु-पेड़-पल्लव से प्रेम) बैठक-दालान की संस्कृति, विविध रीति-नीति, पर्व-त्यौहार, मेले, और लोकगीत आदि।

3.3.4.2.1 प्रकृति प्रेम (धरती-पशु-पेड़-पल्लव)

जैसा कि सर्वविदित है कि ग्रामीण जन-जीवन प्रकृति के चतुर्दिक ही स्पंदित होता है। प्रकृति-प्रेम में, उनका अपनी धरती तथा अपने पशु-पेड़-पल्लव से गहरा नाता होता है। ग्रामीण आमजन जहाँ अपनी धरती को माता स्वरूप मानता है, वहीं वह अपने पशु-पेड़-पल्लव से पुत्रवत् स्नेह रखता है। यही नहीं, ग्रामीण आमजन अपने कृषि-कर्म में एक मर्यादा बोध देखता है, जिस कारण उन्हें अन्य कार्य गौण लगते हैं। मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण जीवन के बुनियादी सवालों के साथ वहाँ की सांस्कृतिक विशिष्टताओं में प्रकृति-प्रेम को अपनी कहानियों में समेटते

चलता है, ताकि ग्रामीण यथार्थ जीवन का समग्र और संश्लिष्ट रूप उभर सके। यहाँ प्रमाण स्वरूप उनकी कहानियों का जिक्र किया जा सकता है।

सबसे पहले उनकी बेहद चर्चित कहानी 'गुलरा के बाबा' का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी का शीर्षक इस बात की तस्दीक करता है कि किसी व्यक्ति का अपने खेत-खलियान तथा पेड़-पल्लव से इतना गहरा रिश्ता हो सकता है कि वह उसकी पहचान ही बन जाता है। प्रस्तुत कहानी में भी कहानी के प्रमुख पात्र का गाँव के जीवन में परिचय उनके बाग (गुलरा) के आधार पर होता है। इस कहानी में देखा जाता है कि बाबा की दिनचर्या अपने बाग (गुलरा) तथा वहाँ व्याप्त पेड़-पल्लव के सेवा-सत्कार में बीतती है। यही नहीं, उनका अपने बाग तथा पेड़-पल्लव से ऐसा-रिश्ता होता है, जैसा कि एक पिता का अपने पुत्र से—“गुलरा की इस आमों की बगीचा का एक-एक जीव, एक-एक पत्ता बाबा के इस गर्जन से परिचित है। क्यों न हो, बाबा रात-दिन इन्हीं पेड़ों की सेवा-सत्कार में लगे रहते हैं... वे गुलरा के बाबा कहे जाते हैं...।”¹⁹¹ जिससे यह समझा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन में व्यक्ति का अपने पेड़-पल्लव से होने वाला स्नेह और प्रेम उसके सम्पूर्ण जीवन का आधार होता है। बाबा का यही स्नेह और प्यार उन्हें सामाजिक जीवन में मानवीय बनाए रखता है।

इसी संदर्भ में मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'महुए का पेड़' का भी जिक्र किया जा सकता है। यहाँ भी मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन की विशिष्टताओं में ग्रामीण जन का पेड़-पल्लव से प्यार को इतने गहरे में व्याप्त देखता है कि, वह एक कहानी का शीर्षक ही एक पेड़ के नाम से कर देता है। आलोच्य कहानी में यह दर्शाया गया है कि कहानी की प्रमुख पात्रा (ग्रामीण जन) दुखना का संपूर्ण जीवन महुए के पेड़ से इतना संबद्ध-आबद्ध रहता है कि वह एक पल के लिए भी उससे अलग होने के खयाल से डरती है। वह और उसका महुए का पेड़ एक-दूसरे के पूरक होते हैं। वह अपने ऊपर होने वाले तमाम अत्याचार और शोषण के मध्य जिस तरह स्वयं को बचाए रखती है, ठीक उसी भाँति अपने महुए के पेड़ को। दुखना को भी उसका महुए का पेड़ उसे एक सुरक्षा प्रदान करता है, आर्थिक और सामाजिक दोनों—“महुए के पेड़ से उसका बड़ा निकट संबंध है। उसे दुखना ने अपने हाथ से लगाया है, सींचा है और देख-रेख कर इतना बड़ा किया है। अब उसकी उम्र पचास वर्ष की हो रही है। दुखना कभी उसे अपना बच्चा समझती थी, पर अब उसके विशाल पौरुष की छाया के नीचे अपने को रक्षित समझती है। क्या मजाल है कि कोई एक टहनी भी उससे तोड़ ले। चाहे वह जमींदार का ऊँट हो, चाहे मौला का हाथी दुखना के जीते जी उस महुए की छाया दोनों के लिए वर्जित है।”¹⁹² आलोच्य कहानी में

यह भी दर्शाया गया है कि ग्रामीण जन का प्रकृति-प्रेम उनके संपूर्ण जीवन का अहम हिस्सा है। दुखना के लिए महुए का पेड़ उसकी जिजीविषा है। यही कारण है कि दुखना को लगता है कि महुए के पेड़ के उखड़ने से उसका अस्तित्व ही उखड़ गया है। उसमें जीवन के प्रति एक वैराग्य भाव उत्पन्न होता है—“वह महुए के तने के पास चली गयी, खून-सी लाल तने की लकड़ी को हाथ से हुआ, झोपड़ी की दीवारों को देखा और घूम कर हरखू की माई कहने लगी-हरखू की माँ चलती हो तीरथ को? मैं तो चली।”¹⁹³ जिससे यह समझा जा सकता है कि ग्रामीण जन का अपनी प्रकृति (पेड़-पल्लव) से अंतरंग रिश्ता होता है, जो उनके जीवन को निर्धारित करता है।

इसी प्रकार मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘दौने की पत्तियाँ’ में ग्रामीण जन का अपनी धरती (जमीन) अपने पेड़-पल्लव (दौने का गाछ) से अंतरंग जुड़ाव देखते ही बनता है। जिससे ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन में गहरे व्याप्त प्रकृति-प्रेम को लक्ष्य किया जाता है। आलोच्य कहानी का भोला कोयरी एक साधारण किसान है जो अपनी छोटी-सी जमीन पे सब्जियाँ उगाता है। यही उसकी जीविका का एकमात्र जरिया है। उसके गाँव के लोग चारों ओर पेड़-पल्लव से घिरी सुन्दर-सी उसकी जमीन तथा उस पर पल्लवित दौने के गाछ को समग्ररूप में दुलहिन की संज्ञा देते हैं। भोला के जीवन का यही वैभव है। वह हर आने-जाने वालों के बीच अपने वैभव (दौने की पत्तियाँ) को लुटाता (बाँटता) है—“दौना भोला को बहुत प्रिय है। प्रायः अपने घर आये जाने-माने लोगों का स्वागत करते समय वह दौने की पत्तियाँ भेंट करना नहीं भूलता।”¹⁹⁴ स्पष्ट है कि भोला जैसे ग्रामीण साधारण जन का अपनी प्रकृति (धरती-पेड़-पल्लव) से अत्यधिक प्रेम ही उसे निजी-जीवन में उदार और मानवीय बनाए रखता है। किंतु, उसका यही वैभव (उसकी जमीन) छिन जाने का भय उसके जीवन को मायूसी से भर देता है। उसके जीवन के रस के सोते को ही शुष्क कर देता है। उसका उदार और मानवीय रूप कुंठित हो जाता है—“भोला को जाने क्यों क्रोध आ गया। उसका शरीर काँपने लगा। उसे लगा कि वह आपे से बाहर हो जाएगा, पर वह इतना गर्म तो कभी नहीं होता था... सारा शरीर जैसे गन्ने के चुसे चेफे-सा सिकुड़ कर ऐंठ गया था।”¹⁹⁵ जिससे इस तथ्य को समझा जा सकता है कि भोला जैसे ग्रामीण साधारण जन का अपनी प्रकृति (धरती-पेड़-पल्लव) से इतना गहरा रिश्ता होता है कि वह उसके जीवन के माधुर्य को प्रभावित-निर्धारित करता है।

इसी तरह मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘सवरइया’ में ग्रामीण जन के प्रकृति-प्रेम के अन्य रूप को लक्ष्य किया जाता है। जहाँ, यह देखने को मिलता है कि ग्रामीण जन का अपने ढोर-ढंगार से एक आत्मीय रिश्ता है, जो उनके सांस्कृतिक जीवन को ही प्रतिबिम्बित करता है। मार्कण्डेय की उक्त कहानी ‘सवरइया’ में ग्रामीण जीवन की एक विधवा स्त्री (महाराजिन) तथा

उसके बैल (सवरइया) के माध्यम से ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन में रचे-बसे पशु-प्रेम और उसकी संवेदना (प्रकृति-प्रेम) को बखूबी दर्शाया गया है। यह कहानी इस तथ्य को उभारती है कि प्रेम से ही पशुता जाती है। महाराजिन का प्रेम ही सवरइया (पशु) को उसके परिवार का सदस्य ही नहीं, बल्कि उसके जीवन का अभिन्न हिस्सा बना देता है; सवरइया के पशुत्व को छीन लेता है—“महाराजिन धीरे-धीरे बढ़ीं उसकी गर्दन और डील पर हाथ फेरने लगी। सवरइया ने गर्दन झुका लीं और महाराजिन का पैर चाटने लगा। गोसैयाँ के ममता भरे हाथों ने उसका पशुत्व छीन लिया।”¹⁹⁶ यही नहीं, महाराजिन अपनी घोर विपत्ति में भी सवरइया को अपने से अलग होने नहीं देना चाहती है—“काकी काहे नाहक परेशान हो रही हो। अरे सवरइया हमें दे दो हम दो सौं रुपया दे देंगे। मालगुजारी भी दे दी जाएगी, और भी काम चलेगा... और वे आंगन में इधर-उधर घूमने लगीं। फिर सोचने लगी, “शीशफूल रख दूँ, क्या कँरुगी? लेकिन वही तो उनकी निशानी है, तो क्या सवरइया, सवरइया.....? नहीं-नहीं, इसे नहीं बेच सकती।”²⁷⁶ जिससे सहज ही ग्रामीण जन के रूप में महाराजिन का सवरइया (पशु) से स्नेह और जुड़ाव लक्ष्य किया जा सकता है।

मार्कण्डेय का कहानीकार आलोच्य कहानी में एक ग्रामीण विधवा स्त्री के ऊपर होने वाले अत्याचार और शोषण के बरक्स मनुष्य और पशु की सहानुभूति और संवेदना को इस कदर चित्रित करता है कि कहानी का मार्मिक हो जाना स्वाभाविक हो जाता है—“सवरइया पट्टीदार की जमुनापुरी के बगल एक नए पगहे में बँधा है। भूसा-दाना सब है, पर वह नाद में मुँह नहीं डालता... कान फड़फड़ाती है, पर सवरइया की गर्दन नीचे की ओर झुकी हुई है, उसके मुँह से फेंचकुर तथा आँखों से पानी और कीचर आ रहे हैं।”²⁷⁷ जिससे यह जाहिर होता है कि मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन (प्रकृति-प्रेम) को विच्छिन्न रूप में न दिखलाकर उसे जीवन के अन्य पक्षों के साथ संश्लिष्ट रूप में दर्शाता है।

इस प्रकार देखा जाए तो कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, ग्रामीण जीवन का सांस्कृतिक पक्ष (प्रकृति-प्रेम) मार्कण्डेय की कहानियों में महत्त्वपूर्ण होकर उभरता है। किंतु यह जीवन के अन्य पक्षों के साथ सम्पृक्त रहता है। दूसरी, ग्रामीण जन के प्रकृति-प्रेम में उनका अपनी धरती, पशु और पेड़-पल्लव से गहरा नाता होता है जो उनके जीवन का संबल बनता है। तीसरी, ग्रामीण जन का अपनी प्रकृति (धरती, पशु, और पेड़-पल्लव) से अंतरंग जुड़ाव ही उन्हें सामाजिक जीवन में उदार और मानवीय बनाए रखता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जनजीवन में व्याप्त प्रकृति-प्रेम का संश्लिष्ट यथार्थ प्रस्तुत करती हैं।

3.3.4.2.2 बैठक-दालान और बातचीत की संस्कृति

जैसा कि सर्वविदित है कि शहर-नगरों की आपाधापी तथा चाय-कहवाघरों से सुदूर ग्रामीण जीवन की अपनी एक सांस्कृतिक दुनिया है। उनकी यह सांस्कृतिक दुनिया उनके आस पास निहित किसी बैठक-दालान या चौपाल-मड़इया के आस-पास जीवंत होती है। जहाँ ग्रामीण जीवन की सामूहिक बातचीत या परस्पर संवाद चलता है। यहाँ होने वाली बातचीत से ग्रामीण आमजन अपनी थकान से मुक्त होता है, नए सिरों से संघर्ष करने की शक्ति-संचय करता है। यहीं समग्र ग्रामीण जीवन की नब्ज़ टटोली जाती है। यहीं ग्रामीण जीवन का अतीत खंगाला जाता है, वर्तमान की पहचान की जाती है और भविष्य के लिए मसूबे बाँधे जाते हैं। यहीं युवा पीढ़ी को अपने बुजुर्गों से अपनी परंपरा, आस्था और विश्वास की पहचान होती है। यही, वह बतस्थल होता है, जहाँ ग्रामीण जीवन का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक यथार्थ उद्घाटित होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि बैठक-दालान और बातचीत की सांस्कृतिक दुनिया ग्रामीण जन-जीवन का अभिन्न हिस्सा होने के साथ-साथ ग्रामीण जीवन के अन्य पक्षों को प्रभावित-निर्धारित करती है।

मार्कण्डेय की कतिपय कहानियाँ ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन को बखूबी चित्रित करने का प्रयास करती हैं। यहाँ प्रमाण के लिए उनकी कहानियों के विविध प्रसंगों का अवलोकन किया जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'घूरा' कहानी के एक प्रसंग का जिक्र किया जा सकता है। इस कहानी में यह देखा जाता है कि मार्कण्डेय की कहानियों के कथानकों की अंतर्गता प्रायः इन्हीं बैठक-दालानों तथा वहाँ की बातचीत की राह गुजर कर ही तय होती है। आलोच्य कहानी में बाढ़ की पृष्ठभूमि निबद्ध रहती है। गाँव में आए बाढ़ से किन लोगों का जीवन किस रूप तथा किस हद तक प्रभावित होता है, उसकी खबर यहीं बैठक-दालान तथा वहाँ की बातचीत से होती है—“ घूरा की विपत का कोई ओर नहीं। गाँव के बीच में घर ठहरा। ठाकुर बाम्हन होती तो दूसरी बात थी, जिसे देखो अपने-अपने दरवाजे पर ऊँची मेड़ बाँध दिए हैं, चारों ओर से बखरी डूब रही है भाई! जिसकी बात बिगड़ती है, ऐसे ही।”¹⁹⁹ यहाँ लक्ष्य किया जा सकता है कि ग्रामीण आमजन, घूरा के वर्तमान तथा उसकी दुरावस्था की चर्चा गाँव के बैठक-दालान की बातचीत में ही होती है। यही नहीं, घूरा के अतीत की समृद्धि तथा गाँव के लंबरदार के ऊपर किया गया उसके उपकार का संज्ञान ग्रामीण नई पीढ़ी को इसी बैठक-दालान से होता है—“ तुम क्या जानोगें, अभी कल के तो जनमे हो बेटा! वही लंबरदार थे कि हारे-हरजे पचासो बार, उसके यहाँ हाथ फैलाते थे। लड़की की शादी पड़ी, घर में कौड़ी नहीं थी...।”²⁰⁰ यही नहीं, गाँव में भलामानस बना लंबरदार की बेईमानी की चर्चा यहीं होती है—“ललता सिंह ने कहा, “बड़े बेइमान थे दादा, वे।” “बेइमान, अरे

बेइमान न होते तो फलते-फूलते नहीं...।²⁰¹ जिससे यह भी समझा जा सकता है कि बैठक-दालान की बातचीत के रूप में निरूपित सांस्कृतिक जीवन ग्रामीण जीवन के अन्य पक्ष और संदर्भों को संश्लिष्ट रूप में जाहिर करता है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन में बैठक-दालान की बातचीत को इतने अभिन्न रूप में शामिल पाता है कि वह एक पूरी कहानी इसी शीर्षक से रच डालता है। और तो और इस बातचीत को कहानी की रचना-प्रक्रिया का रूप देता है। यहाँ प्रमाण-स्वरूप उनकी 'बातचीत' कहानी की चर्चा की जा सकती है, जहाँ यह दर्शाया गया है कि उक्त बातचीत ग्रामीण जनजीवन में एक रस घोलती है; उनके जीवन की शुष्कता को कम करती है—“कभी-कभी तो सितबिया धोबिन की चुनरी ही को लेकर बात खड़ी हो जाती है। फिर क्या, बूढ़े चौथी जवान गभडू बन जाते हैं। बिना दाँत के मसूढ़ों में एक मशीन की-सी गति आ जाती है और होंठ बारबार एक-दूसरे से टक्कर लेते रहते हैं। नन्हीं-नन्हीं कीचर से भरी आँखों में एक भाषा बोलने लगती है और जवान कतरनी की तरह कचर-कचर चलती है।”²⁰² कभी-कभी तो, यह बातचीत सरस सौंदर्य चर्चा के साथ ग्रामीण जीवन के ज्वलंत प्रश्नों की ओर उन्मुख हो जाती है—“दादा बूढ़े हो गये, पर इनकी चुलबुलाहट न गयी। सारा गाँव तो हाय-हाय कर रहा है, ताल में धान की पकी-पकायी फसल थोड़े से पानी बिना चौपट हो रही है, इनको बस सितबिया की पान, मनकिया की धोती, बुधुआ-रनिया सनई के खेत में साथ-साथ घास काट रहे थे; न जाने क्या-क्या सूझते हैं। अरे भइया, अगर दो दिन में पानी न बरसा तो पेट के लाले पड़ जाएँगे, लाले, फिर यह सब लँहगा-टिकुली बिक जाएगी। जब पेट भरता है तभी संसार का सुख-सोहाग अच्छा लगता है।”²⁰³ यहाँ यह सहज समझ में आता है कि बैठक-दालान की बातचीत, ग्रामीण जीवन के आमोद-प्रमोद के साथ-साथ वर्तमान के सामाजिक-आर्थिक संकट पर होने वाले विचार-विमर्श के सिलसिले को भी आगे बढ़ाती है। इसी बिंदुपर, कहानीकार मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि को भी समझा जा सकता है, जहाँ वे ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन के मस्ती-आनंद को वहाँ के बुनियादी जरूरतों की आपूर्ति पर आधृत होते हुए दिखाते हैं, क्योंकि कृषि-कर्म पर आधृत ग्रामीण जीवन और समाज के लोगों का उनकी लहलहाती फसलों से गहरा रिश्ता होता है। ये फसल ही उनकी वर्ष-भर की खुशी का कारण है। ये फसल ही उनकी भूख का शमन और अन्य बुनियादी जरूरतों को पूरा करता है। उनकी भूख का शमन ही उनकी पहली प्राथमिकता है, इसके आभाव में जीवन का हर सौंदर्य, मस्ती-आनंद, और आमोद-प्रमोद फीका रहता है।

यही नहीं, ग्रामीण जीवन के बैठक-दालान की बातचीत देश की राजनीति-अर्थनीति को भी

प्रकाशित करती है। यहीं सत्ता और शासन की विकास योजनाओं और उसके क्रियान्वयन के रहस्य का पता चलता है—“अभी क्यों घबरा गये रामू। गाँधी टोपी के राज में जो न हो जाए। जानते हो जिस देश का राजा पापी होता है, वहीं झूरा पड़ता है, अकाल आता है, भुखमरी होती है। जल्दी-जल्दी गहना गीठों बेच कर ऊसर-पापर तो लिखा लिया। उसमें धान क्या होगा खाक ! सरकार से कहो, पानी का भी इन्तिजाम करे।”²⁰⁴ जिससे शासन के विकास-कार्यक्रमों के आधे-अधूरे क्रियान्वयन का बोध होता है। इसी तरह बातचीत का यह निम्न संवाद भी देखा जा सकता है—“रामू ने गदोरी पर सुर्ती रखते हुए कहा, “हर विधा हमी को तो पिसना है, दादा ! मरेंगे, जरेंगे अन्न उपजाएँगे पर मजा दूसरे मारेंगे। देखो न ! पंचाइत बनी थी किसानों के फायदे के लिए, लेकिन सरपंच हो ही गये गयादीन ठाकुर। खूब मुट्ठी गरम होती है।”²⁰⁵ जिससे शासन की विकास नीतियों से ग्रामीण साधारण जन के वंचित रहने का सच मालूम पड़ता है। यही नहीं, ग्रामीण बैठक-दालान की बातचीत में ही यह पता चलता है कि भावी ग्रामीण जीवन और समाज किस ओर करवट लेगा। मार्कण्डेय की कहानी ‘बीच के लोग’ का यह निम्न प्रसंग अवलोकनीय है—“फिर इधर मनरा ने नए जवानों की एक टोली खड़ी कर ली है, जिसमें हर जाति के लड़के हैं और वह भी ऐसे लड़के जो मानते हैं कि कानून-व्यवस्था बड़ों का हथियार है। यह जनता की रक्षा के लिए नहीं, गरीबों के दमन के लिए ही इतनी ताम-झाम से तैयार किया गया है कि आम जनता एक भरोसे में सोती रहे और लूट का काम मजे से चलता रहे। इसलिए वे खुद अपनी रक्षा के लिए तैयार हैं।”²⁰⁶

अतः इस प्रकार कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों में चित्रित ग्रामीण बैठक-दालान और बातचीत का सीमित संसार ग्रामीण जन-जीवन का अभिन्न हिस्सा के रूप में उनके सांस्कृतिक जीवन को प्रकाशित करता है और यह सांस्कृतिक जीवन उनके जीवन के अन्य पक्षों-संदर्भों और समस्याओं-सवालों से सम्पृक्त रहता है उन्हें संचालित-निर्धारित करता है।

3.3.4.2.3 रीति-नीति, पर्व-त्योहार-मेले और लोकगीत

जैसा कि विदित है कि शहरों-नगरों की द्रुत भागती जिंदगी में आमोद-प्रमोद, मनोरंजन और मस्ती आनंद के लिए पर्याप्त भौतिक सुविधाएँ (ग्रामीण जीवन की अपेक्षाकृत) उपलब्ध होती हैं, जिनमें शहरी-जन अपने को निमग्न किए हुए दूसरों से बेपरवाह बना रहता है। जबकि ग्रामीण बहुसंख्यक जन अपनी बुनियादी जरूरतों के अभाव में, अपने समक्ष उपस्थित ज्वलंत प्रश्नों से मुठभेड़ करने के कारण अपने आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के लिए बहुत अल्प समय ही निकाल पाते हैं। फिर भी, उनका सांस्कृतिक जीवन समृद्ध होता है, क्योंकि उनके सांस्कृतिक जीवन को

प्रतीकित करने वाले पहलू- विविध रीति-नीति, पर्व-त्योहार-मेले और लोकगीत आदि उन्हें न सिर्फ आनंद प्रदान करते हैं, बल्कि उनकी सामुदायिकता की भावना को भी समृद्ध करते हैं, जो उन्हें शहरी जीवन के आनंद उठाने के तरीके से पृथक पहचान देता है। जैसा कि, यह दिलीप भस्मे के निम्न कथन में भी लक्ष्य किया जा सकता है-“उत्सव-पर्व-तीज-त्योहार आदि से ग्रामांचलिक जन-जीवन में, एकात्मता, सामूहिकता और बंधुता के दर्शन होते हैं।”²⁰⁷ कहने का तात्पर्य यह है कि विविध रीति-नीति, पर्व-त्योहार-मेले और लोकगीत ग्रामीण जन के लिए सुअवसर स्वरूप होता है, जहाँ वे आनंद पाने के साथ-साथ एक-दूसरे के साथ जुड़ते हैं। इस ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन की अहमियत मार्कण्डेय का कहानीकार भी समझता है। हालांकि, उनका कहानीकार ग्रामीण जीवन की सांस्कृतिक विशिष्टताओं के एकांगी रोमांटिक चित्रण से स्वयं को बचाता है। इसकी जगह वह ग्रामीण जीवन के अहम प्रश्नों-समस्याओं के चित्रण के क्रम में ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन में शामिल विशिष्टताओं का जिक्र भर करता है। जिनसे ग्रामीण आमजन की दिलचस्पी, मस्ती और मनोरंजन का पता चलता है।

यहाँ प्रमाण-स्वरूप उनकी कहानी ‘गुलरा के बाबा’ का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी के प्रारंभ में ही चैतू जैसे ग्रामीण आमजन की गरीबी का पता चल जाता है। मार्कण्डेय का कहानीकार इसी बुनियादी सवाल को आगे बढ़ाने के क्रम में ग्रामीण आमजन की अपने परिवेश के प्रति दिलचस्पी तथा त्योहार के साथ जुड़ी आनंद-मस्ती का चित्रण करता है जिनसे उनका सांस्कृतिक जीवन प्रतिबिम्बित होता है-“ फागुन के दूसरे पखवारे के थोड़े ही दिन बाकी थे- दिन को सुनहली धूप, शाम को अबीरी आकाश और रात को रुपहली, टहकी चाँदनी-खलिहान जो-गेहूँ के डाँठ से खचाखच भरे हुए। हवा भी चिबोला करती है न ! बकरिदिया ठाकुर के घर से नह काट कर लौट रही थी- फगुनाहट का झोंका आया और आँचल उड़ा कर चला गया-“शरमा गयी बकरीदा। इसमें क्या बात है जी, फागुन मे बाबा देवर लागे।”²⁰⁸ स्पष्ट है कि ग्रामीण जीवन में फागुन महीने का एक अपना ही रंग होता है, जब चारों ओर हँसी-ठिठोली तथा जीवन में मस्ती-आनंद उठाने की प्रवृत्ति आम होती है।

इसी प्रकार मार्कण्डेय की कहानियों में मेले में जाने या वहाँ से वापस लौटने का जिक्र ग्रामीण जीवन के बुनियादी प्रश्नों से जुड़ी घटनाओं के चित्रण के क्रम में मिलता है। यहाँ प्रमाण स्वरूप उनकी ‘चाँद का टुकड़ा’ कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। जहाँ, मजदूर सनोहर के पारिवारिक जीवन के समस्यापूर्ण दृश्य को खड़ा करने के क्रम में कुंभ के मेले का जिक्र भर होता है-“ एकाएक बहन की शादी- की बात सिर पर देख कर, वह विचल गया था। बूढ़ी माँ, अभी

दो बरस पहले कुंभ के मेले में पिस कर मरे, अपने पति को भूल भी न पायी थी। रात-दिन उसकी माँड़ें से भरी आँखें बिसूरती रहती थीं कि एक नयी फिक्र सवार हो गयी।”²⁰⁹ यहाँ लक्ष्य किया जा सकता है कि ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन में मेले आदि का पहलू शामिल होता है, जिसका संज्ञान कहानीकार मार्कण्डेय को भी रहता है, पर वे उसके विस्तार में नहीं जाते हैं, क्योंकि उनके लिए ग्रामीण जीवन का बुनियादी प्रश्न केन्द्रीय मुद्दा होता है।

इसी तरह ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाली विविध रीतियों-नीतियों का भी चित्रण मार्कण्डेय की कहानियों में विस्तृत रूप में नहीं होता है, वे भी ग्रामीण जीवन के ज्वलंत प्रश्नों के साथ मात्र उल्लिखित होती हैं। जिसे प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की ‘नीम के टहनी’ में देखा जा सकता है। इस कहानी में ग्रामीण धार्मिक जीवन में व्याप्त अंधविश्वास और मिथ्या-चेतना के ज्वलंत प्रश्नों से जुड़े घटनाक्रम के रूप में ‘नीम के पेड़’ की नव-दंपति द्वारा की जाने वाली पूजा-अर्चना का प्रसंग आता है जो ग्रामीण जीवन की सांस्कृतिक विशिष्टता को उजागर करता है— “महारानी वाली नीम की पूजा के लिए इस गाँव की चलन है कि लड़कियाँ शादी के बाद दूल्हे के साथ, महारानी वाली नीम की पूजा करने आती है।”²¹⁰ स्पष्ट है कि गाँव में विद्यमान नीम के पेड़ को महारानी (देवी) का दर्जा दिया जाता है और जिसकी पूजा एक नव-दंपति की अपनी दाम्पत्य जीवन-यात्रा की शुरुआत के लिए मंगलमय माना जाती है।

इसी तरह ग्रामीण-सांस्कृतिक जीवन की धरोहर के रूप में ग्रामीण जीवन के लोकगीत के चित्रण के स्वरूप को समझा जा सकता है। वैसे तो लोकगीत का शाब्दिक अर्थ होता है लोक में प्रचलित गीत, लोक द्वारा रचे गीत, लोक विषयक गीत आदि। लोकगीत ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन की पहचान हैं, जो ग्रामीण भौगोलिक परिवेश के साथ उनके सामूहिक दुःख-सुख की लयात्मक अभिव्यक्ति होता है। इन लोकगीतों में ऋतुओं की खासियत तथा उनसे जुड़े विशेष क्रिया-कलाप सन्निहित होते हैं, जो ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन को प्रकाशित करते हैं। ग्रामीण जीवन से लोकगीत के गहरे अंतर्संबंध को डॉ. विवेकीराय कुछ इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—“लोकगीतों में गाँव के प्राणों का स्पंदन होता है तथा उनका समूचा अंतर वैभव इन गीतों के रूप में प्रस्फुटित होता है। परंपरा के रूप में गाए जाने वाले ये लोकगीत जिनके रचयिताओं का कोई परिचय नहीं होता है, कभी-कभी गायकों के व्यक्तित्व के साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं।”²¹¹ जिससे ग्रामीण जीवन से लोकगीतों का अंतरंग रिश्ता समझ में आता है।

किंतु, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के उक्त सांस्कृतिक पहलू-लोकगीत का चित्रण एक आंचलिक कहानीकार के रूप में नहीं करते हैं। इस कारण ही किसी अंचल-विशेष के वैशिष्ट्य को प्रतिफलित करने वाले तथा प्रत्येक ऋतु की पहचान

कराने वाले लोकगीतों की भरमार उनकी कहानियों का वस्तु-पक्ष नहीं बनता है। हाँ, वैसे कुछ लोकगीत का समावेशन उनकी कहानियों में अवश्य है, किंतु उनका नियोजन ग्रामीण जीवन के सुख-दुःखात्मक अनुभवों-संवेगों को प्रतीकित करता हुआ कहानी कथ्य को संप्रेषणीय बनाने के उद्देश्य से है। यहाँ प्रमाण स्वरूप उनकी कहानियों के कुछेक संदर्भों का जिक्र करना स्वाभाविक लगता है। उनकी 'वासवी का माँ' कहानी जिसमें ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि का उल्लेख है, उसमें दो चरवाहे होते हैं एक लड़का और लड़की वे एक-दूसरे के कंधों पर हाथ रखे हुए जिस लोकगीत को गाते हुए चित्रित किए जाते हैं, उसका टुकड़ा कुछ इस प्रकार होता है—“ मैं तो राजा जल की मछरिया, तुम धीवर के लड़का; झमकि जाल डारत काहे नाहीं।”²¹² जिससे प्रेम की स्वतः स्वाभाविक कामना झलकती है। पर आलोच्य कहानी में इसका नियोजन कहानी की पात्रा सीता की प्रेमेच्छा के स्वर को को प्रकाशित करने के रूप में होता है।

इसी तरह मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'हरामी के बच्चे' के एक प्रसंग का उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ मल्लाह के द्वारा गाये जाने वाला लोकगीत का स्वर कुछ यह होता है—“मल्लाह जोर से गा पड़ते हैं, धीरे बहु S S ... धीरे S धीरे बहु S S धीरे S... काहेन की तेरी नइया रे, काहे की करुवारि। कहाँ तोरा नइया खेवइया, के धन उतरई पार। धरमै कै मोरी नइया रे, सत कइ लागी करुवारि। सैंया मेरा नेइया खेवइया रे, हम धन उतरव पार ।... धीरे S S..... धीरे S धीरे बहु नदिया... तू धीरे SSS ।”²¹³ जिसे कहानी के मुख्य पात्र 'मैं' के अंतर्द्वन्द्व को संकेतित करने के उद्देश्य से नियोजित किया जाता है, जहाँ मैं के भीतर से सवाल उठते हैं, उसकी राह, साधन और उद्देश्य को लेकर। जिसका उत्तर अंततः यह होता है, धर्म (सच्चा कर्म) की राह, सत्य रूपी साधन और सबकी मुक्ति। जिससे यह भी समझा जा सकता है कि मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण जीवन के उक्त सांस्कृतिक पहलू, लोकगीत को कहानी के कथ्य को अग्रसर करने के उद्देश्य से नियोजित कर ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन के पक्ष का एकांगी और रोमांटिक चित्रण करने से स्वयं को बचाता है। यही उनकी यथार्थ-दृष्टि की विशेषता होती है, जो उन्हें आंचलिक कहानीकारों से अलग करती है। यही बात उनकी एक अन्य कहानी 'हंसा जाई अकेला' के लोकगीत-प्रसंग में देखी जाती है। आलोच्य कहानी में हंसा के गले में जो लोकगीत का स्वर है वह कुछ यह होता है—“हंसा जाई अकेला, इ देहिया ना रही। मल ले, धो ले, नहा ले, खा ले, करना हो सो कर ले, ई देहिया...।”²¹⁴ जिसे ऊपरी तौर पर देखे जाने पर यह प्रतीत होता है कि उक्त गीत ग्रामीण जीवन में व्याप्त संसार और मनुष्य की नश्वरता की ओर संकेत करने वाला नैतिक विचार है। जिसका तात्पर्य यह है कि शरीर क्षणभंगुर है और आत्मा अनश्वर। आत्मा अकेली रह जाती है और शरीर नष्ट हो जाता है। परंतु समग्र कहानी के अनुशीलन के अनुरूप

देखने पर यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि उक्त लोकगीत का कहानी में निबंधन स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों के मध्य ग्रामीण आमजन (हंसा) के अकेलेपन के दंश को संकेतित करने के प्रयोजन से है। इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन की विशिष्टताओं के रूप में, विविध रीति-नीतियों, पर्व-त्योहार-मेले और लोकगीत आदि पहलू का चित्रण तो करती हैं, परंतु उसे विच्छिन्न या एकांगी रूप में न दिखलाकर ग्रामीण जीवन के ज्वलंत-प्रश्नों-संदर्भों के अनुक्रम में दर्शाती हैं।

समग्रता में ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन-पक्ष को मार्कण्डेय की कहानियों के आधार पर देखा जाए तो कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, ग्रामीण जीवन का सांस्कृतिक पक्ष उसके जीवन समुच्चय को प्रतीकित करता है। दूसरा, ग्रामीण जीवन का सांस्कृतिक पक्ष मार्कण्डेय की कहानियों में मुख्य रूप से प्रकृति प्रेम, बैठक-दालान की बातचीत, विविध रीति-नीति, पर्व-त्योहार-मेले और लोकगीत आदि बिंदुओं पर चित्रित और विश्लेषित होता है। तीसरी, मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन के रूप में प्रकृति-प्रेम स्वरूप ग्रामीण जन का अपनी धरती, पेड़-पल्लव और पशु से गहरे आत्मीय रिश्ते को बखूबी दर्शाती हैं। उनका यह रिश्ता उनके जीवन का सम्बल होता है, उनके जीवन को प्रभावित-निर्धारित करता है। चौथी, ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन के एक पहलू के रूप में बैठक-दालान की बातचीत को मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीणजन के दैनंदिन जीवन व्यवहार से जोड़ते हुए उनके जीवन के अतीत, वर्तमान और भविष्य से जुड़े मुद्दों-प्रश्नों, आस्था-विश्वास और आशा-अपेक्षाओं को संश्लिष्ट रूप में प्रकाशित करने वाले एक माध्यम के रूप में दर्शाती हैं। यही नहीं, यह बातचीत उनके जीवन में सरसता घोलती हुयी उन्हें वर्तमान से जूझने हेतु तैयार करती है। पाँचवी, मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक पक्ष स्वरूप विविध रीतियों-नीतियों, पर्व-त्योहार-मेले और लोकगीत को एक सुअवसर स्वरूप देखाती हैं, जहाँ ग्रामीण जन अपने आनंद को एक-दूसरे के साथ बाँटते हुये अपनी सामुदायिक भावना को बलवान करते हैं। किंतु, मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन के उक्त पक्ष के विस्तार में न जाकर उनका रोमांटिक चित्रण करने से बचती हैं। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक जीवन को महत्त्वपूर्ण पक्ष समझते हुए उसमें शामिल हर मुख्य पहलुओं का चित्रण करती हैं। पर उनका रोमांटिक चित्रण न कर उन्हें ग्रामीण जीवन के मुख्य प्रश्नों-संदर्भों से सम्पृक्त करके देखती हैं।

अतः इस प्रकार मार्कण्डेय की कहानियों में निरूपित ग्रामीण जीवन के यथार्थ को समग्र रूप में देखा जाय तो निष्कर्ष स्वरूप कई बातें निकलकर आती है। पहली, मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक पक्ष की संश्लिष्टता

में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की संकल्पना तथा उसकी ग्रामीणता का स्वरूप भलीभाँति प्रतीकित होता है। दूसरी, उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज तथा उसके संबंधों के परिवर्तित रूप में समाज, घर-परिवार, स्त्री-पुरुष, परंपरा-मूल्य से जुड़े विविध पहलू एक आलोचनात्मक ढब के साथ उद्घाटित हुए हैं। तीसरी, उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक जीवन का चित्रण तथा उससे जुड़े पहलुओं-लोकतंत्र, चुनाव, पार्टी (दल), नेता, सरकारी शासन तंत्र और न्याय-व्यवस्था आदि के वास्तविक चरित्र को खगालने का प्रयास करती हैं। जहाँ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में ग्रामीण आमजन की सेवा, सुरक्षा और विकास की भावना और सदिच्छा केवल नारों में ही सिमट कर रह जाती है। चौथी, उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर वैषम्य पूर्ण उस ग्रामीण समाज की तस्वीर उभरती है, जहाँ ग्रामीण जनता दो ध्रुवों-वर्गों (उच्च-निम्न और शोषक-शोषित) में मुख्य रूप से बँटी हुयी होती है। जहाँ एक ओर ग्रामीण शोषित वर्ग की भूमि से जुड़ी समस्याएँ अनसुलझी रहती हैं तथा जिसके परिणाम-स्वरूप उसके जीवन में गरीबी, बनियादी जरूरतों का अभाव, पलायन का संकट, प्राकृतिक प्रकोप आदि आर्थिक विसंगतियों व्याप्त रहती हैं, तो दूसरी ओर ग्रामीण शोषण वर्ग नई परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढालकर अपनी शोषण परक रीतियों-नीतियों और सोच-संस्कार को पूर्ववत् बनाए रखते हुए अपने हितों का विकास करता है। पाँचवी, उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के आर्थिक विकास-कार्यक्रम की जमीनी सच्चाई का उद्घाटन होता है, जो यह स्पष्ट दर्शाता है कि ऐसे कार्यक्रमों का लाभ ग्रामीण निम्न वर्गीय शोषित वर्ग के बजाय सम्पन्न-शोषक वर्ग को ही प्राप्त होता है। छठवीं, उनकी कहानियाँ ग्रामीण धार्मिक सांस्कृतिक जीवन पक्ष को अहम मानती हुयी उसे ग्रामीण जीवन के अन्यान्य पक्षों की संश्लिष्टता में उद्घाटित करती हैं। जहाँ ग्रामीण जीवन में धर्म को मानवीय उच्चतर मूल्यों-आदर्शों की प्राप्ति में एक ओर तो दूसरी ओर उसे मिथ्या चेतना-धर्मभीरुता, बाह्यणवाद, तीर्थ स्थान आदि बाह्याचार, भूत-प्रेत-डाइन का अंधविश्वास, तंत्र-मंत्र, झाँड़-फूँक ओझा-बाबा का चमत्कार आदि स्वरूप ग्रहण करते हुए दर्शाया जाता है। सातवीं, उनकी कहानियों में ग्रामीण सांस्कृतिक पक्ष-प्रकृति-प्रेम, बैठक-दालान की बातचीत की संस्कृति, विविध रीति-नीति, पर्व-त्योहार-मेले और लोकगीत आदि का एकांतिक रोमांटिक चित्रण होने के बजाय उसका ग्रामीण जीवन के अन्यान्य पक्षों के अतीत, वर्तमान और भविष्य से जुड़े प्रश्नों की संश्लिष्टता में अंकन होता है।

सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों में उज्जीवित ग्रामीण जीवन का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक यथार्थ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जन-जीवन का प्रामाणिक साक्ष्य लिए हुए प्रस्तुत होता है।

संदर्भ-सूची

1. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2010, पृ. 210
2. उपरिवत्, पृ. 180
3. उपरिवत्, पृ. 180
4. उपरिवत्, पृ. 88
5. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. : 2004, पृ.-09
6. अस्थाना, डॉ. ज्ञान, हिन्दी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा-2, प्र. सं.: 1979, पृ.-32
7. उद्धृत, भस्मे, डॉ., दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलिक जन-जीवन का चित्रण अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. : 2006, पृ.-24
8. उपरिवत्, पृ. 24
9. अस्थाना, डॉ., ज्ञान, हिन्दी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा-2, प्र. सं.: 1979, पृ.-33
10. दुबे, श्यामचरण, भारतीय ग्राम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वि संस्करण : 1996, पृ.-9
11. गुप्त, विश्वम्भरदयाल, ग्रामीण समाजशास्त्र: साहित्य के परिप्रेक्ष्य में, सीता प्रकाशन, मोतीबाजार, हाथरस-1, संस्करण वर्ष : 1980, पृ.-27
12. उद्धृत, गुप्त, विश्वम्भरदयाल, ग्रामीण समाजशास्त्र: साहित्य के परिप्रेक्ष्य में, सीता प्रकाशन, मोतीबाजार, हाथरस-1, संस्करण वर्ष : 1980, पृ.-27
13. उपरिवत्, पृ. 28
14. साभार, 'कथा', संपादक (सस्या), अंक 15, (संस्मरण अंक), मार्च 2011, पृ.-217
15. उद्धृत, चौहान, डॉ. वी.पी. रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. : 2004, पृ.-34
16. सिन्हा, डॉ. सुरेश, हिंदी उपन्यास, लोकभरती प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 1981, पृ.-143
17. भस्मे, डॉ. दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलिक जन-जीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. स : 2006, पृ.-66
18. उपरिवत्, पृ.-66
19. गुप्त, डॉ. ज्ञानचंद, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास और ग्राम चेतना, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1974, पृ.-81

20. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स 2002, भूमिका
21. उद्धृत, सारस्वत, डॉ. अपर्णा, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्यधारा की मूल्य चेतना, सामयिक बुक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र. स : 2010, पृ.-18
22. उपरिवत्, पृ.-18
23. सारस्वत, डॉ. अपर्णा, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्यधारा की मूल्य चेतना, सामयिक बुक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र. स : 2010, पृ.-18
24. भस्मे, डॉ. दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलिक जन-जीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. स : 2006, पृ.-402
25. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण : 2002, भूमिका 'सहज और शुभ' (कहानी संग्रह), पृ.-402
26. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स.: 2002, पृ.-8
27. उपरिवत्, पृ. 35
28. उपरिवत्, पृ.-35
29. उपरिवत्, पृ.-208
30. उपरिवत्, पृ.-228
31. उपरिवत्, पृ.-36
32. उपरिवत्, पृ.-450
33. उपरिवत्, पृ.-107
34. उपरिवत्, पृ.-109
35. उपरिवत्, पृ.-111
36. भस्मे, डॉ. दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलिक जन-जीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. स: 2006, पृ.-167
37. सिन्हा, डॉ. सुरेश, हिंदी उपन्यास, लोकभारती प्रकाशन, कानपुर, प्र. स : 1981, पृ.-135
38. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स.: 2002, पृ.-72
39. उपरिवत्, पृ.-73
40. राय, विवेकी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य और ग्रामजीवन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. स: 1974, पृ.- 354
41. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-37

42. उपरिवत्, पृ.-37
43. उपरिवत्, पृ.-40
44. उपरिवत्, पृ.-50
45. उपरिवत्, पृ.-56
46. मार्कण्डेय, हलयोग : मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मागाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्र. सं. (पेपर बैक) : 2012, पृ. 27
47. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण : 2002, पृ.-68
48. उद्धृत, चौहान, डॉ. वी.पी. रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. स: 2004, पृ.-54
49. चौहान, डॉ. वी.पी. रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. स : 2004, पृ.-54
50. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स: 2002, पृ.-26
51. उपरिवत्, पृ.-37
52. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स: 2002, पृ.-66
53. उपरिवत्, पृ.-68
54. उपरिवत्, पृ.-181-182
55. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. स.: 2004, पृ.-61
56. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स,: 2002, पृ.-40
57. उपरिवत्, पृ.-68
58. शर्मा, यज्ञदत्त, (संपादक), प्रबंध सागर, अक्षरम् प्रकाशन, सोनपत, प्र. स : 1989, पृ.-153
59. बालकृष्णन, सुधा, हिंदी लेखिकाओं की कहानियों में नारी के बदलते स्वरूप (शोध ग्रंथ), संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी, पृ.- 182
60. उपरिवत्, पृ.-183
61. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-194
62. उपरिवत्, पृ.-194
63. उपरिवत्, पृ.-198

64. गुप्त, डॉ. ज्ञानचंद, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास और ग्रामचेतना, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, प्र. स : 1974, पृ.-123
65. उपरिवत्, पृ.-74
66. उपरिवत्, पृ.-73
67. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. स : 2004, पृ.-76
68. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-24-25
- 69.उपरिवत्, पृ.-22
- 70.उपरिवत्, पृ.-37
- 71.उपरिवत्, पृ.-135
- 72.मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-08
- 73.उपरिवत्, पृ.95
- 74.उपरिवत्, पृ.-427
75. मार्कण्डेय, हलयोग : मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्र. स (पेपरबैक) : 2012, पृ. 13
- 76.उद्धृत, उपाध्याय, डॉ. रमेश, कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. स: 1999, पृ.-126
77. सरिता, अप्रैल-1, 1980 (ज्योतिर्मय का लेख-'आरक्षण विरोध कारण संभावनाएँ)
- 78.मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-214-15
- 79.उपरिवत्, पृ.-219
- 80.उपरिवत्, पृ.-403
81. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-109-110
82. उपरिवत्, पृ.110
83. उपरिवत्, पृ.111
84. उपरिवत्, पृ. 111
85. उपरिवत्, पृ. 480
86. उपरिवत्, पृ. 218-219
87. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-

111

88. उपरिवत्, पृ. 112

89. उपरिवत्, पृ. 112

90. उपरिवत्, पृ. 219

91. उपरिवत्, पृ. 221

92. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. स: 2004, पृ. 133

93. उपरिवत्, पृ. 133

94. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-206

95. मार्कण्डेय, हलयोग : मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्र. स (पेपरबैक) : 2012, पृ. 68

96. उपरिवत्, पृ. 64

97. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. स : 2004, पृ. 141

98. उपरिवत्, पृ. 141

99. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स,: 2002, पृ.-218

100. उपरिवत्, पृ. 202

101. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स, 2002, पृ.-452

102. उपरिवत्, पृ. 459

103. मार्कण्डेय, हलयोग : मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्र. स (पेपरबैक) : 2012, पृ. 63-64

104. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. स,: 2002, पृ.-232-233

105. उपरिवत्, पृ. 233

106. उपरिवत्, पृ. 413-414

107. उपरिवत्, पृ. 233-234

108. उपरिवत्, पृ. 232

109. उपरिवत्, पृ. 202

110. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशंस, 52,

- इलाहाबाद, प्र. सं.:2010, पृ.-235
111. उपरिवत्, पृ.-278
112. प्रसाद, डॉ. सुरेन्द्र मार्कण्डेय का रचना संसार, क्वालिटी बुक्स (पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स), कानपुर (उ. प्र.) प्र. सं. :2001 पृ.-120
113. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. :2004, पृ.-136
114. उद्धृत, उपरिवत्, पृ.-176
115. गुप्त, डॉ. ज्ञानचंद, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, अभिनव प्रकाशन दिल्ली, प्र. सं. : 1974, पृ.-102
116. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2: 1951-1975, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं. :2011, पृ.-16
117. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं. : 2002, पृ.-192
118. उपरिवत्, पृ.-192
119. उपरिवत्, पृ.- 193
120. उपरिवत्, पृ.- 133
121. उपरिवत्, पृ.- 131
122. उपरिवत्, पृ.- 135
123. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन (पैपर बैक) महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्र. सं. :2012, पृ.-60
124. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण:2002, पृ.-404
125. उपरिवत्, पृ.-404
126. मार्कण्डेय, अग्निबीज, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ.-108
127. उपरिवत्, पृ.-139
128. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं. :2002, पृ.-09
129. उपरिवत्, पृ.-04
130. उपरिवत्, पृ.- 33
131. उपरिवत्, पृ.- 34
132. उपरिवत्, पृ.- 89
133. उपरिवत्, पृ.- 119

134. उपरिवत्, पृ.-131
135. उपरिवत्, पृ.- 188-189
136. उपरिवत्, पृ.- 227
137. उपरिवत्, पृ.- 321
138. उपरिवत्, पृ.- 471
139. उद्घृत, मिश्र, डॉ. वर्षा, मिथिलेश्वर की कहानियों में ग्रामीण यथार्थ, क्वालिटी बुक्स, कानपुर, प्र. सं. : 2004, पृ.3
140. कुमार, डॉ. राजेन्द्र, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में ग्राम्य जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, प्र. सं. : 1988, पृ. 21
141. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1. प्र. सं. :2002, पृ. 263
142. उपरिवत् , पृ. 264
143. उपरिवत् , पृ. 265
144. उपरिवत् , पृ. 267
145. साभार, रिपोर्ट, पाकेट बुक ऑफ़ इकोनोमिक इन्फॉर्मेशन, भारत सरकार, वित्त मंत्रालय द्वारा प्रकाशित, वर्ष: 1970
146. साभार, रिपोर्ट, उपरिवत्
147. उद्घृत, उपाध्याय, रमेश, कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. :1999, पृ. 125
148. उद्घृत, कुमार, डॉ. राजेन्द्र, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में ग्राम्य जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. :1988, पृ. 20
149. देसाई, ए. आर, भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, मैकामिलन एण्ड कम्पनी, दिल्ली, प्र. सं. :1978, पृ. 231
150. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1. प्र. सं. :2002. पृ. 202
151. उपरिवत् , पृ. 202
152. धर्मयुग 24 मई, 1981, प्र. 8 (प्रशांत कुमार का लेख-‘किसान आंदोलन: अन्नदातों का आर्तनाद’)
153. उपरिवत् , पृ. 8
154. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1. प्र. सं. : 2002, पृ. 424
155. उपरिवत् , पृ. 425

156. प्रतिमान, अंक-4, नवम्बर, 1978
157. कुमार, डॉ. राजेन्द्र, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में ग्राम्य जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. : 1988, पृ. 20
158. उद्धृत, उपाध्याय, रमेश हिन्दी, कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. :1999, पृ. 127
159. उपरिवत् , पृ. 127
160. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, प्र. सं. :2002, पृ.273
161. उपरिवत् , पृ. 278
162. उपरिवत्, पृ. 278
163. चौहान, डॉ. वी. पी. रामदरश मिश्र के कथा-साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. : 2004, पृ. 217-218
164. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं. :2002, पृ. 33-34
165. उपरिवत् , पृ. 156
166. उपरिवत् , पृ. 165-166
167. उपरिवत् , पृ. 150
168. उपरिवत्., पृ. 166
169. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं. : 2002, पृ.135
170. उपरिवत्, पृ. 132
171. उद्धृत, प्रसाद डॉ. सुरेन्द्र, मार्कण्डेय का रचना-संसार, क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स , कानपुर प्र. सं. :2001, पृ. 130
172. मार्कण्डेय, अग्निबीज, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद-1, संस्करण:2000, पृ. 159
173. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं. :2002, पृ. 17
174. उपरिवत्, पृ. 17
175. उपरिवत्, पृ. 18
176. उपरिवत्, पृ. 17
177. उपरिवत्, पृ. 283
178. उपरिवत्, पृ.- 271

179. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन (पेपरबैक), इलाहाबाद, प्र.सं.: 2012, पृ. 59
180. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 435-36
181. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 287
182. उपरिवत्, पृ. 287
183. उपरिवत्, पृ. 289
184. उपरिवत्, पृ. 293
185. उपरिवत्, पृ. 292
186. उपरिवत्, पृ. 295
187. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन (पेपर बैक), इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2012, पृ. 71
188. उपरिवत्, पृ. 72
189. भस्मे, डॉ. दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलिक जनजीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.: 2006, पृ. 40
190. सिंह, डॉ. राजकुमारी, हिंदी तथा अंग्रेजी के आंचलिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.: 1993, पृ. 172
191. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.:2002, पृ. 3
192. उपरिवत्, पृ. 131
193. उपरिवत्, पृ. 135
194. उपरिवत्, पृ. 189
195. उपरिवत्, पृ. 201
196. उपरिवत्, पृ. 22
197. उपरिवत्, पृ. 25
198. उपरिवत्, पृ. 26
199. उपरिवत्, पृ. 34
200. उपरिवत्, पृ. 34
201. उपरिवत्, पृ. 36
202. उपरिवत्, पृ. 205

203. उपरिवत्, पृ. 206
204. उपरिवत्, पृ. 206
205. उपरिवत्, पृ. 206
206. उपरिवत्, पृ. 488
207. भस्मे, डॉ. दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलिक जनजीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 2006 पृ. 52-53
208. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002 पृ. 4
209. उपरिवत्, पृ. 225
210. उपरिवत्, पृ. 18
211. राय, डॉ. विवेकी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य और ग्राम जीवन लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. :1974, पृ. 276
212. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 13
213. उपरिवत्, पृ. 164-65
214. उपरिवत्, पृ. 210

चतुर्थ अध्याय

मार्कण्डेय के समकालीन कहानीकार और ग्रामीण जीवन का यथार्थ

मार्कण्डेय के समकालीन कहानीकार और ग्रामीण जीवन का यथार्थ

यहाँ समकालीन शब्द का प्रयोजन मार्कण्डेय के समय-सापेक्ष तथा उनकी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति सापेक्ष (प्रवृत्तिगत) दोनों अर्थों के साथ है। मार्कण्डेय का कहानी-लेखन मुख्य रूप से पचास के दशक में शुरू होकर सत्तर के दशक तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहमान रहता है। इस समयावधि में उनके समकालीन प्रमुख जो कहानीकार हैं, उनमें भैरव प्रसाद गुप्त, विवेकीराय, फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं। यहाँ मार्कण्डेय के समकालीन इन कहानीकारों की कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत है।

4.1 भैरव प्रसाद गुप्त (1918-95)

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में भैरव प्रसाद गुप्त एक परिचित और प्रतिष्ठित नाम है। उपन्यास-कहानी के रचनात्मक लेखन के अलावा कहानी-पत्रिका का कुशल संपादन उनकी साहित्यिक पहचान है। यद्यपि स्वतंत्रता उपरांत की मुख्य समस्याओं के यथार्थ अंकन की दृष्टि से उनके उपन्यास ही मुख्य रूप से उनकी पहचान बनाते हैं। तथापि उनकी कहानियाँ भी उन्हें एक लेखक के रूप में उल्लेखनीय बनाती हैं। उनकी कहानियाँ तथा उनमें उज्जीवित निम्नवर्गीय पीड़ित-शोषित और दलित पात्र विशेषकर किसान, मजदूर तथा अन्य साधारण लोग उन्हें स्वातंत्र्योत्तर कहानी-लेखन की प्रगतिशील चेतना-धारा से जोड़ते हुए उनकी एक खास छवि गढ़ते हैं। हालांकि उनका कहानी-लेखन स्वतंत्रता पूर्व ही प्रारंभ हो जाता है तथापि उनकी पहचान स्वातंत्र्योत्तर विशेषकर, पाँचवे दशक के कहानीकार के रूप में ही बनती है। उनकी स्वतंत्रता पूर्व की कहानियों में गाँधीजी के नेतृत्व में चलाए गए स्वाधीनता और समाज-सुधार की सदिच्छाओं को झलकते हुए स्पष्ट देखा जा सकता है।

उनकी कई कहानियों में उनके जीवन के भोगे गए अनुभव का स्पष्ट प्रत्यांकन उन्हें एक यथार्थवादी कहानीकार की पहचान देता है। उनकी स्वतंत्रता पूर्व की कहानियों में गाँधीजी के नेतृत्व में चलाए गए स्वाधीनता आंदोलन और समाज-सुधार की सदिच्छाओं को झलकते हुए स्पष्ट देखा जा सकता है। पर, वे अपने परवर्ती दौर की कहानियों में गाँधीवादी चेतना से इतर अपनी साम्यवादी चेतना और सोच के फलस्वरूप सामंती और पूँजीवादी शोषण की खुली आलोचना करते हैं। यह अमूमन उनकी आजादी के परवर्ती दौर की लिखी हुयी कहानियाँ हैं, जो उन्हें किसान-मजदूर का

कहानीकार बनाती हैं। ऐसी कहानियाँ 'इन्सान' (1950), 'सितार के तार' (1951), 'महफिल' (1952), 'और 'सपने का अंत' (1961), आदि कहानी-संग्रहों में संगृहित हैं। वे अपनी समाजवादी चेतना के कारण ही स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को अपनी कहानियों में विशेष कोण से देखते हैं। उनका यह दृष्टिकोण ही उन्हें अपने समकालीन कहानीकारों- मार्कण्डेय, रेणु, शिवप्रसाद सिंह आदि से उन्हें अलग व्यक्तित्व प्रदान करता है। उनके अब तक प्रकाशित कहानी-संग्रहों में 'महफिल', 'सपने का अंत', 'मित्रों और अन्य कहानियाँ', 'आँखों का सवाल', 'मंजिल', 'चाय का प्याला', 'मंगली की टिकुली', 'आप क्या कर रहे हैं?' तथा 'बलिदान की कहानियाँ' आदि प्रमुख हैं। गौरतलब है कि उनका 'महफिल' (1958) कहानी- संग्रह स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में चर्चा का विषय बनता है, जिसमें उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ संगृहित हैं और जिसमें गाँव तथा नगर दोनों, पृष्ठभूमि की कहानियाँ शामिल हैं। ये कहानियाँ कुछ इस प्रकार हैं- 'आया', 'कुत्ते की टाँग', 'गत्ती भगत', 'घुरहुआ', 'डाकुओं का सरदार', 'धनिया की साड़ी', 'बुद्ध', 'महफिल', 'रिश्तों का आधार' और 'वह लड़की' आदि। इनमें 'घुरहुआ', 'गत्ती भगत', 'डाकुओं का सरदार', 'धनिया की साड़ी' आदि उनकी ग्रामीण जीवन की कहानियाँ हैं, जबकि इस संग्रह की अन्य कहानियों में नगर का जीवन और यथार्थ उज्जीवित है। इसी तरह उनके कहानी-संग्रह 'सपने का अंत' (1961) में 'कदम के नीचे', 'एक पाँव का जूता', 'नया खाता', 'फूल' आदि उनकी ग्रामीण जीवन की प्रमुख कहानियाँ हैं। यही नहीं, उनके अन्य कहानी-संग्रहों में संगृहित उनकी ग्रामीण जवन की प्रमुख कहानियाँ कुछ इस प्रकार हैं- 'अपरिचय का घेरा', 'फरिश्ता', 'कुहु', 'पियारा बुआ', 'चरम-बिंदु', 'मंगली की टिकुली', 'टिड्डे' आदि।

उल्लेखनीय है कि भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों में गाँव और नगर दोनों का जीवन अभिव्यक्त है जिसका अनुशीलन करने के उपरांत उनमें मुख्य रूप से तीन पहलुओं को उभरते हुए देखा जाता है। पहला, मध्यवर्गीय जीवन से जुड़ा हुआ पहलू। जिसमें वे विशेषकर मध्य वर्ग के दुःख-दर्द तथा उसकी अवस्था को उकेरते हैं, जो उन्हें स्वातंत्र्योत्तर मध्य वर्गीय जीवन बोध के अन्य कहानीकारों से पृथक करता है- "आजादी के बाद प्रायः अन्य सभी कथा-लेखकों ने जहाँ मध्यवर्गीय पात्रों के टुच्चेपन, स्वार्थपरता, बेइमानी, नैतिक खोखलेपन आदि को अपनी आलोचना और व्यंग्यात्मक प्रहार का निशाना बनाया है अथवा उनके रूमानीपन को कवितात्मकता से मंडित

करके सहानुभूति प्रदान करके उनके दुःख-दर्द और विवशता को चित्रित किया है...।”¹ दूसरा, शहरी औद्योगिक पृष्ठभूमि से संबंधित मजदूर जीवन का पहलू। जिसमें वे अपनी समाजवादी यथार्थ-दृष्टि का परिचय देते हैं। जहाँ, वे पूँजीपति वर्ग के शोषण, दमन और अत्याचार को निरावृत्त करते हैं। तीसरा, स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के ग्रामीण जीवन और यथार्थ का पहलू यह पहलू उन्हें मार्कण्डेय आदि समकालीन कहानीकारों की भाँति प्रेमचंदोत्तर ग्रामीण जीवन और बोध की कहानी-धारा को सशक्त ढंग से प्रवाहमान बनाने की पहचान देता है। तभी डॉ. शिवाजी सांगोले इस संदर्भ में लिखते हैं— “भैरवप्रसाद गुप्त गाँव के सामान्य व्यक्ति की जिंदगी को चित्रित करने वाले कथाकार हैं। उनकी कहानियों में मूल संवेदना सामान्य व्यक्ति का संघर्ष है, उनमें जीवन के स्पंदन को पकड़ने की गहरी क्षमता है और जहाँ-जहाँ वे जिंदगी के स्पंदन को रूपचित्र करने का प्रयास करते हैं, वहाँ वे सफल और सशक्त कहानियों की रचना करते हैं।”² यदि उनकी ग्रामीण जीवन की प्रातिनिधिक कहानियों के कुछेक संदर्भों को देखा जाए, तो उनके कहानी-लेखन के विशिष्ट बिंदुओं को समझा जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि भैरव प्रसाद गुप्त ‘आजादी’ के साथ जुड़े हर पहलू को बड़ी सूक्ष्मता से देखते-परखते हैं। उनकी कहानियों में आजादी के बाद का ग्रामीण जीवन तथा वहाँ बद्धमूल समस्याओं को देखने वाली पैनी नज़र मिलती है। वे आजादी के बाद भी ग्रामीण निम्नवर्गीय शोषित आमजन के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन न होने के कारण ही आजादी को मात्र राजनीतिक हस्तांतरण मानते हैं। इसी कारण उनकी कहानियाँ आजादी के बाद के परिवेश में विद्यमान विसंगतियों का भली-भाँति उद्घाटन करती हैं। उनकी ‘घुरहुआ’ कहानी में उक्त विसंगतियों के एक रूप को दर्शाने की चेष्टा होती है। आलोच्य कहानी में किसानों के जीवन में सदियों से चली आ रही अभावग्रस्तता का पहलू तथा तद्जनित उनका ऋणग्रस्त जीवन उन्हें जिस नारकीय यंत्रणा से गुजरने को बाध्य करता है उसका स्पष्ट प्रत्यांकन मिलता है। इस कहानी में ग्रामीण जीवन में जमींदारी-प्रथा के अंतर्गत होने वाले शोषण को सामंत वर्ग की दबंगई, अत्याचार तथा अमानवीयता के साथ मूर्त होते हुए देखा जाता है। प्रस्तुत कहानी का मुख्य पात्र घुरहुआ जिसका वास्तविक नाम गोबरधन है, उसके पिता गाँव के जमींदार का लगान चुकाए बिना गुजर जाते हैं। जमींदार का लगान भरने के वास्ते उसे तथा उसके भाई को जमींदार के यहाँ काम करना पड़ता है। गाँव का

जमींदार अपनी दबंगई में बेखबर अपने साथ घुरहुआ की मामूली बहस करने की सज़ा उसे उसकी जीभ काटकर देता है। प्रस्तुत कहानी में उक्त घटना का आँखों देखा हाल घुरहुआ का भाई निम्न शब्दों में बताता है जिससे गाँव के जीवन में व्याप्त आतंक का माहौल उजागर होता है— “सरकार ने उसे गाली देकर जबान बंद करने के लिए कहा और बताया कि एक लब्ज भी मुँह से निकाला तो ज़बान खींच लेंगे... सरकार भूखे भेड़िए की तरह उसकी छाती पर चढ़ गला फाड़-फाड़कर सच ही उसकी जीभ चुटकी से बाहर खींच ली।”³ प्रस्तुत कहानी में इस घटना के तदुपरात उसके साथ जो होता है उसके कारण वह घायल अवस्था में दूसरे गाँव में पाया जाता है, जहाँ का माहौल उसके गाँव के जैसा ही है। जिसे आलोच्य कहानी की उस घटना में देखा जाता है, जब गाँव की एक दलित स्त्री (मंगला की पत्नी) की इज्जत गाँव का ही जमींदार लूट लेता है। कहानीकार इस घटना के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उस सच को उजागर करता है, जहाँ गाँव के जमींदारों के आगे ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन अपने को लाचार और अवश पाता है। तभी, न घुरहुआ अपनी कटी जीभ लिए अपने गाँव घुसने की हिम्मत जुटा पाता है और ना मंगला की पत्नी अपनी इज्जत के लूट जाने का प्रतिकार कर पाती है। किंतु, कहानीकार प्रस्तुत कहानी में दो शोषितों के बीच विकसित हुयी रागात्मकता को दिखलाकर मानवीय संबंधों की उष्मा के बचे रहने के सच के रूप में आलोच्य कहानी के मार्मिक पक्ष को भली-भाँति उजागर करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि गाँव के जीवन के आतंक भरे माहौल में निम्नवर्गीय ग्रामीण शोषित आमजनों को ना तो किसानों से कोई सुख प्राप्त होता है और न ही सामंती दबंगई और अत्याचार के कारण उन्हें चैन की सांस नसीब होती है। कहने कि जरूरत नहीं है कि गाँव के जीवन में निम्नवर्गीय शोषित जन की गरीबी, भूख तथा उन पर होने वाला सामंती अत्याचार एवम् उन पर थोपा गया जाति-दंश आदि ही उन्हें गाँव से शहर की ओर धकेलता है, जहाँ वे अपना अस्तित्व तलाशने की कोशिश करते हैं। किंतु, वहाँ भी वह अपनी स्थिति में परिवर्तन न होता देख त्रासपूर्ण स्थितियों से घिर जाता है।

भैरव प्रसाद गुप्त की ‘न्यौता’ कहानी में ग्रामीण जीवन की उक्त सच्चाई का अवलोकन किया जा सकता है। ‘न्यौता’ कहानी की ये निम्न पंक्तियाँ अपनी मजबूरियों एवम् लाचारियों के कारण धकियायें गए ग्रामीण शोषित वर्ग की उस विडम्बना की ओर संकेत करती है जो उसे गाँव की भाँति शहर में भी समान शोषण और उत्पीड़न का शिकार होने को मजबूर करती हैं- “ कहता

हूँ कि जब जूता ही धोना है, बेगार ही करनी है तो क्या यहाँ और क्या दूसरी जगह? जिंदगी तो कट ही जाएगी। परवाह तो उन्हें होनी चाहिए जिनके आगे-पीछे कुछ हो हमें क्या?’ ‘कहाँ चलोगे दादा?’ रुआँसा होकर जतना ने पुछा। बहुत दूर जतना, जहाँ इस कुँवर का नाम तक न सुनाई दे वहाँ, यहाँ तक की हवा भी न पहुँच सके।⁴ इसी तरह भैरव प्रसाद गुप्त की एक अन्य कहानी ‘अपरिचय का घेरा’ में भी गाँव के जीवन से पलायन का एक दूसरा पहलू देखा जाता है। प्रस्तुत कहानी में गाँव का पढ़ा-लिखा लछमन अपनी बेकारी से परेशान होकर शहर (मद्रास) चला जाता है। वहाँ वह, जैसे-तैसे (घर-घर जाकर बच्चों को ट्यूशन देना) अपनी जीविका का आधार खोजता है पर उसे वहाँ के परिवेश में अपने गाँव की याद आती है। किंतु वह चाहते हुए भी अपने गाँव नहीं जा पाता है, क्योंकि उस जैसों के लिए अपने अस्तित्व को सार्थक करने हेतु गाँव में कोई वैकल्पिक प्रबंधन नहीं होता है। जिससे ग्रामीण जीवन के उन्नयन संबंधी शासन की चिंताओं की वास्तविकता का भी पता चलता है।

इसी तरह ग्रामीण जीवन से पलायन का एक अन्य पहलू, भैरव प्रसाद गुप्त की ‘धनिया की साड़ी’ कहानी में भी देखा जाता है। आलोच्य कहानी में गाँव के जीवन से बाहर निकलने पर ही निम्नवर्गीय आमजन रमुआ को आधुनिक दृष्टि प्राप्त होती है। रमुआ शहरी जीवन के आधुनिकता परक मूल्य के कारण ही अपनी अंधचेतना से मुक्त होता है तथा समाज की आर्थिक विषमता को समझ पाता है। प्रस्तुत कहानी के माध्यम से कहानीकार रमुआ जैसे निम्नवर्गीय शोषित आमजन की अभावग्रस्तता, मजबूरी विकल्पहीनता आदि के कारण गाँव के जीवन से होने वाला पलायन तथा उससे जुड़े पहलू को दर्शाने की चेष्टा करता है। इस कहानी की पृष्ठभूमि में इस बात का संकेत रहता है कि जमींदारी-प्रथा के शोषण के फलस्वरूप ही रमुआ जैसा किसान न अपनी किसानि बचा पाता है और ना अपनी जमीन। ज़ाहिर है कि वह ऐसी परिस्थिति में गाँव के जीवन में अपने लिए कोई उचित विकल्प न पाकर शहर की ओर रुख करता है। रमुआ शहर में दिन-रात भूखे पेट कुली का काम करता है। वह हर महीने धनिया को जितना हो सके पैसे भेजा करता है पर वह धनिया तथा उसके परिवार के लिए अपर्याप्त होता है। वह यह देखता है कि अनथक श्रम करने के बावजूद वह अपनी धनिया के वास्ते फटी साड़ी ही जुटा पाता है जबकि शहर के सेठ जैसे समाज के चंद लोगों के लिए मलमल (कीमती वस्त्र) जानवरों की लाश को उढ़ाने हेतु मामूली चीज होती है। यहाँ कहानीकार यह दिखाना चाहता है कि ग्रामीण जीवन में गरीबी और अभावग्रस्तता ही बुनियादी

समस्याएँ हैं। गरीबों का सिर्फ़ इनसे ही वास्ता है बाकी धर्म-कर्म से जुड़े चोंचले उन लोगों के लिए हैं, जिन्हें अपने धर्म के बिगड़ जाने का भय सताता है। शहर की डोमरी को उसका आर्थिक-सामाजिक विषमता पूर्ण समाज तथा उसकी गरीबी चेतना प्रदान करती है। यही वह आधुनिकता परक मूल्य है जिसे रमुआ गाँव से शहर आने के पश्चात् शहर की डोमरी से प्राप्त करता है। इस प्रकार देखा जाए तो भैरव प्रसाद गुप्त की 'न्यौता', 'अपरिचय का घेरा' तथा 'धनिया की साड़ी' आदि कहानियाँ ग्रामीण जीवन से जुड़े पलायन के यथार्थ को विविध कोणों से देखती-दिखाती हैं।

इसी तरह उनकी कतिपय अन्य कहानियों में गाँव के जीवन के शोषणपरक कई व्यक्तिपरक संस्थानों (जमींदार-महाजन-पुरोहित) का उल्लेख मिलता है, जो अपने दमन, अत्याचार तथा छलपूर्ण आचरण से ग्रामीण शोषित वर्ग के जीवन को त्रासपूर्ण बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। ग्रामीण जीवन में उक्त संस्थानों द्वारा सदियों से चली आ रही शोषण की अनवरता स्वातंत्र्योत्तर काल में भी अव्याहत रहती है। भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियाँ ग्रामीण जीवन के उक्त पहलू को उजागर करने की चेष्टा करती हैं। उनकी 'कदम के नीचे' कहानी में ग्रामीण शोषित वर्ग के रूप में रमायन नामक किसान उक्त व्यक्तिगत संस्थानों के कुचक्र का शिकार होता है। इस कहानी में कहानीकार यह दिखलाना चाहता है कि अपने अधिकारों की माँग करने वाले जागृत रमायन जैसे किसानों पर अत्याचार तो किया जा सकता है लेकिन उनकी आवाज़ को दबाना मुश्किल है। रमायन पर हुए दमनचक्र का परिणाम यह होता है कि गाँव के लोग अपनी व्यक्तिगत जड़ता को भुलाकर एक हो जाते हैं तथा दमनपरक शक्तियों के खिलाफ एक-साथ खड़े दिखायी देते हैं- "कई बार जोर लगा कर जमींदार आजमा चुका था। कहीं से पेश पाना नामुमकिन हो गया था। रमायन की अगुवाई में सब किसान सम्मत हो गए थे। किसी भी किसान के खेत में जमींदार पाँव अटकाने की कोशिश करता तो सभी किसान एक साथ ही माटों की तरह जूझ पड़ते थे।"⁵ इसी तरह भैरव प्रसाद गुप्त की 'नया खाता' कहानी भी ग्रामीण जीवन के व्यक्तिपरक शोषण संस्थानों के एक भिन्न आयाम को दर्शाती है। आलोच्य कहानी में महाजन और पुरोहित साँठ-गाँठ कर गाँव के प्रभावशाली व्यक्ति (जो उनको चुनौती दे सकता है) को पहले ही दबा देना चाहते हैं, ताकि उनका राजत्व कायम रह सके। प्रस्तुत कहानी का रामचरण धर्म, कर्म और परंपरा की आड़ में शोषणपरक संस्थानों के परस्पर स्वार्थ का खेल और छल खूब समझता है, पर वह इसका रहस्य भेद पाने में अपने को अवश पाता है। भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर उस सच को भी देखा जाता है, जहाँ शासक की

नीतियों में पूँजीवादी शक्तियों का वर्चस्व गाँव के शोषित वर्ग के जीवन में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं करने देता है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि ग्रामीण सम्पन्न वर्ग और भी सम्पन्न होता जाता है। इस वर्ग को थाना, अदालत, प्रशासन, सरकार और राजनीति सबका संरक्षण और प्रश्रय मिलता है। और तो और सामंत वर्ग भी इनके अनुकूल अपने को फिट करने के लिए सारी चालाकियों को अपनाता है। कहने की बात नहीं है कि ग्रामीण जीवन का उक्त वर्ग पैसे और पहुँच के बल पर अय्याशी करता है, शोषण और अत्याचार करता है, गुण्डों और चाटुकारों की सेना पालता है; फिर भी वह समाज में अपनी तथाकाथित गणमान्य छवि बनाये रखता है। गाँव के जीवन के उक्त कटु यथार्थ को भैरव प्रसाद गुप्त की कहानी 'मंगली की टिकुली' में देखा जाता है।

इस कहानी में गाँव के जीवन के उच्च वर्ग रूपी सामंतों के खिलाफ रामा, मंगली, सुगिया आदि निम्न वर्ग का संघर्ष दर्शाते हुए कहानीकार ग्रामीण जीवन के शोषणपरक संस्थानों तथा उसकी व्यवस्था पर प्रहार करता है। इस कहानी के वैशिष्ट्य का उद्घाटन करते हुए आलोचक आनंद प्रकाश प्रस्तुत कहानी में प्रत्यांकित ग्रामीण जीवन के उस कटु यथार्थ से हमें अवगत कराते हैं, जो इस सच की तस्दीक करता है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में तीव्र वर्गीय असंतोष और संघर्ष व्याप्त है—“मंगली की टिकुली” में फार्म पर काम करने वाले पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः इस बात से त्रस्त रहते हैं कि सामाजिक शोषण के समानांतर उन्हें जमींदार के हाथों व्यक्तिगत अपमान और उसके अनैतिक इरादों का लगातार शिकार होना पड़ता है। जैसे-जैसे वे इस तरह के माहौल में रहते हुए काम करते हैं, एक खास तरह की संगठन प्रवृत्ति और वर्ग-चेतना उनमें विकास होने लगता है। जमींदार जब रामा की पत्नी मंगली पर अपनी अनैतिक दृष्टि डालता है तो मानो एक निर्णायक संघर्ष की शुरुआत हो जाती है जिसकी परिणति संगठित मजदूर-किसानों के विजयी मशाल-जुलूस में होती है।”⁶

भैरव प्रसाद गुप्त की 'टिड्डे' कहानी भी स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के सामंत, अभिजात्य तथा पूँजीपति वर्ग द्वारा किए जाने वाले शोषण और अत्याचार के खिलाफ भूखमरी के शिकार ग्रामीण निम्न वर्गीय आमजन के संघर्ष को उज्जीवित करती है। प्रस्तुत कहानी में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की बदहाली तथा वहाँ व्याप्त विडम्बनाओं का संज्ञान इस बात से लिया जा सकता है कि समूचा गाँव सूखे के कारण भूखमरी का शिकार होता है और उन्हें जीवित रहने के लिए गाँव के ताल में उगे करमी जैसे साग-पात पर निर्भर रहना पड़ता है। और तो और ऐसी

विकट परिस्थिति में सत्ता और शासन द्वारा कोई निदान ढूँढने के बजाय; पीड़ितों को राहत पहुँचाने की जगह उन्हें उल्टे आक्रांत किया जाता है। जिसे प्रस्तुत कहानी के उस प्रसंग में लक्ष्य किया जाता है जब शासन-व्यवस्था विषाक्त मानसिकता से प्रेरित होकर करमी के जंगल काटने की घोषणा करती है। जिसके कारण गाँव का पीड़ित-त्रस्त वर्ग रूपी आमजन अपने प्राणों के अंतिम स्रोत को खत्म होता देख एक हो जाते हैं। और करमी के जंगल में मँडराने वाले हर टिड्डे (प्रतीक) को पीस डालने (कुचलने) हेतु तत्पर हो जाते हैं।

इस प्रकार देखा जाए तो भैरव प्रसाद गुप्त की कतिपय कहानियों में ग्रामीण निम्न वर्गीय आमजनों के ऊपर व्यक्तिपरक शोषण संस्थानों (जमींदार, पुरोहित और महाजन)के दमन चक्र, अत्याचार तथा स्वयं के हित साधने वाली धूर्तताओं का यथार्थ अंकन होता है। साथ-ही यहाँ, उक्त संस्थानों के खिलाफ ग्रामीण निम्नवर्गीय शोषित आमजन के संघर्ष का भी चित्रण होता है। गौरतलब है कि ग्रामीण जीवन का उक्त संघर्ष अपने वर्ग शत्रुओं की दुरभिसंधियों को पहचानने के बावजूद कहीं अवश दिखाई देता है तो कहीं परिवर्तन कामी इच्छा के साथ विजय पथ की ओर प्रशस्त होता है। ध्यातव्य है कि उक्त कहानियों के अतिरिक्त भी भैरव प्रसाद गुप्त की कतिपय अन्य कहानियों में ग्रामीण जीवन के विविध छोरों को स्पर्श करने की चेष्टा होती है। उनकी इन कहानियों में कहीं ग्रामीण जीवन की वास्तविकता को दर्शाते हुए 'अहा! ग्राम जीवन भी क्या है?' के काल्पनिक मिथ को तोड़ने की कोशिश है ('कहु'), तो कहीं अकाल पीड़ित पृष्ठभूमि में ग्रामीण आमजन की बेबसी का चित्रण है ('डाकुओं का सरदार'), तो कहीं गाँव की गरीबी, महाजन की चोरबाजारी तथा नैतिक गिरावट का चित्रण है ('चरम बिंदु')। उनकी इन कहानियों में नारी जीवन और प्रेम का पहलू ('फूल') भी दिखाई देता है तो कहीं पारिवारिक नाते-रिश्ते तथा संबंधों ('पियारा बुआ') के संवेदनात्मक छोर को स्पर्श करने की कोशिश भी उजागर होती है।

अतः इस प्रकार समग्रता में भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों पर विचार किए जाने के उपरांत यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को उसके विविध आयामों के साथ उद्घाटित करती हैं। एक तरफ जहाँ, उनकी स्वतंत्रतापूर्व लिखित कहानियों में स्वाधीनता की चेतना तथा समाज-सुधार आंदोलन की अनुगूँज है, तो दूसरी तरफ उनकी परवर्ती कहानियाँ आजादी के बाद सत्ता की नीतियों में पूँजीवादी शक्तियों के वर्चस्व के

काबिज हो जाने के परिणामस्वरूप ग्रामीण निम्न शोषित वर्ग के जीवन में बुनियादी परिवर्तन न होता देख आजादी, सत्ता और शासन की कड़ी आलोचना करती है। इसी का प्रतिफलन है कि भैरव प्रसाद गुप्त की लेखनी किसान-मजदूर के संघर्ष के स्वर को बुलंद करने का जरिया बन जाती है। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के निम्नवर्गीय लोगों की गरीबी, अभावग्रस्तता, भूख, अवशता तथा उन पर होने वाला अत्याचार, अन्याय, शोषण तथा जातिगत भेद-भाव रूपी दंश उन्हें गाँव के जीवन से धकेलता है, जिसका स्पष्ट प्रत्याकन भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियाँ करती हैं। उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन के शोषण परक संस्थानों के कारण निम्नवर्गीय लोगों के जीवन में व्याप्त शोषण के विभिन्न पहलुओं को दर्शाने की चेष्टा करती हैं। यही कारण है कि वे कभी-कभार यथार्थ को यांत्रिक तरीके से प्रस्तुत कर जाते हैं। उनकी ग्रामीण जीवन की कतिपय कहानियों में उनकी विचारधारा का अतिरेक उनके यथार्थ निरूपण की विश्वसनीयता को कम करता है। जिसे उनकी 'मंगली की टिकुली' तथा 'टिङ्गे' आदि कहानियों को देखा जाता है, जहाँ अभिव्यंजित वर्ग-संघर्ष का स्वरूप प्रत्ययकारी नहीं मालूम पड़ता है। उनकी कहानियाँ कई बार ऐसी लगती हैं कि वे एक विचारधारा विशेष के प्रचार का साधन मात्र हैं। वहाँ यथार्थ को विश्वसनीय बनाने की कलात्मकता का परित्याग साफ झलकता है।

जहाँ तक भैरव प्रसाद गुप्त और कहानीकार मार्कण्डेय की समानता की बात है तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि एक कहानीकार के नातों दोनों में काफी नैकट्य है। दोनों की रचनाशीलता पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव है। दोनों ग्रामीण जीवन के बुनियादी सवालों से अपनी कहानियों में टकराते हैं। भैरव प्रसाद गुप्त जिस प्रकार 'न्यौता' कहानी में सामंती उत्पीड़न और अत्याचार के कारण ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन का गाँव के जीवन से पलायन दिखाते हैं, उसी तरह मार्कण्डेय भी अपनी 'जूते' कहानी में इसका संकेत करते हैं, जहाँ भूख, गरीबी और सवर्णों द्वारा निम्न वर्ग पर ढाए जाने वाला अत्याचार ग्रामीण आमजनों को गाँव से पलायन करने का मजबूर करता है। मार्कण्डेय की 'साबुन' कहानी जिस भाँति शिक्षित युवा पीढ़ी को शहरी चकाचौंध से आकर्षित होकर गाँव से पलायन करने के साथ-साथ शहर के माहौल में अपने को मिसफिट पाकर उन्हें जिस प्रकार विडम्बनाग्रस्त दिखाती है, ठीक उसी प्रकार भैरव प्रसाद गुप्त की कहानी 'अपरिचय का घेरा' लक्ष्मण जैसे पढ़े-लिखे युवा को विकल्पहीनता की स्थिति के मध्य किंकर्तव्यविमूढ़ दिखाती है। इसी तरह दोनों की कहानियों में गाँव के जीवन में शहरी जीवन बोध के संक्रमण के

पहलू का मिलान करने पर भी उनके बीच की समानता को लक्ष्य किया जाता है। भैरव प्रसाद गुप्त की 'धनिया की साड़ी' के रमुआ की भाँति मार्कण्डेय की 'गनेसी' कहानी का नायक भी शहरी जीवन की आधुनिक चेतना रूपी मूल्य-बोध को अर्जित करने के तदुपरांत ही ग्रामीण जीवन की दकियानूसी मान्यताओं से पहले स्वयं मुक्त होता है फिर दूसरों को भी उससे निजात दिलाने के लिए अगुवा स्वरूप प्रेरणा बनता है।

पर, उक्त तमाम समानताओं के बावजूद इन दोनों कहानीकारों के कहानी के प्रति होने वाले दृष्टिकोण में कुछ अंतर मिलता है। भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों में शोषक वर्ग के दमन और अत्याचार के खिलाफ शोषित वर्ग की परिवर्तन कामी चेतना उनका संगठन तथा संघर्ष का स्वरूप बराबर चित्रित होता है। यही नहीं, कहीं-कहीं उनकी कल्पना-शक्ति निम्नवर्गीय शोषित आमजन की शोषक वर्ग पर विजय बड़े ही सहज ढंग से दिखला देती है। उनकी 'मंगली की टिकुली' तथा 'टिड्डे' आदि कहानियाँ इसके अन्यतम उदाहरण हैं— "टिड्डा का उपयोग प्रतीक रूप में, पर यांत्रिक तरीके से ग्रामीण समाज में वर्ग-संघर्ष का चित्रण किया गया है।"⁷ कहने का अभिप्राय यह है कि उनकी कहानियों में चित्रित 'यथार्थ' पर उनकी विशिष्ट विचारधारा का प्रक्षेपण अक्सर हो जाता है। जिस कारण ही उनकी कहानियों का यथार्थ कभी-कभी प्रत्ययकारी नहीं मालूम पड़ता है— "भैरव प्रसाद गुप्त उन कहानीकारों में से हैं, जो कहानी-कला को अपनी विचारधारा की अभिव्यक्ति मानते हैं और इसके लिए 'कहानी-कला' के साथ कोई भी समझौता तैयार करने के लिए तैयार रहते हैं।"⁸ जबकि, मार्कण्डेय की कहानियों में 'यथार्थ' और विचारधारा का सहमेल दिखाई पड़ता है। कहीं भी विचारधारा अलग से यथार्थ पर हावी होती हुई प्रतीत नहीं होती है। इसी कारण उनकी कहानियों में चित्रित ग्रामीण जीवन का वर्ग-संघर्ष अप्रत्ययकारी नहीं लगता है। उदाहरणस्वरूप उनकी 'हरामी के बच्चे', 'मधुपुर के सिवान का एक कोना' तथा 'बीच के लोग' आदि कतिपय कहानियों का अनुशीलन किया जा सकता है। मार्कण्डेय अपनी 'हरामी के बच्चे' के सरजू 'बीच के लोग' के मनरा तथा 'मधुपुर के सिवान का एक कोना' के नरेश के माध्यम से निम्नवर्गीय शोषित जन की वर्ग चेतना उनके संगठन तथा उनकी प्रतिकार भावना का यथार्थ चित्रण करते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि मार्कण्डेय की कहानियों में परिवर्तनकामी शक्तियों का वर्गीय बोध, उनकी सांगठनिक भावना तथा शोषण के खिलाफ संघर्ष करने की चेतना कहानीकार की यथार्थ-दृष्टि के भविष्य-बोध रूपी विज्ञान का हिस्सा होती हैं, जो मार्कण्डेय सरीखे कलाकार

द्वारा 'यथार्थ' को सम्पूर्णता (वर्तमान को अतीत और भविष्य की ऐतिहासिक अविच्छिन्नता) में देखने के आग्रह का ही परिणाम है।

इन दोनों कहानीकारों के बीच दूसरा महत्वपूर्ण अंतर यह है कि मार्कण्डेय जहाँ अपनी कतिपय कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक परिवर्तन तथा आर्थिक विकास के मध्य ग्रामीण जीवन की नई वास्तविकताओं तथा समस्याओं का संश्लिष्ट यथार्थ उकेरते हैं, वहाँ भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियाँ स्वतंत्रता उपरांत की बदली हुई परिस्थितियों से उपजे यथार्थ से दूर छिटकी मालूम पड़ती हैं। जिसका प्रमाण उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उन्नयन से संबंधित आर्थिक-विकास कार्यक्रम तथा भूमि संस्कार आंदोलन की कोई अनुगूँज का सनाई न देना होता है। देखा जाए तो इसका कारण भैरव प्रसाद गुप्त की प्रखर साम्यवादी चेतना होती है जिसके चलते वे 'आजादी' को झूठा मानकर उसे पूरी तरह खारिज कर देते हैं। जबकि मार्कण्डेय स्वतंत्रता बाद की परिवर्तित परिस्थितियों से ग्रामीण शोषित वर्ग रूपी आमजन के जीवन में उपजी नई वास्तविकताओं तथा नए संकट को बड़ी पैनी निगाह से देखते हैं। जिसका प्रमाण उनकी 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना', 'दौने की पत्तियाँ', 'आदर्श कुक्कुट-गृह', 'भूदान', तथा 'मधुपुर के सिवान का एक कोना' आदि कहानियाँ हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि ये दोनों कहानीकार स्वतंत्रता बाद के कहानी-लेखन में महत्वपूर्ण होकर उभरते हैं। दोनों के बीच समानता-असमानता के पर्याप्त तत्त्व मिलते हैं। दोनों स्वतंत्रता बाद के कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन के यथार्थ की उपस्थिति बनाए रखते हैं। भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों में उनकी साम्यवादी विचारधारा चस्पॉ रहता है। उनकी कतिपय कहानियाँ- 'न्यौता', 'कदम के नीचे', 'घुरहुआ', 'धनिया की साड़ी', आदि ग्रामीण जीवन में व्याप्त सदियों पुरानी बद्धमूल समस्याओं पर प्रहार करने से नहीं चूकती हैं। उनकी साम्यवादी चेतना ग्रामीण जीवन के शोषित पीड़ित वर्ग के प्रति पूरी सहानुभूति प्रदर्शित करती है। इसी कारण उनकी कतिपय कहानियों - 'टिड्डे', 'मंगली की टिकुली' आदि में ग्रामीण जीवन के वर्ग-संघर्ष के चित्रण में शोषित वर्ग विजयी होता दिखाई देता है। सारतः कहा जाए तो भैरव प्रसाद गुप्त 'यथार्थ' के प्रति अपने निजी एप्रोच के साथ स्वतंत्रता उपरांत कहानी-लेखन में मार्कण्डेय की भाँति ग्रामीण जीवन की बहुपरती समस्याओं का उद्घाटन करते हैं, जो आधुनिक हिंदी कहानी के विकास में उन्हें महत्वपूर्ण पहचान प्रदान करता है।

4.2 विवेकी राय

ग्रामीण जन-जीवन को कहानी साहित्य में प्रस्तुत करने की परंपरा में प्रेमचंद मील के पत्थर माने जाते हैं। इसी परंपरा में स्वतंत्रता उपरांत के परिदृश्य में विवेकी राय का नाम लिया जाता है। विवेकी राय की पहली कहानी 'पाकिस्तानी' स्वतंत्रता पूर्व ही हिंदी कहानी-लेखन में दस्तक दे देती है। हालांकि उनका पहला कहानी-संग्रह 'जीवन परिधि' (1952) शीर्षक से प्रकाशित होता है, जिसमें उनकी कुल 14 कहानियाँ संगृहीत हैं। गोपाल राय के अनुसार— "कहानी के मानक पर कच्ची होने के बावजूद इन कहानियों में स्वतंत्रता प्राप्ति का समय अपनी भयावह सच्चाइयों के साथ व्यक्त हुआ है।"⁹ जिससे यह पता चलता है कि वे अपने समय और परिवेश से बाख़बर रहने वाले कहानीकार होते हैं। अपनी पहली कहानी में एक मुस्लिम पात्र की अदम्य देशभक्ति का चित्रण करने वाले विवेकी राय स्वतंत्रता बाद के ग्रामीण जीवन के बुनियादी सवालों को अपनी परवर्ती कहानियों के माध्यम से उठाते हैं। वे 'जीवन परिधि'(1952), 'नयी कोयल' (1975), 'गूँगा जहाज' (1977), 'बेटे की बिक्री' (1977), 'कालातीत' (1982), 'विवेकी राय की श्रेष्ठ कहानियाँ' (1984), 'चित्रकूट के घाट पर' (1988), 'श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ' (1996) आदि कहानी-संग्रहों के माध्यम से ग्रामीण जन-जीवन का बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका ग्रामीण जीवन से जुड़ाव इस रूप में भी समझा जा सकता है कि उनके विविध कहानी संकलनों में प्रकाशित एक सौ आठ कहानियों की पृष्ठभूमि ठेठ ग्रामांचल से संबंधित है।

उनके कहानी संसार में ग्रामीण यथार्थ की अकल्पित भद्गी मिलती है, जहाँ कहानीकारों का पहुँच पाना तथा वहाँ धैर्यपूर्वक टिके रहना एक चुनौती साबित होता है। उन्होंने स्वयं इस संबंध में कहा है कि— "जीवन की बाह्य विसंगतियों से विक्षुब्ध और अपने निपट निजी अहं में सिमटा-संकुचित कथाकार आंतरिक स्तर पर होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की धड़कनों को सहेजने-बटोरने में आज इतना उलझा है कि ग्रामांचल के परिवर्तन, बिखराव और वहाँ के जीवन संघर्षों से ऊब जाता है और वहाँ की भूमि पर पैर रखते ही ऐसा उखड़ता है कि व्यर्थता बोध के खोंखले फिकरों को रटता भाग खड़ा होता है। आज का नव परिवर्तित और संस्कृतिशील ग्रामांचल कथाकारों के धैर्य की कसौटी बन गया है।"¹⁰ जिसका कहने का तात्पर्य यह है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण-जीवन के बदलते संदर्भ और यथार्थ को नगरीय जीवन के स्त्री-पुरुष संबंधों के फैशनपरक चित्रण के

समानांतर अभिव्यक्त करने का धैर्य निश्चित तौर पर एक चुनौतीपूर्ण कर्म है, जिसे विवेकी राय आदि कहानीकार संभव बनाते हैं। उल्लेखनीय है कि विवेकीराय की कहानियों में ग्रामीण जन-जीवन के विविध आयामों का चित्रण है जिनमें वहाँ के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक पहलुओं का बखूबी प्रत्यांकन होता है। इन पहलुओं में ग्रामीण जीवन में व्याप्त गरीबी, भ्रष्टाचार, जमींदारों का अत्याचार, खाद्यान्न नियंत्रण की पीड़ा, राजनीतिक भटकाव, विकास योजनाओं से जुड़ा सच, आधुनिक मूल्य-संक्रमण, पारंपरिक मूल्य ध्वंस, सांस्कृतिक पहचान आदि विषयों को उठाने की चेष्टा मिलती है।

ध्यातव्य है कि स्वतंत्रता बाद जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन ग्रामीण जीवन के भूमिसंबंधों को सुलझाने, सुधारने तथा उसका उन्नयन-संस्कार करने वाला एक ऐतिहासिक कदम होता है। किंतु, इस ऐतिहासिक कदम से भी ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजनों के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है, क्योंकि जमींदार अपना सामंती चोला उतारकर प्रजातांत्रिक रूप धर लेता है तथा अपने सामंती संस्कारों को गाँव के उच्च पदों पर आसीन होकर जब-तब व्यवहार में लाता रहता है। उनके सामंती अत्याचार का निरूपण विवेकी राय अपनी कई कहानियों में करते हैं। इस प्रसंग में उनकी 'मरछिया' कहानी उल्लेखनीय है। इस कहानी में विवेकी राय ने स्वतंत्रता बाद भी बदस्तूर जारी रहने वाली जमींदारों की हड़पनीति, उनके द्वारा किए जाने वाले अत्याचार, चकबंदी तथा प्रशासन और न्याय-प्रणाली को अपने हित में साधने वाली कुत्सित नीति का यथार्थ चित्रण किया है। आलोच्य कहानी में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के विडम्बना स्वरूप यह देखा जाता है कि मंजू प्रसाद जैसे लोग जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन के बावजूद गाँव के धनिक और पाँच सौ बीघे के मालिक बने रहते हैं। वे नए नियमों को धता बताने हेतु अपनी जमीन को परिवार के सदस्यों के बीच बाँटने का छद्म रचते हैं। यही नहीं, वे चकबंदी के अमलों और ए.सी. ओ. को अपने साथ मिलाकर गाँव की कीमती जमीन अपने चक में जोड़ लेते हैं तथा उसका लाभ अकेले भोगते हैं। उनकी हड़पनीति और दबंगई से समूचा गाँव त्रस्त रहता है। उनके आतंक के समक्ष सारा गाँव सिकुड़ जाता है, क्योंकि वे पुलिस की मदद से गाँव पर अत्याचार ढाते हैं। इस कहानी की मरछिया बुआ उसके अत्याचार तथा नापाक इच्छाओं के लिए उसे खरी-खोटी सुनाने का साहस दिखाती है-
- "तू काहे सिपाही-दरोगा को सुनाते हो? बुला-बुला कर गरीबन के गरदन रेतते हो?"¹¹ यहाँ समझा जाए तो कहानीकार आलोच्य कहानी के माध्यम से यह दिखाने की कोशिश करता है कि

पुराने सामंत अपने नए पैतरों से प्रजातंत्र के सर्वेसर्वा बन जाते हैं तथा प्रजातांत्रिक विकास और बदलाव को अपने पाले में कर उसका लाभ स्वयं उठाते रहते हैं। इसी कारण जमींदारी-प्रथा तो टूट जाती है, पर गाँव में जमींदारों के अत्याचार तथा सामंती संस्कार यथावत् बने रहते हैं। विवेकी राय अपनी कतिपय अन्य कहानियों के माध्यम से भी जमींदारों की साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति का खुलासा करते हैं। उनकी 'बड़ा आदमी' कहानी गाँव के जमींदार द्वारा अपने कारिन्दों की सहायता से निम्नवर्गीय शोषित आमजन की फसल काट लेना, उन्हें मारपीट करना तथा उनके घरों को आग के हवाले कर देना जैसी वारदातों को अंजाम देते हुए दिखाती है। इस कहानी में कहानी का नायक अपने मृत भाई की आठ बीघा जमीन गाँव के जमींदार से छुड़ाने का प्रयास करता है, किंतु उसमें सफल नहीं हो पाता है। और तो और गाँव का जमींदार उसकी जमीन वापस करने के बजाय उसकी जमीन पर उगी फसल को भी काट लेता है। कहानी का कथा नायक ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन की भाँति अपनी अवशता को समझते हुए केवल अपनी विडम्बनात्मक स्थिति को जाहिर कर रह जाता है— "यह दुनिया गरीबों के जीने योग्य नहीं है। जीने से अच्छा तो है पत्थर पर सिर पटककर मर जाना।"¹² जिसका संकेत यह कहना होता है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन जमींदारों के अत्याचार और शोषण से व्याप्त रहता है, जहाँ निम्नवर्गीय शोषित आमजन अपने को अवश और लाचार पाता है। इसके अलावा भी विवेकी राय की 'दमरी की खोज', 'आदमी का पइया', 'भूमिधर', 'सेठ की हजामत', आदि कहानियों में जमींदारों के अत्याचार के विविध आयाम उभरते हैं, जहाँ उनकी संवेदना ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजनों के साथ दिखायी देती है।

विवेकी राय की कहानियों में ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन के जीवन में व्याप्त गरीबी का चित्र भी खूब मिलता है। स्वतंत्रता बाद की बदली हुयी परिस्थिति में भी ग्रामीण आमजन के जीवन में बुनियादी समस्याओं का अभाव बना रहता है। प्रकृति की मार, शोषक वर्ग की कारस्तानी, सत्ता की पूँजीवादी सोच, सामाजिक-आर्थिक वैषम्य, जाति-व्यवस्था तथा दकियादूसी सांस्कृतिक मान्यताएँ सभी कुछ सम्मिलित रूप से गाँव के निम्नवर्गीय आमजन के जीवन में गरीबी जैसी मूलभूत समस्या को बनाए रखती है। जिसका प्रमाण उनकी 'अतिथि' नामक कहानी में मिलता है। प्रस्तुत कहानी में एक ओर श्रद्धा और अतिथि-सत्कार की नैतिकता से आक्रांत एक गरीब किसान तो दूसरी ओर एक परोपजीवी पंडित होता है। यहाँ कहानीकार बड़ी कुशलता से किसान की गरीबी और धर्मभावना के विरोध में पंडित महाराज के नैतिक शोषण को खड़ा करते हैं। इस कहानी में, कहानीकार की

व्यंजना यह स्पष्ट दिखाती है कि एक अभावग्रस्त परिवार का सारा भोजन उदरस्थ कर लेने वाला ब्राह्मण अपनी गरीबी में कुत्तों की हालत तक पहुँच जाने वाले लोकनाथ तथा उसके परिवार को धर्म-कर्म का उपदेश सुनाते हुए केवल अपनी धूर्तता जाहिर करता है। विवेकी राय की एक अन्य कहानी 'सुराजी भवानी का फेर' में भी गरीबी का एक चित्र मिलता है। इस कहानी में कहानीकार ग्रामीण जीवन में व्याप्त गरीबी को वहा अंतर्निहित अशिक्षा तथा उससे उपजी अंध-चेतना के साथ दर्शाने की चेष्टा करता है, जो स्वातंत्र्योत्तर शासन और राजनीति की विडम्बना को जाहिर करता है। इस कहानी में यह दिखाया जाता है कि गरीब शिवधनी ठेके पर दिन-भर काम में मर-खप कर भी अपने परिवार का पालन करने में असमर्थ होता है, इसलिए वह भूत उतारने का कार्य भी करता है। शिवधनी का जीवन चार लड़के, दो लड़कियों और पत्नी समेत अत्यंत दयनीय स्थिति से गुजरता है। उसे हल जोतने के एवज़ में जो कुछ प्राप्त होता है, वह उसके लिए अपर्याप्त साबित होता है और इस कारण उसके परिवार पर ऋण का बोझ चढ़ता जाता है। इस विषम परिस्थिति में उसके परिवार को भूखा भी रहना पड़ता है; मजदूरी में माँग-चाँग कर जो कुछ धान मिलता है उसी पर गुजारा करना पड़ता है।

आलोच्य कहानी में उसके परिवार की दरिद्रता का यह चित्र- “एक रुपये का एक सेर चावल आता है और माँड के साथ गीला-गीला नमक डालकर थोड़ा लेकर सब्र कर लेते हैं। जब थाली साफ हो जाती है तो लड़के एक बार आँख उठाकर माँ की ओर देखते हैं।... फिर माँ के कुछ ना कहने पर भी वे समझ जाते हैं और चुपचाप उठ जाते हैं।”¹³ जिससे स्वातंत्र्योत्तर शासन और राजनीति के गाँवों के विकास करने के दावा झूठा प्रमाणित होता है। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की गरीबी का यह चरम विडम्बनात्मक चित्र ही हो सकता कि, शिवधनी जैसे निम्नवर्गीय आमजन भूत-प्रेत उतारने के कार्य से अपनी जीविका चलाने की असफल चेष्टा करते हैं। यही नहीं, उसके साथ गाँव वाले अपनी गरीबी को दूर भागने हेतु अपनी अशिक्षा तथा अवशता वश देवी-देवता और भेत-प्रेत पर विश्वास करते हैं। आलोच्य कहानी में कहानीकार का व्यंग्य सत्ता की प्रशासन प्रणाली पर होता है, जो सेवा के नाम पर राजनीति करते हुए स्वयं मेवा खाते रहते हैं- “असली भूत ये हैं, जो सेवक का बाना लेकर बेबसों की छाती पर कोदो दल रहे हैं। गाँव से टोना-टोटका तो समाप्त हो गया परंतु नये टोटकों को कौन भगाये।”¹⁴ जिससे ज़ाहिर हो जाता है कि ये नए टोटके सत्ता का विशृंखलित और पंगु प्रशासन तंत्र ही है। कहानीकार विवेकीराय गरीबी से जुड़े

एक अन्य रूप को भी अपनी कहानी में दिखाते हैं, जहाँ गाँव के जीवन में गरीबी और अशिक्षा ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन को उन्हें उनके नीचे होने का अहसास कराती हुई उन्हें सामाजिक अर्थ-विषमता के पहलू से भी साक्षात् कराती है। इस तथ्य को विवेकी राय की कहानी 'गद्दी पर किसका पैर' में देखा जाता है। प्रस्तुत कहानी में पोशाक में खादी, कथन में गाँधी तथा व्यवहार में आजादी वाले सफेद पोश नेता पूरी तरह बेनकाब होता है, जो बस की गद्दी पर एक गरीब ग्रामीण के पैर रखने मात्र से तिलमिला उठता है— "ये कमीने इसी प्रकार आसमान पर चढ़ते जाते हैं। जितनी ही तरह दीजिए उतना ही सिर हो जाते हैं।... फिर इनका काम देखिए, जो बैठने की जगह है वहाँ थप्प से रख दिया जनम-जनम का गंदा पैर।"¹⁵ जिससे स्वातंत्र्योत्तर राजनीति की विडम्बना समझ में आती है कि यही लोग नेता(?) कहलाते हैं, तथा जो गाँव की गरीबी दूर करने की थोथी राजनीति करते हैं। जबकि इनके भीतर गरीब आमजन के प्रति सदियों की घृणा कुंडली मारे रहती है। आलोच्य कहानी में कहानीकार यह दिखलाता है कि 'गरीबी' के मुद्दे पर राजनीति करने वाले नेता स्वयं अपने ग्रामीण मजदूर को उत्पीड़ित करता है तथा उसकी पत्नी को भी हथियाये रहता है। यहाँ कहानीकार का व्यंग्य एक दूसरे सहायत्री युवक के माध्यम से जाहिर होता है जो अमीर व्यक्ति पर व्यंग्य कसने के लिए उस गरीब को डाँटते हुए कहता है — "तुम फिर कभी बड़े आदमियों की गद्दी पर पैर रखने की कोशिश मत करना। नागरिकता और मनुष्यता सीखो, क्योंकि तुम गरीब हो।"¹⁶

विवेकीराय की कहानियों में गाँवों में घुसपैठ करती राजनीति तथा उस राजनीति से भटके गाँवों की स्थिति और गति का भी बराबर उल्लेख मिलता है। उनकी 'चुनाव चक्र' 'रावण' 'काशी का भोज' तथा 'सभा' आदि कतिपय कहानियों में राजनीति के कुत्सित परिणाम स्वरूप गाँवों में अलगाव-विखराव, दंगे-फसाद, तथा एक गाँव में बनते जा रहे कई गाँवों की विडम्बना का चित्र स्पष्ट उजागर होता है। उनकी 'चुनाव चक्र' कहानी देश में प्रजातांत्रिक व्यवस्था के होने के बावजूद ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन के जीवन में बुनियादी परिवर्तन को नहीं घटते हुए दर्शाती है। इसी तरह उनकी 'रावण' कहानी में राजनीति के दुष्परिणाम स्वरूप गाँव में उत्पन्न हुए दंगे-फसाद के माहौल का यथार्थ अंकन होता है। आलोच्य कहानी में प्रतीकात्मक दंग से स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के सच को दिखलाया जाता है, जहाँ राजनीति रामलीला के स्थान पर रावणलीला का रूप ले लेती है। विवेकी राय की 'सभा' कहानी भी राजनीतिक भटकाव का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। आलोच्य

कहानी में स्वतंत्रता बाद की राजनीति से जन्मे नेतागण अपना हित चुनाव के माध्यम से साधते हैं। वे लोगों को प्रलोभन देते हैं, आश्वस्त करते हैं। उनकी कामनाओं को हवा देते हैं, परंतु नौकरी माँगने वाले बेकार युवकों को अपने राजनीतिक अंदाज में तिरस्कृत करते हैं – “ भागों यहाँ से! नौकरी तुम्हारे लिए रखी है?... कौन जात है? किसे वोट देता है?”¹⁷ जिससे स्वातंत्र्योत्तर राजनीति और नेता के चरित्र का सच उजागर होता है।

इसी तरह विवेकी राय की कहानियों में ग्रामीण सामाजिक जीवन की विवाह संबंधी समस्याओं को विषय बनते हुए देखा जाता है। उनकी ‘बाप मोरे भइले कठ बपवा’ तथा ‘कच्चा गुलाब’ आदि कहानियों में बाल-विवाह विरोधी कानून के होने के बावजूद भी ग्रामीण जीवन में छोटी उम्र में ही विवाह कर देने का प्रचलन देखा जाता है। आलोच्य कहानी में एक अधेड़ उम्र का विधुर दूसरे विवाह के लिए अपने आप को जवान अनुभव करता है, दूसरे विवाह का समर्थन करता है, “मैं क्या करूँ? जब से मेरी स्त्री मरी, घर झन-झन करता है। दोनों लड़के हैं। कतने अबोध हैं। देखता हूँ कि कलेजा पिघल जाता है। फिर संगी-साथी जान खाये जाते हैं। सोचता हूँ कि कोई हो, जिसे मैं अपना बना सकूँ।”¹⁸ स्पष्ट है कि यहाँ पुरुष की भोगवादी मानसिकता प्रकट होती है, जो अपनी इच्छापूर्ति के लिए एक भोली-भाली बालिका से अनमेल विवाह करने का समर्थन करता है। यही नहीं, यहाँ भोगवादी पुरुष अपनी सुप्त काम चेतना को दूसरी चीजों की आड़ में प्रकट करता है। वह अपने बालकों के लालन-पालन के लिए एक स्त्री की जरूरत की बात करता है, जबकि इस सच को कोई भी समझ सकता है कि बच्चों के लालन-पालन के लिए एक बालिका पर्याप्त नहीं होती है। इसी तरह विवेकी राय की कहानी ‘कच्चा गुलाब’ में भी ग्रामीण जीवन में बाल-विवाह की परंपरा का समर्थन कहानी का विषय बनता है। आलोच्य कहानी का पिता (लड़के का) अपने विवाह का उदाहरण देकर बचपन में ही शादी हो जाने को उचित मानता है जो ग्रामीण जीवन के कटु सच से हमारा साक्षात्कार कराता है। यही नहीं, ऐसे पिता के लिए लड़का एक सौदा होता है जो ग्रामीण जीवन में दहेज की समस्या के बने रहने की हकीकत का बयान करता है। यहाँ कहानीकार प्रस्तुत कहानी के एक पात्र के निम्न कथन के माध्यम से उक्त सच को कुछ इस प्रकार उभारता है – “ ... क्योंकि आज वह सौदा बन गया है। गाँवों के लड़के शादी की बात करने वालों से शरमाते हैं। स्कूल में भी इस तरह के कांड हो जाते हैं। भरी कक्षा में ग्राहक लोग सौदा देखने घुस आते हैं।”¹⁹ इसी तरह विवेकीराय की कहानियों में ग्रामीण जीवन की वस्तु स्थिति का

दिग्दर्शन कराते हुए सरकारी योजनाओं की हकीकत को उजागर किये जाने का प्रयास देखा जाता है। इस संदर्भ में उनकी 'दीप तले अँधेरा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। इस प्रसंग में उनकी 'बिलायती डिजाइन का अफसर' कहानी भी उल्लेखनीय है। इस कहानी में यह दर्शाया गया है कि सरकारी योजनाओं का लाभ ग्रामीण विशिष्ट जन को प्राप्त होता है, क्योंकि ग्रामीण विशिष्ट जन के साथ सरकारी अमलों की मिलीभगत रहती है। सरकारी विकास योजनाओं को चलाने वाले अधिकारी गण गाँव के मुखिया (विशिष्ट जन) की ड्योढ़ी से कृषि योजना के अंतर्गत बीज, खाद, औजार आदि का लाभ लोगों को पहुँचाने की आड़ में गाँव के विशिष्ट जनों के ही हित साधते हैं, जबकि सार्वजनिक वितरण प्रणाली में ग्रामीण आमजन उक्त लाभ से वंचित रहता है। आलोच्य कहानी का कहानीकार इस कहानी के जरिये सरकारी विकास योजनाओं और अधिकारियों पर कुछ इस प्रकार व्यंग्य साधता है— “ ये हैं विकास अधिकारी। विकास इनके पीछे चलता है। यदि किसी गाँव में जाकर बहुत देर तब रुकने लगेंगे तो वहाँ विकास भी जमकर अधिक होने लगेगा और इस प्रकार तमाम गाँवों में शीघ्र विकास हो जाएगा।... यदि ऐसा हुआ तो उनकी नौकरी की अवधि भी बढ़ती जाएगी...”²⁰ इसी तरह उनकी कतिपय अन्य कहानियों – ‘भड़क दो चित्र (सरकारी पैसे के दुरुपयोग पर व्यंग्य), ‘सारे जहाँ से अच्छा’ (विकास प्रसार पर व्यंग्य), ‘बाढ़ की यमदाढ़’ (बाढ़ग्रस्त स्थान को राहत पहुँचाने के कार्यों की पोल खोलना) आदि में सरकारी विकासपरक योजनाओं की वास्तविकता को ग्रामीण आमजन की चिंता के साथ उठाने की प्रवृत्ति मिलती है।

इस प्रकार समग्र रूप में विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि विवेकीराय स्वतंत्रता उपरांत के कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन के बुनियादी सवालों को गंभीरता से उठाने की कोशिश करते हैं। उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में जमींदारों के अत्याचार व शोषण तथा ग्रामीण निम्न वर्गीय आमजन के जीवन में गरीबी और अभाग्यस्तता के यथावत् कायम रहने, ग्रामीण जीवन में बाल-विवाह की प्रथा के बने रहने, स्वातंत्र्योत्तर राजनीति की विडम्बना स्वरूप राजनीतिक भटकाव में गाँव के अटके रहने तथा स्वातंत्र्योत्तर विकास योजनाओं के झूठे दावों के छाये रहने के क्रम में ग्रामीण जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं को बखूबी चित्रित करने का प्रयास करती हैं। उनकी कहानियों में ग्रामगंधी भाषा व मुहावरों का व्यवहार बड़ी सहजता से होता है। उनकी कहानियाँ ग्रामांचल से उनके ठेठ जुड़ाव को अभिव्यक्त करती हैं।

उनकी कहानियों में किसी स्पष्ट विचारधारा का प्रभाव न होने के बावजूद भी उनकी संवदेना ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन के प्रति होती है। संस्मरण और रेखाचित्रपरक शिल्प उनकी कहानियों की अपनी विशेषता बनता है।

जहाँ तक विवेकीराय के मार्कण्डेय के समकालीन कहानीकार होने की बात है, दोनों में काफी समानता मिलती है। दोनों का ग्रामीण जीवन से गहरा जुड़ाव है। दोनों स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के कहानी-लेखन को ग्रामीण जीवन के यथार्थ से सम्पृक्त करने की प्रचेष्टा करते हैं। दोनों अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं को उकेरने की पहल करते हैं। डॉ. रामदरश मिश्र, विवेकी राय के उक्त कहानीकार पक्ष का उद्घाटन कुछ इस प्रकार करते हैं— “ गाँव की बनती-बिगड़ती जिन्दगी के बीच जीते हुए और उसे पहचानते हुए वे चलते हैं। इसलिए गाँव के जीवन से संबंधित उनके अनुभवों का खजाना चूका नहीं, नित भरता गया है।... लगता है उनके अनुभवों से लगातार बदलता हुआ अंचल अपने बहुआयामी यथार्थ के साथ खलबला रहा है जो उनकी कहानियों के माध्यम से फूट पड़ने को आकुल-व्याकुल है।”²¹ जिससे उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन के बहुपरती यथार्थ के निरूपण की प्रचेष्टा जाहिर होती है। पर उनकी कहानियों में यथार्थ के प्रति उनका निजी दृष्टिकोण उन्हें मार्कण्डेय आदि कहानीकारों से उनकी भिन्नता जाहिर करता है। जिसे दोनों की कहानियों के कुछेक प्रसंगों को समानांतर रूप में रखते हुए देखा जा सकता है।

इस संदर्भ में सबसे पहले विवेकीराय की कहानी ‘अतिथि’ का जिक्र किया जा सकता है, जिसमें ग्रामीण जीवन में व्याप्त निम्नवर्गीय आमजन की गरीबी का चित्र मिलता है। पर, यहाँ यथार्थ का निरूपण ऐसा प्रतीत होता है कि मानों विषय का केवल प्रत्यांकन भर हो जाए। यहाँ गरीबी और शोषण को यथावत् बनाए रखने वाली शक्तियों, स्थितियों तथा उससे जुड़ी हुयी चीजों के प्रति निम्नवर्गीय आमजन में न कोई वर्गीय चेतना होती है और ना ही उससे संघर्ष करने की भावना। जबकि, इसी विषय से संबंधित मार्कण्डेय की कहानी ‘दाना-भूसा’ का उल्लेख किया जाए तो वहाँ स्पष्ट देखा जाता है कि गरीबी और शोषण के प्रति ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन की वर्गीय चेतना तथा उससे संघर्ष करने की भावना यथार्थ को यथातथ्य चित्रण भर रहने नहीं देती है। आलोच्य कहानी का बंसन यह खूब समझता है कि सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त आर्थिक विषमता ही गरीबी और शोषण को बनाए रखने की प्रचेष्टा करती है। अतः एक ऐसा समाज, जो विषमता से रहित

हो वही समाज गरीबी और शोषण को अपदस्थ कर सकता है। यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि मार्कण्डेय और विवेकीराय द्वारा ग्रामीण समाज के एक ही विषय को भिन्न तरीके से उठाना उनकी यथार्थ-दृष्टि के अंतर को ही प्रतीकित करता है। इसी कारण डॉ. कृष्णलाल विवेकीराय के यथार्थ चित्रण को लेकर निम्न मंतव्य प्रकट करते हैं— “विवेकी राय की कहानियाँ गाँव, शहर और राजनीति का हाल बताती हैं। हल्का-फुल्का व्यंग्य करके शांत हो जाती हैं।”²² इसी प्रकार विवेकी राय और मार्कण्डेय की कतिपय अन्य कहानियों को समानांतर रखकर देखने से उनके बीच का अंतर समझ में आता है। उदाहरणस्वरूप विवेकीराय की उन कहानियों को देखा जा सकता है, जहाँ वे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन और उससे जुड़ी विकासपरक योजनाओं के सच का प्रत्यांकन करते हैं। इन कहानियों में यथार्थ का कलात्मक निरूपण चूक जाता है। इसलिए अक्सर वे निबंध या रिपोर्टाज का आभास देने लगती हैं— “विवेकी राय की बहुत सी रचनाएँ ललित निबंध और रिपोर्टाज के अधिक करीब लगती हैं। कभी-कभी लेखक का निबंधकार कहानी पर हावी होता हुआ दिखायी देता है। उनकी कुछ कहानियाँ रेखाचित्र जैसी हैं।”²³ जबकि, मार्कण्डेय की कतिपय कहानियाँ— ‘दौनें की पतियाँ’, ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’ ‘भूदान’, ‘मधुपुर के सिवान का एक कोना’, आदि उक्त यथार्थ के कलात्मक रूपायन से नहीं चूकती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि विवेकीराय और मार्कण्डेय ग्रामीण जीवन-गंधी कहानियाँ लिखने के स्तर पर जहाँ एक-दूसरे के बेहद करीब हैं, वहीं उन दोनों का यथार्थ के प्रति निजी दृष्टिकोण तथा अपनी-अपनी कहानियाँ में यथार्थ का कलात्मक निर्वाह का स्वरूप उन्हें पृथक पहचान देता है।

अतः, विवेकीराय के कहानीकार पक्ष पर विचार करने के तदुपरांत कई बातें छन कर निकलती हैं। पहली, विवेकीराय भी मार्कण्डेय आदि कहानीकारों की भाँति स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण जीवन और उसकी बुनियादी समस्याओं को अपनी कहानियों का विषय बनाते हैं। दूसरी, मार्कण्डेय की भाँति उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक-सांस्कृतिक यथार्थ को उज्जीवित करती हैं। हालांकि उनकी कहानियों में यथार्थ का वह संश्लिष्ट रूप नहीं नजर आता है, जो मार्कण्डेय की कहानियों की खास पहचान है। तीसरी, इनकी कहानियों में ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन की वास्तविकताएँ चित्रित होने के बावजूद वे यथास्थिति का प्रत्यांकन मात्र बनकर रह जाती हैं। चौथी, विवेकीराय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज के बदलते सच को पूरी विश्वसनीयता से चित्रित करने को सचेष्ट मालूम पड़ती हैं, तथापि उनका

यथार्थ निरूपण कलात्मकता की उँचाइयों को नहीं छू पाता है। उनकी अधिकांश कहानियों से कहानीपन नदारद रहता है। यही कारण है कि उनकी कहानियों और ललित निबंधों में फर्क करना मुश्किल हो जाता है। पाँचवी, उनकी कहानियाँ अपनी पूरी शक्ति के साथ स्वतंत्रता उपरांत के कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन के सच को उकेरती हुयी प्रेमचंद की परंपरा को आगे ले जाने का स्तुत्य कार्य करती हैं।

4.3 शिवप्रसाद सिंह (1929-1998)

स्वतंत्रता बाद के हिंदी कहानी लेखन में महत्त्वपूर्ण पहचान बनाने वालों में शिवप्रसाद सिंह का भी नाम है। उनकी छवि स्वतंत्रता उपरांत 'नयी कहानी' आंदोलन के आस-पास ग्रामीण बोध के एक कहानीकार की बन जाती है। वे प्रेमचंद के बाद, हिंदी कहानियों के माध्यम से ग्रामीण उपेक्षित जीवन को उकेरने के सिलसिले की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी साबित होते हैं। वे ग्रामीण जीवन के अति सामान्य उपेक्षित व्यक्तियों को अपनी कहानियों में केवल आगे नहीं करते हैं, बल्कि उन्हें केन्द्रीय व्यक्तित्व प्रदान करते हैं—“ उनकी कहानियों में ग्रामीण परिवेश के ऐसे पात्रों को केन्द्रीयता प्राप्त हुई है जो मानवीय संवेदना से लबरेज हैं और परंपरागत भारतीय संस्कृति को परिभाषित करते हैं।”²⁴ यहाँ कहने की जरूरत नहीं है कि भारतीय ग्रामीण जीवन ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। स्वयं शिवप्रसाद सिंह ग्रामेतर जीवन, जो भारतीय बहुसंख्यक चेहरों तथा उस विराट वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता है, उस जीवन और समाज को प्रस्तुत करने वाले साहित्य को जातीय साहित्य का प्रतिनिधि साहित्य नहीं कहते हैं – “ जातीय साहित्य का अर्थ है, किसी देश का वह साहित्य जो असली अर्थों में वहाँ का साहित्य कहा जा सके, जिसमें उसमें देश की जनता के दुःख संघर्ष, इच्छाओं, आकांक्षाओं को अंकित करने का प्रयत्न किया गया हो, वहाँ की सांस्कृतिक विरासत को समझते हुए समाज और जीवन में संघर्षरत स्वस्थ और विकासशील तत्त्वों को प्रेरित किया जाता हो... मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि हिंदी में शहरी कथा के नाम पर लिखे जानेवाले साहित्य का एक हिस्सा जातीय साहित्य के अंतर्गत शामिल नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह हमारी जातीयता का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता।”²⁵ यहाँ ध्यानपूर्वक देखा जाए तो उनकी सदिच्छा भारतीय जीवन के विराट वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रामीण जीवन और समाज तथा उसकी समस्याओं की साहित्य में उपस्थिति को लेकर साफ समझ में आती है। इसी का प्रतिफलन उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को उकेरने के रूप

में होता है।

उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन के विविध चरित्र, रूप और स्थितियों को उभरते हुए देखा जाता है। उनकी 'नयी पुरानी तस्वीरें' 'हीरों की खोज' 'दादी माँ' 'देऊ दादा' 'मंजिल की मौत', 'बिन्दा महाराज' 'बहाव वृत्ति', 'कबूतरों का अड्डा', 'पैटमैन', 'मास्टर सुखलाल', 'मरहला', 'आखें' आदि कहानियों के केन्द्रीय चरित्र बुआ, बोधन सिंह, दादी माँ, देऊ दादा, बौड़म, हिजड़ा, बिहारी, देवला भाभी, सिजोगी, मास्टर सुखलाल, खुनखुन, गुलाबों आदि भारतीय ग्रामीण जीवन और संस्कृति के परिचायक होते हैं। उनकी स्मृतियों में बसा दादी माँ का चरित्र उन्हें ग्रामीण जीवन के पारिवारिक-सामाजिक जीवन की उस छवि को उकेरने की ओर प्रवृत्त करता है जिसके संबंध में वे स्वयं यह कहते हैं— " दादी माँ गाँव के उस वातावरण की प्रतिनिधि रचना है, जहाँ दीनता, विपन्नता और अंधविश्वास की जड़ें गहराई में जमी हैं, गरीबी और जिन्दगी उसे खाद देती है; किंतु पारिवारिक स्नेह, सहज विनोद और प्रकृति की सुषमा इसमें प्रसून की तरह खिला करती हैं।"²⁶ जिससे उनके द्वारा चित्रित ग्रामीण चरित्रों का आदर्शपरक रूपायन का स्वरूप का संज्ञान स्पष्ट होता है। यही नहीं, उनकी कहानी 'देऊ दादा' में भी उनकी उक्त प्रवृत्ति मिलती है। आलोच्य कहानी में जमींदारों का प्यादा होने के कारण जयकरण गाँव की गरीब-गुरवा युवतियों के साथ कुछ भी करने की छूट पाया हुआ रहता है— " जयकरण जमींदार का दुलारा प्यादा था। उसके केवल दो काम थे। जमींदार के बड़े लड़के वीरेन्द्र को कुश्ती लड़ाना और शाम को भाँग छानकर गाँव की गलियों में नीची जाति के लड़कियों से आँखें लड़ाना।"²⁷ देऊ दादा, इसी जयकरण को दंगल में पछाड़कर उसकी पत उतारते हैं और गाँव को उसके कल्पित आंतक से मुक्त करते हैं। जयकरण भीतर ही भीतर देऊ दादा से खार खाया हुआ रहता है। वह उन्हें अपना परम शत्रु मानता है। पर दिलचस्प बात तब होती है, जब जयकरण को साँप काट लेता है। देऊ दादा जयकरण की खातिर जाड़े की पछुआ हवा वाली रात में धनु भगत को लिवा लाने के लिए कुसरो गाँव को चल पड़ते हैं और धनु भगत को लेकर वे तब लौटते हैं जब समूचा गाँव कोहरे की चादर ओढ़े हुए रहता है— "दोनों चल पड़े। पछुआ का सन्नाटा तीर-सा चुभता। दादा का जी होता वे एक साँस में उड़ते और गाँव पहुँच जाते। शीत के डर से नहीं, उन्हें भय था कहीं पहुँचने के पहले जयकरण मर ना जाए।"²⁸ जिससे ग्रामीण चरित्रों के रूपायन में कहानीकार की आदर्शवादी सोच का अंतर्निहित होना उजागर होता है, जो यह मानकर चलती है कि हर आदमी में बुराई और

अच्छाई दोनों हैं। अतः मानवीयता का तकाज़ा यह है कि मनुष्य को बुरे-से बुरे आदमी की संकटापन्न घड़ी में मदद करने हेतु आगे आना चाहिए। इसी आदर्श से प्रेरित देऊ दादा बहू-बेटियों की इज्जत से खेलने वाले जयकरन को बचाने हेतु बिना अपना जूता-कंबल लिए विषम परिस्थिति में भी अपने घर से बाहर निकल पड़ते हैं।

यद्यपि शिवप्रसाद सिंह अपनी कहानियों में ग्रामीण चरित्रों का रूपायन अपनी निजी सोच के अनुसार करते हैं तथापि उनके विभिन्न चरित्र ग्रामीण जीवन के विविध कथ्य को प्रस्तुत करते हैं। उनकी 'मंजिल की मौत' तथा 'बिंदा महाराज' आदि कहानियों में विशेष रूप से लक्ष्य किया जा सकता है। 'मंजिल और मौत' कहानी का चरित्र बौद्धम, जहाँ ग्रामीण जीवन में व्याप्त मनुष्य की पशु-संवदेना को उभारता है, वहीं बिन्दा महाराज का चरित्र हिजड़े की मानवीय संवदेना की परतें खोलता है। इसी प्रकार उनकी कतिपय अन्य कहानियों में विभिन्न चरित्रों के माध्यम से ग्रामीण जीवन का बहुरंगी कथ्य उभरता है। मसलन, 'आर-पार की माला' कहानी में खाना-बदोश कंजरो का जीवन-अनुभव, 'इन्हें भी इंतजार है' में दलित जाति मुसहर का जीवन तथा 'बेहया' में स्त्री का वेश्या जीवन आदि का प्रत्यांकन है। गौरतलब है कि शिवप्रसाद सिंह की उक्त कहानियों से गुजरते हुए एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह उभरता है कि वे स्वातंत्र्योत्तर ग्राम कहानीकारों के मध्य संभवतः अकेले कहानीकार हैं, जिनकी कहानियों में ग्रामीण अछूत, अभिशप्त उपेक्षित पात्रों का प्रत्यांकन होता है। शिवप्रसाद सिंह अपनी इन कहानियों में ग्रामीण अछूते पात्रों की उपेक्षणीयता तथा सामाजिक-आर्थिक अधोगति के कारणों को अपनी चिंता के केन्द्र में रखकर चलते हैं।

शिवप्रसाद सिंह केवल चरित्रों के जरिये नहीं, बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों के जिक्र के सहारे भी ग्रामीण जीवन के यथार्थ को उज्जीवित करने की प्रचेष्टा करते हैं। उनकी कहानियों में, जयादातर कृषिकार्य तथा किसानों की जरूरत पर आश्रित रहने वाले ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजनों की जिंदगी की वास्तविकता का चित्रण होता है। इस प्रसंग में उनकी 'मुर्गे ने बाँग दी' कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। यह कहानी बताती है कि स्वतंत्रता बाद भी, किसानी कर्म तथा किसानों की जरूरतों पर आश्रित रहने वाले मँगरू लोहार जैसे ग्रामीण आमजन के जीवन में बुनियादी जरूरतों का अभाव बना रहता है। आलोच्य कहानी में मँगरू की पत्नी का यह निम्न कथन उसकी वास्तविक जिंदगी का हाल बताती है— " सब करतब पीछे चला गया बाबा!" मँगरू की औरत ने दीवाल के सहारे एक लकड़ी को रखते हुए कहा " हाथ की हुनर गृहस्थ के हाथ के साथ

ही सिकुड़ गई है। यहाँ तो देह पीटते-पीटते बीमार भले हो जाए पेट भरने का कोई ठिकाना नहीं है।²⁹ जिससे इस तथ्य को समझा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में मँगरू जैसों को रोज अपने आने वाले कल के लिए यह चिंता सताती है कि कैसे अपने परिवार का भरण पोषण किया जाय। वैसे, स्वतंत्रता उपरांत जमींदारी-प्रथा टूट जाती है, तथापि जमींदारों का अत्याचार और शोषण ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन पर कायम रहता है। मँगरू जैसा ग्रामीण आमजन आज भी अपनी मजदूरी के लिए जमींदार के समक्ष गिड़गिड़ाता है और गाँव का ठाकुर उसे बड़ी लापरवाही से टरका देता है— “मजदूरी!” ठाकुर बोले, “जैसे हम गाँव छोड़कर भागे जा रहे हैं। अरे भई, दस-पन्द्रह रोज की तो बात है। जहाँ बुआई खत्म हुई नहीं कि तुम्हारा हिसाब।” मँगरू ने लाख मिन्नत की पर सब बेकार। ठाकुर ने साफ कहा, “यह कोई पहला साल नहीं है। बीस वर्षों से वह उनका हल बनाता है, फिर इसी साल कौन नई बात हो गई जो वे बाप-दादा के जमाने से आती हुई बात को तोड़ दे।”³⁰ जिससे यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि स्वतंत्रता बाद भी जमींदारों का आचरण यथावत् ही रहता है तथा मँगरू जैसों के जीवन में बुनियादी समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। इसी प्रकार उनकी ‘माटी की औलाद’ कहानी में भी ग्रामीण निम्नवर्गीय जीवन की वास्तविकता का चित्रण होता है।

शिवप्रसाद सिंह की कतिपय अन्य कहानियों में ग्रामीण जीवन की बहुरंगी छवियों के अनुरूप प्रेम-संवेदना के पहलू को ग्रामीण जीवन में व्याप्त सामाजिक स्थितियों की टकराव के साथ प्रस्तुत होते हुए देखा जाता है। इस संदर्भ में उनकी ‘नन्हों’ ‘बरगद का पेड़’ ‘कर्मनाशा की हार’, ‘प्रायश्चित’, ‘भग्न प्राचीर’, और ‘टूटे तारे’, आदि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। उनकी ‘नन्हों’ कहानी में, जिसे उनकी प्रमुख कहानियों में एक गिना जाता है, एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार और उसके परिवेश में व्याप्त वैवाहिक विडम्बना को, परंपरागत दाम्पत्य नैतिकता और प्रेम-संवेदना के टकराव के रूप में दिखलाया जाता है। आलोच्य कहानी में कहानीकार ग्रामीण जीवन में होने वाली धोखाधड़ी तथा छल को प्रस्तुत कहानी के प्रस्थान बिंदु के रूप में चित्रित करता है। प्रायः ग्रामीण जीवन में यह देखने को मिलता है कि विवाह के लिए लड़का तो और दिखाया जाता है, परंतु शादी किसी और लड़के से करा दी जाती है। आलोच्य कहानी की नन्हों भी इसी धोखाधड़ी का शिकार होती है। शादी के लिए रामसुभग को दिखाया जाता है परंतु नन्हों का विवाह होता है लूल्हे-लँगड़े, अपंग मिसरीलाल से। अर्थात् नन्हों को बेमेल विवाह की खाई में उतार दिया जाता

है- “डोलो आया, उसी दिन हल्दी-तेल की सारी रस्में बतौर टोटके के पूरी की गईं और उसी रात को बाजे-गाजे के बीच नन्हों की शादी मिसरीलाल से हो गई। बाजो की आवाजें हमेशा जैसी ही खुशी से भरी थी, ... पर नन्हों अपने हाथ-भर के घूँघट के नीचे आँसुओं को सुखाने की कितनी ही कोशिश कर रही थी इसे किसी ने नहीं देखा। एक भारी बदसूरत पत्थर को गले में बाँधे वह वेदना और पीड़ा के अछोर समुद्र में उतार दी गयी, जहाँ से उसकी सिसकियों की आवाजें भी शायद ही सुनायी पड़ती।”³¹ जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि नन्हों के लिए विवाह, खुशियों की जगह मातम लेकर आता है। यहीं से उसके जीवन की अंतहीन वेदना शुरू हो जाती है। उसका जीवन परंपरागत दाम्पत्य नैतिकता तथा वैयक्तिक प्रेम-संवेदना के मध्य एक त्रासद मोड़ पर आकर ठिठक जाता है।

रामसुभग नन्हों को अनजाने में प्यार कर बैठता है, नन्हों भी उसे मन ही मन चाहती है। जिसका प्रमाण उस वक्त मिलता है, जब कमरी नन्हों से रामसुभग से व्याह करने की चर्चा चलाती है, उस घड़ी नन्हों सकुचा-सी जाती है और सोचती है कि- “जाने क्यों लोग मन के छुपे राज को भाँप लेते हैं। जिसे जितना छिपाओं, उसे उतनी ही जल्दी लोग खींचकर सामने कर देते हैं।”³² किंतु, नन्हों रामसुभग का सामने आकर विवाह का प्रस्ताव देने या अपना हाथ सबके समक्ष थामने की घड़ी का इंतजार करती है। यह इंतजार अंतहीन होता है। जब आखिरी बार रामसुभग नन्हों से विदा लेने आता है तब नन्हों उसे विदा करती है, घर की किवाड़ भी बंद कर देती है, पर उस किवाड़ पर साँकल नहीं चढ़ाती है। दरअसल, साँकल न चढ़ाने की घटना उसके मन में बसे उस वैयक्तिक प्रेम को सूचित करती है, जिसमें अभी भी इंतजार करने का धैर्य छिपा रहता है। अतः कहने की जरूरत नहीं है कि नन्हों कहानी में, शिवप्रसाद सिंह स्त्री के जीवन की उस त्रासद स्थिति का यथार्थ प्रस्तुत करते हैं, जहाँ नन्हों जैसी स्त्रियाँ वैवाहिक विडम्बना की शिकार होती हैं। जहाँ, स्त्री की प्रेमेच्छा सामाजिक नैतिकता से टकराने की स्थिति में उलझकर रह जाती है। इसी प्रकार उनकी ‘कर्मनाशा की हार’ कहानी प्रेम-संवेदना का ग्रामीण सामाजिक जीवन में बद्धमूल अंधविश्वास और दकियानूसी मान्यताओं से होने वाले टकराव के रूप में देखा जाता है। यह ग्रामीण जीवन पर लिखी गयी एक प्रभावशाली कहानी है, जहाँ कहानीकार अपनी नयी सोच और संवेदना के ज़ाहिर करता है। आलोच्य कहानी में, परंपरागत ग्रामीण समाज का ही एक आदमी समग्र रूढ़िवादी-दकियानूसी शक्तियों-प्रवृत्तियों के समक्ष मजबूती और साहस के साथ खड़ा होता है। इस

कहानी में कर्मनाशा नदी यदि उस रूढ़िवादी परंपरा का प्रतीक बनती है, तो भैरो पांडे नयी चेतना के प्रतीक बनकर उभरते हैं जिसके आगे कर्मनाशा को झुकना पड़ता है।

इस प्रकार देखा जाए तो शिवप्रसाद सिंह अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन की जो तस्वीर पेश करते हैं, वह काफी व्यापक और विविधतापूर्ण होती हैं। उसमें ग्रामीण जीवन के आदर्शवादी पात्र (दादी माँ, देऊ दादा) एक तरफ होते हैं, तो दूसरी तरह अछूते पात्र भी (बिन्दा महाराज, बौड़म) होते हैं। उसमें ग्रामीण जीवन की विषमता और गरीबी होती है ('मुर्गे ने बाँग दी', 'महुए का फूल', 'माटी की औलाद'), शोषण होता है ('आर-पार की माला', 'उस दिन तारीख भी', 'मुर्गे ने बाँग दी'), औरतों की दुर्दशा होती है ('उपधाइन मैया', 'केवड़े का फूल'), प्रेम-संवेदना का परंपरागत दाम्पत्य नैतिकता से टकराव होता है ('नन्हों'), अंधविश्वास और उसके प्रति विद्रोह करने वाली नयी चेतना का उद्गार होता है ('कर्मनाशा की हार', 'उपहार'), आदि। उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन को उसके विविध पार्श्वों के साथ उजागर करने की सदिच्छा लिए हुए रहती हैं। यद्यपि, ज्यादातर इन कहानियों में चित्रित यथार्थ इकहरा ही रह जाता है। वहाँ यथार्थ यथास्थिति ही बनकर रह जाता है।

जहाँ तक प्रश्न शिवप्रसाद सिंह तथा मार्कण्डेय दोनों का एक-दूसरे के समकालीन कहानीकार होने का है, इस प्रसंग में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि दोनों बड़ी मजबूती एवं दृढ़ विश्वास के सहारे प्रेमचंदोत्तर कहानी-लेखन के परिदृश्य में ग्रामीण जीवन की कहानी-धारा को आगे बढ़ाने का स्तुत्य प्रयास करते हैं। दोनों न सिर्फ अपनी कहानियों, बल्कि अपनी टिप्पणियों के जरिए भी ग्राम-कथानक की कहानियों के महत्त्व का प्रकाशन करते हैं। यहाँ शिवप्रसाद सिंह की एक टिप्पणी का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उक्त तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है- "ग्राम-कथा ने हमारी कहानी को धरती से इतना समन्वित कर दिया है कि हम उसमें हर क्षण उन्मुक्त प्रकृति और सहज जीवन का स्पंदन सुन सकते हैं। इस छोटे- से समय में मुट्ठी-भर कहानी लेखकों ने पर्वत-प्रदेश से मिथिला की अमराइयों तक की धरती का जो नया रूप और जीवन प्रदान किया है वह किसी भी कथा-साहित्य के लिए गर्व की वस्तु हो सकती है।"³³ इसी संदर्भ में मार्कण्डेय की भी एक टिप्पणी का अवलोकन किया जा सकता है- "सन् 51-52 के आस-पास की साहित्यिक गतिविधि से परिचित लोगों के आगे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन मरियल कहानी के

सामने एक ओर जैनेन्द्र, अज्ञेय प्रश्न-चिह्न की तरह खड़े थे तो दूसरी ओर यशपाल के ताजे, वैचारिक यथार्थ का रेडीमेड मसाला धूम से बाज़ार में चल रहा था... इन हालतों में ग्राम कथानकों का आगमन सिर्फ कहानी के नये उत्कर्ष का सूचक मात्र नहीं है, बल्कि उस एक बहुत बड़े वर्ग की सामाजिक जागरूकता का नवीन उत्कर्ष है, जो अब तक कला-साहित्य के प्रचलित प्रतिमानों से दूर गाँवों में था...।³⁴ यहाँ उद्धृत दोनों टिप्पणियों को ध्यानपूर्वक देखने से दोनों कहानीकारों की ग्रामीण बोध की कहानियों के प्रति दिलचस्पी को समझा जा सकता है। इसी तरह दोनों कहानीकारों में, एक और समानता यह मिलती है कि दोनों अपनी कहानियों के जारिए ग्रामीण जीवन के बहुपरती यथार्थ को उकेरने का प्रयास करते हैं। दोनों ग्रामीण जीवन की कहानियाँ में वहाँ की वास्तविकता के प्रत्यांकन की हिमायत करते हैं। शिवप्रसाद सिंह का यह निम्न कथन उक्त तथ्य को ही पुष्ट करता है- “ ग्राम-कथा में जीवन की प्रधानता होनी चाहिए हमारी कहानियों में यदि गाँवों के जीवन की गहराई, यथार्थ और मानवता उभरकर आती है, तो ये कहानियाँ चाहे आंचलिक हों अथवा न हों, वे किसी भी उत्तम कहानी से तुलनीय हो सकती हैं।³⁵ इसी संदर्भ में मार्कण्डेय का यह निम्न कथन दृष्टव्य है- “...इसलिए नवीन जीवन-संदर्भों को कथा से अलग करके देखना एक भूल है। एक तो इसलिए कि जीवन-संदर्भ कथा की आधार-भूमि हैं, वैसे ही जैसे किसी चित्र के लिए तूलिका रंग और कैनवस।³⁶ यहाँ ऊपर उद्धृत दोनों कथनों का एक साथ अनुशीलन किया जाए तो दोनों कहानीकारों का ग्रामीण बोध की कहानियों में वास्तविक जीवन-संदर्भों के प्रत्यांकन की दृष्टि समझ में आती है। कहने का अभिप्राय यह है कि दोनों में समानता के तत्त्व मिलते हैं।

वैसे, दोनों कहानीकारों में पर्याप्त असमानता के तत्त्व भी मिलते हैं, जो उन दोनों की पृथक पहचान देता है। उनमें सबसे प्रमुख अंतर यह होता है कि, जहाँ मार्कण्डेय ग्रामीण जीवन के भूमि संबंधों के अनुसुलझे प्रश्न से प्रत्यक्ष संबंधित ग्रामीण कृषक वर्ग के जीवन के यथार्थ को उकेरने में दिलचस्पी दिखाते हैं, वहीं शिवप्रसाद सिंह ग्रामीण जीवन के उपेक्षित चरित्रों-कंजड़, नट, मुसहर, मिराशी, हिजड़े, रमन्तू, नर्तक, भील, कलावे आदि के जीवन का संवेदनात्मक चित्रण करते हैं। जिसका प्रमाण उन दोनों की कहानियाँ हैं। इसी कारण जहाँ मार्कण्डेय के नाम ‘कल्याणमन’ दौने की पत्तियाँ’, ‘भूदान’, ‘दाना-भूसा’, तथा बीच के लोग’ आदि कहानियाँ हैं, जो उनकी कहानीकार छवि को गढ़ती है तो दूसरी ओर शिवप्रसाद सिंह के नाम ‘आर-पार की माला’, ‘सँपेरा’, ‘पापजीवी’,

‘इन्हें भी इंतजार है’, ‘बिंदा महाराज’, ‘बिना दीवान का घर’, ‘उपहार’ आदि कहानियाँ हैं, जो उन्हें स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण बोध के कहानीकारों में अलग पहचान प्रदान करती हैं। इन दोनों कहानीकारों में दूसरा प्रमुख अंतर उनका कथ्य के प्रति एप्रोच को लेकर है। यानि, उन दोनों की यथार्थ-दृष्टि का अंतर। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि की विशेषता है उसका संश्लिष्ट रूप, जबकि शिवप्रसाद जी की यथार्थ-दृष्टि इकहरापन लिए हुए रहती है। इसी कारण उनकी कहानियों में यथार्थ यथास्थिति के पार नहीं जा पाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में ना वर्ग चेतना स्पष्ट हो पाती है और ना ही वर्ग-संघर्ष की स्थितियों का संकेत मिलता है। इस संदर्भ को स्पष्ट करने के क्रम में आलोचक मधुरेश की निम्न टिप्पणी का अवलोकन किया जा सकता है। मधुरेश कहते हैं— “...लेकिन थोड़ा ध्यान देने से यह बात साफ हो जाती है कि गाँव के संश्लिष्ट यथार्थ के अंकन से बचकर, पर्याप्त भावुक ढंग से इकहरे और सरलीकृत पात्रों के अंकन मात्र से न तो स्वतंत्र भारत की नई आकांक्षा को बल दिया जा सकता था और न ही सामाजिक नक्शे में अपनी स्थिति का कैसा भी अन्वेषण संभव हो सकता था।”³⁷ जिससे शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के यथार्थ के इकहरेपन तथा कहानीकार की यथार्थ-दृष्टि में निहित वैचारिक अस्पष्टता का संज्ञान होता है। इस तथ्य का बोध उनकी कतिपय कहानियों- ‘मास्टर सुखलाल’, ‘उस दिन तारीख थी’, ‘मुर्गे ने बांग दी’, आदि के अनुशीलन से भी हो जाता है। जबकि, ठीक इसके विपरीत मार्कण्डेय की कहानियों में यथार्थ का संश्लिष्ट रूप दृष्टिगोचर होता तथा उनकी यथार्थ दृष्टि में वैचारिक स्पष्टता अंतर्व्याप्त रहती है। जिसे प्रमाण स्वरूप आलोचक मधुरेश के निम्न कथन के अवलोकन से भी समझा जा सकता है— “ नयी कहानी’ के आंदोलन में शिवप्रसाद सिंह की पहचान मूलतः ग्रामीण यथार्थ के लेखक के रूप में उभर कर आयी थी। लेकिन कई कारणों से इस समूचे आंदोलन के संदर्भ में एक कहानीकार की हैसियत से, उनकी स्थिति कुछ विचित्र-सी रही है। ग्रामीण यथार्थ के अंकन के अपने सारे आग्रह के बावजूद न तो वह मार्कण्डेय जैसी वैचारिक तेजस्विता को अपनाते दिखायी देते हैं और न ही रेणु की तरह कहानी में लोक तत्त्वों के समुचित उपयोग के बावजूद आंचलिकता के प्रति एक स्वतंत्र आंदोलन का उत्साह लेकर चलते दिखायी देते हैं।”³⁸ इन दोनों कहानीकारों में एक और महत्वपूर्ण अंतर है— शिल्प के प्रति अतिरिक्त सजगता या मोह के रूप में। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में यह शिल्प-सजगता का अतिरेक या मोह उन्हें न सिर्फ मार्कण्डेय, बल्कि

उनके समकालीन अन्य ग्रामीण बोध के कहानीकारों से अलग पहचान प्रदान करता है। हालांकि इस संदर्भ में, यह भी उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय जैसे कहानीकार शिल्प के महत्व को कम करके नहीं आँकते। फिर भी, वे स्पष्ट लहजे में शिल्प के अतिरिक्त दबाव या मोह से उबरने में ही एक कहानीकार की प्रौढ़ता या उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं- “कला और शिल्प की बारीकियों में डूबे रहना कलाकार के शैशव का सबसे बड़ा मोह है और हम सभी इस लोभ के बीच से गुजरते हैं। कुछ लोग जीवन-भर इसी लोभ में तड़पते रह जाते हैं, कुछ आगे बढ़ जाते हैं।”³⁹ जबकि, इस संदर्भ में शिवप्रसाद सिंह के विचार कुछ अलहदा हैं- “ शिल्प को मैं वस्तु से कम महत्व नहीं देता उसे आवश्यक ही नहीं अनिवार्य वस्तु मानता हूँ। यदि आप कुछ न सोचे तो मैं कहूँगा कि इन कहानियों में से कई में आपको अछूता शिल्प-सौन्दर्य मिलेगा जो नितांत मौलिक और नवीन है।”⁴⁰ जिससे इस बात को जाहिरा तौर पर समझा जा सकता है कि उनके भीतर अपने समकालीन कहानी परिदृश्य में स्वयं को इमारती कहानीकार कहलवाने की दुर्दमनीय इच्छा व्याप्त रहती है।

यद्यपि, उनकी शिल्प सजगता उनसे कहानियों में अनेक प्रयोग करवाती है, जिसका प्रमाण उनकी ‘बरगद का पेड़’, ‘दादी माँ’, ‘आर-पार की माला’, ‘कहानियों की कहानी’, आदि कहानियाँ देती हैं। तथापि इसी शिल्प सजगता का अतिरेक उनकी कहानियों पर रोमांटिक होने का आरोप लगाती है, जहाँ ग्रामीण जीवन का वस्तुगत यथार्थ ढँका रह जाता है। यही वजह है कि शिवप्रसाद सिंह अपनी कहानियों पर लगे उक्त आरोप को ‘डिफेंड’ करने की कोशिश भी करते हैं- “ प्रकृति का यह रूप-वर्णन कभी रोमांटिक हो जाता है, कभी फ़ैशन बन जाये, कभी निरर्थक सजावट का ही काम दे; प्रकृति का सजीव चित्रण अपने में खुद एक बड़ी उपलब्धि है। रोमांटिक चित्रण भी बुरे नहीं होते।”⁴¹ यहाँ उक्त कथन को थोड़ा गहराई में जाकर पढ़ने से उनके कहानीकार के ग्रामीण जीवन की बुनियादी समस्याओं की वस्तुपरकता से बचने की चेष्टा आप ही आप उजागर हो जाती है। यही नहीं, उनके इस निम्न कथन से, (जहाँ वे अपनी कहानियों में आंचलिक तत्त्वों का उपयोग करने के बावजूद अपने को आंचलिक न कहलवाने की कोशिश करते हैं), इस बात को समझा जा सकता कि उनके कहानीकार का रोमांटिक बोध उन्हें ग्रामीण जीवन की वस्तुपरक संश्लिष्टता में धँसने का अवसर नहीं देता है- “ मैंने इस आंचलिकता को हमेशा ‘डैकोरेशन पीस’ की तरह इस्तेमाल किया। हमेशा मेरी कहानियों का यह फलक रहा क्योंकि मरे पास इनसान के

रंग-बिरंगे चरित्रों की समस्याएँ और उनकी गहराई को समझने का ही पूरा समय नहीं है...।”⁴²

इस प्रकार समग्रता में शिवप्रसाद सिंह के कहानीकार के बारे में कही जाने हेतु कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, वे स्वतंत्रता बाद के हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण बोध के एक ऐसे कहानीकार के रूप में उभरते हैं, जो न सिर्फ अपनी कहानियों, बल्कि अपनी टिप्पणियों के जरिये भी ग्राम-कथानकों से जुड़ी कहानियों का पक्ष रखते हैं। वे भारतीय जीवन को बहुलता में प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रामीण जीवन तथा उसके यथार्थ को कहानियों में प्रमुखता देने की वकालत कर प्रेमचंद और मार्कण्डेय की ही संवेदना का विस्तार करते हैं। दूसरी, उनकी कहानियाँ स्वतंत्रताकालीन परिदृश्य में ग्रामीण जीवन का बहुरंगापन दिखलाते हुए ग्रामीण बोध की कहानी-धारा को सशक्तता प्रदान करती हुयी प्रवाहमान बनाती हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों में ग्रामीण बुजुर्ग पात्रों का मानवीय रूप, उपेक्षित चरित्रों और जनजातियों का संवेदनात्मक पक्ष तथा प्रेम-संवेदना का सामाजिक स्थितियों से टकराव करता हुआ प्रसंग ग्रामीण जीवन का बहुरंग प्रस्तुत करता है। तीसरी, वे मार्कण्डेय की ही भाँति अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के पक्ष को उकेरते हुये अपनी एक पहचान गढ़ते हैं, पर वहाँ उनका यथार्थ के प्रति निजी दृष्टिकोण मार्कण्डेय की संश्लिष्ट और प्रखर यथार्थ-दृष्टि से पृथक नज़र आता है। चौथी, उनकी कहानियाँ नवीन शिल्पगत प्रयोग की आकांक्षी नज़र जाती हैं। पाँचवी, अपनी तमाम सीमाओं के बीच उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन को एक नए भिन्न कोण से देखे जाने की वकालत करती हैं। सारतः कहा जाए तो शिवप्रसाद सिंह स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में मार्कण्डेय की ही भाँति ग्रामीण बोध के एक महत्त्वपूर्ण कहानीकार सिद्ध होते हैं।

4.4 फणीश्वर नाथ 'रेणु' (1921-1977)

यद्यपि फणीश्वरनाथ रेणु का कहानी-लेखन प्राक् स्वातंत्र्य काल में शुरू हो जाता है, तथापि उनकी पहचान स्वातंत्र्योत्तर काल में बनती है। उनकी कहानियाँ 'तुमरी' (1959), 'हाथ का जस' (1959), 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (1973), 'अगिनखोर' (1975) और 'आदिम रात्रि की महक' (1975) आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। यहाँ उनकी कहानियों में चित्रित ग्रामीण जीवन और यथार्थ को भली-भाँति समझने हेतु उनकी कुछेक कहानियों का उल्लेख एवं विश्लेषण आवश्यक तथा प्रासंगिक मालूम पड़ता है।

सबसे पहली बात, उनकी कहानियों के संबंध में उनके कथा-क्षेत्र को लेकर होती है। रेणु जिस कथा क्षेत्र से आते हैं, वह बिहार जैसे छोटे राज्य का एक जनपद हैं –“ रेणु का जन्म 4 मार्च सन् 1922 में बिहार के पूर्णिया जिले के एक छोटे से गाँव और ही हिंगना के मध्यवित्त किसान परिवार में हुआ।”⁴³ रेणु का अपने गाँव के जीवन से गहरा संबंध होता है। वे अपने गाँव के समाज और उसकी संस्कृति के मध्य बड़े होते हैं। उनके ग्रामीण जीवन का अनुभव ही उनके कहानीकार रूप को गढ़ने में मदद करता है— “ग्रामीण वातावरण में ग्रामीणों के साथ उनके सुख-दुःख, आमोद-प्रमोद, खेल-कूद में रेणु को विशेष दिलचस्पी है। गाँवों में ढोलक और झाझ पर नाच गान की स्वर लहरी जब मँडराती है तो रेणु अपने को रोक नहीं सकते हैं। यहाँ तक की जब कभी कुछ लोगों के साथ भी रहकर किसी जगह डेरा डालते रहते हैं तो सबों को छोड़कर देहाती नाच-गाने का आनंद लेने चले जाते हैं।”⁴⁴

कहने की बात नहीं है कि रेणु का उनके गाँव का संग-साथ, समाज और सांस्कृतिक विशिष्टताएँ बहुत गहरे में उनके व्यक्तित्व को गढ़ती हैं। रेणु अपने इसी अनुभव की संगीतमय अभिव्यक्ति अपनी कहानियों में करते हैं। इसी कारण रेणु की कहानियों में उनका जनपद बोलता है। वहाँ की जिंदगी और उसकी संवेदना तथा उसमें शामिल उल्लास-उत्सव, दुःख-दर्द, विश्वास-छल, नीति-अनीति, प्रेम-घृणा, राजनीति-प्रपंच, शिल्प-कला प्रेम, अशिक्षा-अंधविश्वास, संगीत-नृत्य आदि सब कुछ सम्मिलित रूप में उनकी कहानियों में जीवंत हो उठता है। आलोचक मधुरेश के निम्न कथन में भी उक्त तथ्य का संज्ञान लिया जा सकता है— “ रेणु का कथा-क्षेत्र अधिकांशतः बिहार का ही एक भूखंड है और उस खंड के परिवेश को उन्होंने गहरी आत्मीयता और तल्लीनता के साथ अंकित किया है। उस परिवेश को जीवंत बनाने के लिए एक लेखक की हैसियत से उन्होंने जो श्रम किया है उसका साक्षी उनकी रचनाओं से बाहर ढूँढ़ने और तलाश करने का कोई अर्थ नहीं हो सकता है।... अपने लिए चुने गये अंचल की भाषा-बोलियों, रीति-रिवाजों और लोकतत्त्वों की उनकी जानकारी आश्चर्यजनक है।”⁴⁵ जिससे एक और महत्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है कि रेणु का अपने ग्राम या जनपद को समग्रता में जीवंत करने की ललक ही उनके ग्रामीण जीवन के चित्रण को एक भिन्न कोण प्रदान करती है। उनका यही दृष्टिकोण उन्हें ग्रामीण बोध के अन्य कहानीकारों में एक अलग पहचान देता है। उनकी कहानियों की राह गुजरने से जो बात प्रमुख रूप से उभर

कर आती है, वह उनकी कहानियों में अंतर्व्याप्त संवेदना और रागात्मकता का अटूट सौन्दर्य है। जिसे प्रमाणस्वरूप उनकी 'रसप्रिया', 'संवदिया', 'तीसरी कसम', 'ठेस' आदि कहानियों में मुख्य रूप से देखा जा सकता है। रसप्रिया कहानी में ग्रामीण निम्नवर्गीय समाज के जीवंत चरित्रों को सारल्य और भोलेपन के साथ उज्जीवित करने की कहानीकार की ललक सहज ही देखी जाती है। इन चरित्रों में रसप्रिया गाने वाला मिरदंगिया, चरवाहा मोहना और माहेना की माँ रमपतिया प्रमुख होते हैं। आलोच्य कहानी में कहानीकार यह भली-भाँति दर्शाने की चेष्टा करता है कि इन चरित्रों का रागात्मक मन ही उनकी संवेदना को शून्य नहीं होने देता है। स्वातंत्र्योत्तर हास शील मूल्यों के बरक्स इन चरित्रों का संवेदना से पूरित रागात्मक मन कहीं-न-कहीं बड़े गहरे में ग्रामीण जीवन की अंतरंगता को संकेतित करता है।

प्रस्तुत कहानी में अपनी कला के लिए समर्पित पचकौड़ी मिरदंगिया के रागात्मक मन की संवेदना उस वक्त देखी जा सकती है जब वह गाँव के छोटे बच्चों समेत शुद्ध रसप्रिया गानेवाले मोहना को बेटा कहकर संबोधित करता है। यद्यपि अतीत में, पचकौड़ी मिरदंगिया स्वयं के द्वारा एक ब्राह्मण के लड़के को बेटा कहने पर अपमानित होता है; सवर्ण मानसिकता से परिचालित लोगों के द्वारा पीटा जाता है- " ... परमानपुर में उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से 'बेटा' कह दिया था। सारे गाँव के लड़कों ने उसे घेरकर मारपीट की तैयारी की थी- 'बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा? मारो साले बुड्ढे को घेरकर!... मृदंग फोड़ दो।"⁴⁶ यही नहीं, स्वयं मोहना के द्वारा 'भीख माँगने' आदि बातों को सुनकर अपमानित होने के बावजूद भी उसकी संवेदना मोहना के प्रति बनी रहती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पचकौड़ी मिरदंगिया कला के प्रति अत्यधिक अनुराग रखता है। उसका यही रागात्मक मन शुद्ध रसप्रिया गाने वाले मोहना को बचाने के लिए संवेदित हो उठता है- " हाँ, सब मिलाकर चालीस रुपये हैं।' मिरदंगिया ने एक बार इधर-उधर निगाहें दौड़ायी; फिर फुसफुसाकर बोला, मोहना बेटा! फारबिसगंज के डागडरबाबू को देकर बढ़िया दवा लिखा देना।... खट्टा-मिट्ठा परहेज़ करना।... गरम पानी जरूर पीना।"⁴⁷ इसी तरह की संवेदना रमपतिया के चरित्र में भी देखा जाता है। हालांकि, रमपतिया जिसको अपना विश्वास समेत सब-कुछ सौंपती है, वही उसे दगा करता है। उस पर संदेह व्यक्त करता हुआ उसके चरित्र पर लांछन लगाता है। इतने पर भी रमपतिया का रागात्मक मन कुछ पल के लिए भले क्षुब्ध हो उठता है पर वह संवेदना से शून्य नहीं होता है। जिसे प्रमाण

पूर्वक आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में अवलोकित किया जा सकता है, जब पचकौड़ी मिरदंगिया की ऊँगली टेढ़ी होने की घटना घटती है। कहने का अभिप्राय यह है कि आलोच्य कहानी के पात्र की रागात्मकता का आधार भिन्न होते हुए भी उनकी संवेदना ग्रामीण जीवन के अंतरंग पक्ष को समान रूप में प्रतीकित करती है। यहाँ रागात्मकता और संवेदना का सुन्दर मिश्रण देखने को मिलता है। इसी तरह रेणु की एक अन्य कहानी 'तीसरी कसम' अर्थात् मारे गए गुलफाम' में भी रागात्मकता और संवेदना का पहलू ग्रामीण जीवन की निजी सांस्कृतिक पहचान को संकेतित करता है। आलोच्य कहानी में भी रागात्मकता के कई फलक दृष्टिगोचर होते हैं, जो ग्रामीण जीवन की संवेदना को दर्शाते हुए उसकी निजी पहचान को व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत कहानी में हीरामन के मन की रागात्मकता का आधार वैसे तो मुख्य रूप से हीराबाई होती है, तथापि ऐसे कई पहलू भी होते हैं, जो हीरामन को बहुत गहरे में उनसे बाँधते हैं। मसलन, हीरामन के बैल, उसका संयुक्त परिवार, उसकी गाड़ीवानी, उसके गाँव-जनपद की बोली-बानी तथा गीत आदि। ये सभी सम्मिलित रूप में इस कहानी में ग्रामीण जीवन के ऐसे चरित्र को हमारे समक्ष उभारते हैं, जो स्वातंत्र्योत्तर ह्लासशील नगरीय मूल्य ओर संवेदना के बरक्स ज्यादा आश्वस्तकारी प्रतीत होते हैं। यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कहानी के कुछ प्रसंगों को उत्थापन किया जा सकता है। सबसे पहले ग्रामीण कृषक परिवार से नाता रखने वाले हीरामन जैसों का, पशु-प्रेम का प्रसंग देखा जा सकता है। हीरामन को उसके बैल अपने से भी ज्यादा प्यारे होते हैं। उसका अपने बैलों के प्रति ममत्व और चिंता उसके मनुष्यत्व का परिचायक बनकर हमारे समक्ष उपस्थित होता है— “चालीस साल का हट्टा-कट्टा, काला-कलूटा, देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता।”⁴⁸ यही नहीं, उसका अपने बैलों से नित्य चलता संवाद इस तथ्य की तस्दीक करता है कि ग्रामीण जीवन में किसानों से जुड़े लोगों का अपने पशुओं से गहरा नाता होता है; वे उनके परिवार के सदस्य की तरह ही होते हैं। इस कहानी में यहाँ हीरामन का अपने बैलों के साथ अपने सुख-दुःख से जुड़ी चिंता का एक परिवार का सदस्य समझ कर जिक्र करना स्पष्ट समझ में आता है। इसी तरह हीरामन का हीराबाई के साथ गप्प लड़ाने का प्रसंग, वहाँ भी वह एक पल के लिए भी अपने बैलों को नहीं भूलता है। उसका अपने बैलों की दी जाने वाली इस झिड़की में भी उसकी रागात्मकता साफ झलकती है— “हीरामन ने अपने बैलों को झिड़की दी— “कान चुनियाकर गप सुनने से ही तीस कोस मंजिल

कटेगी क्या? इस बाये नाटे के पेट में शैतानी भरी है।”⁴⁹ इसी तरह हीरामन का अपने बैलों की भूख-प्यास भाँप लेने का प्रसंग— “उसके बैलों ने बारी-बारी से ‘हुँक-हुँक’ करके कुछ कहा! हीरामन ने जाते-जाते उलटकर कहा, “हाँ, हाँ, प्यास सभी को लगी है। लौटकर आता हूँ तो घास दूगा, बदमाशी मत करो!” बैलों ने कान हिलाए।”⁵⁰ यही नहीं, उसका स्वयं से ज्यादा अपने बैलों की चिंता-फिक्र ग्रामीण लोगों का अपने पशुओं से आत्मीय जुड़ाव होने के सच को ही उद्घाटित करता है। आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में जब उसके समक्ष जेल जाने का भय रेंग जाता है— “...हीरामन समझ गया, इस बार निस्तार नहीं।... जेल? हीरामन को जेल का डर नहीं। लेकिन उसके बैल? न जाने कितने दिनों तक बिना चारा-पानी के सरकारी फाटक में पड़े-रहेंगे- भूखे प्यासे।”⁵¹ जिससे यह समझा जा सकता है कि हीरामन जैसे ग्रामीण किसान-परिवार के लोगों के जीवन की रागात्मकता को बनाये रखने वाले आधारों में पशु भी हैं; जैसे हीरामन के लिए उसके बैल। इसी तरह आलोच्य कहानी में यह बराबर देखा जा सकता है कि हीरामन अपने भैया-भाभी से जुड़े परिवार अर्थात् संयुक्त परिवार के प्रति पूरी तरह समर्पित है, जो ग्रामीण जीवन में व्याप्त लोगों का अपने संयुक्त परिवार के प्रति होने वाली आस्था को ही प्रतीकित करता है, जिसे हीरामन के जेल जाने तथा उसके बैल के नीलाम हो जाने के भय-प्रसंग में देखा जा सकता है। यद्यपि प्रस्तुत कहानी हीरामन और हीरावाई की प्रेम-संवेदना को प्रमुख रूप से उभारने की चेष्टा करती है; इसी कारण महुआ घटवारिन की उपकथा को इस कहानी में गुप्तिमत् किया जाता है, तथापि यह ग्रामीण जीवन की निजी सांस्कृतिक पहचान स्वरूप, वहाँ के लोगों की रागात्मकता तथा संवेदना के विविध फलकों जैसे, पशु-प्रेम, संयुक्त परिवार का मोह, अपनी बोली-बानी, गीत-नृत्य, कथा-उपकथा आदि से गहरा लगाव आदि को उज्जीवित करते हुए ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली एक विशिष्ट कहानी बनती है।

गौरतलब है कि रेणु की कहानियों की मूल संवेदना स्वरूप रागात्मकता और संवेदना का सुन्दर समन्वय उनकी ‘संवदिया’ और ‘ठेस’ आदि कहानियों में भी देखा जाता है, जो ग्रामीण जीवन को ही उसकी विशिष्ट पहचान के साथ उभारता है। रेणु की ‘संवदिया’ औद्योगिकीकरण की आँधी में नगरीकृत होते समाज में, मनुष्य-मनुष्य के बीच खत्म होती रागात्मकता के विरुद्ध उँटकर खड़ी होने वाली कहानी है। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में टूटते-चिटखते संयुक्त परिवार के ढाँचे के साथ, यह कहानी गाँव के जीवन की उस पहचान एवं मूल्य को भी रेखांकित करती

है, जहाँ पारस्परिक साझेदारी या सामुदायिकता की मनुष्यता एक घर की हार को पूरे घर की हार तथा एक व्यक्ति के अपमान को पूरे गाँव की मर्यादा का तिरस्कार मानती है। आलोच्य कहानी में बड़ी बहुरिया की दर्दनाक स्थिति स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के पारिवारिक ढाँचे के विघटन का सच बयान करती है। बड़ी बहुरिया विधवा होने के बाद अपने तीन-तीन देवरों के रहते गाँव की मोदिआइन के कर्ज के तले दबी, उसकी कड़वी बातें सुनती हुयी बथुआ का साग खाकर अपने बुरे दिन को टाल पाने में असमर्थ नजर आती है। गाँव का संवदिया हरगोबिन बड़ी बहुरिया की माँ से उसका संदेश- “ ... माँ से कहना मैं भाई-भाभियों की नौकरी करके पेट पालूँगी। बच्चों के जूठन खाकर एक कोने में पड़ी रहूँगी, लेकिन यहाँ अब नहीं... अब नहीं रह सकूँगी।... कहना यदि माँ मुझे यहाँ से नहीं ले जायेगी तो मैं किसी दिन गले में घड़ा बाँधकर पोखरे में डूब मरूँगी।... बथुआ-साग खाकर कब तक जीऊँ? किसलिए... किसके लिए?”⁵² कह नहीं पाता। उसे लगता है, कि इस गाँव के लोग उस पर थूकेंगे- कैसे गाँव है जहाँ लक्ष्मी जैसी बहुरिया दुख भोग रही है। हरगोबिन बिना संवाद कहे लौट ही नहीं आता बल्कि दृढ़ निश्चय के साथ निस्वार्थ भावना से रूँधे गले यह कहता है कि मैं तुम्हारा संवाद नहीं कहा सका। यहाँ आलोच्य कहानी के संवदिया हरगोबिन के निम्न कथन में ग्रामीण जीवन की पहचान, मनुष्य-मनुष्य के बीच की रागात्मकता तथा उससे संवेदित निस्वार्थ मन का स्पष्ट संज्ञान होता है- “ ... बड़ी बहुरिया।... मुझे माफ करो। मैं तुम्हारा संवाद नहीं कह सकता।... तुम गाँव छोड़कर मत जाओ। तुमको कोई कष्ट नहीं होने दूँगा। मैं तुम्हारा बेटा! बड़ी बहुरिया, तुम मेरी माँ, सारे गाँव की माँ हो! मैं अब निठल्ला बैठा नहीं रहूँगा। तुम्हारा सब काम करूँगा।... बोलो, बड़ी माँ तुम... गाँव छोड़कर चली तो नहीं जाओगी? बोलो...।”⁵³ जबकि इधर बड़ी बहुरिया ऐसा संवाद भेजकर पछता रही होती है।

इसी प्रकार रेणु की 'ठेस' कहानी में भी सिरचन के माध्यम से ग्रामीण जीवन की पारस्परिक साझेदारी की मनुष्यता तथा उसके प्रति ग्रामीण पात्रों में होने वाले रागात्मक भाव को देखा जा सकता है। यहाँ सिरचन जैसे ग्रामीण पात्रों का रागात्मक-मन ग्रामीण संवेदना के उस फलक को हमारे समक्ष रखता है, जो स्वातंत्र्योत्तर जर्जर होते मूल्य और मानवीय संवेदना की शुष्कता के मध्य अपनी विशिष्टता को जाहिर करता है। आलोच्य कहानी में मनुष्य की उपयोगितावादी मूल्य दृष्टि - 'यूज एण्ड थ्रो' की संस्कृति तथा संवेदना से शून्य होता मन स्पष्ट देखने को मिलता है। यही कारण है कि समय बीतने के साथ सिरचन की कला का सम्मान न समाज करता है- “ ...

आज सिरचन को मुफ्तखोर, कामचोर या चटोर कह ले कोई । एक समय था, जबकि उसकी मडैया के पास बड़े-बड़े बाबू लोगों की सवारियाँ बँधी रहती थी। उसे लोग पूछते ही नहीं थे, उसकी खुशामद भी करते थे।”⁵⁴ और ना उस हवेली के लोग जिससे सिरचन गहरे जुड़ा रहता है— “छोटी जाति के आदमी का मुँह भी छोटा होता है। मुँह लगाने से सिर चढ़ेगा ही।... मसखरी करता है? तुम्हारी बढ़ी हुयी जीभ में आग लगे... चटोर कहीं के... अरे बाप रे बाप! इतनी तेज़ी! कोई मुफ्त में तो काम नहीं करता। आठ रुपये में मोहर छापवाली धोती आती है।... इस मुँहझोंसे के न मुँह मे लगाम है, न आँख में शील! पैसा खर्च करने पर सैकड़ों चिकें मिलेंगी। बातरटोली की औरतें सिर पर गट्ठर लेकर गली-गली मारी फिरती है।”⁵⁵ स्पष्ट है कि यहाँ मनुष्यता को पैसे या दाम के तराजू पर तौलने की मानसिकता जाहिरा होती है। किंतु, इतने पर भी सिरचन जैसे लोग जो अपने गाँव, समाज, पारस्परिक साझेदारी की मनुष्यता तथा अपनी कला से गहरे जुड़े होते हैं उसके जीवन की रागात्मकता उसे संवेदना से शून्य नहीं होने देती है। यहीं कारण है कि गाँव की हवेली की बेटी मानू की साख उसके अपने ससुराल में बनी रहे इसकी फ़िक्र सिरचन को भी रहती है— “खिड़की के पास खड़े होकर सिरचन ने हकलाते हुए कहा, “यह मेरी ओर से है। सब चीज है दीदी! शीतलपाटी, चिक और एक जोड़ी आसनी, कुश की।... मानू मोहर छापवाली धोती का दाम निकालकर देने लगी। सिरचन ने जीभ को दाँत से काटकर, दोनों हाथ जोड़ दिए।”⁵⁶ इस प्रकार रेणु की कतिपय कहानियाँ- ‘रसप्रिया’, ‘तीसरी कसम’, ‘संवदिया’, ‘ठेस’, आदि ग्रामीण जीवन की रागात्मकता और संवेदना के अटूट सौन्दर्य से सराबोर मालूम पड़ती हैं। ये कहानियाँ रेणु के कहानीकार की मूल संवेदना से हमारा परिचय कराती हैं। यहाँ ग्रामीण जीवन का सांस्कृतिक यथार्थ अपने भिन्न आयाम में उद्घाटित होता है।

उल्लेखनीय है कि रेणु की कहानियों से गुजरने के दौरान यह तथ्य भी खूब उभरता है कि वे ग्रामीण जीवन से लोगों के पलायन के सच को अपने तरीके से उठाते हैं। वे एक ओर जहाँ, अपनी कहानियों में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाँ स्वरूप गाँवों से शहर की ओर पलायन करते ग्रामीण युवकों का अंकन करते हैं, तो दूसरी ओर, भारतीय ग्रामों में विलुप्त हो रही लोक-कला और संस्कृति को पुनर्जीवित करने की चेष्टा और ललक को भी उद्घाटित करते हैं। ‘विघटन के क्षण कहानी’ कहानी में शहरी बोली-बानी और रहन-सहन के प्रभाव के परिणामस्वरूप ग्रामीण युवकों का पलायन करते हुए देखा जाता है। आलोच्य कहानी में गाँव के जीवन से पलायन कर शहर में

रिक्शा खींचने, दरवानी करने तथा होटल में काम करने वाले लोग बड़ी सहजता से लक्ष्य किये जाते हैं। इस कहानी में दो बातें प्रमुख रूप से स्पष्ट होती हैं। पहली, ग्रामीण जीवन से पलायन के पीछे शहर के जीवन का मूल्य संक्रमण एक प्रमुख पहलू सिद्ध होता है। दूसरी, ग्रामीण जीवन से पलायन करने वाले लोगों के लिए वहाँ की मौजूदा आधारभूत संरचना में खपने की वैकल्पिक व्यवस्था नदारद रहती है। रेणु की एक अन्य कहानी 'उच्चाटन' में भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया स्वरूप शहरी जीवन मूल्य-संक्रमण को एक भिन्न धरातल पर उठाया जाता है। यह कहानी भी ग्रामीण जीवन से हो रहे पलायन के सच को अपनी पृष्ठभूमि में समाहित किए रहती है। किंतु, इस कहानी में ग्रामीण जीवन की सामाजिक संरचना ओर तथाकथित सामाजिक मान्यताओं की जड़ता पर प्रहार देखने को मिलता है, जो ग्रामीण जन के वहाँ के जीवन से पलायन के बाद ही संभव हो पाता है। इसे व्यापक रूप में ग्रामीण जीवन में शहरी जीवन मूल्य-संक्रमण के परिणामस्वरूप होने वाले बदलाव के रूप में देखा जाता है।

आलोच्य कहानी के रामविलास जैसे लोगों के ग्रामीण जीवन से पलायन के पीछे के कारणों में उनकी आर्थिक दुरस्वथा के साथ-साथ सवर्ण मानसिकता से प्राप्य जातिगत दंश भी प्रमुख होता है। किंतु, रामविलास शहर से लौटने के बाद एक अलग ही रंग में दिखता है। वह बड़े ही साहस से मिसिर जैसे गाँव के लोगों की दबंगई, अत्याचार, शोषण और दंभ को चुनौती देता है— “मिसिर के लिए इतना ही काफी था।... न प्रणाम, न पाँवलागी? मुँह पर बीड़ी का जूठा धुँया फेंक दिया।... उसने अपना तैयार-जवाब दिया, “ बिलसिया बिलसिया क्या बोलते हैं? मेरा नाम रामविलास है... मिसिर की आँखों गोल हो गयीं। दम फूलने लगा-सशब्द। अपमान, क्रोध और भय के मारे मिसिर के गले में फिर खसखसाहट शुरू हुयी। खॉसी को रोकने की चेष्टा करते उसका 'थुथना' विकृत हो गया।”⁵⁷ वस्तुतः रेणु अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन से लोगों के पलायन के सच को व्यापक ढंग से उठाते हैं। इसी व्यापकता के एक पहलू का प्रमाण उनकी कहानी 'भित्तिचित्र की मयूरी' भी है। इस कहानी में भी ग्रामीण जीवन से पलायन का जिक्र है। किंतु, यह गाँव की कला को शहर के माध्यम से वृहद पहचान दिलाने के लिए है। आलोच्य कहानी की फूलपतिया की माँ के हुनर के जारिये समूचे गाँव को एक नई पहचान मिलती है— “... अपने गाँव का नाम औल इंडिया में क्या, इंडिया से भी बाहर चला गया समझो। अखबार में लिखा है कि श्रीमती पनियॉ उर्फ पन्ना देवी अपनी बनाई तस्वीरों पर टेढ़ी-मेढ़ी देवनागरी में अपने नाम के साथ, अपने गाँव और जिला

का नाम लिखना नहीं भूलतीं।”⁵⁸ गाँव के बाहर शहर में फूलपतिया की माँ को कई पुरस्कार - सम्मान भी मिलते हैं। इस पर गाँव वाले भी प्रसन्न होते हैं। तथापि, फूलपतियाँ की माँ गाँव वापस लौट आती है। उसे पलायन रास नहीं आता है। वह गाँव की अपनी धरती और वहाँ के परिवेश से अलग नहीं होना चाहती है। इसी कारण प्रस्तुत कहानी के सनातन को फूलपतिया की माँ के गाँव को ही लोक-कला और लोक-संस्कृति में परिणत करना पड़ता है— “ फूलपती की माँ को घर बैठे ही समझो- पाँच सौ हजार रुपये तक मिलेंगे और जिले और गाँव की लड़कियों की भी मुफ्त में सिखाया जाएगा... अखबार में यह खबर छप गयी है। बदरी भगत सबको सुना रहा है। इस बार गाँव का नाम पूरा छपा है अखबार में – “मोहनपुर के ‘मधुवनी आर्ट सेन्टर’ के भवन शिलान्यास के लिए देश के प्रसिद्ध चित्रकार हुसैन से अनुरोध किया गया है...।”⁵⁹ यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि रेणु अपनी कहानियों में पलायन के परिपार्श्व में ग्रामीण जन की अपनी धरती, कला और परिवेश के प्रति होने वाले गहरे आसक्ति बोध को भी चित्रित करते हैं।

इसी तरह रेणु की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के सच को ग्रामीण जीवन और उसके परिप्रेक्ष्य से उठाने की कोशिश मिलती है। इस संदर्भ में उनकी ‘जलवा’, आत्मसाक्षी’, ‘पुरानी कहानी नया पाठ’ आदि कहानियों का अवलोकन किया जा सकता है। ‘जलवा’ कहानी के जरिये यह स्पष्ट समझ में आता है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक माहौल में कैसे फातिमा दी जैसे निष्ठावान लोगों को दूध में पड़ी मक्खी की तरह निकाल फेंका दिया जाता है और उनकी जगह चापलूस किस्म के, आपराधिक प्रवृत्ति तथा स्वहित में आकंठ डूबे लोगों को बिठा दिया जाता है। इसी तरह स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में पैठते अवसरवाद, स्वार्थवादिता तथा मूल्य-क्षरण को रेणु की ‘आत्मसाक्षी’ कहानी में भी देखा जाता है। आलोच्य कहानी में, कहानीकार रेणु गनपत के टूटने को आम-आदमी तथा उसके सच्चे प्रतिनिधि के टूटने के रूप में दिखलाते हैं। उनकी ‘पुरानी कहानी : नया पाठ’ भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। आलोच्य कहानी में कहानीकार यह स्पष्ट संकेत करता है कि शर्मा जैसे नेता, जिन्हें न आम जनता के दुःख-दर्द से कोई सहानुभूति होती है और न उसकी सेवा से, आमजन की विपदा और मजबूरी की स्थिति को अपने आर्थिक और राजनीतिक फायदे के रूप में देखती है— “ इस क्षेत्र के पराजित उम्मीदवार पुराने जनसेवक जी का सपना सच हुआ। कोसी मैया ने उन्हें फिर जनसेवा का ‘औसर’ दिया... जै हो , जै हो। इस बार भगवान ने चाहा तो वे विरोधी को पछाड़कर दम लेंगे।”⁶⁰ अतः इन कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति की

सच्चाई को उद्घाटित करने में लेखक सक्षम दिखायी देता है। रेणु की कहानियों पर विचार किए जाने पर यह कहना समीचीन लगता है कि उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन के चित्रण में नए आयाम खोलती हैं। उनकी कहानियाँ ग्रामीण स्त्री-पुरुष की संवेदना और रागात्मकता के कई फलक को दिखालाती हुई ग्रामीण जीवन की सामाजिक-सांस्कृतिक छवि को हमारे समक्ष रखती हैं। उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन से पलायन तथा उसके निहित कारणों का संज्ञान कराते हुए ग्रामीण जीवन के आर्थिक-सामाजिक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। यही नहीं, उनकी कहानियाँ पलायन तथा वापसी की विभिन्न स्थितियों के साथ ग्रामीण जीवन की अंतरंग पहचान को प्रतीकित करती हैं। उनकी कहानियों में शहरी जीवन के मूल्य संक्रमण के पहलू के साथ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के भ्रष्ट होते चरित्र को भी भली-भाँति उजागर होते हुए देखा जाता है।

जहाँ तक रेणु और मार्कण्डेय की समकालीनता का प्रश्न है तो इससे जुड़ी कई बातें कही जा सकती हैं। एक कहानीकार के नाते दोनों स्वतंत्रता बाद के ग्रामीण जीवन के यथार्थ से हिंदी कहानी-लेखन को समृद्ध करने का प्रयास करते हैं। दोनों अपने निजी दृष्टिकोण के साथ ग्रामीण जीवन की मूलभूत समस्याओं को उकेरने का प्रयास करते हैं। मसलन, ग्रामीण जीवन में व्याप्त जातिगत भेद-भाव से परिपूर्ण सामाजिक व्यवस्था। जिसे मार्कण्डेय की ही कहानियों— 'जूते', 'हरामी के बच्चे', 'हंसा जाई अकेला', 'मधुपुर के सिवान का एक कोना', 'हलयोग', आदि में ही नहीं लक्ष्य किया जाता है, बल्कि रेणु की कहानियों - 'रसप्रिया', 'ठेस', 'पंचलाइट', आदि कहानियों में भी साक्षात् किया जाता है। इसी तरह 'रसप्रिया', 'ठेस', आदि कहानियों में रेणु जहाँ संवेदना के क्षरण का प्रश्न, कलाकार तथा कला की उपेक्षा के संदर्भ में उठाते हैं, वहीं मार्कण्डेय की 'घुन', 'एक काला दायरा', 'कानी घोड़ी' आदि कतिपय कहानियों में उक्त प्रश्न ग्रामीण जीवन के सामाजिक यथार्थ की संश्लिष्टता में उभारा जाता है। इसी प्रकार दोनों ग्रामीण जीवन से हो रहे पलायन की समस्या को अपनी-अपनी कहानियों में उठाते हैं। मार्कण्डेय की 'जूते', 'साबुन', 'गनेसी' आदि कहानियों में, जहाँ ग्रामीण जीवन से होने वाला पलायन का संदर्भ मिलता है, वही रेणु की भी 'विघटन के क्षण', 'उच्चाटन', 'भित्तिचित्र की मयूरी' आदि कतिपय कहानियों में उक्त संदर्भ अपने विशेष आयामों के साथ चित्रित होता है। इसी प्रकार दोनों कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर बदरंग होती राजनीति में भ्रष्टाचार, स्वार्थवादिता, आपराधिकता तथा छल-प्रपंच आदि पहलुओं की घुसपैठ को लेकर अपनी-अपनी चिंता ज़ाहिर करते हैं। मार्कण्डेय जहाँ इसे 'हंसा जाई अकेला', 'नौ

सौ रुपये और एक ऊँट दाना', 'आदमी की दुम' आदि कहानियों के जरिये उभारने का प्रयास करते हैं, वहीं रेणु की 'जलवा', 'आत्मसाक्षी', 'पुरानी कहानी: नया पाठ' आदि कहानियों में उक्त चिंता को साफ तौर पर पढ़ा जाता है। इसी भाँति दोनों कहानीकार अपनी-अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन में शहरी जीवन-मूल्य-संक्रमण के परिणामस्वरूप आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को दिखलाते हैं। रेणु की 'उच्चाटन' कहानी की भाँति मार्कण्डेय की 'गनेसी' कहानी में उक्त सच को लक्ष्य किया जाता है। इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय और रेणु के कहानीकार में कई समानता के तत्त्व देखने को मिलते हैं, जो उनके एक-दूसरे समकालीन पक्ष को बखूबी उभारते हैं।

वैसे, इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों कहानीकारों का अपना-अपना पक्ष है। एक कहानीकार के नाते इन दोनों का यथार्थ के प्रति अपना निजी दृष्टिकोण तथा विषय के प्रति भिन्न ट्रीटमेंट इन दोनों की अलग पहचान गढ़ता है। मार्कण्डेय जहाँ अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के किसान, खेतिहर मजदूर, भूमिहीन आदि निम्नवर्गीय आमजन के जीवन की वस्तुगत समस्याओं का यथार्थ अंकन करते हैं, वहीं फणीश्वरनाथ 'रेणु' ग्रामीण जीवन की बुनियादी समस्याओं को अपनी कहानियों के परिपार्श्व में संकेतित करते हुए मुख्य रूप से ग्रामीण पात्रों के अंतरंग जीवन, उनकी संवेदना और रागात्मकता के पहलुओं को गंभीरता से उठाने की पहल करते हैं। रेणु के कहानीकार पक्ष को स्पष्ट करने के संदर्भ में हिंदी कहानी के इतिहासकार गोपाल राय का निम्न कथन अवलोकनीय है— "... रेणु आजाद भारत के किसानों, किसान-मजदूरों, कारीगरों और लोक-कलाकारों की अंतरंग जिंदगी में प्रवेश कर उनकी व्यथा और साथ ही स्वाभिमान और सांस्कृतिक निष्ठा का अंकन कर रहे थे।"⁶¹ इसी संदर्भ में मार्कण्डेय के कहानीकार पक्ष पर आलोचक डॉ. शिवकुमार मिश्र की निम्न टिप्पणी भी दृष्टव्य है— " एक जनधर्मी रचनाकार की जमीन पर अनुभव और विचारों की जिस तैयारी के साथ आना चाहिए, मार्कण्डेय कथा के मंच पर उस तरह की तैयारी के साथ आए। आजादी के बाद के बदलते हुए गाँव, उनकी रचना के केन्द्र में थे। स्वाधीनता-आंदोलन के विपथन और उसकी पूरी विडंबनाओं की खरी समझ और आजादी के बाद गाँवों के बदलते परिदृश्य के विशद अनुभव मार्कण्डेय के कथाकार की सबसे बड़ी पूँजी थे।"⁶² यहाँ उक्त दोनों मंतव्यों को ध्यान- पूर्वक पढ़ा जाए तो दोनों कहानीकारों का स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन और यथार्थ के प्रति अपने-अपने दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। जिसका प्रमाण इस रूप में भी मिलता है कि, जहाँ रेणु की कतिपय कहानियाँ— 'रसप्रिया', 'ठेस', 'संवदिया',

‘तीसरी कसम’, ‘लाल-पान की बेगम’, ‘भित्तिचित्र की मयूरी’, आदि उन्हें ग्रामीण जीवन के एक अलहदा कहानीकार की पहचान (ग्रामीण जीवन की संवेदना, अंतरंगता और रागात्मकता का कहानीकार) देती हैं, वहीं मार्कण्डेय की ‘गुलरा के बाबा’, ‘महुए का पेड़’, ‘हंसा जाई अकेला’, ‘दाना-भूसा’, ‘भूदान’, ‘बीच के लोग’, ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’, ‘घुन’ ‘हल लिए मजूर’ आदि कहानियाँ उन्हें ग्रामीण जीवन का यथार्थवादी जनधर्मी कहानीकार की पहचान देती है। यही नहीं, इन दोनों कहानीकारों के बीच का एक मुख्य अंतर ग्रामीण जीवन को उज्जीवित करने वाले विषयों के प्रति उनके दृष्टिकोण को लेकर है।

मार्कण्डेय जहाँ, अपनी कहानी में चित्रित विषय को अपनी प्रखर यथार्थवादी दृष्टि के कारण रोमानी आग्रहों से बचाने में सफल होते हैं, वहीं रेणु अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन-विषय को रोमांटिक आग्रह से सिक्त करते हुए उसे संगीतमय बनाने की चेष्टा में संलग्न नज़र आते हैं। यहाँ आलोचक शिवकुमार मिश्र तथा मधुरेश के मंतव्यों को क्रमशः उक्त तथ्य के प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है। शिवकुमार मिश्र - “जिस यथार्थवादी कला को अपनी रचना और रचनादृष्टि के उत्स के रूप में उन्होंने स्वीकार किया था, उसकी बारीकियों की खरी और सही समझ भी उनके पास थी... यही कारण है कि ग्रामीण जीवन-संदर्भों से जुड़ी उनकी कहानियाँ गाँवों की मिट्टी, उसके रंग-रूप, प्रकृति-परिवेश और लोगों की बोली-बानी, क्रिया-कलापों को यथार्थ और जीवंत रूप में प्रस्तुत करने के बावजूद ग्राम-जीवन-केन्द्रित कहानियों की, प्रेमचंद की परंपरा के विकास के रूप में पहचानी गयीं, आंचलिक कहानियों के खाते में नहीं डाली जा सकीं।”⁶³ इसी प्रकार मधुरेश का निम्न कथन भी दृष्टव्य है- “ रेणु की इन कहानियों का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य ग्राम संस्कृति के प्रति गहरी ललक के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। यह ललक-नॉस्टेलजिया- ही वस्तुतः इन कहानियों को रोमानी बनाती है, जो परिवेशगत यथार्थ की संश्लिष्टता से बचकर उसकी जटिलताओं और अंतर्विरोधों को बहुत कुछ अनदेखा करके, अपनी आकाक्षाओं और कल्पनाओं को स्थितियों पर आरोपित और प्रक्षेपित कर देती है।”⁶⁴ यहाँ उक्त दोनों कहानीकारों का ग्रामीण यथार्थ के प्रति व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा उसका भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण समझा जा सकता है।

इस प्रकार समग्रता में रेणु के कहानीकार पर विचार किए जाने पर कई बातें कही जा सकती हैं। पहली, रेणु स्वतंत्रता उपरांत के कहानी-लेखन के ही नहीं, बल्कि अब तक के हिंदी कहानी लेखन के ग्रामीण जीवन की चित्रण-परंपरा में एक बेहद महत्त्वपूर्ण कहानीकार सिद्ध होते

हैं। दूसरा, उनका अपने ग्राम-जनपद से गहरा तादात्म्य उनके कहानीकार को अत्यधिक प्रभावित करता है, इसी कारण बिहार का एक भूखंड उनके सम्पूर्ण कथा-लेखन में छाया रहता है। तीसरी, यद्यपि उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक यथार्थ की अनुगूँज साफ सुनी जाती है तथापि उनकी कहानियों में ग्रामीण स्त्री-पुरुष चरित्रों के अंतरंग पक्ष को ही मुख्य रूप से उजागर करने की प्रचेष्टा मिलती है। चौथी, उनका अपने जनपद के प्रति अत्यधिक लगाव उनकी कहानियों को रोमानी और संगीतमय बनाता है। पाँचवी, मार्कण्डेय के समानांतर वे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उन अनछुए प्रसंगों तथा संवेदना के पहलुओं को अपनी कहानियों में जगह देते हैं, जिनको दूसरे ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाले कहानीकार अनदेखा कर आगे बढ़ जाते हैं। सारतः कहा जाए तो रेणु स्वतंत्रता बाद के परिदृश्य में ग्रामीण जीवन को चित्रण करने वाली कहानी-परंपरा को सिर्फ समृद्ध नहीं करते हैं, बल्कि उसमें नए आयाम जोड़ते हैं।

4.5 रामदरश मिश्र (1924)

स्वतंत्रता उपरांत के हिंदी कहानी लेखन में रामदरश मिश्र एक जाना पहचाना नाम है। हालांकि उनका पहला कहानी-संग्रह सातवें दशक में आता है, तथापि उनके कहानी-लेखन की शुरुआत पचास के दशक में ही हो जाती है। उनका इस संबंध में कहा गया निम्न कथन उक्त तथ्य पर प्रकाश डालता है— “मुझे याद नहीं वे कौन-कौन सी कहानियाँ थीं, बहरहाल, 52 के बाद के समय को ही मैं अपने कहानी-लेखन का समय मानता हूँ। इसलिए कि मैंने, संख्या में कम ही सही, नियमित रूप से कहानी-लेखन शुरू किया और यहाँ से शुरू होने वाली कहानियों में से कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिन्होंने लोगों का ध्यान खींचा और मुझे भी अच्छी लगीं। मेरा ख्याल है कि कह न सका मेरी पहली महत्वपूर्ण कहानी थी जो एक महत्वपूर्ण पत्रिका ‘संगम’ (1953) में छपी थी।”⁶⁵ जिससे यह समझा जा सकता है कि हिंदी कहानी में जिसे ‘नयी कहानी’ आंदोलन का समय कहा जाता है, ठीक उसके आप-पास रामदरश मिश्र का कहानीकार जन्म लेता है। कहानी के नएपन की आड़ में जब अधिकांश कहानीकार, कुंठा, संत्रास, हताशा, सेक्स, अजनबीयत आदि जैसे आयातित अनुभवों को परोस रहे होते हैं, ठीक उसी दौर में रामदरश मिश्र का कहानीकार ग्रामीण जीवन को उकेरने में दिलचस्पी ले रहा होता है “... ग्रामीण परिवेश ने मुझे अपने भीतर स्थिर रहने

के स्थान पर बाहर से जुड़ने का गहरा संस्कार दिया। बाहर जो कुछ हो रहा है उसका अंग बनना या उससे गहरा सरोकार बनाये रखना या उसके प्रति चिंतित होना ग्रामीण परिवेश से प्राप्त होता है।⁶⁶ जिससे यह समझा जा सकता है कि रामदरश मिश्र का ग्रामीण परिवेश से लगाव और जुड़ाव उनके कहानीकार को संस्कार देता है। यही वजह है कि उनके कुल नौ कहानी-संग्रहों में उनके ग्रामीण जीवन के अनुभव उनकी लगभग दो दर्जन से अधिक कहानियों में व्यक्त होते हैं। इनसे उनकी पहचान ग्रामीण जीवन का चित्रण करनेवाले एक प्रमुख कहानीकार की बनती है।

उनके ग्रामीण जीवन की कहानियों से संबंधित कुछ प्रमुख कहानी-संग्रह कुछ इस प्रकार हैं— 'खाली घर', 'एक वह', 'दिनचर्या', 'सर्पदंश', 'अपने लिए', 'फिर कब आयेंगे', 'कुछ और कहानियाँ' आदि। वे अपनी कहानियों के संबंध में जो उल्लेखनीय बातें कहते हैं, वे कुछ इस प्रकार हैं — “ मेरी कहानियों में अपने परिवेश के सामाजिक जीवन का यथार्थ ही अधिक व्यक्त हुआ है।... मेरे अनुभव में इस गाँव के माध्यम से सारे कछार की भयानक गरीबी और पीड़ा सामूहिक उल्लासों के स्वर प्रकृति के विविध रंग और गंध के अभिशप्त उदास चेहरे बिम्ब बनकर पड़े हुए हैं। शायद इन्हीं बिम्बों ने मुझे कथा-साहित्य की ओर ढकेला भी।”⁶⁷ वे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के कमोवेश हर पहलू को अपनी कहानियों में चित्रित करने का प्रयास करते हैं। उनकी 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियों' कहानी में गाँव की जानी-पहचानी-सूखा और अकाल-की समस्या के चतुर्दिक घिरे बेबस आमजन का दर्द व्यक्त होता है तो दूसरी तरफ स्वतंत्रता के बाद की राजनीति और सत्ता के विकास-हुंकार की पोल खुलती है। सूखे तथा उससे उत्पन्न परिस्थिति के कारण गाँव के चारों ओर एक मातमी उदासी रेंग रही होती है— “ गाँव से कल ही लौटा हूँ माँ का क्रियाक्रम करके। एक अजीब सन्नाटा मन में अँटा पड़ा है। नदी के कटे हुए तट, खेतों में खुली हुयी दरारे, उजड़े हुए सिवान... टूँठ होते हुए पेड़ ... चारों ओर धूमती हुयी मृत्यु की गंध...”⁶⁸ इस भीषण परिस्थिति में आदमी की मृत्यु एक रोजमर्रा की घटना में तब्दील हो जाती है — “ मरना कोई अजीब बात रह गया हो तो खबर हो, अब तो मौतें हर दरवाजे पर धरना दे रही हैं, कौन कब चल देगा क्या खबर?”⁶⁹ यही नहीं, जो जीवित बचे रहते हैं उनकी दुर्दशा कुछ इस प्रकार की होती है— “पेड़ की छाल आदमी खाता है... कितना अमानुषिक! उफ!... गोबरहा-पशुओं के गोबर में से अन्न के दाने निकालकर खाना क्या कम बेबसी है? हमारे यहाँ के हलवाहे खाते हैं और हम समाजवाद, मानवतावाद प्रजातंत्र आदि का नारा लगाते नहीं अघाते।”⁷⁰ जिससे यह समझा जा

सकता है कि ग्रामीण जीवन के उक्त भयानक दृश्य के माध्यम से कहानीकार ग्रामीण जीवन के विकास की वास्तविक स्थिति का दृश्य रखते हुए सत्ता और शासन द्वारा सभ्यता और विकास से जुड़े उछाले गए नारों पर व्यंग्य करता है। आलोच्य कहानी में कहानीकार यह स्पष्ट दिखलाता है कि सूखे और अकाल की परिस्थिति से बुनियादी सुविधाओं से वंचित ग्रामीण आम-जन-जीवन ही त्रस्त होता है जबकि गाँव के सम्पन्न वर्ग (जमींदार-सामंत) पर इसकी आँच तक नहीं आती है-
 - “ एक शोर बाजार के सन्नाटे को कुचलता हुआ आया। बाबू साहब हैं। छावनी पर आ रहे हैं, देखा नहीं उनका खवास गोश्त खरीद रहा है...।”⁷¹ जिससे यह जाहिर होता है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में आर्थिक विषमता की खाई छोटी नहीं होती है, बल्कि फैलती चली जाती है। सम्पन्न वर्ग और भी सम्पन्न होता जाता है, जबकि विपन्न वर्ग मौत की गर्त में धँसता चला जाता है। आलोच्य कहानी में कहानीकार यह स्पष्ट संकेत करता है कि सत्ता और शासन की विकास नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करने वाले ओहदों पर गाँव के सम्पन्न वर्ग ही काबिज होते हैं, क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर भ्रष्ट होती राजनीति का पूँजीवादी चरित्र सामंतवाद को ध्वस्त करने के बजाय उससे मिलीभगत करके ही अपना रास्ता खोजने को तत्पर होता है।

इसी प्रकार उनकी ‘बेला मर गई’, ‘अकेला मकान’ आदि कहानियों में ग्रामीण सामाजिक जीवन में व्याप्त विवाह-संबंधी अनियमितताओं तथा उनसे उपजी विडंबनात्मक स्थितियों का अभिव्यंजन होता है। देखा जाए तो ग्रामीण जीवन में नारी की पहचान, उसका अस्तित्व, विवाह-संस्था के इर्द-गिर्द ही नज़र आता है। गाँव के सामाजिक जीवन और परिवेश में वह बोझ समान मानी जाती है। इसी कारण हर पिता अपनी बेटी स्वरूप सामाजिक बोझ से शीघ्र हल्कान हो लेना चाहता है। ग्रामीण समाज इस बात की, तनिक भी परवाह नहीं करता है कि पुरुष नारी के योग्य है अथवा नहीं; उसके मेल में है अथवा बेमेल। बल्कि, यह समाज स्त्री का सौभाग्य और दुर्भाग्य उसके पति (चाहे कैसा भी हो) होने या न होने में देखता है। इसी कारण अक्सर नारी को अनमेल विवाह के दुश्चक्र में गिरफ्त होना पड़ता है। प्रस्तुत कहानी में भी बेला का अनमेल विवाह होता है, क्योंकि बेला का पिता गाँव के उसी अपढ़ समाज के तानों-तिसनों का शिकार होता है, जो लड़की के यथा शीघ्र विवाह हो जाने को ही सामाजिक रीति-नीति मानता है। इसी कारण बेला का पिता रुग्ण, मरयिल बारह साल के बच्चे के साथ बेला की शादी कर देता है। जिस पर वही समाज मुँह बिचकाते हुए केवल अफसोस ज़ाहिर करता है- “ हाँ, कुछ औरतों ने मुँह बिचकाकर कहा कि

लड़की को काटकर कुँए में डाल दिया हरकिसन चौबे ने। वह एक तो बहुत छोटा है दूसरे कुरूप।⁷² किंतु, इसका नतीजा बेला जैसी स्त्रियों को भोगना पड़ता है। बेला प्रेम, संवेदना और भावनाओं के आदान-प्रदान के बिना असमय वृद्ध हो जाती है। और फिर एक दिन आचानक, पति की मृत्यु हो जाने के बाद वह जिंदा रहने के लिए अपने जीवन में 'काम' को सर्वोपरि मान लेती है। यहाँ कहने का अभिप्राय: यह है कि यद्यपि गाँव वाले उसके काम को देखकर उसकी प्रशंसा करते हैं, लेकिन कोई भी उसके मन की भावनाओं को समझने हेतु तैयार नहीं होता है। बेला जैसी ग्रामीण स्त्रियाँ अनमेल-विवाह की विडम्बना की शिकार होती हैं, जो स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन में अनमेल-विवाह रूपी विवाह संबंधी अनियमितता के बने रहने के सच को उद्घाटित करती है। इसी तरह रामदरश मिश्र की 'अकेला मकान' कहानी दहेज जैसी विवाह से जुड़ी समस्या को दर्शाती है। जिसके कारण जगरानी जैसी स्त्रियों का जीवन अकेलेपन का दंश, उपेक्षा तथा तिरस्कार के कारण त्रासपूर्ण बन जाता है। आलोच्य कहानी के माध्यम से ग्रामीण सामाजिक जीवन में व्याप्त कई बातें उजागर होती हैं। पहली, दहेज प्रथा तथा उसके प्रति होने वाला लोभ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक जीवन का एक अंग बना रहता है। दूसरी, ग्रामीण सामाजिक जीवन में पुरुषों का बहु-विवाह करने का चलन एक सामान्य बात बनी रहती है। तीसरी, ग्रामीण सामाजिक जीवन में नारी की परतंत्र एवम् उपक्षेणीय स्थिति बरकरार रहती है। जहाँ, जगरानी जैसी स्त्रियाँ पुरुषों के घर में दहेज लाने, उसका घर चलाने, उसका बंश बढ़ाने आदि के लिए पुरुषों के मातहत बनी रहती हैं। उसकी अपनी कोई स्वतंत्र हैसियत नहीं होती है। इस प्रकार आलोच्य कहानी के माध्यम से रामदरश मिश्र ग्रामीण सामाजिक जीवन के ज्वलंत यथार्थ को हमारे समक्ष रखते हैं, जो स्त्री-जीवन की विडम्बना की ओर इशारा करता है।

इसी तरह रामदरश मिश्र अपनी कहानियों में ग्रामीण सामाजिक जीवन के यथार्थ के रूप में बदलते हुए गाँव यानि, आधुनिक बनते हुए गाँव में भी झाड़-फूँक, अंधविश्वास, भूत-प्रेत आदि दकियानूसी मान्यताओं के बने रहने की विडम्बना उजागर करते हैं। इस दृष्टि से उनकी 'आधुनिक' कहानी उल्लेखनीय है। इस कहानी में लेखक एक ओर, जहाँ गाँव में परिवर्तन के दृश्य देखता है, तो दूसरी ओर अंधविश्वास तथा जड़ मान्यताओं से भी उसे व्याप्त पाता है। एक और जहाँ, आधुनिकता का प्रतीक बनी मशीनें गाँव के पारंपरिक दृश्य को बदल देती हैं; ग्रामीण जीवन की बुनियादी जरूरत शिक्षा-स्वास्थ्य का विकास होता नज़र आता है। तो दूसरी ओर, ओझा गाँव

भर का भूत उतारता है – “ ओझा के आने से इस गाँव के सारे भूत-प्रेत अपने आप उतरा गये हैं और हर आदमी ओझा जी से अपने-अपने घर का भूत शांत कराने की प्रार्थना कर रहा है। सुखबीर की लड़की को ओझा जी डीह बाबा के थान पर ले जा रहे थे।”⁷³ जो स्वातंत्र्योत्तर बदलते गाँव, आधुनिक होते गाँव में, ढोंग-पाखंड का पनपता माहौल और उसकी विडम्बना को ही दिखाता है। यहाँ एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि गाँव में पसरे उक्त पाखंड का अधिकतर शिकार, वहाँ की स्त्रियों ही होती हैं। चाहे वह रामप्रसाद की विधवा भौजी हो या धर्मेन्द्र की बीबी या फिर सुखबीर की लड़की।

इसी प्रकार ग्रामीण सामाजिक जीवन में, स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में, जमींदारों के अत्याचार, शोषण एवं उनकी दबंगई के बने रहने का सच रामदरश मिश्र की कहानी ‘सर्पदंश’ में लक्ष्य किया जाता है। यह कहानी साफ दर्शाती है कि स्वातंत्र्योत्तर शासन व्यवस्था में ग्रामीण विकास-किसानों, भूमिहीनों, खेतिहर मजदूरों आदि ग्रामीण आमजनों का विकास-संबंधी उठाए गए कदमों का फलश्रुत परिणाम नहीं निकलकर आता है। जिसे उदाहरण स्वरूप इस कहानी में भूमिहीनों के बीच भूमि आबंटन संबंधी विकासात्मक पहल की परिणति के रूप में दिखाया जाता है। आलोच्य कहानी में यह दर्शाया जाता है कि ग्रामीण जीवन के स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में भी दलित-गरीब आमजन पर निमर्म अत्याचार होता है, जहाँ गोकुल जैसों को दिन-रात परिश्रम करने के बाद भी उसके हक से वंचित करने का कुचक्र होता है। इसी प्रकार उनकी ‘सड़क’ कहानी में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के मूल्य-क्षरण और अधोपतन का जिक्र मिलता है। इस कहानी के केन्द्र में गाँव के एक रिटायर्ड मास्टर चन्द्रभान की व्यथा होती है। उनकी व्यथा में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति का बदलता चरित्र उजागर होता है। आलोच्य कहानी में यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि लोकतांत्रिक सरकार जिस पूँजीवादी मानसिकता से परिचालित होकर सिर्फ अपने स्वार्थ को साधने की मंशा को लिए मूल्यों, आदर्शों, तथा आमजन के व्यापक हितों को दरकिनार कर चलती है, उससे यह नतीजा निकलता है कि सम्पन्न वर्ग और भी सम्पन्न होता जाता है; अपराधी, भ्रष्ट और स्वार्थी किस्म के लोग फलते-फूलते जाते हैं, जबकि विपन्न वर्ग तथा आदर्श, मूल्य और निष्ठा के प्रति प्रतिबद्ध लोग दयनीय बनते जाते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में दलबदल की अवसरवादिता का पहलू, रामदरश मिश्र की

‘खण्डहर की आवाज’ कहानी में मिलता है। इस कहानी के कथावाचक के ग्रामीण जन के साथ हुयी बातचीत में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति से जुड़े उक्त सच को संकेतित होते हुए देखा जाता है- “ ... तो पंडित जी कांग्रेसी हो ही गये। बहुत से समाजवादी ठोकरें खा-खा कर कांग्रेसी हो गये, आखिर कहाँ तक टूटते? कहाँ तक आदर्श को खाते-पीते? और कांग्रेस का रास्ता तो पैसों की ओर जाता ही है।”⁷⁴ जिसे ध्यान दिया जाए तो स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में पैसे-पूँजी के सहज प्रवेश का सच उजागर होता है। साथ ही यहाँ, इसका भी संकेत होता है कि स्वतंत्रता उपरांत की राजनीति में अवसरवाद को प्रश्रय दिया जाता है, जहाँ आदर्श और विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता मनुष्य की दयनीयता को प्रतीकित करते हैं। इस प्रकार यह सहज ही देखा जाता है कि रामदरश मिश्र का कहानीकार अपने अनुभवों में शामिल स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के कमोवेश हर पक्ष-सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदि को अपनी कहानियों में उज्जीवित करने में गहरी दिलचस्पी लेता है।

जहाँ तक मार्कण्डेय और रामदरश मिश्र के समकालीन कहानीकार होने का प्रश्न है, इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन के पक्ष को स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में उकेरने की दिलचस्पी दोनों में मिलती है। दोनों कहानियाँ लिखने की शुरुआत लगभग एक ही समय में करते हैं, हालांकि उन दोनों के पहले कहानी-संग्रह के प्रकाशन में काफी वर्षों का अंतराल मिलता है। दोनों, अपनी-अपनी कहानियों में ग्रामीण सामाजिक जीवन में नारी जीवन से जुड़े प्रश्नों को, ग्रामीण जीवन से पलायन और वापसी को, जमींदारी अत्याचार और शोषण को तथा ग्रामीण जीवन से जुड़े राजनीतिक प्रसंगों को अपने अपने तरीके से उकेरने का प्रयास करते हैं। यद्यपि, ये दोनों कहानीकार ग्रामीण जीवन से जुड़े समान विषयों-प्रश्नों को अपनी कहानियों में उठाते हैं, तथापि इन दोनों की कहानियों में अंतर्निहित दृष्टिकोण में अंतर मिलता है। यही उनके कहानीकार रूप का अंतर भी प्रतीकित करता है। उदहारणस्वरूप इस अंतर को समझने हेतु रामदरश मिश्र की कहानी ‘बेला मर गयी’ को मार्कण्डेय की ‘सात बच्चों की माँ’ कहानी के समानांतर रख कर देखा जा सकता है। मार्कण्डेय की कहानी, जहाँ अनमेल विवाह के प्रश्न के साथ ग्रामीण जीवन में व्याप्त पितृसत्तात्मक सोच तथा संस्कार को बेपर्द करती है; स्त्री के अपने शोषण की पहचान की चेतना को मुखरित करती है; सामाजिक जीवन के प्रश्न को उसकी आर्थिक संश्लिष्टता के साथ प्रस्तुत करती है, वहाँ रामदरश मिश्र की कहानी ‘बेला मर गयी’ में विषय का यथातथ्य निरूपण होता है।

यथार्थ अपने इकहरेपन में ही सीमित हो जाता है। इसी तरह ग्रामीण जीवन से पलयाण और वापसी से जुड़े विषय पर रामदरश मिश्र की कहानी 'छूटता हुआ नगर' को भी मार्कण्डेय की 'गनेसी' कहानी के समानांतर रख कर देखा जाए तो विषय के प्रति दोनों कहानीकार के एप्रोच का अंतर उजागर होता है। दरअसल यह दोनों की अपनी-अपनी यथार्थ-दृष्टि के कारण भी है। आलोच्य कहानी ग्रामीण जीवन के एक ऐसे युवक की है, जो पंद्रह साल पहले गाँव के जीवन-परिवेश से निकलकर शहर में बस जाता है। इतने वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी वह युवक शहर में स्वयं को अनफिट पाता है, क्योंकि उसके पुराने गाँवई संस्कार और ग्रामीण जीवन के मूल्य-बोध उसे इस कदर जकड़े रहते हैं, कि वह शहर के परिवेश में तडफड़ता रहता है। और एक दिन वह गाँवई आदर्शों और मूल्यों की रक्षा हेतु अपने गाँव लौट आता है। जो युवक का रोमानी भावबोध साफ जाहिर करता है।

दरअसल प्रकारांतर से, यह कहानीकार के ग्रामीण जीवन के प्रति होने वाले रोमानी भावबोध को संकेतित करता है। जिस कारण इस कहानी में यथार्थ अपने इकहरेपन में बंद हो जाता है। गाँव के जीवन के प्रति नास्टैल्जिक रुख कहानीकार की ग्रामीण जीवन की वस्तुपरकता को देखने वाली यथार्थ-दृष्टि को कुंद करती है। जबकि इसी विषय से साम्य रखने वाली मार्कण्डेय की कहानी 'गनेसी' में यथार्थ के कई छोर देखने को मिलते हैं, जहाँ ग्रामीण जीवन की संश्लिष्ट छवि उभरकर आती है। 'गनेसी' कहानी में मार्कण्डेय की तटस्थता देखने को मिलती है। जिसका परिणाम इस कहानी में इस रूप में दिखायी देता है कि 'गनेसी' का गाँव के जीवन और मूल्य-बोध के साथ शहर से लौटने के बाद एक टकराव होता है, जो स्वाभाविक भी लगता है। गनेसी अपने भावी जीवन की कल्पना गाँव में जड़ हो गए संस्कारों से मुक्ति पाने-दिलाने में देखता है—

“ उधर गनेसी का इस सबसे कोई मतलब नहीं था। अगर बाप-दादों की धरती पर उसे बसना भी है तो पुरोहिती से उसका क्या मतलब। दूर-दूर तक उसके मन में कोई ऐसा क्षितिज शेष नहीं रह गया था जहाँ यजमान की जयकार करने और दक्षिणा पाने की लालसा शेष हो।”⁷⁵ उसके शहरी जीवन का आधुनिक बोध ही उसे गाँव की उन जड़ मान्यताओं-ब्राह्मण के अपने परंपरागत कर्म से कुछ इतर करने पर उसका विधर्मी हो जाना, अपने से छोटी जात के घर भोजन ग्रहण करने पर कुजात हो जाना आदि- पर हँसने को बाध्य करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि गनेसी की उक्त मान्यताओं पर हँसी, उसकी आधुनिक तर्किक-विवेक परक दृष्टि के परिणामस्वरूप होती है,

जो उसकी सोच को रोमानी न होने के कारण ही संभव हो पाती है। दूसरे अर्थों में, इसे कहानीकार की यथार्थ-दृष्टि के रोमानी आग्रहों से निर्लिप्तता के रूप में समझा जा सकता है, जो रामदरश मिश्र की कहानी 'छूटता हुआ नगर' में नज़र नहीं आता है। वैसे भी, रामदरश मिश्र अपनी कहानियों में अंतर्निहित यथार्थ-दृष्टि के रोमानी आग्रहों से सिक्त होने की बात करते हैं। वे अपनी समग्र कहानियों से जुड़ी यथार्थ-दृष्टि के सूत्र को कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "शहर और गाँव दोनों से जुड़ा होने के कारण प्रायः मैंने अपनी कहानियों में एक ऐसे पात्र की सृष्टि की है जो शहर में नौकरी करता है और विशेष-विशेष अवसरों पर गाँव लौटता है और कुछ समय के अंतराल पर गाँव में आए बदलाव को देखता है। गाँव में निरंतर जीता आदमी शायद उस बदलाव को उतनी स्पष्टता से लक्षित नहीं कर सकता जितना कि अंतराल के बाद उसे देखने वाला आदमी।"⁷⁶ जो ग्रामीण जीवन को निरपेक्ष ढंग से देखने वाली उनकी यथार्थ-दृष्टि को जाहिर करता है। पर यहाँ, ध्यान दिया जाए तो उनके कथन का दूसरा पहलू कुछ और ही संकेत करता है। पहला, यह कि विशेष अवसरों पर गाँव आने तथा वहाँ के जीवन को निरपेक्ष ढंग से देखने वाला व्यक्ति परिवर्तन के ऊपरी रूप की ही लक्ष्य कर पाता है; वह परिवर्तन के अंतर्द्वन्द्वों तथा उसकी संश्लिष्टता को समग्रता में चिह्नित कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है। दूसरा यह कि, गाँव के परिवर्तित संदर्भों में अपने से जुड़ी हुयी चीजों को पूर्ववत् पाने के प्रयत्न में देखने वाले के स्मृतिपरक हो जाने की गुंजाइश बनी रहती है। और वैसे भी यह सर्वाविदित है कि स्मृतिपरकता नारटैल्लिक रुख अख्तियार कर लेती है, जैसा कि रामदरश मिश्र की कहानियों में देखने को मिलता है।

देखा जाए तो रामदरश मिश्र की यथार्थ दृष्टि का यह पहलू उन्हें कहानीकार मार्कण्डेय से अलग करता है। इसी तरह मार्कण्डेय की कहानियों में जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन का परिवर्तित संदर्भ अपनी संश्लिष्टता में उपस्थित होता है, वहीं रामदरश मिश्र की अधिकांश कहानियों में ग्रामीण जीवन का अनुभव सपाट ढंग से व्यक्त हो जाता है, वह संवेदना की शकल नहीं ले पाता है। जिसका प्रमाण उनकी 'सड़क' 'खण्डहर की आवाज' आदि कहानियाँ देती हैं। रामदरश मिश्र की कहानियों से जुड़े इस सच को हिंदी कहानी के इतिहासकार गोपाल राय भी अपने निम्न कथन में उजागर करते हैं- "रामदरश जी की अधिकतर कहानियाँ संस्मरण के निकट की होती हैं। यों तो कोई भी कहानी लेखक के अनुभव से ही निकलती है, पर संस्मरण में लेखक का अनुभव बहुत साफ तौर पर देखा जा सकता है। 'संस्मरण' में वर्णन की और 'कहानी' में संवेदना

के अंकन की प्रधानता होती है।⁷⁷ इस प्रकार देखा जाए तो रामदरश मिश्र और मार्कण्डेय के कहानीकार में समानता-असमानता दोनों तत्त्व देखने को मिलते हैं।

अतः समग्रता में विचार किए जाने पर रामदरश मिश्र के कहानीकार की कई बातें, उभर कर आती हैं। पहली, रामदरश मिश्र 'नई कहानी' के दौर के आसपास ही एक कहानीकार के रूप में अपना लेखन आरंभ कर देते हैं। उनकी प्रारंभिक कहानियों से ही उनकी पहचान ग्रामीण जीवन-बोध के कहानीकार की बन जाती है। दूसरी, उनकी कहानियों में उनके ग्रामीण जीवन का अनुभव रह-रहकर उपस्थित होता है, जिससे ग्रामीण जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक ओर सांस्कृतिक पक्षों का उद्घाटन होता है। तीसरी, उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की बुनियादी समस्याओं - गरीबी, भूख, प्राकृतिक आपदा रूपी संकट, पारिवारिक तनाव, जातिगत भेदभाव, अंधविश्वास, पलायन, सत्ता और राजनीति का स्वार्थपूर्ण खेल-आदि को अपने तरीके से उठाने की चेष्टा करती हैं। चौथी, उनका विशेष-विशेष अवसरों पर अपने गाँव आना तथा वहाँ के जीवन का अपनी कहानियों में उद्घाटन करना उनकी यथार्थ-दृष्टि को स्मृतिपरक कर देता है। जिससे उनकी यथार्थ-दृष्टि ग्रामीण जीवन के बदलाव के केवल ऊपरी रूप को ही देख पाती है, और जो उनके अनुभवों को का सपाट रह जाने देती है। यह सब कुछ सम्मिलित रूप में उनके कहानीकार की खासियत बनती है। सारतः कहा जाए तो रामदरश मिश्र मार्कण्डेय की ही भाँति स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन को उनके बुनियादी स्वर के साथ चित्रित करने के सिलसिले को आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं।

निष्कर्षतः समग्र विवेचन को देखा जाए तो, कई बातें निकलकर आती हैं। पहली, मार्कण्डेय के समानांतर भैरव प्रसाद गुप्त, विवेकी राय, शिवप्रसाद सिंह, फणीश्वरनाथ रेणु, रामदरश मिश्र आदि कहानीकार अपनी-अपनी कहानियों के माध्यम से ग्रामीण जीवन की उपस्थिति को स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के हिंदी कहानी-लेखन में बनाये रखने का स्तुत्य प्रयास करते हैं। प्रेमचंद के बाद उक्त तमाम कहानीकार की यह गहरी दिलचस्पी का परिणाम होता है कि औद्योगिकीकरण, नगरीकरण आदि की प्रक्रिया में हिंदी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन बोध के वर्चस्व के बावजूद ग्रामीण जीवन का यथार्थ उपेक्षित होने से बच जाता है। दूसरी, हालांकि भैरवप्रसाद गुप्त स्वतंत्रता पूर्व ही कहानी-लेखन में आ जाते हैं, तथापि उनकी ग्रामीण जीवन के

कहानीकार की छवि स्वातंत्र्योत्तर काल में ही बनती है। उनकी साम्यवादी सोच ग्रामीण निम्नवर्गीय लोगों की समस्याओं को अपनी कहानियों के माध्यम से रखने की पुरजोर कोशिश करती है। तीसरी, विवेकीराय भी स्वतंत्रता पूर्व कहानी-लेखन शुरू करने के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर काल में ही अपनी पहचान पाते हैं। उनका ग्रामीण जीवन में रचा-बसा मन ग्रामीण जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं में गहरी दिलचस्पी लेता है तथा उसे उकेरने की शिद्दत में कहानी की कलात्मकता को कभी-कभार भूला भी देता है। इसी कारण उनकी अधिकांश कहानियाँ यद्यपि ललित निबंध के रूप का आभास देती हैं तथापि उनमें ग्रामीण मन की संवेदना और ग्रामीण जन की समस्याएँ आलोकित हो उठती हैं। चौथी, शिवप्रसाद सिंह स्वतंत्रता उपरांत के कहानीकारों में एक अलग पहचान बनाते हैं, क्योंकि वे न सिर्फ अपनी कहानियों, बल्कि अपनी टिप्पणियों के जरिए भी ग्रामीण जीवन का पक्ष रखते हैं। वे ग्रामीण जीवन को भारतीय जीवन के प्रतिनिधित्व का श्रेय देते हुए अपनी कहानियों के माध्यम से ग्रामीण उपेक्षित चरित्रों और जनजातियों का संवेदनात्मक पक्ष रखते हैं। पाँचवीं, रेणु का स्वतंत्रता उपरांत ग्रामीण जीवन को चित्रण करने वाली कहानी-धारा में उभरकर आना एक ऐतिहासिक घटना स्वरूप होता है। वे अपनी कहानियों के माध्यम से अपने जनपद को समग्रता में उकेरने वाले कहानीकार की विशिष्ट पहचान पाते हैं। जहाँ, उनके जनपद की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सचाइयों की अनुगूँज ग्रामीण जीवन की भोली संवेदना और रागात्मकता के साथ मूर्त होती हैं। छठवीं, रामदरश मिश्र का कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन बोध की कहानी-धारा को आगे बढ़ाने का कार्य करता है। उनके ग्रामीण जीवन का निजी अनुभव ही उनका कहानियों का उपजीव्य बनता है, जो स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन को उसकी बुनियादी समस्याओं के साथ रखने की कोशिश करता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय के समकालीन उक्त कहानीकार अपनी-अपनी कहानियों के माध्यम से ग्रामीण जीवन के चित्रण की कहानी-धारा को प्रवाहमान बनाए रखने का स्तुत्य कार्य करते हैं।

संदर्भ-सूची

1. प्रकाश, आनंद, हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 1997, पृ.- 94
2. सांगोले, डॉ. शिवाजी, हिंदी कथा साहित्य में ग्रामीण चेतना (भैरव प्रसाद गुप्त के परिप्रेक्ष्य में), समता प्रकाशन, कानपुर (देहात), प्र. सं.- 2006, पृ.-145
3. उद्धृत, सांगोले, डॉ. शिवाजी, हिंदी कथा साहित्य में ग्रामीण चेतना (भैरव प्रसाद गुप्त के परिप्रेक्ष्य में), समता प्रकाशन, कानपुर (देहात), प्र. सं.: 2006, पृ.-145
4. उद्धृत, सांगोले, डॉ. शिवाजी, हिंदी कथा साहित्य में ग्रामीण चेतना (भैरव प्रसाद गुप्त के परिप्रेक्ष्य में), समता प्रकाशन, कानपुर (देहात), प्र. सं.: 2006, पृ.-142
5. उद्धृत, प्रकाश, आनंद, हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 प्र. सं.:1997, पृ.-98
6. प्रकाश, आनंद, हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 प्र. सं.: 1997, पृ.-96
7. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2: 1951-1975, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. सं.-2011, पृ.-220
8. उपरिवत्, पृ.- 219
9. उपरिवत्, पृ.-432
10. मिश्र, डॉ. रामदरश, मोहन डॉ. नरेन्द्र, हिंदी कहानी: दो दशक की यात्रा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र. सं: 1970, पृ.-96
11. राय, विवेकी, नयी कोयल (मरछिया), राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं: 1984, पृ.-14
12. राय, विवेकी, जीवन परिधि (बड़ा आदमी), राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं:1990, पृ.-47
13. राय, विवेकी, नयी कोयल (सुराजी भवानी का फेर) राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं:1984, पृ.-155
14. डॉ. सत्यकाम (संपादक), माटी की महक, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं: 1994, पृ.-185-186
15. राय, विवेकी, नयी कोयल (गद्दी पर पैर किसका), राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं:1984

पृ.-166

16. उपरिचत्, पृ.-170

17. राय, विवेकी, बेटे की बिक्री (सभा), प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं 1984, पृ.-108

18. राय, विवेकी, कालातीत (बाप मोरे भइले कठ बपवा), पराग प्रकाशन, दिल्ली संस्करण:1982
पृ.- 36-37

19. राय, विवेकी, नयी कोयल (कच्चा गुलाब), राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-
1984, पृ.- 44

20. राय, विवेकी, कालातीत (विलायती डिजायन का अफसर), पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.
सं:1982, पृ.- 106

21. राय, विवेकी, श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं 1996, प्लैप
से उद्धृत।

22. आंजनेय, डॉ. अनिल कुमार (सं.) सृजन यज्ञ जारी है, अखिल भारतीय अन्तरजनपदीय
परिषद्, उजियार, प्र. सं- 2000 पृ.-71

23. भस्मे, डॉ. दिलीप, विवेकी राय के साहित्य में ग्रामांचलिक जन-जीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा
प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं- 2006, पृ.- 311

24. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2 1951-1975, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-
बी., नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. सं: 2011, पृ.-109

25. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर (संपादक), नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन,
प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. स- 1973, पृ.- 139

26. सिंह, शिवप्रसाद, आर-पार की माला (कहानी-संग्रह), सरस्वती मंदिर, काशी, प्र. स-
1955, 'एक मिनट' (भूमिका)

27. सिंह, शिवप्रसाद, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, स- 1997,
पृ.-73

28. उपरिचत्, पृ.-76

29. सिंह, शिवप्रसाद, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं- 1997,
पृ.-104

30. उपरिचत्, पृ.- 107-108

31. यादव, राजेन्द्र (संपादक), एक दुनिया: समानान्तर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. दरियागंज,

- नई दिल्ली, संस्करण: 1993, पृ.- 348-49
32. उपरिवत्, पृ.- 354
33. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, नयी कहानी: सदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. स: 1973, पृ.- 146
34. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1 प्र. स- 2002 भूमिका (भूदान), पृ.- 248-249
35. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, नयी कहानी: सदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. स: 1973, पृ.- 144
36. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्र. स - 2002, भूमिका (भूदान), पृ.- 250
37. मधुरेश, नयी कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. स:1999, पृ.- - 114
38. उपरिवत्, पृ.- 112
39. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 प्र. स- 2002, भूमिका (भूदान), पृ.- 247
40. उद्धृत, मधुरेश, नयी कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. स 1999, पृ.- 125
41. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, (संपादक), नयी कहानी: सदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. स: 1973, पृ.- 146
42. सिंह, शिवप्रसाद, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण- 1997, मेरी कहानी रचना की नेपथ्य-भूमि, पृ.- 8
43. वर्मा, डॉ. रागिनी, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और उनका कथा साहित्य, विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र. स - 2002, पृ.- 7
44. उपरिवत्, पृ.-6
45. मधुरेश, नयी कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. स:1999, पृ.- - 114
46. यायावर, भारत (संपादक), रेणु रचनावली-1, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1995, पृ.- 126

47. उपरिवत् , पृ.- 134
48. यायावर, भारत (संपादक), रेणु रचनावली-1, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. स : 1996, पृ.- 141
49. उपरिवत् , पृ.- 141
50. उपरिवत् , पृ.- 146
51. उपरिवत् , पृ.- 138
52. उपरिवत् , पृ.- 327
53. उपरिवत् , पृ.- 333
54. उपरिवत् , पृ.- 175
55. उपरिवत्, पृ.- 178
56. उपरिवत् , पृ.- 179
57. उपरिवत् , पृ.- 387
58. उपरिवत् , पृ.- 572
59. उपरिवत् , पृ.- 576
60. रेणु, फणीश्वरनाथ, आदिम रात्रि की महक, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र. स: 1967, पृ.- 74
61. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2 : 1951-1975, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. स: 2011, पृ. - 60-61
62. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय : परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र. स: 2010, पृ.- 35
63. उपरिवत् पृ.- 36
64. मधुरेश, नयी कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. स: 1999, पृ.- 104
65. मिश्र, रादरश, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र. स: 2001, भूमिका (मेरी कहानी-यात्रा)
66. उपरिवत् , भूमिका (मेरी कहानी -यात्रा)
67. मिश्र, रामदरश, इकसठ कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्र. स: 1984, भूमिका
68. मिश्र, रामदरश, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र. स: 2001, पृ.-45

69. उपरिवत्, पृ.- 51
70. उपरिवत्, पृ.- 49
71. उपरिवत्, पृ.- 50
72. मिश्र, रामदरश, इकसठ कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्र. स: 1984, पृ.- 69
73. मिश्र, रामदरश, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र. स: 2001, पृ.-72
74. मिश्र, रामदरश, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र. स: 2001, पृ.-67
75. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्र. स: 2002, पृ. - 506
76. मिश्र, रामदरश, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र. स: 2001, भूमिका
77. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2: 1951-1975, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1.बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. स: 2011, पृ.- 262

पंचम् अध्याय
मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामेतर जीवन का यथार्थ

मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामेतर जीवन का यथार्थ

मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन की कहानियों के संदर्भ में उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों को भी समझना आवश्यक है, क्योंकि इससे उनकी समग्र कहानियों के मूल स्वर की पहचान के साथ उनकी कहानी संबंधी यथार्थ-दृष्टि भी स्पष्ट रूप में आलोकित होती है। यहाँ निम्न उपशीर्षकों के अंतर्गत इसका विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है।

5.1 ग्राम-ग्रामेतर का संदर्भ

मार्कण्डेय की पहचान मूल रूप से एक ग्राम कथाकार की है। ग्रामीण जीवन और यथार्थ से उनकी सम्पृक्ति बौद्धिक स्तर पर नहीं है, बल्कि यह उनके लिए एक ऐसा आग्रह रहा है, जो उनके सम्पूर्ण जीवन के साथ घुला-मिला है। यहाँ यह कहने की जरूरत नहीं है कि उनके उक्त आग्रह के कारण ही उनका कहानी-लेखन स्वतःस्फूर्त ग्रामीण जीवन की ओर प्रवृत्त हो जाता है। वैसे, इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि उनके कहानी-लेखन के आस-पास अर्थात् 'नई कहानी' के समय कहानी साहित्य के समक्ष एक ज्वलंत प्रश्न उभर कर आता है कि, शहर या गाँव के जीवन की कहानियों में किसे महत्त्वपूर्ण कहानी का दर्जा दिया जाए। जिससे एक बहस का जन्म होता है। यहाँ नीचे उद्धृत दो मंतव्यों को उक्त तथ्य के प्रमाण के रूप में लक्ष्य किया जा सकता है। इस संदर्भ में पहले, कहानीकार-आलोचक कमलेश्वर का निम्न मंतव्य पढ़ा जा सकता है –“नयी कहानी की यात्रा का यह एक दुखद अध्याय था कि ग्रामांचलों पर लिखने वाले लेखकों ने कहानी के नयेपन को अपने-अपने गाँवों की हदों में कैद कर लेना चाहा और इसमें एकाध आलोचकों ने भी हाथ बँटाया... जबकि ग्रामीण जीवन की स्थितियों पर लिखी जाने वाली कहानियों में वही फार्मूलाबद्धता थी जो कि पिछली कहानी में थी।”¹ इसी कड़ी में, कहानीकार आलोचक शिवप्रसाद सिंह का निम्न कथन भी दृष्टव्य है—“ 'शहरी कथा' शब्द के प्रयोग की लाचारी इसलिए है कि यह शब्द शहर के कथाकारों ने उस 'अछूत साहित्य' से अपने को भिन्न करने के लिए प्रयुक्त करना शुरू किया है, जिसे ग्राम कथा कहा जाता है।”² इन दोनों मंतव्यों में दो छोरों का जिक्र मिलता है, साथ ही साथ यहाँ किसी एक छोर को किनारा करते हुए दूसरे छोर पर पहुँच जाने की जल्दबाजी देखी जाती है। जबकि, इन दोनों में सामंजस्य बिठाने की आवश्यकता मालूम पड़ती है। इसी कारण मार्कण्डेय जैसे कहानीकारों के लिए ग्राम-शहर आदि कथानकों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है, किसी

भी कहानी में ईमानदारी से चित्रित किया गया नवीन जीवन-संदर्भ। वे जीवन सदर्थ की बात बार-बार दुहराते हैं—“... इसलिए नवीन जीवन संदर्भों को कथा से अलग करके देखना एक भूल है। एक तो इसलिए कि जीवन-संदर्भ कथा की आधार-भूमि हैं, वेसे ही, जैसे किसी चित्र के लिए तूलिका, रंग और कैनवस।”³

गौरतलब है कि मार्कण्डेय के लिए ग्राम-शहर आदि विभाजन कभी मायने नहीं रहा है। इसी कारण ग्रामीण जीवन के साथ शहरी मध्यवर्गीय जीवन स्थितियाँ भी उनकी कहानियों का विषय उनके प्रारंभिक लेखन-काल से ही बनती हैं। जिसका स्पष्ट प्रमाण है उनका प्रथम कहानी-संग्रह पान-फूल (1954)। जिसमें एक साथ ग्राम-ग्रामेतर जीवन का अभिव्यंजन हुआ है। यहाँ, उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों तथा उनमें व्यक्त नगरीय मध्यवर्ग की जीवन स्थितियों को विश्लेषण का आधार बनाने के पीछे निम्नलिखित तर्क हैं। पहला, उनके कहानी के मूल पक्ष को समझना। दूसरा, उनके कहानीकार के समग्र रूप को उद्घाटित करना। तीसरा, उनकी ग्रामेतर कहानियों को एक सिरे से नकार देने की जल्दबाजी की मानसिकता को उजागर करना। उदाहरण के रूप में, उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों के संबंध में दिया गया निम्न मंतव्य देखा जा सकता है—“‘वासवी की माँ’, ‘रेखाएँ’, ‘कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए’, ‘एक दिन की डायरी’, ‘मिस शांता’, ‘अगली कहानी’, ‘सतह की बातें’, ‘माही’, ‘सूर्या’, ‘तारों का गुच्छा’, ‘आदर्शों का नायक’, ‘पक्षाघात’, ‘आवाज’, ‘आँखें’ और ‘प्रियासैनी’ जैसी कहानियों पर बातचीत करना एक जनपक्षधर कहानीकार की टाँग खींचना ही होगा।”⁴ जिससे स्पष्ट रूप में एक आलोचक की जल्दबाजी जाहिर होती है कि वह इन कहानियों पर ठहरकर बातचीत करना नहीं चाहता है। जबकि वास्तविकता यह है कि एक कमजोर कहानी भी अपने मूल्यांकन की माँग करती है।

जैसा कि, मार्कण्डेय अपनी पहचान ग्रामीण जीवन के एक कथाकार की बनाने की ओर अग्रसर होते हैं, उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ सम्यक विवेचन-विश्लेषण से छूटती जाती हैं। मधुरेश जैसे समर्थ आलोचक भी उनकी ग्रामेतर कहानियों की चर्चा करते हुए उसके दो खाने बनाते हैं। पहले में, वे उन कहानियों को शामिल करते हैं, जिसमें उन्हें प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय के सरोकार व्यक्त हुए हैं। जबकि दूसरे खाने में, वे मार्कण्डेय की उन कहानियों को रखते हैं जिनमें उनके अनुसार उनके सरोकार व्यक्त नहीं हुए हैं तथा जो यौन-समस्याओं का चित्रण भर कर चूक जाती हैं—“ग्रामेतर संदर्भों वाली मार्कण्डेय की कहानियों के भी दो स्पष्ट वर्ग हैं। एक वर्ग में वे

कहानियों आती हैं जिसमें एक लेखक की हैसियत से अपने सरोकारों को उन्होंने ग्राम कथानकों से भिन्न शहरी जीवन से जोड़ा है... दूसरे वर्ग में उनकी वे कहानियाँ आती हैं जो उन्होंने यौन समस्याओं और जीवन को आधार बनाकर लिखी हैं और जो प्रायः सबकी सब माही में संकलित हैं।⁵ स्पष्ट है कि यदि कहानियों के खाने बनाने के बजाय उनमें चित्रित जीवन को समग्रता में पर्यवेक्षित किया जाए तो उनकी ग्रामतेर कहानियों में उद्घाटित मध्यवर्गीय जीवन-बोध की विसंगतियों को भली-भांति समझा जा सकता है। साथ-ही साथ, उनकी ग्राम-ग्रामतेर कहानियों की संगति की भी पहचान की जा सकती है।

उल्लेखनीय है कि उनकी ग्रामतेर जीवन की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग तथा उनकी जीवन-स्थितियों में शामिल पहलुओं को दिखलाने की प्रचेष्टा मिलती है। यद्यपि उनके 'माही' (1962) संग्रह की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन-बोध का एक पहलू-यौन-कुंठा का विशेषकर जिक्र होता है तथापि उनकी अन्य कहानियों में मध्य वर्ग की सीमा तथा शक्ति का निदर्शन मिलता है। वैसे भी, मार्कण्डेय की कहानीकार के रूप में उनकी यथार्थवादी सोच ही उन्हें उनके प्रारंभिक लेखन से ग्राम-ग्रामतेर की कहानियों के सृजन की ओर उन्मुख करती है। जैसा कि पूर्वोक्त है कि उनकी यथार्थवादी सोच, एकांगिता की जगह समग्रता-संश्लिष्टता को महत्त्व प्रदान करती है। इस कारण भी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन को समग्रता में उद्घाटित करने हेतु उनका कहानीकार ग्राम-ग्रामतेर जीवन-संदर्भों को उकेरने का प्रयास करता है। इस तरह देखने पर उनकी ग्राम-ग्रामतेर कहानियों की संगति भी मिलती है। उनकी यही यथार्थवादी सोच एक ओर ग्रामीण सर्वहारा जीवन का संश्लिष्ट यथार्थ प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर स्वातंत्र्योत्तर औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप नगरीकृत होते समाज तथा उसमें तेजी से उभरते मध्यवर्गीय जीवन की स्थितियों को रेखांकित करती है।

5.2 स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य और मध्यवर्ग

देखा जाए तो भारतीय समाज अनेक अंतर्विरोधों का पुँज रहा है। इन अंतर्विरोधों को पूँजीवाद के विकास ने और भी मुखर किया है। सर्वविदित है कि, पूँजीवादी समाज में उद्योगों और पूँजी पर पूँजीपतियों का एकाधिपत्य क्रमशः होता जाता है। यह स्थिति भारत में भी देखने को मिलती है। कहानीकार प्रेमचंद की पैनी नजर पूँजीवादी ताकतों के फैलते संजाल को अपने दौर में बखूबी देखती है। इसी कारण वे अपनी पत्रिका जागरण (6 नवंबर, 1933) के संपादकीय-

‘अंधा पूँजीवाद’ में उक्त तथ्य की ओर संकेत करते हुए जनता और शासन की निगाह इस ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं—“जिधर देखिए उधर पूँजीपतियों की घुड़दौड़ मची हुयी है। किसानों की खेती उजड़ जाए उनकी बला से... यह समुदाय भी उस किसान की गर्दन काट रहा है जिसका पसीना उसी की सेवा में पानी की तरह बह रहा है।”⁶ जिसका कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता पूर्व ही पूँजीपति अपने सम्प्रसार हेतु सचेष्ट हो जाते हैं।

भारत में बड़ी पूँजी छोटे कुटीर उद्योगों की ठीक उसी प्रकार लीलने लगती है जिस प्रकार समुद्र की बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगलती है। बड़ी और विकसित पूँजी बाजार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने की प्रक्रिया में लघु-कुटीर उद्योगों का अस्तित्व समाप्त करना आरंभ कर देती है। ब्रिटिश नीति भी इसमें भरपूर सहयोग देती है। रामाज्ञा शशिधर अपने एक लेख में लिखते हैं—“यूरोप में पूँजीवाद के विकास के साथ उद्योग-धंधों का विकास और बड़े फार्मों का विस्तार हुआ, वहीं ब्रिटिश हुकूमत ने भारत के पारंपारिक उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया...।”⁷ कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की विषमता का चित्र उक्त नीतियों और स्थितियों के फैलते संजाल का ही प्रतिफल होता है। भारतीय संदर्भ में, बड़ी पूँजी के सम्प्रसार के फलस्वरूप एक ऐसी स्थिति जन्म लेनी शुरू होती है, जहाँ आम-आदमी अपना सामाजिक-आर्थिक विकास नहीं देख पाता है। आधुनिक पूँजीवादी समाज जो सामंती समाज की ध्वंस से पैदा होता है, वह वर्गीय विरोधों को खत्म करने के बजाय कुछ दूसरे कार्य ही करता है। यह केवल पुराने के स्थान पर नए वर्ग को, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नई अवस्थाओं को खड़ा कर देता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की एक अन्य सच्चाई यह होती है कि यहाँ औद्योगिक विकास योजनावद्ध तरीके से लागू नहीं होता है। बड़ी पूँजी के मालिक सरकार से लाभ उठाने की नीयत से कारखानों-फैक्ट्रियों की शुरूआत करते हैं। उनके समक्ष जनता का हित नदारद रहता है। इस तथ्य के प्रमाण हेतु समाज-साहित्य चिंतक डॉ. कुँवरपाल सिंह के निम्न मत का अवलोकन किया जा सकता है—“...अधिकांश निजी क्षेत्र में उद्योग-धंधे उन्हीं क्षेत्रों में लगे, जहाँ मजदूरी सस्ती हो तथा प्रदेश सरकारें अधिक से अधिक सुविधाएँ देने को तैयार हों, जैसे सस्ती बिजली और पानी, कम मूल्य पर भूमि, टैक्सों में कमी, आयात-निर्यात संबंधी छूट एवं सरकारी संरक्षण... वे क्षेत्र नए उद्योगों के लिए चुने जाएँ जहाँ वामपंथी राजनीति का विशेष प्रभाव न हो ताकि भविष्य में किसी

प्रकार का विवाद न खड़ा हो।⁸ जिससे सहज ही पूँजीपतियों की केवल मुनाफाखोरी की बदनीयत का संज्ञान होता है। हालांकि पूँजीपतियों की इस बदनीयत का बीजारोपण स्वतंत्रता पूर्व ही हो चुका होता है, तथापि स्वतंत्रता उपरांत भारत की आर्थिक नीतियाँ इसे पल्लवित होने का भरपूर सु-अवसर प्रदान करती हैं। यहाँ यह उल्लेख करना भी प्रासांगिक लगता है कि स्वातंत्र्योत्तर औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में द्रुत नागरीकरण होता है। फलस्वरूप, नगरों में एक नया वर्ग प्रस्थापित होने लगता है जिसमें न सामंती ऐंठ रहती है और न निम्नवर्ग की लाचारी। स्वातंत्र्योत्तर एक-दो दशक के आते-आते समाज में मध्यवर्ग की स्थिति स्पष्ट होने लगती है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के निम्न कथन में उक्त मत की संपुष्टि देखी जा सकती है— “सामंती समाज का अंत होने पर नवीन औद्योगिक सभ्यता का आविर्भाव हो रहा था और नगरों में नवीन मध्यवर्ग की सत्ता स्थापित हो रही थी।”⁹

वैसे, यहाँ यह कहना भी साभिप्राय है कि सामाजिक विघटन की प्रक्रिया में सामंती ढाँचा पूरी तरह चूर्ण नहीं होता है। बीसवीं शती के मध्य में सामंत ही पूँजीपति के रूप में नया चोगा पहन लेते हैं, और उनकी तरक्की-उन्नति की प्रक्रिया में ही नवीन वर्ग की सृष्टि होती है। इस नवीन वर्ग की संकल्पना के संबंध में हिंदी साहित्य कोश कुछ यह कहता है—“पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया है कि मध्यवर्ग की आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन-सूत्र को समझाल सके। इस वर्ग में नौकरी-पेशा शिक्षक-क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रांति के प्रायः समस्त विचारों का सर्जन मध्यवर्ग में ही होता है।”¹⁰ जिससे यह समझा जा सकता है कि समाज की गतिशीलता में मध्यवर्ग की अपनी अहमियत है। यह वर्ग दक्षता से पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकास-सूत्र को थाम सकता है तथा यह अपनी काबलियत से सृजन और संघर्ष के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की दिशा भी निर्धारित कर सकता है। देखा जाए तो, आधुनिक सभ्यता के विकास और संघर्ष में इस वर्ग की जरूरत सर्वहारा समाज को ज्यादा रहती है बजाय पूँजीपति वर्ग के। पूँजीपति वर्ग इस तथ्य को बेहतर समझता है, इसी कारण यह मध्यवर्ग को लाभ पहुँचाकर उसे सर्वहारा वर्ग से दूर रखने की हर प्रचेष्टा करता है। पूँजीपति वर्ग मध्यवर्ग में अर्थ के प्रति आकर्षण-अनुरक्ति पैदा करता है, ताकि यह वर्ग अपने व्यक्तित्व के क्रांतिकारी परिवर्तनकारी और सर्जक पहलुओं को भूलाकर नवीन पूँजीपति बनने का स्वप्न-आकांक्षा पालता रहे। गौरतलब यह है कि यह वर्ग अपना

जीवन स्वयं भी विडम्बना ग्रस्त बनाता है, क्योंकि यह निम्नवर्ग (सर्वहारा आदि) से अपने को श्रेष्ठ और अलग समझता हुआ अपने मालिक (पूँजीपति) के हितों की रक्षा में जुट जाता है। पर समस्या तब खड़ी होती है जब इस वर्ग में आर्थिक विकास की समझ पैदा होती है। इस बोध के कारण ही जब उन्हें स्वलाभ मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता है तब वह अनेक कुंठाओं का शिकार होता है। उसकी स्थिति दो-राहे पर खड़ी विडम्बनाग्रस्त नजर आती है। उसकी सफलता और सार्थकता के चुनाव की उलझन उसके समूचे व्यक्तित्व और जीवन को संतप्त कर देती है।

उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में उभरा मध्यवर्ग अपने क्रांतिकारी रूप से अनजान बना रहता है। पो. रामचंद्र माली के निम्न कथन में उक्त तथ्य को पढ़ा जा सकता है—
“स्वाधीनता के बाद मूल्यहीनता स्वार्थता, सत्ता लोलुपता तथा भ्रष्टाचार के बढ़ते जाने के कारण उन्नीस सौ साठ तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय समाज सर्वाधिक अनुशासनहीन, विघटित, स्वार्थी एवं अव्यवस्थित बन गया।”¹¹ यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि मध्यवर्ग अपनी वास्तविक स्थिति को ग्रहण नहीं कर पाता है, साथ ही साथ अपनी आकांक्षित स्थिति के लिए नित छटपटाता रहता है। फलतः यह अपनी ही सीमाओं और कुंठाओं में क्रमशः कैद होता जाता है।

इस प्रकार कहा जाए तो स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में मध्यवर्ग की अपनी उलझाव पूर्ण स्थिति के कारण ही व्यापक सामाजिक परिवर्तन की स्थितियाँ नहीं बन पाती हैं। जहाँ सर्वहारा वर्ग अपनी बिखरी शक्ति को संगठित करने हेतु तत्पर हो रहा होता है, वहीं मध्यवर्ग अपनी ही खोल में दुबका रहता है। मार्कण्डेय की स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की कहानियों में सर्वहारा वर्ग की विजय पूर्ण स्थितियों का अभाव तथा उनकी ग्रामेतर संदर्भ की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ स्वरूप यौन समस्याओं आदि विसंगतियों का चित्रण मार्कण्डेय के कहानीकार की उस यथार्थ-दृष्टि को ही प्रतीकित करता है, जो अपने आस-पास के वस्तुगत संदर्भों को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है।

5.3 मार्कण्डेय की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ

मार्कण्डेय की यथार्थ दृष्टि की सम्पूर्णता का ही यह प्रतिफलन है कि उनके ग्रामीण जीवन के यथार्थ के अंकन के समानांतर ग्रामेतर जीवन-संदर्भों की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ का उपस्थापन संभव होता है। उनकी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन का जो पहलू उद्घाटित होता है उसे निम्न शीर्षकों के अंतर्गत विवेचित-विश्लेषित किया जा सकता है।

5.3.1 निस्संगता, अकेलापन और मध्यवर्ग

स्वाधीनता के बाद के परिदृश्य को अगर देखा जाए तो यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में नगरीगत होते समाज में जीवन के अन्यान्य पहलुओं के साथ व्यक्ति के संबंधों में एक व्यापक परिवर्तन लक्ष्य किया जाता है। वैसे, महानगरीय समाज की आपाधापी और यांत्रिकरण में व्यक्ति का निजी दृष्टिकोण सबसे पहले प्रभावित होता है। स्वातंत्र्योत्तर मिली निराशा और मोहभंग के माहौल में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी समाज के साथ बहुसंख्यक आमजन भी व्यापक असंतोष के माहौल में स्वयं को पाता है। इस संबंध में डॉ. ज्ञान अस्थाना का निम्न मत प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है।—“ सच तो यह है कि बीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक निरंतर हमारा समाज परिवर्तनों से गुजरता रहा है। आजादी से पहले हमने एक सपना पाला था बहुत दिनों तक उसके सत्य होने की भ्रमपूर्ण आशा में जीते रहे किंतु जब सपना सच न हुआ और उल्टे नैतिक अवमूल्यन होने लगा तो भारतीय मानस विशेषकर बुद्धिजीवी को गहरा आघात लगा।”¹² दरअसल सच्चाई यह होती है कि सभ्यता के विकास के नैरंतर्य में परिवर्तित जीवन-स्थितियों के चतुर्दिक मध्यवर्ग ही ज्यादा अपने आप को पशोपेश में पाता है। उसका मन स्वीकार-तिरस्कार के दो-राहे पर उलझकर रह जाता है। वैसे भी, मध्यवर्गीय व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा तथा अपनी समझ और बोध उसमें इस भावना को परिपुष्ट करने का कार्य करती है कि वह सामान्य जन से विशेष अस्तित्व रखता है। उसका यही भाव-बोध उसे व्यापक जन समुदाय से अलग कर आत्मकेन्द्रित करने का कार्य करता है। डॉ. वासुदेव शर्मा के निम्न मंतव्य में उक्त तथ्य की संपुष्टि देखी जा सकती है—“आज वैज्ञानिक तकनीकी के विकास के युग में बढ़ती व्यक्ति चेतना के कारण व्यक्ति बौद्धिक होता गया है। शिक्षा ने भी उसमें घी का काम किया है कि व्यक्ति ज्यो-ज्यों शिक्षित होता गया, त्यो-त्यो वह आत्म केन्द्रित तथा सीमित होता गया।”¹³

मध्यवर्गीय जीवन बोध में समाविष्ट आधुनिकता बोध भी उसे अपने आस-पास के रिश्तों और संबंधों से अलग कर उसके अंदर एक निःसंगता बोध को जन्म देता है। इसका यह कारण भी है कि वह प्राप्य स्थितियों को असंगत समझता है। उसे प्रतीत होता है कि उसका अस्तित्व संकटग्रस्त हो सकता है। वह स्थितियों के साथ संघर्ष करने के बजाय अपनी असफलता, हार और असंतोष में ही गुम हो जाता है। प्रो. रामचंद्र माली का निम्न मंतव्य यहाँ प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है—“इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिकीकरण के कारण मानवीय जीवन एवं संबंधों में

परिवर्तन आए हैं, इसलिए मनुष्य अकेलापन, उदासीनता, रिक्तताबोध, अजनबीपन, व्यस्तता, अलगाव, घुटन आदि का अनुभव कर रहा है। वैज्ञानिक सभ्यता के इन परिणामों के आगे उसने घुटने टेक दिए हैं। महानगरीय संबंधों में व्यक्ति तनाव महसूस कर रहा है। अपने अस्तित्व को बचाने की कोशिश में वह यांत्रिकी के भयावह ताण्डव में गुम गया है तथा भीड़ में अकेला रह गया है। रिश्तों और संबंधों से कटकर घुटन महसूस कर रहा है तथा भीषण संकट बोध को भोग रहा है। मानव पीड़ा के इस भोग का जन्मदाता वह स्वयं है।¹⁴ जिसका कहने का अभिप्राय यह है कि मध्यवर्ग को अपनी असफलता, हार, जीवन संकट आदि का भय इतना व्यथित करता है कि वह अपने को निस्संग कर अकेलेपन की पीड़ा को भोगने हेतु अभिशप्त हो जाता है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की ग्रामतेर संदर्भ की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन का निःसंगता-बोध और अकेलापन भली-भाँति चित्रित हुआ है। इस संबंध में सबसे पहले उनकी 'लंगड़ा दरवाजा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। आलोच्य कहानी स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में मध्यवर्गीय व्यक्ति के निस्संग बने रहने की तस्वीर प्रस्तुत करती है। इस कहानी में मध्यवर्गीय जीवन बोध का वह चिर-परिचित पहलू भी दृष्टिगोचर होता है, जहाँ व्यक्ति अपनी वैयक्तिक इच्छाओं-समस्याओं को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने की आपाधापी में संलग्न रहता है। मार्कण्डेय का कहानीकार उक्त सच को व्यंग्यात्मक तरीके से उजागर करता है—“लोगों में होड़ मची है। दुख को जितना भी फैलाया जा सकता है लोग फैला रहे हैं। उसकी गहराई को कुशल रसोइए की तरह चकले पर रख रोटी की तरह बेल कर उथला कर रहे हैं।”¹⁵ इस कहानी का प्रमुख पात्र 'मैं' एक मध्यवर्गीय व्यक्ति है, जो अपने दुःखों को बढ़ा कर देखता हुआ उसी में अंतर्केंद हो जाने की ओर प्रवृत्त होता है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि वह अपने चतुर्दिक समाज तथा उसकी सच्चइयों से क्रमशः पृथक होता जाता है। उसे अपने आस-पास का समाज-संसार भंयकर प्रतीत होता है और घृणास्पद भी—“लोगों की बातों में मेरी कोई पैठ नहीं रह गयी है इसलिए जब वह सहसा गाँव से मुंशी मनोहर लाल के आने की बात कहती है तो मैं तिलमिला उठता हूँ।”¹⁶ यहाँ कहानीकार का वह संकेत समझा जा सकता है, जहाँ 'मैं' अपने दुःखों-समस्याओं से बाहर कुछ देखना नहीं चाहता है। इस कहानी में 'मैं' अपने बेटे की मृत्यु से दुःखी रहता है। यह दुःख उसे सामाजिक जीवन से दूर ले जाती है। वह अपने को अकेला पीड़ित और दुःखी समझता हुआ सामाजिक जीवन और संसार से निस्संग हो जाता है। वह अपने दुःख की अतल गहराइयों में अपने

समक्ष एक भयंकर संसार की फैंटेसी करता है, जिसमें स्वयं को वह जकड़ा हुआ अनुभव करता है—“...बहुत साहस के बाद जब फिर आँखें खुली तो देखता हूँ सूली पर खुद मरी ही लाश टंगी हुयी है। मुँह से खून की पहली धार फूट चली है और मेरी जीभ बाहर को निकल आयी है। नीचे कोई डुग्गी बजा कर जोर-जोर से पुकार रहा है...इस आदमी की हथेली के नीचे बच्चे मरते हैं।”¹⁷ उसकी यह जकड़न तब खुलती है, जब वह कहानी के ही एक अन्य पात्र मुंशी मनोहर लाल से मिलता है। मुंशी मनोहरलाल ‘मैं’ को जीवन का दूसरा फलक दिखलाते हैं। मुंशी जी के भी इकलौते पुत्र की मृत्यु हो चुकी होती हैं तथापि वे इस मृत्यु से उपजे दुःख से जड़ नहीं होते हैं, जैसा कि आलोच्य कहानी का ‘मैं’ होता है, बल्कि वे अपने पुत्र की मृत्यु के बावजूद भी एक नई शुरुआत करते हैं। वे संगीत विशारद की परीक्षा देते हैं तथा उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आगे के जीवन को कर्मवत बनाए रखने हेतु नौकरी की तलाश में संलग्न हो जाते हैं। इसी संलग्नता की कड़ी स्वरूप उनका ‘मैं’ के घर आगमन होता है। प्रस्तुत कहानी का ‘मैं’ उनकी जिंदगी के प्रति होने वाली रवानगी को देखकर हतप्रभ भी होता है—“वह अब एकदम सहज स्वर में थोड़ा जोर देकर बोल रहा था और कुछ ऐसी कोशिश कर रहा था जिससे मैं बातचीत में शरीक हो जाऊँ लेकिन मैं उसे देख रहा था और संदेह कर रहा था। क्या यह एक ऐसा आदमी है जिसका अकेला लड़का इसी महीने मरा है...”¹⁸ यहाँ कहानीकार ‘मैं’ के निस्संग व्यक्तित्व के समानांतर मनोहर लाल के रूप एक ऐसे चरित्र को रखता हैं, जो जीवन के प्रति सृजनात्मक एवं क्रियात्मक सोच रखता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि इस कहानी के माध्यम से यह दिखलाने की चेष्टा करती है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी निस्संगता और अकेलेपन से तभी निकल सकता है, जब वह वैयक्तिकता के पार देखने की चेष्टा करता है। आलोचक सुरेन्द्र चौधरी के निम्न मंतव्य में मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि में निहित मध्यवर्गीय जीवन बोध के यथार्थ के उद्घाटन का महत्त्व कुछ इस प्रकार प्रकाशित होता है—“कहानी एक पुरा कथा के अभिप्रायः से शुरू होती है। ...पुराकथा के भीतर से अचानक एक सम्पूर्ण दुःखगीत जन्म लेता है। मगर उस पर एक यथार्थ हावी है— मृत्यु की वर्तमानता और जीवन के अंतर्विरोध से उत्पन्न यथार्थ।... यह यथार्थ काफी त्रासद होता है। वह धीरे-धीरे दुःख पर विजयी हो जाता है। निर्वैयक्तिक परिस्थितियों की विजय।”¹⁹ मार्कण्डेय की कहानी ‘लंगड़ा दरवाजा’ न सिर्फ मध्यवर्गीय जीवन में समाविष्ट

निस्संगता बोध और अकेलेपन की गंभीर पड़ताल करती है, बल्कि उसे सृजनात्मक अर्थ देने का भी संकेत करती है।

देखा जाए तो मध्यवर्गीय जीवन में समाविष्ट निस्संगता बोध और अकेलेपन के लिए केवल इस वर्ग के लोगों की अपनी दुःख-समस्याओं में अंतर्केंद होने की मानसिकता या वस्तुस्थिति से घबराकर पलायन कर जाने वाली सोच ही जिम्मेदार नहीं होती है, बल्कि उनका जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण भी उन्हें संघर्ष-क्षेत्र से दूर ले जाकर उन्हें उनके स्वयं के सिरजे काल्पनिक संसार में छोड़ देता है। इस सच्चाई को मार्कण्डेय की 'आँखें' कहानी में देखा जाता है। इस कहानी में मध्यवर्गीय पात्र को उनका रोमांटिक भावबोध उन्हें सामाजिक जीवन संघर्ष से दूर ले जाता है। इस कहानी के नरेश और वीरा, दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं। नरेश के जीवन का वृत्त वीरा के चतुर्दिक ही चक्कर काटता है। वह वीरा के प्रति अपनी चाहत में ही अपने जीवन की इति समझता है। दरअसल उसकी यह चाहत उसे सामाजिक और सृजनात्मक-क्रियात्मक होने के बजाय उसे एक काल्पनिक दुनिया में अंतर्केंद करती है, जो उसकी स्वयं की ही निर्मिति होती है। जिसका परिणाम यह होता है कि नरेश सामाजिक कर्म-क्षेत्र में आने से घबराता है—“वैसे वह पुस्तकालय जाता है, चाय और कहवाघरों में भी चक्कर लगाता है पर कुछ देर बाद ही जैसे उसकी नसों में बँधी अमूर्त डोर उसे उस कोठरी में खींचने लगती है, वह उठ खड़ा होता है ओर अपनी टूटी बाइसिकिल खड़खड़ाता कोठरी में आ घुसता है।”²⁰ यहाँ उस संकेत को स्पष्ट समझा जा सकता है, जो यह कहता है कि नरेश के लिए कोठरी ही उसकी समूची दुनिया है तथा वीरा के प्रति होने वाली उसकी चाहत ही उसके जीवन की इति। कहानीकार मार्कण्डेय मध्यवर्गीय पात्र की उक्त मनोदशा को नरेश के जरिए कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—“कभी-कभी तो नरेश को लगता है कि हर ईंट एक वीरा है और हर वीरा एक ईंट-नरम-कड़ी, लाल-भूरी और कच्ची-पक्की। फिर उसका सिर चक्कर खाने लगता है, और कोठरी की सारी ईंटे एक ऐसी भँवर का हिस्सा बन जाती हैं, जिसके निचले बिंदु-वृत्त में वह मुड़-तुड़ कर एक गठरी-सा बन जाता है और वीराओं का एक बड़ा-सा अम्बार उसके शरीर पर लद जाता है और उसकी रीढ़ की हड्डी चरमराकर टूट जाती है।”²¹

स्पष्ट है कि यहाँ कहानीकार का तात्पर्य मध्यवर्गीय पात्र के सामाजिक जीवन से निस्संग बने रहने के पीछे उस कारण को दिखलाना है, जो मध्यवर्गीय व्यक्ति को जीवन को रोमांटिक

तरीके से देखने की ओर प्रवृत्त करता है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि नरेश जैसा मध्यवर्गीय व्यक्ति समाज को वस्तुपरक ढंग से नहीं देखता है और समाज की गति और संघर्ष से अनजान बना रहता है। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि इस कहानी के एक अन्य पात्र के माध्यम से उक्त मध्यवर्गीय सोच और बोध की आलोचना करती है –“ ...क्योंकि संतोष की समझ में उसके पास आँखें नहीं थीं। वह अक्सर कहता है, आज-कल के लड़के अंधे हैं। वे ठीक से चीजों को देखने-समझने की कोशिश ही नहीं करते? वर्ना मुश्किल क्या है इस दुनिया में?”²² वैसे यह सच भी है, जीवन के सामाजिक क्षेत्र में दृढ़तापूर्वक प्रवेश करने के बाद हर मुश्किल राह आसान हो जाती है। किंतु, इसके लिए व्यक्ति को वैयक्तिक दुःखों, चाहतों और स्वयं की सीमाओं से सिरजी हुई दुनिया से बाहर निकलना आवश्यक होता है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'सतह की बातें' में भी मध्यवर्गीय निस्संगता बोध और अकेलेपन का पहलू को चित्रित होता है। आलोच्य कहानी में यह देखा जाता है कि मध्यवर्गीय जीवन में यह सोच समायी हुयी रहती है कि, जीवन के सारे प्रश्न बैठकों में, बहस-मुबाहिसों में ही हल हो जाते हैं, जो उसकी जिंदगी का अभिन्न हिस्सा होते हैं। वैसे, यह ठीक भी है कि मध्यवर्ग बुद्धिप्रधान होने के नाते जीवन और समाज के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करता है, उस पर अपनी राय-प्रतिक्रिया भी जाहिर करता है, जो उसकी सामाजिक सृजनात्मकता को ही दर्शाता है। किंतु तब, जब वह अपने विचार को एक रचनात्मक -क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। और ऐसा तभी संभव हो पाता है जब वह बैठक बहस-मुबाहिसों की जिंदगी से बाहर निकलकर सामाजिक संघर्ष-क्षेत्र में उतरता है। 'सतह की बातें' कहानी में मध्यवर्गीय पात्रों की कॉफी हाउसों में नित्यप्रति उपस्थिति तथा वहाँ होने वाली चर्चा-परिचर्चा के बाद अपनी राह पकड़ लेने वाली जीवन-शैली के माध्यम से मार्कण्डेय उक्त सच की ओर संकेत करते हैं। यही नहीं, वे इस कहानी में यह भी दिखाते हैं कि मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी इच्छा-चाहत में प्राप्त निराशा से कुंठित होकर सामाजिक जीवन से निस्संग हो अंतर्मुखी जीवन जीने को बाध्य होता है। मार्कण्डेय उक्त सच को कहानी के ही अन्य पात्र कांत के माध्यम से कहलवाते हैं। कांत ललित की सामाजिक निस्संगता पूर्ण जीवन का चित्र कुछ इस प्रकार रखता है –“बेशक साहब, मैं उसे जानता हूँ और शायद उतना जितना आप भी न जानते होंगे। बहुत सारे लोग उसे जानते हैं पर वह किसी को नहीं जानता। मैं तो उससे घंटों बातें करके देख चुका हूँ। लेकिन अगर अभी पूछें तो कहेगा,

“आप...! आप का पहचाना नहीं मैंने!”²³

इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन में समाए निस्संगता बोध और अकेलेपन को विभिन्न कोण से देखती हैं। जहाँ, यह भली-भांति उजागर होता है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति की अपने स्व की सीमा में कैद रहने की वैयक्तिकता, अपने दुःख-समस्या को ओढ़े रहने की मानसिकता, अपनी रोमानी काल्पनिक दुनिया में वास्तविक-संसार की वस्तुपरकता से घबराकर बार-बार शरण लेने की लिजलिजाहट तथा सामाजिक जीवन की समस्या पर अपनी राय-प्रतिक्रिया व्यक्त करने के उपरांत अपनी सामाजिक उपस्थिति तथा कर्तव्य की इति समझ लेने की सोच आदि ही उसे सामाजिक जीवन से निस्संग कर अकेलेपन की पीड़ा को भोगने हेतु संतप्त करती है।

5.3.2 व्यक्तित्व का दोहरापन और मध्यवर्गीय जीवन

भारतीय सामाजिक-संरचना पर अगर दृष्टिपात किया जाए तो यह देखा जाता है कि मध्यवर्ग की स्थिति बिल्कुल अलहदा है। यह अपने ऊपर के वर्ग यानि, उच्च वर्ग के साथ अपनी समानता की चाहत रखने के बावजूद भी उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता है तथा अपने नीचे के वर्ग यानि, निम्नवर्ग के साथ कमोवेश समान स्थिति में होने के बावजूद भी अलग विशिष्ट स्थिति को प्राप्त करने हेतु छटपटाता रहता है। कहने की बात नहीं है कि यहीं से उसके व्यक्तित्व में दोहरापन शामिल हो जाता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति के वास्तविकता में ‘होने’ तथा दिखने में एक बड़ा फासला होता है। इसका जीवन अंदर कुछ बाहर कुछ और के सिद्धांत से परिवेष्टित रहता है। इसका बाह्य व्यक्तित्व जिसमें उसका आप्तवचन, उसकी वेश-भूषा तथा उसका हाव-भाव समाहित रहता है, उसके आभ्यांतर व्यक्तित्व से अलग होता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने इस आभ्यांतर व्यक्तित्व को स्वयं के भीतर ही सुरक्षित-संरक्षित रखने की बलपूर्वक चेष्टा करता है, क्योंकि वह समाज तथा उसकी नैतिकताओं तथा सामाजिक व्यवहार की संगति से बिल्कुल जुदा होता है।

उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण एवं नागरीकरण की प्रक्रिया में विकसित मध्यवर्ग का व्यक्तित्व भी दोहरापन से पूर्ण होता है। जैसा पूर्वोक्त है कि स्वातंत्र्योत्तर पूँजीवादी आर्थिक-व्यवस्था और विकास में मध्यवर्ग की अपरिहार्यता सर्वत्र दिखयी देती है। यह वर्ग ही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सूत्र थामें पूँजीवादी लोगों की रक्षा हेतु संलग्न रहता है, जबकि पूँजीवादी समाज इसमें लोभ पैदा करता है। उसे नवीन पूँजीवादी या उच्च वर्गीय बनने

के स्वप्न दिखाता है तथा उसे निम्न वर्गीय लोगों से पृथक रखने की हर संभव कोशिश करता है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि यह वर्ग कभी उच्च वर्ग (पूँजीपति वर्ग) की ओर खिंचता है तो कभी निम्नवर्ग (सर्वहारा वर्ग) की ओर। इसकी स्थिति त्रिशंकु की भाँति होती है जो इसके व्यक्तित्व को भी दोलायित किए हुए रहती है।

मार्कण्डेय का कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय व्यक्तित्व के उक्त दोहरेपन को बड़ी बारीकी से लक्ष्य करता है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम उनकी 'आदर्शों का नायक' कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति (मध्यवर्गीय) एक ही स्थिति में अपने लिए कुछ मानक तय करता है, जबकि दूसरों के लिए कुछ और। यही नहीं, वह एक ही स्थिति में अपने लिए बाह्य-आभ्यांतर स्तर पर अलग-अलग विचार-मूल्य निर्धारित करता है। प्रस्तुत कहानी का पात्र जोगेन्द्र सिंह ऐसा ही मध्यवर्गीय व्यक्ति है। वह एक उच्च अधिकारी है, जो अपनी बेटी (स्त्री) के रूप-सौंदर्य, स्वतंत्रता, शैक्षणिक अर्हता-योग्यता और कार्य-कुशलता आदि को सभा-समाज के समक्ष भुनाकर स्वयं को एक प्रगतिशील व्यक्तित्व तथा एक आदर्श पिता कहलवाने की हर संभव कोशिश करता है; उसका हर समय दंभ भरता है—“बड़ी बधाइयाँ मिली थीं मुझे दीक्षान्त समारोह के दिन। वह महिमा तो कहने लगी कि ऐसी बेटियों पर स्त्री जाति का भविष्य निर्भर है।... कितना गर्व होता है मुझे जब मैं कभी उसे ले कर दावतों में जाता हूँ। लोग देखते ही रह जाते हैं मेरी सविता को। और सलीका! क्या कहना है मेरी सविता का। मेज पर बैठेगी तो लगेगा सात पुश्त से काँटे-चम्मच से ही खाया जाता है मेरे घर में। बोल तो ले कोई अंग्रेजी मेरी बच्ची के सामने।”²⁴ पर वास्तविकता में, वह एक अलग ही पिता एवं व्यक्ति की छवि रखता है। जिसे अपनी बेटी (स्त्री) का सहज-स्वच्छंद व्यवहार तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता है। यही नहीं, एक पिता के रूप में वह अपनी बेटी की आकांक्षाओं, भावनाओं, सपनों-खुशियों और अहसासों की तनिक भी फिक्र नहीं करता है—“दुष्ट लड़की कहीं की! बाप की मर्यादा का भी ख्याल नहीं तुझे। इतना ही सोचा होता कि मैं कितना ऊँचा अधिकारी हूँ। मेरी समाज में इज़्जत है चार आदमी जानते-मानते हैं।... इसकी माँ ठीक ही कहती हैं कि जवान लड़की को इतनी आजादी नहीं देते। हर जगह ले कर घूमते नहीं, हर जगह जाने की छूट नहीं देते।”²⁵ जिससे जोगेन्द्र सिंह के रूप में मध्यवर्गीय व्यक्ति के व्यक्तित्व में समाया दोहरापन सहज ही जाहिर होता है। यहाँ उनके बाह्य-आभ्यांतर चरित्र का अंतर मध्यवर्ग के जीवन में व्याप्त खोखलेपन

को दर्शाता है।

इसी तरह व्यक्तित्व में व्याप्त खोखलापन उनकी एक अन्य कहानी 'वासवी की माँ' के मध्यवर्गीय चरित्र में भी लक्ष्य किया जा सकता है। इस कहानी की वासवी का पिता कुछ ऐसा ही चरित्र है। जिसकी समाज के समक्ष जो छवि होती है वह उसके वास्तविक चरित्र से पूरी तरह अलग होती है। उसकी बाह्य छवि एक साहित्य-प्रेमी, कला-अनुरागी तथा विचारवान बुद्धिजीवी की होती है। एक अच्छे पति और पिता की भी। पर असल में, जो उनका वास्तविक व्यक्तित्व होता है उसे समाज नहीं, बल्कि उसकी पत्नी तथा उसके घर की नौकरानी सीता को मालूम होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि बाह्य रूप से सभ्य-सौम्य और विचारवान दिखने वाला व्यक्ति अपने अंतर्जगत में यौन-ग्रंथियों का शिकार होता है। दिन के उजाले में अपने को एक आदर्श पति दिखलाने वाला व्यक्ति रात के अँधेरे में अपनी स्वयं की पत्नी को पर-पुरुष के आगे परोस देने में भी किंचित नहीं हिचकिचाता है। प्रस्तुत कहानी में वासवी की माँ का सीता को कहा गया निम्न कथन उसके पति (मध्यवर्गीय व्यक्ति) के खोंखले व्यक्तित्व को कुछ इस प्रकार प्रकाशित करता है—

“वह बड़ी भयानक रात थी वासवीं!... दोनों घुटनों के बीच, सिर गाड़े वे फफक-फफक कर रो रहीं थीं।... जब मैंने बहुत जिद की तो उन्होंने सिर ऊपर करते हुए कहा, आरती का दीपक बुझ गया सीता!... गंगा का पानी इतना गंदला हो गया कि तुम उसे अब छू भी नहीं सकती... 'इसकी माँ तो मर गयी, सीता! हाँ, सच मानो, आज ही रात में, आज ही रात में, इसी, अँधेरे में उसे पिशच उठा ले गए। वह मरती नहीं, उसको तो जीने में विश्वास था, पर पिशाचों ने धोखे से उसे मारा।”²⁶

जिससे यह स्पष्ट समझा जा सकता है व्यक्तित्व का दोहरापन तथा उसे परिचालित-संचालित करने वाली यौन-कुंठा न सिर्फ एक पत्नी(स्त्री) को छलती है, बल्कि समाज के सम्मुख एक व्यक्ति को भी खोंखला साबित कर देती है। यहाँ एक कलानुरागी, साहित्य-प्रेमी मध्यवर्गीय व्यक्ति के भीतर छिपी असलियत के बहाने मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों को दर्शाते हुए अपनी उस यथार्थ-दृष्टि को ही प्रतीकित करते हैं, जो वस्तुस्थिति को सम्पूर्णता में पकड़ने की चेष्टा करती है।

अतः यह स्पष्ट है कि मध्यवर्गीय जीवन की दिशाहीनता एवं विसंगति के लिए उसके व्यक्तित्व की असंगति जिम्मेवार नज़र आती है। मार्कण्डेय की उक्त कतिपय कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन के इस यथार्थ को पूरी सक्षमता से उज्जीवित करती हैं।

5.3.3 स्त्री और मध्यवर्ग

यह सर्वविदित है कि नारी परिवार और समाज की रीढ़ होती है। इस कारण भी उसकी स्थिति सामाजिक संरचना के अंतर्गत श्रेष्ठ मानी जानी चाहिए, किंतु वास्तविकता ठीक इसके उलट है। सदियों से, भारतीय समाज में नारी की स्थिति दयनीय रही है। धर्म, परंपरा, नीति-विधान की आड़ में उसकी स्वतंत्रता, समाज में पुरुष से उसकी समानता के मुद्दे को बार-बार दबाने का प्रयास होता रहा है। इस संदर्भ में, डॉ. वी.पी. चौहान लिखते हैं—“समाज के सारे नीति-नियम, धर्म-कानून व प्रतिबंध केवल नारी के लिए बने हुए हैं। परिणामस्वरूप भारतीय समाज में नारी अनेकानेक समस्याओं से ग्रस्त रही है। एक ओर पुरुषों को स्वच्छंद जीवन भोगने के लिए अनेक सामाजिक सुविधाएँ उपलब्ध रहीं, दूसरी तरफ नारी घर की कारा में बंद, पुरुषों के हाथ की कठपुतली बना दी गई। प्राचीन धर्मशास्त्रों ने तो यावज्जीवन पुरुषाधीन कर नारी-जीवन को अभिशापित-सा बना दिया। समाज तथा परिवार में नारी को पुरुषों की तुलना में हेय समझकर उन्हें समानाधिकारों से वंचित रखा गया।”²⁷ जिसका कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक संरचना में स्त्री सदा हीन समझी जाने के कारण शोषित होती रही है।

उल्लेखनीय है कि वर्गों में विभक्त, आर्थिक-सामाजिक विषमता से ग्रस्त सामाजिक संरचना में स्त्री की अवस्था ज्यादा दयनीय है, क्योंकि स्त्री हर वर्ग में पुरुषों द्वारा शोषित होती आई है। डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी के निम्न मंतव्य को उक्त संदर्भ में पढ़ा जा सकता है—“सामाजिक विषमता का मूल आधार है आर्थिक विषमता। इस विषमता का शिकार मुख्यतः निम्न-मध्य वर्ग और निम्न वर्ग हो रहा है। किंतु नारियाँ तो सभी वर्गों की शोषित हैं।”²⁸ जिससे यह समझा जा सकता है कि स्त्री हर वर्ग के द्वारा प्रपीड़ित होती है। मध्यवर्ग स्त्री के पति जो मानसिकता रखता है, वह दोहरा मानदण्ड ही है। इस वर्ग के पुरुषों का स्त्री के प्रति होने वाले नजरिये के माध्यम से भी मध्यवर्गीय संस्कार की उन कमजोरियों से अवगत हुआ जा सकता है, जो उसे सामाजिक जीवन के संघर्ष और परिवर्तन के मध्य आने से संशकित किए हुए रहती है। यहाँ इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की कहानियों का प्रमाणस्वरूप जिक्र किया जा सकता है।

यहाँ सर्वप्रथम मार्कण्डेय की कहानी ‘मिस शांता’ का उल्लेख स्वाभाविक लगता है। आलोच्य कहानी में स्त्री के प्रति मध्यवर्गीय संस्कार-बोध का वह चेहरा उभर कर आता है, जो कहीं परंपरागत दिखता है तो कहीं दोहरा-मानदण्ड को प्रतीकित करता हुआ। प्रस्तुत कहानी की मिस

शांता मध्यवर्ग की एक शिक्षित आत्मनिर्भर एवं आजाद खयाल की नारी है। जिसे परंपरागत संस्कारों से ग्रस्त मध्यवर्गीय पुरुष (बरोरा) एकबारगी स्वीकार नहीं कर पाता है। वह मिस शांता के स्वतंत्र और अकेले रहने की स्थिति को बिल्कुल बर्दास्त नहीं कर पाता है, क्योंकि वह स्त्री को उस परंपरागत रूप में देखता है, जो स्त्री को घर की चहारदीवारी की शोभा समझता है। वह इसी कारण मिस शांता के बारे में जो धारणा बनाता है, वह वस्तुस्थिति का उचित संज्ञान लिए हुए नहीं होता है, बल्कि उसकी अपनी कल्पना द्वारा गढ़ा हुआ होता है। दिलचस्प बात तो यह होती है कि वह अपनी काल्पनिक धारणा को दूसरों के समक्ष एक गहरे सच के रूप में जाहिर करता है—“यही यार! कि उसे अनेकों से सम्पर्क रखने में कोई संकोच नहीं। वह आदी है। उसके जीवन का पहला विश्वास ही यही था।’ ...“अपने अठारहवें वर्ष में यह एक ऐसे लड़के के चक्कर में फँस गयी, जिसके लिए यह और उसका एक मित्र एक ही से थे।”²⁹ जिससे यह समझा जा सकता है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति स्त्री की जो छवि प्रस्तुत करता है, उससे यही संकेतित-ध्वनित होता है कि मिस शांता, ऐसी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनके जीवन में घर, परिवार, पुरुष और समाज के प्रति कोई एकनिष्ठता की भावना नहीं होती है।

किंतु, आलोच्य कहानी से पूरी तरह गुजरने के उपरांत देखा जाता है कि वस्तुस्थिति कुछ और ही है। मिस शांता कहानी के ‘मैं’ के परिवार के प्रति जो सद्भावना, समर्पण और त्याग प्रदर्शित करती है वह उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व और आजाद खयाल वाली स्त्री-छवि को सम्पूर्णता प्रदान करती है—“एक दिन सुबह मैं सोकर उठा ही था कि बाहर बरामदे में शांता और खंजन की फुसफुसाहट सुन पड़ी... मैं बिस्तर से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे चौक की ओर गया, तो शांता दूध का गिलास और अण्डे लेकर पत्नी को देने जा रही थी।”³⁰ यहाँ देखा जाए तो मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि बरेरा जैसे पात्र के माध्यम से मध्यवर्गीय पुरुष की दकियानूसी सोच से ग्रस्त उस निगाह को दर्शाती है, जो नारी के स्वाधीन और आत्मनिर्भर छवि को सहजता से स्वीकार करने में असमर्थ दिखती है। पर, यही पुरुष उसके साथ घूमना चाहता है, मौज-मस्ती करना चाहता है, उसकी खुली देह को भोगना चाहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मध्यवर्गीय जीवन-बोध में समायी पितृसत्तात्मक सोच के कारण नारी शोषित-पीड़ित-लांछित होती है। यही सोच मध्यवर्गीय जीवन को प्रतिगामी बनाती है, वस्तुस्थिति से दूर ले जाती है।

उल्लेखनीय है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति (पुरुष) नारी को उसकी सम्पूर्णता में समझने का

दावा बराबर करता है पर हकीकत में समझ नहीं पाता है। उसका बौद्धिक कोरापन नारी की सतही व्याख्या ही कर थम जाता है। मार्कण्डेय मध्यवर्गीय जीवन के उक्त बोध को उस कलाप्रेमी लेखक-व्यक्तित्व के माध्यम से दिखलाने की कोशिश करते हैं, जो नारी से संबंधित जीवन को सम्पूर्णता में चित्रित करने दावा करता है। पर हकीकत में, वह उसकी भावनाओं को समझ नहीं पाता है। मार्कण्डेय की 'एक दिन की डायरी' कहानी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। आलोच्य कहानी में लेखक (पात्र) शील नामक एक स्त्री से परिचित रहता है, वह भी उससे परिचित-प्रभावित रहती है। शील के मन में उसके प्रति प्रेम-भाव रहता है जिसे लेखक नहीं समझ पाता है और शील संकोचवश कह नहीं पाती है। एक दिन, शील लेखक को अपने घर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने हेतु बुलाती है, पर लेखक नहीं आता है। उसी दिन से शील की जिंदगी दूसरी ओर मुड़ जाती है। उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हो जाता है, जिसके साथ वह खुश नहीं रह पाती है, क्योंकि वह अपने हृदय में लेखक के प्रेम को बसाए रखती है। उसके अत्यंत गंभीर और मौन रहने के स्वभाव का पता उसके पति को उसकी डायरी पढ़ने के बाद होता है। पति उसके प्रेम को जानने के बाद उसे अपने जीवन से परित्यक्त कर देता है और वह समाज में एक परित्यक्ता बन कर रह जाती है। यहाँ मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि यह दिखलाना चाहती है कि समाज में अपनी पहचान एक लेखक के रूप में बनाने वाला मध्यवर्गीय व्यक्ति, जो अपनी बौद्धिकता के सहारे कोरे कागज पर नारी-जीवन का चित्रण तो कर जाता है पर उसके प्रेम की गहराई को नहीं समझता है। वह शायद समझना नहीं चाहता है, वस्तुस्थिति का सामना करने के बजाय वहाँ से भाग खड़ा होता है।

गौरतलब है कि मध्यवर्गीय संस्कारों से ग्रस्त पुरुष नारी से प्रेम तो करना चाहता है, छिप-छिप कर करता भी है, पर समाज के समक्ष उसे स्वीकार करने या उस प्रेम का उत्तरदायित्व लेने से घबराता है। उसके भीतर बैठा कायरता बोध (मध्यवर्गीय संस्कार) उसे वस्तुस्थिति से पलायन करने को बाध्य करता है। मध्यवर्गीय संस्कार को प्रतीकित करने वाला यही कायरता बोध, व्यक्ति को सामाजिक जीवन के संघर्ष और परिवर्तन से दूर ले जाता है। यहाँ मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'माही' का भी जिक्र किया जा सकता है जिसमें मध्यवर्गीय संस्कार के रूप में व्यक्ति का कायरता बोध स्पष्ट रूप में उद्घाटित होता है। आलोच्य कहानी में माही नाम की एक लड़की अपने प्रेमी प्रीतिश को समर्पण की हद तक चाहती है, पर प्रीतिश उसके प्रेम को जानते-समझते हुए भी उससे उदासीन बना रहता है। और एक दिन, वह एक ग़ैर जिम्मेदार व्यक्ति की भाँति अपने प्रेम

का उत्तरदायित्व निर्वाह करने से घबराकर भाग जाता है। वह एक पत्र के जरिये इसकी सूचना देता है –“इसलिए अब कभी नहीं लिखूँगा, मेरी अंतरंग! तुम्हें कष्ट देना मुझे जरा भी प्रिय नहीं। मुझे न लिखना, पत्र नहीं मिलेंगे। मैं कहीं बाहर जा रहा हूँ और यह भी तय नहीं कि कब तक लौटूँगा... अलविदा...।”³¹ जिसमें यह समझा जा सकता है कि मध्यवर्गीय संस्कार से ग्रस्त पुरुष चुनौतियों का सामना करने से घबराता है। उसका कायरता-बोध उसे प्रभावित-परिचालित करता है। इस कहानी में मध्यवर्गीय संस्कार के उक्त सच को मार्कण्डेय प्रीतिश की निम्न स्वीकारोक्ति के माध्यम से कुछ इस प्रकार दर्शाते हैं—“मैं जानता हूँ कि अब हमारा प्यार एक ऐसी सच्चाई बन गया है, जो हमारे झुठलाने की सीमाओं से पार हो गया है। अब कोई बड़ी-सी बड़ी बाधा भी हमारे मन को मोड़ पाने में असमर्थ है। फिर भी मैं अशक्त और बेचैन हो उठा हूँ। वैसे तुम्हारा प्यार मेरे जीवन का सहारा बना हुआ है, पर उस सहारे में कमजोरियों के ऐसे भयानक कीटाणु छिपे हैं, जो मेरे मन को निरंतर कटु बनाते जा रहे हैं...मैं खूब समझता हूँ, पर उससे मुक्त हो पाना मेरे अपने बूते के बाहर की चीज़ है।”³²

इस प्रकार कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री के प्रति पुरुषों की सोच के माध्यम से मध्यवर्गीय उन संस्कारों को दर्शाने की चेष्टा करती हैं, जो मध्यवर्गीय व्यक्ति को सच्चाई का सामना करने के बजाय उससे दूर ले जाता है। उसका स्त्री के प्रति होने वाला दोहरा मापदण्ड उसे बरेरा (कहानी के पात्र) की भाँति जीवन में दिशाहीन बनाता है तो उसका बौद्धिक कोरापन और नारी-जीवन को सम्पूर्णता में जानने की कवायद उसे वस्तुस्थिति को समझने में अक्षम सिद्ध करता है, तो कहीं, उसके भीतर का कायरता-बोध उसे सामाजिक चुनौतियों और प्रश्नों से दूर ले जाता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय संस्कारों के जरिए स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ को रेखांकित करती हैं।

5.3.4 मध्यवर्गीय जीवन और दाम्पत्य संबंध: वैवाहिक विडम्बना का संदर्भ

पूर्वोक्त है कि स्वतंत्रता उपरांत औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में, जो तीव्र शहरीकरण होता है, वहाँ द्रुत परिवर्तन देखा जाता है। इसी शहरीकरण की प्रक्रिया में, जो आधुनिकीकरण होता है, वहाँ ‘स्व’ तथा ‘अर्थ’ तत्त्व की प्रधानता हो जाती है। ‘स्व’ तथा ‘अर्थ’ तत्त्व की जीवन में प्रधानता संबंधों, मूल्यों और नैतिकताओं को लेकर एक नए बहस को जन्म देती है। जिसका नतीजा इस रूप में होता है कि परिवार और समाज की संरचना में एक विघटन की प्रक्रिया स्वाभाविक हो जाती

है। एक ओर, सदियों से चला आया पारंपरिक पारिवारिक ढाँचा (संयुक्त परिवार का) बिखरकर पति-पत्नी तक सीमित होने लगता है, तो दूसरी ओर, पति-पत्नी के दाम्पत्य संबंध में तनाव की सृष्टि होती है, जो वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना का रूप देती है। इसका प्रमुख कारण पति-पत्नी का अपने-अपने 'स्व' को लेकर अति-सजगता होती है। उनका व्यक्ति स्वातंत्र्य भी होता है। डॉ. अमर सिंह बधान उक्त कारण को कुछ इस प्रकार ज़ाहिर करते हैं—“व्यक्ति स्वातंत्र्य के इस जमाने में हर स्त्री-पुरुष अपने-अपने अस्तित्व के प्रति अतिरिक्त सजग है, अस्तित्व को आत्मसात करने वाली स्थिति से पुरुष किसी भी शर्त पर समझौता नहीं कर पाता है।”³³ यही नहीं, स्वातंत्र्योत्तर नगरीय समाज में स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा, उनसे जुड़े कानूनी अधिकार, तथा उनका आर्थिक स्वावलंबन आदि उन्हें वह सम्बलत्व प्रदान करता है जो उन्हें उनसे जुड़े संबंधों, परंपराओं, आस्थाओं और संस्थाओं को नये सिरे से देखने-सोचने की ओर प्रवृत्त करता है। जिसका स्पष्ट प्रभाव स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य संबंध पर पड़ता है।

स्वातंत्र्योत्तर नगर और कस्बे के जीवन को उज्जीवित करने वाले कहानीकार-चिंतक कमलेश्वर उक्त दाम्पत्य संबंध को बड़ी नजदीकी से देखते हैं। उनका इस संबंध में स्पष्ट कहना होता है—“पति और पत्नी के बीच संबंधों में आमूल परिवर्तन हुआ है नारी अब कानूनी तरीके से भी ज्यादा (पहले) सुरक्षित है और आर्थिक रूप से भी स्वतंत्र सत्ता प्राप्त करती जा रही है। इन दोनों कारणों ने पति-पत्नी संबंधों को ज्यादा बदला है, जिससे विवाह की परंपरागत संस्था के सामने प्रश्न चिन्ह खड़ा हो गया है।”³⁴ जिससे यह समझ में आता है कि स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री-पुरुष के पारंपरिक दाम्पत्य संबंधों में एक बदलाव या एक तनाव की स्थिति जन्म लेती है। नारी-पुरुष दोनों, अब अपने व्यक्तित्व के अनुरूप अपने तरीके से जीने और जीवन में अपने अस्तित्व को लेकर सजग हो आगे बढ़ने हेतु तत्पर हो उठते हैं। जिसका परिणाम प्रायः वैवाहिक जीवन की विडम्बना होता है। पो. रामचन्द्र माली उक्त संदर्भ को कुछ इस प्रकार प्रकट स्पष्ट करते हैं—“-पति-पत्नी के संबंध काँच के बर्तन के समान हो गए हैं, जो पुराने होने के बाद मैले तथा दरारों से युक्त हैं। समाज में आज पति-पत्नी के संबंध औपचारिकता से मुक्त होकर तनावग्रस्त बन गये हैं। दोनों समझौता करना नहीं चाहते।”³⁵ जिसका कहने का अभिप्राय यह है कि स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन के दाम्पत्य संबंध पूर्ववत् नहीं रहते हैं। उनमें आया तनाव-बदलाव नई स्थितियों की ओर संकेत करता है।

उल्लेखनीय हैं कि मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय दाम्पत्य संबंधों के उक्त पक्ष को उज्जीवित करने का प्रयास करती हैं, साथ ही साथ यह संकेत भी करती हैं कि स्वातंत्र्योत्तर उभरा और विकसित मध्यवर्ग कहीं-न-कहीं कछुए की भाँति अपनी ही व्यक्तिगत सीमाओं के खोल में अपने को कैद कर लेता है। यहाँ प्रमाण स्वरूप मार्कण्डेय की कहानियों का जिक्र और विश्लेषण किया जा सकता है। इस संदर्भ में उनकी 'दूध और दवा' कहानी का उल्लेख स्वाभाविक लगता है। आलोच्य कहानी में एक मध्यवर्गीय लेखक के परिवार की अभावपूर्ण जीवन स्थितियों को भली-भाँति दर्शाने का प्रयास होता है। प्रस्तुत कहानी में परिवार के भीतर व्याप्त अर्थाभाव संबंधों को जटिल मोड़ पर पहुँचा देता है। जहाँ दाम्पत्य संबंधों में एक प्रकार की उदासीनता की स्थिति निर्मित हो जाती है। इस कहानी का पुरुष अपनी पत्नी से काम संबंधों में अपनी तृप्ति न होते देख, परस्त्री मुखापेक्षी होता है। उसे ऐसा करते वक्त अपने दाम्पत्य संबंध के प्रति अपनी निष्ठा या ईमानदारी की तनिक भी परवाह नहीं रहती है।

अर्थात् मध्यवर्गीय कामातुर पुरुष अपने जीवन में उत्पन्न तनाव और अवसाद से मुक्त होने की प्रचेष्टा में विवाह रूपी सामाजिक संस्था की अवहेलना करता है। जबकि, परिवार के अर्थाभाव में रोज पिसती स्त्री (गृहणी) –“क्या सोच रहे हो? मैंने तो समझा कोई कहानी लिख रहे थे। आज किसी को देकर कुछ रुपये लाते तो अच्छा था। कल दो रुपये का सामान मँगाया था, आज-भर और चलगा”³⁶—गृहस्थी को संभालने की जद्दोजहद में अपने जीवन की यौनेच्छा को ही खो देती है। वह अपने दाम्पत्य जीवन के मधुर काम-संबंध से कुछ इस प्रकार विरक्त हो जाती है—“वह बटन बन्द करते-करते बोलने लगती है, “अब इसके सुख की कल्पना मेरे पास नहीं है, न ही तुम्हारे मन में है और अगर है, तो नहीं होनी चाहिए... मेरे सीने में एक बंद ज्वालामुखी है, जो कभी नहीं भड़केगा, यह मैं जानती हूँ।”³⁷ जिससे यह जाहिर होता है कि स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय दाम्पत्य संबंध में विपरीत परिस्थितियों से उत्पन्न तनाव दंपति के वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना का रूप दे देता है। यहाँ इस बात को भी समझा जा सकता है कि, इस विडम्बना के लिए पुरुष का कामातुर मन कहीं-न-कहीं जिम्मेवार होता है।

इसी तरह कहीं, एक स्त्री की अति-महत्त्वाकांक्षा भी दाम्पत्य संबंध को उसकी विडम्बना की ओर ले जाती है। मार्कण्डेय की 'तारो का गुच्छा' कहानी में मध्यवर्गीय जीवन के उक्त सच का अवलोकन किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में एक ऐसी मध्यवर्गीय स्त्री की छवि देखने को

मिलती है जिसके लिए विवाह रूपी सामाजिक संस्था कोई मायने नहीं रखती है। वह विवाह से पहले ही मातृत्व का सुख प्राप्त करने की अति महत्त्वाकांक्षा को लिए हुए जीती है—“रोली को अपनी पिछली रात याद आ गयी... मसीहा की हत्या, प्रार्थना, कुमारी माँ, बच्चा, बच्चों की एक कतार... उसने बच्चे के माथे का चूम लिया और उसे कंधे से सटा लिया।”³⁸ जिससे यह जाहिर होता है कि रोली जैसी स्त्रियाँ, अपनी शर्तों पर जीवन जीने की इच्छुक होती हैं। इसी कारण विवाह-संस्था या उससे जुड़े मूल्य उसके लिए कोई मायने नहीं रखते हैं। वह अपनी मातृत्व की दुर्निवार इच्छा के आगे किसी भी सामाजिक-नैतिक मान्यताओं के पार जाने से नहीं हिचकती है। यहाँ तक कि, किसी दाम्पत्य संबंध में अनधिकृत प्रवेश करने में भी वह तनिक नहीं हिचकिचाती है—“...उसने कितनी बार सोचा था कि अगर वह मेरे प्रेम को स्वीकार नहीं करेगा, उपेक्षा से मुझे ठुकरा देगा, तो कभी निर्लज्ज हो कर उससे एक बच्चा माँगेगी-गोल-मटोल, प्यारा-प्यारा। और वह देर तक लिहाफ के अँधेरे में अपना मातृत्व खोजती रही। एकदम अनोखा मातृत्व, लाँछन और समाज की प्रतारणा के दुख में डुबा हुआ।”³⁹ जिससे यह समझा जा सकता है कि कौमार्य अवस्था में रोली (एक स्त्री) की माँ बनने की तीव्र कामना उसके दिलो-दिमाग पर इस कदर हावी होती है कि वह सब जानते हुए भी एक शादीशुदा व्यक्ति से संबंध बनाने हेतु बेचैन रहती है। जबकि दूसरी ओर, पहले से ही विवाहित पुरुष अपने जीवन के तनाव और ऊब से मुक्त होने हेतु भीतर ही भीतर कुंठित रहता है—“... ओह, तुम कितनी असंभव हो मेरे लिए रोली कितनी विचित्र!”⁴⁰ जो यह जाहिर करता है कि, मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री-पुरुष के समक्ष विवाह-संस्था कितना अर्थहीन हो जाता है। किसी के लिए विवाह जरूरी ही नहीं प्रतीत होता है तो किसी के लिए एक बाधा।

इसी तरह ‘तारों का गुच्छा’ कहानी की रोली की भाँति एक पत्नी (स्त्री) की माँ बनने की तीव्र इच्छा उसके वैवाहिक जीवन को किस प्रकार असंतुलित कर देती है, उसे मार्कण्डेय की ‘पक्षाघात’ कहानी में देखा जा सकता है। आलोच्य कहानी के दर्शन और रीना, पति-पत्नी होने के बावजूद एक-दूसरे के लिए जैसे अधूरे होते हैं। रीना मातृत्व का सुख प्राप्त करने हेतु व्यथित रहती है तो दर्शन अपनी जिंदगी को अपने तरीके से जीने में व्यस्त। जिसका नतीजा यह होता है कि उनके दाम्पत्य संबंध में तनाव उत्पन्न होता है और उनका वैवाहिक जीवन एक ऊब में परिणत हो जाता है। रीना को जब अपने मातृत्व सुख की इच्छा अपने पति के द्वारा पूरी होते हुए नहीं दिखायी देती है, तब वह सारे सामाजिक मूल्यों और वैवाहिक नैतिकताओं के पार जाने का संकल्प ले लेती

है। वह अपने मातृत्व के सुख को पाने की चाहत में अपने पति के मित्र परेश के साथ अनैतिक संबंध बनाने तथा उसे स्वीकारने में तनिक भी नहीं हिचकती है। उसकी इस स्वीकारोक्ति को निम्न मंतव्य में लक्ष्य किया जा सकता है—“नहीं परेश, अब रहने दो... मुझे कोई डर नहीं परेश! दर्शन बिल्कुल नाराज नहीं होगा। मैं बचपन से यही सोचती हूँ कि माँ बनूँ और किसी बच्चे के साथ खेलूँ। सिर्फ इसी एक इच्छा को मारते-मारते मैं एकदम मर गयी, लेकिन यह आज तक नहीं मरी।”⁴¹ स्पष्ट है कि मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री-पुरुष की अपनी-अपनी सोच और उसके तदनु रूप जीने की ललक, उनका व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा एक-दूसरे को बेहतर ढंग से देखने-जानने और समझने हेतु दिए जाने वाले समय का अभाव, न सिर्फ उनके दाम्पत्य संबंधों में तनाव की सृष्टि करता है, बल्कि उसके वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना का रूप देता है।

दरअसल मध्यवर्गीय जीवन की उक्त जीवन शैली उनकी छद्म आधुनिकता वादी सोच का परिणाम होती है, जो उनके व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्राबल्य में, उनकी उच्चाकांक्षा में, उनकी तीव्र यौनाकांक्षा में स्पष्ट लक्ष्य की जाती है। यहाँ मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए’ का जिक्र स्वाभाविक प्रतीत होता है, जिसमें चित्रित ग्रामतेर जीवन के संदर्भ में मध्यवर्गीय जीवन की उन सच्चाईयों से अवगत हुआ जा सकता है, जहाँ जीवन में छद्म आधुनिकता का ओढ़ा हुआ रूप वैवाहिक जीवन की विडम्बना को साफ उजागर करता है। आलोच्य कहानी में एक स्त्री की उच्चाकांक्षा, उसका व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा पुरुष का उन्मुक्त यौन जीवन जीने की जिद दोनों के जीवन को विडम्बना का रूप देती है।

प्रस्तुत कहानी की रमोला एक आधुनिक शिक्षित स्त्री है। वह एक ऐसे व्यक्ति में अपना प्रेम ढूँढती है, जो पहले से शादीशुदा और उसके पिता की अवस्था का होता है। जो यह दर्शाता है कि रमोला जैसी स्त्रियाँ जान-बूझ कर अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य को उपलब्ध करने की फिराक में वह सब-कुछ करने में अपने को सहज महसूस करती हैं, जो सामाजिक परंपरा और नैतिकता के दायरे से बाहर होता है। यहाँ तक कि यह जानते हुए भी कि जिस रिश्ते का कोई भविष्य नहीं है, वह दूसरी स्त्री के वैवाहिक जीवन में घुसपैठ करती है। यहाँ रमोला का जो तर्क होता है वह कुछ इस प्रकार होता है—“मैं जब-जब पूँछता हूँ, वह यही कहती है कि उस नीच प्रोफेसर ने मुझे अनेक प्रलोभन दिये। मुझे पुत्री तक माना... और एक दिन अपने घर, रीतिकालीन श्रृंगारिक सूक्तियों का अर्थ समझाते-समझाते मेरा हाथ पकड़ लिया। मुझे खींच कर, अपने पास कर लिया। मैं समझती

थी वह बुरा नहीं हो सकता... क्योंकि प्रोफेसर विवाहित था, लेकिन उसका यह व्यवहार बढ़ता गया। उसने धीरे-धीरे मेरे स्त्री-मन को अपनी प्रेम और स्नेह से छलछलाती हुयी मीठी-मीठी बातों से जकड़ लिया... मैं उसके साथ घूमने जाती और देर तक लौटती। फिर रात तक, उसकी प्रेममय वाणी में उहापोह होकर; उसके बाजुओं में खेलती रहती।”⁴² यहाँ यह समझा जा सकता है कि स्त्री के रूप में रमोला की महत्वाकांक्षा तथा अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य को उपलब्ध करने वाली प्रेमाकांक्षा उसे उस पुरुष की ओर ले जाती है जिसके लिए वैवाहिक जीवन, दाम्पत्य संबंध या सामाजिक नैतिक मान्यताएँ कोई मायने नहीं रखती हैं। वह तो स्त्री को एक देह मात्र समझता है, जिसे वह सिर्फ वह भोगना चाहता है। उसके लिए स्त्री एक देह होती है, रमोला भी, जिसे वह अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने हेतु किसी भी के समक्ष परोस देने में नहीं हिचकता है। जैसा कि, उक्त कहानी में वह रमोला के साथ करना चाहता है। इस प्रकार यहाँ प्रोफेसर के रूप में शिक्षित मध्यवर्गीय पुरुष की उस उत्कट यौनाकांक्षा को भी देखा जा सकता है, जो वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना के रूप में परिणत कर देती है।

इस प्रकार कहा जाय तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन के दाम्पत्य संबंधों को भली-भाँति उकेरने का प्रयास करती हैं। उनकी कहानियों में दाम्पत्य संबंधों के चटखने तथा वैवाहिक-जीवन को एक विडम्बना में परिणत होते हुए साफ देखा जाता है। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष के व्यक्ति-स्वातंत्र्य, स्त्री-पुरुष का अपने-अपने तरीके से जीने की तीव्र इच्छा, एक-दूसरे के साथ संवादहीनता, एक-दूसरे के लिए समर्पण करने की त्याग-भावना का अभाव, किसी एक की समझौता न करने की मानसिकता, स्त्री की उच्चाकांक्षा, स्त्री की प्रेमाकांक्षा, पुरुष की उत्कट यौनेच्छा, स्त्री को देह मात्र समझने की पुरुष मानसिकता आदि को मध्यवर्गीय दाम्पत्य संबंधों के चटखने-टूटने तथा वैवाहिक जीवन को विडम्बना का रूप लेने के प्रमुख कारणों के रूप दिखलाती हैं।

5.3.5 पूँजीवादी सभ्यता, पितृ-सत्तात्मक सोच और मध्यवर्ग

जैसा कि विदित है कि भारतीय सामाजिक संरचना में एक असमानता बोध सदैव विद्यमान रहा है। सामंतवादी सोच समाज में वर्गों की असमानता को धर्म सम्मत तथा न्याय-संगत करार देने हेतु सदा सचेष्टा रही है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि मनुष्य-मनुष्य में सामाजिक-आर्थिक भेद कायम हो जाता है। अंग्रेजी शासन की उपनिवेशवादी सोच, सिर्फ अपने हित को साधने

के खयाल से इस सामाजिक वर्ग-भेद को निरस्त करने हेतु कभी प्रयास नहीं करती है। अंग्रेजी शासन की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में भी उक्त कार्य को दरकिनार किया जाता है। रमेश उपाध्याय अंग्रेजी शासन की इन धूर्तताओं को कुछ इस प्रकार उजागर करते हैं—“आधुनिकीकरण की सीधा अर्थ था भारत में पूँजीवाद का उदय और पूँजीवाद के विकास के लिए सामंतवाद की समाप्ति, किंतु अंग्रेजों का उद्देश्य भारत को एक औद्योगिकृत समृद्ध पूँजीवाद देश बनाना नहीं था, अपितु अपने औपनिवेशिक शोषण को सुचारु रूप से चलाना था, अतः उन्होंने यहाँ उतना ही विकास किया जितना उनके लिए आवश्यक था।”⁴³ यही नहीं, स्वाधीनता बाद भारत में स्वशासन की नीतियाँ भी, पूँजीवादी सभ्यता के विकास हेतु जिस सोच को अपनाती है, वह कमोवेश साम्राज्यवादी नीतियों से ही पुष्ट प्रतीत होती है। रमेश उपाध्याय उक्त सच को भी स्पष्ट करते हैं—“...1947 में प्राप्त सवाधीनता के बाद जिस भारतीय शासक वर्ग को सत्ता प्राप्त हुयी उसने भी इसी आधार पर अपने शोषण और दमन की व्यवस्था को जारी रखा। होना तो यह चाहिए था कि स्वतंत्र भारत का पूँजीपति वर्ग देश के त्वरित आधुनिकीकरण के लिए एक ओर साम्राज्यवाद की अधीनता से मुक्त होता और दूसरी ओर सामंतवाद के पिछड़ेपन को समाप्त करता, परंतु हुआ यह कि अपने विकास के लिए पूँजी तथा आधुनिक सहायता प्राप्त करने के लिए उसने साम्राज्यवाद की परोक्ष अधीनता स्वीकार की और भारतीय जनता के शोषण तथा दमन को पूर्ववत् जारी रखने के लिए अंग्रेजों की ही भाँति देश के सामंतवाद से समझौता कर लिया।”⁴⁴

यहाँ उक्त दोनों उद्धरणों से जो बातें निकल कर आती हैं, उन्हें कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है। पहली, सदियों से भारतीय परिवेश और समाज में सामाजिक-आर्थिक विषमता का सच बना रहता है जिसे उपनिवेशवादी सोच बरकरार रखती है तथा जिसे स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियाँ निरस्त करने में असफल रहती हैं। दूसरी, स्पष्टतः भारतीय परिवेश में जिस पूँजीवाद का विकास होता है, उसका सामंतवाद से गहरा संबंध बना रहता है। तीसरी, भारतीय परिवेश में स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों के अंतर्गत जिस पूँजीवादी समाज का निर्माण और विकास होता है, वह सामंतीवादी पितृ-सत्तात्मक समेत कई अन्य प्रतिगामी मूल्यों को आत्मसात् किए हुए रहता है। चौथी, हमारे यहाँ का पूँजीवाद समाज को विभिन्न श्रेणियों में बँटे रहने की स्थिति को बढ़ावा देता हुआ सिर्फ अपने हित साधने में व्यस्त रहता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पूँजीवादी समाज भरसक यह प्रयास करता है कि समाज

का क्रांतिकारी मध्यवर्ग निम्नवर्ग से अपने को अलग समझता हुआ हमारे हितों को साधने तथा उन्हें अक्षुण्ण रखने में प्रयत्नशील रहे। पूँजीवादी समाज का हरदम यह प्रयास रहता है कि सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन करने में सक्षम मध्यवर्ग अपने इस पक्ष से विरत बना रहे। जबकि, दूसरी ओर मध्यवर्ग भी अपने हित को पूँजीवादी विकास में ढूँढने का प्रयास करता है, जहाँ उसे निराशा मिलती है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि उसका व्यक्तित्व कुंठा का शिकार होता है। उसकी कुंठा को उसकी पितृसत्तात्मक सोच उसे अपने ही खोल में कैद किए रहती है। फलतः जिससे समाज में वर्ग-संघर्ष और परिवर्तन की स्थितियों के बनने के बजाय यथास्थितिवाद को ही बढ़ावा मिलता है। कहने की बात नहीं है कि, स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग के साथ भी उक्त स्थितियाँ होती हैं।

मार्कण्डेय अपनी ग्रामेतर जीवन की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन-बोध और यथार्थ को उकेरने के क्रम में स्वातंत्र्योत्तर उक्त सच्चाई को भी उज्जीवित करने का प्रयास करते हैं। यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कहानी 'प्रिया सैनी' का जिक्र किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में पूँजीवादी सभ्यता की सोच को बेपर्दा करने के साथ-साथ मध्यवर्ग से जुड़ी सच्चाई को दिखाने का प्रयास मिलता है। यह कहानी यह स्पष्ट दर्शाती है कि पूँजीवादी सोच किसी भी मूल्य, आदर्श, नैतिकता और मान्यता आदि या इनसे समन्वित जीवन-बोध की परवाह नहीं करती है। उसके लिए ये सब एक वस्तु-मात्र है जिससे अपना हित सधता है तो ठीक है, अन्यथा ये सभी त्याज्य हैं। उसके समक्ष कोई जीवंत नारी (मनुष्य) हो या कोई कलावादी मूल्य; सभी वस्तुतुल्य है। आलोच्य कहानी में मार्कण्डेय उक्त सच्चाई को एक पैने व्यंग्य से सन्निहित कर व्यक्त करते हैं—“ पिता बचपन से ही बताया करते थे कि पैसे वाले एक जगह पहुँच कर समाज के सारे मूल्यों को चकनाचूर कर देते हैं और हर चीज का यहा तक कि मनुष्य के मन का भी दाम लगा देते हैं।”⁴⁵ इस कहानी की प्रिया (नारी) भी स्वयं के प्रति पूँजीवादी समाज की सोच को बखूबी समझती है —“ मैं तो बस एक वस्तु मानी गयी हूँ... मुझे वे देश-देशान्तर में विख्यात करके नारी-जाति का गौरव बढ़ाना चाहते हैं और मुझे दिखा देना चाहते हैं कि भारतीय नृत्य में कितनी क्षमता है। मैं विदेशों में सम्मानित हूँगी और सेठ जी मेरे साथ अमेरिका-लन्दन की यात्रा करेंगे।...”⁴⁶ जिससे मार्कण्डेय की उस यथार्थ-दृष्टि को समझा जा सकता है, जो यह संकेत करती है कि पूँजीवादी चेहरा केवल मुनाफाखोरी तथा अकेले स्वयं को समृद्ध करने की बलवती इच्छा से प्रेरित-प्रचालित रहता है। किंतु, यह चेहरा तब और विद्वेष हो जाता है, जब वह किसी समाज-राष्ट्र के संस्कृति-मूल्य को

अपने बाजारवादी मूल्यों को पुष्ट करने हेतु इस्तेमाल करता है। तब यह चेहरा आलोच्य कहानी के 'सेठ घिनावन' की तरह विद्रूप हो जाता है। इस कहानी में मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि भली-भाँति यह दिखाने की चेष्टा करती है कि प्रिया (स्त्री) की नृत्य कला(कलापरक मूल्य) की मार्केटिंग (व्यवसायीकरण) करना पूँजीवादी शक्तियों-चेहरों का 'कला के स्वायत्त मूल्य' की आड़ में सिर्फ अपने हितों को साधना होता है—“हाँ, इतना तो मेरे सामने आ ही गया है कि ट्रस्टियों तथा नगरों के सारे धनिक लोगों को यह नृत्य नाटिका दिखायी जाएगी और इसके लिए बड़े पैमाने पर विज्ञापन तथा दान के रूप में धन एकत्र किया जाएगा। सेठ जी का अनुमान है दस लाख रुपये सिर्फ एक-प्रदर्शन में इक्ठ्ठा करे लेंगे।”⁴⁷

दरअसल सच्चाई यह होती है कि पूँजीवादी सभ्यता और सोच वर्गों में विभक्त, शोषण मूलक समाज-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने की चाहत लिए हुए सदैव रहती है। इस कारण भी वह अपने खिलाफ समवेत हो जाने वाले निम्न और मध्यवर्ग के बीच दूरियाँ उत्पन्न किए रखने में ही अपनी सलामती देखती है। कहने का जरूरत नहीं है कि पूँजीवादी सभ्यता-सोच के उक्त दुश्चक्र का शिकार सर्वप्रथम और सबसे अधिक मध्यवर्ग ही होता है। आलोच्य कहानी 'प्रियासैनी' में भी इस सच को देखा जाता है। प्रस्तुत कहानी की प्रिया का प्रेमी एक मध्यवर्गीय चरित्र (व्यक्ति) है, जो स्वयं को समाज के निम्न वर्ग (सर्वहारा वर्ग) से अलग और श्रेष्ठ समझने के दंभ से ग्रस्त रहता है। वह इस सच को स्वीकार न कर पाने की स्थिति में होता है कि प्रिया के अतीत का प्रेमी किसी ऐसे वर्ग (निम्न वर्ग) से आता है, जिसे वह हेय समझता है। उसकी निम्नवर्ग से होने वाली घृणा उसे एक कुंठित व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। जिसे इस रूप में देखा जा सकता है—“वह रात भर आपके कमरे में रहा न ! कोई सड़ा हुआ, अपराधी मज़दूर रहा होगा, जिसके लिए आपने अपनी अनुभूति का सारा खजाना ही खाली कर दिया। अब समझ में आया आपका नाटक। ऐसा भी तो हो सकता है कि वह आपका पुराना दोस्त रहा हो।”⁴⁸ यहाँ एक पुरुष की ईर्ष्या के साथ-साथ एक कुंठित मध्यवर्गीय व्यक्ति का स्वभावगत दंभ भी उजागर होता है। यही नहीं, यहाँ एक मध्यवर्गीय चरित्र के भीतर का पितृसत्तात्मक अहंकार और संस्कार भी फुँफकारता नज़र आता है। जिसे पूँजीवादी सभ्यता-सोच और शक्तियाँ बल प्रदान करती हैं, क्योंकि उसे दोनों (मध्यवर्ग-निम्नवर्ग) की एकजुटता से भय रहता है। वास्तविकता में, पूँजीवादी सभ्यता और सोच दर्शन, कला और साहित्य के मूल्यों को न कभी महत्व देती है और ना ही उन्हें संरक्षित करने का प्रयास करती

है। यदि करती भी है तो, उस पर अपना बाजरवादी उपयोगिता वादी मूल्य चँस्पा कर करती है। आलोच्य कहानी में भी प्रिया की नृत्य-कला के साथ पूँजीवादी शक्तियाँ कुछ ऐसा ही व्यवहार करती हैं। उनके लिए प्रिया की नृत्य-कला या उसकी प्रतिभा उनके आय का एक जरिया मात्र है, साथ ही साथ इसके बहाने वे अपना चक्षु-भोज करते हैं। प्रिया के नृत्य की आड़ में उसकी अनावृत देह का भोज—“कमाल है, सेठ जी! क्या चीज है। क्या लोच है! बस जरा-सा कसर है, कपड़े या तो और झीने कर दिए जाएँ या सीक्वेन्स में कहीं से बरसात लाकर भिगो दिया जाए।”⁴⁹ जिससे कई बातें जाहिर होती हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। पहली, यहाँ पूँजीवादी सोच के साथ सामंती संस्कार-पितृसत्तात्मक मानसिकता का सहमेल अस्तित्व जाहिर होता है, जो स्त्री को देह मात्र ही समझता है। यही पितृसत्तात्मक सोच प्रिया के प्रेमी पर हावी रहता है। वह भी प्रिया को अपनी सम्पत्ति समझता है, जिसकी देह का वह एकछत्र मालिक (पूँजीपति) बनना चाहता है। वह प्रिया के जीवन की उस रात को लेकर हरदम संशयग्रस्त रहता है और इस कारण कुंठाग्रस्त भी, जिस रात एक मजदूर (सर्वहारा वर्ग) भागता हुआ, उसकी छत्ती पर आता है। जिससे उसका पितृसत्तात्मक संस्कार मर्दित और कुंठित होता है।

प्रिया उसके इस मानसिक अतंर्द्वन्द्व को कुछ इस प्रकार व्यक्त करती हैं—“मुझे अच्छी तरह याद है, जब तुम्हारे लगातार कोचने, सिर पटकने, दिनों खाना न खाने से ऊबकर मैंने यह मान लिया कि वह आदमी रात भर मेरी छत्ती में रह गया था तो तुम कितने उद्विग्न हो उठे थे और अपनी कमीज़ नॉच कर फेंक दी थी। सब्जी काटने का चाकू मेरे सीने में चुभोने जा रहे थे। मैंने तुम्हारी मनः स्थिति समझ ली थी। तुम अपनी प्रिया को अछूती, कमल की तरह प्रस्फूटित ऐसी कली के रूप में ही स्वीकार कर सकते थे जिसे सूर्य तक ने स्पर्श न किया हो। तुम्हारी सारी प्रकृति और अहम् इस बात से चोट खाये हुए सर्प की तरह तड़प रहे थे कि एक अपरिचित, जाने कौन और कैसा व्यक्ति मेरी छत्ती पर रात भर कैसे रह गया।”⁵⁰ जिससे यह समझा जा सकता है कि प्रिया का प्रेमी (मध्यवर्गीय पुरुष) प्रिया(स्त्री) के मन में उसके प्रति सहेजे एकनिष्ठ प्रेम को न देखकर केवल उसकी देह को देखता है और यह आश्वस्त होने के लिए तड़पता है कि उस देह को उसके पहले किसी और ने नहीं भोगा है। अर्थात् उसके लिए प्रिया का सम्पूर्ण अस्तित्व केवल उसकी निष्कलुष देह है।

इसी तरह मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘आदर्शों का नायक’ में भी मध्यवर्गीय जीवन

में समाये पितृसत्तात्मक संस्कार को लक्ष्य किया जाता है। आलोच्य कहानी के जोगेन्दर सिंह एक उच्च अधिकारी हैं, जो मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी औरत (स्त्री) की परिभाषा में रूपवान स्त्री ही केवल औरत होती है—“औरत अगर सुन्दर ही नहीं हुई तो औरत क्या?”⁵¹ यही नहीं, सुन्दर औरत का अर्थ सुन्दर देह-यष्टि वाली स्त्री, जो पुरुष की अंधी वासना को तृप्त करने तथा उसकी प्रतिशोध परक प्रतिहिंसा के लिए उपयुक्त है। प्रस्तुत कहानी का जोगेन्दर सिंह अपने प्रतिशोध हेतु अपनी कुंठित वासना को शांत करने हेतु माया (एक स्त्री) को चुनता है, क्योंकि उस जैसे पुरुष के लिए स्त्री की देह एक आसान लक्ष्य है—“मेरे मन में तो माया के शरीर की चाह थी। ऊपर से जब उस अधिकारी ने मेरा इतना अपमान किया तो एक जलती हुयी ईर्ष्या और प्रतिशोध की भावना ने शरीर की भूख को मेरे लिए पशु से भी बदतर बना दिया था।...”⁵² यहाँ पितृसत्तात्मक संस्कार भली-भाँति जाहिर होता है, जो मध्यवर्ग के पुरुष अहंकार को जागृत किए रहता है तथा स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व या उसकी देह के अलावा भी एक पहचान होने को नहीं समझने देता है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ के अंतर्गत स्वातंत्र्योत्तर पूँजीवादी सभ्यता और सोच के उस चेहरे को भी बेपर्द करने में सक्षम होती हैं, जो सामंतवादी पतनशील संस्कारों को आत्मसात् कर चलती है तथा मध्यवर्ग के अंदर की कुंठाओं, घृणाओं को जागृत कर अपने हितों को अक्षुण्ण रखने का उपक्रम करती है।

अतः इस प्रकार, समग्रता में मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ तथा उनमें उज्जीवित मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ को देखा जाए तो निम्न बातें कही जा सकती हैं। मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ उनकी यथार्थ-दृष्टि की सम्पूर्णता को प्रतिकित करती हैं। उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों में चित्रित मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ को समझने के पूर्व इस तथ्य को समझ लेना अति आवश्यक होता है कि स्वातंत्र्योत्तर त्वरित गति से उभरता और विकसित पूँजीवाद अंधा होता है। इस कारण यह पूँजीवाद सिर्फ अपने हित साधने में व्यस्त रहता है। यह शोषण पर आधारित वर्गों में बँटे समाज के बीच हर संभव प्रयत्न करता है कि सामाजिक आर्थिक-विषमता यथावत् ही न रहे, बल्कि उससे भी ज्यादा गहरी हो जाए। वह इसलिए मध्यवर्ग को अपने हित में संलग्न रखने का प्रयास करता है, जबकि दूसरी ओर मध्यवर्ग पूँजीवादी विकास में अपने हित को खोजता है, जहाँ उसे निराशा मिलती है। फलतः मध्यवर्ग अपनी ही सीमाओं-समस्याओं और कुंठाओं में कैद होता जाता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर

मध्यवर्ग के उक्त जीवन को ही उकेरने का प्रयास करती हैं। इस कारण उनकी कहानियों में उज्जीवित मध्यवर्ग की सामाजिक निस्संगता को देखा जाता है। यह वर्ग व्यक्तित्व के दोहरेपन का ओढ़ कर जीता हुआ सच्चाई को सहज रूप में स्वीकार करने से घबराता है। उसका जीवन के प्रति रोमांटिक एप्रोच उसे वस्तुस्थिति से दूर ले जाता है। वह सामाजिक जीवन के प्रश्नों से कतराता है और दायित्व लेने से बचता है। उसके भीतर बैठा कायरता बोध स्त्री के प्रति उसके रवैये के समय उजागर होता है। उसका व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार जीने की जिद उसके दाम्पत्य जीवन को एक वैवाहिक विडम्बना का रूप देते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों की समझौता न करने की स्थितियाँ भी जिम्मेवार होती हैं। मध्यवर्गीय पुरुष का उन्मुक्त यौनाचार भी उसके वैवाहिक जीवन को विडम्बनात्मक स्थिति की ओर मोड़ता है। यही नहीं, मध्यवर्गीय स्त्री की उच्चाकांक्षा एवं प्रेमाकांक्षा भी उसके दाम्पत्य संबंधों में तनाव पैदा करती है। स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग पूँजीवादी सभ्यता और सोच में अंतर्व्याप्त सामंतीवादी अपसंस्कारों को समझते हुए चुप बना रहता है। जबकि, पूँजीवादी सोच और शक्तियाँ मध्यवर्ग के भीतर प्रलोभन पैदा करने के साथ-साथ उसके पितृसत्तात्मक संस्कारों (सामंती अपसंस्कारों) को जागृत रख अपने हित साधती हैं। मध्यवर्गीय पुरुष अपने अंहकार में डूबा हुआ स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व या देह के अलावा भी उसके अलग व्यक्तित्व के होने को स्वीकार नहीं पाता है और उसी छटपटाहट की कुंठा में स्वयं को कैद किए रखता है।

मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन की सीमाओं को रेखांकित करती हैं तथा उसी में अपना सारा श्रम खर्च करती हैं। ये कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन बोध में व्याप्त उसकी सीमाओं को सामाजिक -आर्थिक प्रश्नों की संश्लिष्टता में प्रस्तुत करने के बजाय उसका एकांतिक चित्रण करती हैं। बेशक उनकी कुछेक कहानियाँ ('दूध का दवा', 'अगली कहानी' आदि) मध्यवर्ग के सामाजिक -आर्थिक प्रश्नों का संकेत अवश्य करती हैं पर उसे संश्लिष्ट रूप में नहीं उभारती हैं। उनकी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन-बोध में व्याप्त सीमाओं का यथार्थ उसके क्रांतिकारी पक्ष को उभारने में दिलचस्पी नहीं लेता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियों में उज्जीवित मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग के सीमित सच को ही चित्रित करने का प्रयास करता है।

संदर्भ-सूची

1. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, ईशान प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. :1978, पृ. 25
2. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन, 1-वी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. सं.:1973, पृ. 139
3. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.:2002, भूमिका ('भूदान'), पृ. 250
4. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय:परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, प्र. सं.: 2010, पृ.155 (विद्याधर शुक्ल का लेख-'खेतिहर मजदूरों के कहानीकार: मार्कण्डेय')
5. मधुरेश, नयी कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. सं.: 1999, पृ.166
6. साभार, 'हंस', अगस्त, 2006, पृ.9
7. वही, पृ. 128
8. उद्धृत, कुमार, डॉ. राजेन्द्र , स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा-साहित्य में ग्राम्य जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं.: 1988, पृ. 25
9. वाजपेयी, आचार्य नंददुलारे, आधुनिक हिंदी साहित्य, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण: 2018 वि. पृ. 156
10. वर्मा, धीरेन्द्र (संपादक), हिंदी साहित्य कोश-भाग-1, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण: 1985, पृ. 564
11. माली, पो. रामचन्द्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थबोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 1997, पृ. 95
12. उद्धृत, माली, पो. रामचंद्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थबोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 1997 पृ. 42
13. उपरिवत् , पृ. 81
14. उपरिवत् , पृ. 81
15. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 465
16. उपरिवत् , पृ. 467
17. उपरिवत् , पृ. 464

18. उपरिवत् , पृ. 469
19. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय:परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, प्र. सं.: 2010, पृ.88-89
20. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 418-419
21. उपरिवत् , पृ. 418
22. उपरिवत् , पृ. 419
23. उपरिवत् , पृ. 333-334
24. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ.370
25. उपरिवत् , पृ. 368-369
26. उपरिवत् , पृ. 15-16
27. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 2004, पृ. 72
28. प्रियदर्शिनी, डॉ. सुषमा (संपादक), हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं.: 1983, पृ. 59
29. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 126
30. उपरिवत् , पृ. 128
31. उपरिवत् , पृ. 343
32. उपरिवत् , पृ. 342
33. उद्धृत, माली, प्रो. रामचन्द्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थ बोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.:1997, पृ. 48
34. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, ईशान प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.:1970, पृ. 133
35. माली, प्रो. रामचंद्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थ बोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.:1997, पृ. 61
36. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.:2002, पृ. 330

37. उपरिवत् , पृ. 327
38. उपरिवत् , पृ. 366
39. उपरिवत्, पृ. 361
40. उपरिवत् , पृ. 367
41. उपरिवत् , पृ. 388
42. उपरिवत्, पृ. 81
43. उपाध्याय, रमेश, कहानी की समाज शास्त्रीय समीक्षा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं.: 1999, पृ. 110
44. उपरिवत् , पृ. 110
45. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.:2002, पृ. 524
46. उपरिवत्, पृ. 524
47. उपरिवत् , पृ. 521
48. उपरिवत्, पृ. 529
49. उपरिवत्, पृ. 521
50. उपरिवत्, पृ. 532
51. उपरिवत्, पृ. 370
52. उपरिवत्, पृ. 379

षष्ठ अध्याय
मार्कण्डेय की दस कहानियाँ: विशेष अध्ययन

मार्कण्डेय की दस कहानियाँ : विशेष अध्ययन

मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन की कई कहानियाँ चर्चित और लोकप्रिय हुई हैं। हिंदी कहानी-धारा और साहित्य के विवेचन के मद्देनजर जब कभी मार्कण्डेय का नाम आता है, तो अक्सर उनकी 'गुलरा के बाबा' 'हंसा जाई अकेला' और 'बीच के लोग' आदि समेत कुछेक कहानियों का जिक्र भर कर लिया जाता है। जबकि उनकी कई ऐसी भी कहानियाँ हैं जिन पर गंभीर विचार-विमर्श की जरूरत है।

आलोचक खगेन्द्र ठाकुर उनकी कहानियों पर मन्तव्य प्रकट करते हैं कि –“यह भी एक विडंबनापूर्ण स्थिति है कि आंदोलन के सारे उत्साह और शोर-शराबे के बीच स्मरणीयता और गुणवत्ता की दृष्टि से, उनके (मार्कण्डेय) यहाँ उतनी और वैसी कहानियाँ नहीं हैं जैसी वे रेणु और शिवप्रसाद सिंह के यहाँ हैं।”¹ अर्थात् मार्कण्डेय की तमाम कहानियों में से चंद-एक को ही गुणवत्ता के लिहाज से महत्त्वपूर्ण एवम् स्मरणीय कहा जा सकता है। यहाँ वे गुणवत्ता के पैमाने या उसकी कसौटी को स्पष्ट ढंग से विवेचित नहीं करते हैं। हाँ, संकेत रूप में उसकी कसौटी के आधार को रेणु (फणीश्वरनाथ) और शिवप्रसाद सिंह की कहानियों से जरूर सम्पृक्त करते हैं। यही नहीं, उनकी जिन कहानियों की अक्सर चर्चा होती है, उस पर भी एक निर्णय चस्पाँ कर देने की जल्दबाजी देखी जाती है। आलोचक विधाधर शुक्ल लिखते हैं—“मार्कण्डेय की कहानियों की चर्चा चलते ही 'गुलरा के बाबा' सबसे पहले हमारे सामने टपक पड़ती है। उनकी कहानियों में सबसे ज्यादा उल्लेख इसी आदर्शवादी सहअस्तित्व वाली कहानी का हुआ है। इस कहानी में मार्कण्डेय की रचनात्मक दृष्टि का अता-पता नहीं है।”² इसी तरह मार्कण्डेय की एक अन्य चर्चित कहानी 'हंसा जाई अकेला' के संबंध में भी वे आलोच्य कहानी में चित्रित यथार्थ की अविश्वसनीयता तथा उसकी कमजोर बुनावट की चर्चा कुछ इस प्रकार करते हैं—“हंसा जाई अकेला' कहानी बुनावट के लिहाज से बेहद कमजोर है लेकिन संग्रहीत संकलन में शीर्षक पा जाने के कारण बिना जाने समझे लोग इसको भी उनकी महत्त्वपूर्ण कहानियों के खाते में घसीटते हैं। हंसा एक महत्त्वपूर्ण चरित्र था जिसके माध्यम से आजादी के शुरुआती दौर के सुराजी राजनीति, कांग्रेस और महात्मा गाँधी को लेकर तमाम अंतर्विरोधी यथार्थ का कहानीकार विश्वसनीय चित्रण कर सकता था लेकिन सुशीला और अकेलेपन के दर्शन के चक्कर में कहानी को जहाँ पहुँचना चाहिए था उससे भटक गई।”³ इसी तरह एक अन्य आलोचक के मन्तव्य को भी मार्कण्डेय की बेहद चर्चित कहानी के

संदर्भ में देखा जा सकता है। बच्चन सिंह लिखते हैं –“चाहे शिवप्रसाद सिंह की ‘दादी माँ’ हो अथवा मार्कण्डेय की ‘गुलरा के बाबा’ सभी की परिणति आदर्शवादी है।... मार्कण्डेय की चर्चित कहानी ‘हंसा जाई अकेला’ रोमांटिक यथार्थ को ही अभिव्यक्त करती है। यह गाँव के शब्दों, मुहावरों में, वातावरण को जीवंत बनाती है। यह जीवन ट्रेजेडी है, यह ट्रेजिक तनाव या टेंशन को नहीं उभारती।”⁴

यहाँ उद्धृत तमाम मंतव्यों को देखें, तो दो प्रमुख बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, मार्कण्डेय की तमाम कहानियों में कुछ एक ही स्मरणीय ओर गुणात्मक हैं। दूसरी, उनकी तमाम कहानियों में चर्चित कहानियाँ-‘गुलरा के बाबा’ ‘हंसा जाई अकेला’ आदि यथार्थ का विश्वसनीय चित्रण नहीं कर पाती हैं। मार्कण्डेय की कहानियों के संबंध में उक्त प्रकार के मंतव्य उनकी कहानियों से बारीकी से गुजरने की माँग करते हैं। दूसरी, वे यह भी देखने की ओर हमें पुनः प्रवृत्त करते हैं कि अक्सर चर्चा के केन्द्र में उनकी कुछेक कहानियों के अतिरिक्त भी ऐसी कहानियाँ हैं, जिन्हें उल्लेख करना जरूरी समझा जा सकता है। तीसरी, उनकी कहानियों में उनके कहानीकार की मूल संवेदना तथा यथार्थ-दृष्टि की एकान्विति का कोई पक्ष है, जिसे दर्शाना जरूरी समझा जा सकता है। यहाँ उनकी दस चुनिंदा कहानियों –‘गुलरा के बाबा’, ‘जूते’, ‘कल्यानमन’, ‘दौने की पत्तियाँ’, ‘हंसा जाई अकेला’, ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’, ‘भूदान’, ‘घुन’, ‘एक काला दायरा’, ‘बीच के लोग’ आदि का विश्लेषण एवं मूल्यांकन प्रस्तुत है।

6.1 ‘गुलरा के बाबा’

मार्कण्डेय की यह पहली प्रकाशित कहानी है, जो उनके प्रथम कहानी-संग्रह पान-फूल (1954) में सगृहीत है। इसी कहानी के प्रकाशन के तदुपरांत उनकी ओर लोगों का ध्यानाकर्षण होता है। आलोच्य कहानी उस दौर के आस पास रची जाती है, जिसे स्वयं मार्कण्डेय हिंदी कहानी-लेखन में एक ‘गतिरोध और ठहराव’ की स्थिति की संज्ञा देते हैं, क्योंकि यही वह समय होता है जब प्रेमचंदोत्तर कहानीकार अपने-अपने मताग्रहों के कारण भारतीय बहुसंख्यक लोगों के जीवन (भारतीय ग्रामीण जीवन) और यथार्थ को उपेक्षित करते हुए ग्रामीण संवेदना से दूर छिटक जाते हैं। ऐसे में, ‘गुलरा के बाबा’ जैसी कहानी के माध्यम से कहानीकारों का ग्रामीण संवेदना की ओर लौटना एक उत्साहपूर्ण कदम साबित होता है। उनके समकालीन कहानीकार अमरकांत की निम्न टिप्पणी उसी उत्साह का बयान करती है—“उस समय ‘गुलरा के बाबा’ पढ़कर मुझे ताज़गी का

अनुभव हुआ था, जैसे गर्मी की घुटन में शीतल हवा का स्पर्श।... ठोस धरती पर आने से साहित्य को पर्याप्त आक्सीजन के साथ जीवन की धड़कन मिलती है और उसमें पुनः उर्जा का संचार होता है। लेकिन धरती सिर्फ निरर्थक धूल-मिट्टी तो नहीं है। उसमें हवा है, जल है, वृक्ष और खेत खलिहान हैं, लोग हैं, उनकी आकक्षाएँ और सपने हैं, जीवत परंपराएँ हैं। इन्हीं तत्त्वों से खूबसूरती से घनी बुनी हुई एक जीवंत कहानी-शायद शब्द चित्र है 'गुलरा के बाबा', जिसमें एक नौजवान लेखक ने धरती और जीवन के प्रति अपना प्रथम अनुराग अभिव्यक्त किया था।"⁵ जिससे आलोच्य कहानी में ठोस धरती और वहाँ के लोगों के जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ-अंकन का सच जाहिर होता है।

इस कहानी के शीर्षक से यही प्रतीत होता है कि इसमें 'बाबा' का चरित्र मुख्य रूप से विन्यस्त है, जो इसे एक महत्त्वपूर्ण चरित्र-प्रधान कहानी का दर्जा देता है। परंतु इस कहानी के भीतर पैठने के तदुपरांत यह साफ प्रतीत होता है कि कहानीकार 'बाबा' के व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षाकृत गुलरा के लोगों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की संश्लिष्ट झाँकी प्रस्तुत करने में ज्यादा दिलचस्पी लेता है। वैसे, लक्ष्य किया जाए तो इस कहानी में बाबा की वर्गीय पहचान एक सामंत (ठाकुर) की है जिनके पास वैभव के रूप में धरती-धन-धान्य सब कुछ होता है। फिर भी, वे इन्हें अपना वैभव शायद ही समझते हैं। वे तो गुलरा के जंगल और बाग में ही अपनी दुनिया सीमित किए हुए रहते हैं। तभी तो वे गाँव में 'गुलरा के बाबा' कहे जाते हैं। बाबा अपनी दुनिया में न सिर्फ सीमित रहते हैं, बल्कि आनंदित भी। किंतु, वे तब विचलित हो उठते हैं, जब गाँव का एक साधारण व्यक्ति चैतू अहीर सरपत काटने हेतु उनके बाग में अनधिकृत प्रवेश करता है तथा उनसे धृष्टपूर्ण आचरण करता है। जब बाबा के मना करने पर भी चैतू का जब सरपत काटना नहीं रुकता है तो बाबा इसे एक चुनौती समझते हैं—“ मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। अपने दो-एक संगी साथियों और बूढ़-परानियों को भी बुलाये आना-यहीं; यदि तुम मेरा गट्टा टेढ़ा कर दोगे तो मैं कभी जबान नहीं खोलूँगा और यदि नहीं, तो तुम कल से यहाँ दिखायी न पड़ना।”⁶ चैतू भी बाबा की ओर से दी जाने वाली उक्त प्रति चुनौती को स्वीकार करता है और अपने घर लौट जाता है। दूसरे दिन, जब उसकी मुठभेड़ बाबा के साथ होती है तब उसमें वह हार जाता है। उसकी हार के तदुपरांत गाँव के सामंतजन (ठाकुर) उसे उसकी धृष्टता की सजा देने हेतु समवेत उद्धत हो जाते हैं, क्योंकि सदियों से चली आ रही सामंती व्यवस्था में इस बात की कोई गुंजाइश

नहीं रहती है कि कोई भी साधारण आदमी किसी सामंत को चुनौती दे।

किंतु, यहाँ एक नई बात यह दिखती है क बाबा ऐसे सामंतों में अपने को शामिल नहीं करते हैं। वे चैतू को सजा देने वाले दूसरे सामंतों का न सिर्फ प्रतिवाद करते हैं, बल्कि उसकी हार से मायूस भी होते हैं। उनकी यह उदासी इसलिए भी होती है कि वे चैतू की पहलवानी में गाँव की भावी पहचान और शान देखते हैं। इसी कारण चैतू की टाँग-टूटने की खबर से जहाँ वे विचलित हो उठते हैं, वहाँ गाँव के अन्य सामंत प्रतिहिंसात्मक –“अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का। अब इन कमीनों की इतनी हिम्मत हो गयी।”⁷ जिससे यह बात जाहिर होती है कि बाबा की पहचान एक सामंत की न होकर एक ऐसे इंसान की होती है, जो न सिर्फ अपने दुःख से दुःखी होता है, बल्कि औरों के दुःख से भी। चूंकि, बाबा स्वयं एक पहलवान रहे होते हैं, इस कारण भी वे पहलवानी के मर्म और उसे जुड़े दर्द को बेहतर समझते हैं। इस नाते ही वे टूटी जोड़ को बिठाना जानते हैं और इसके लिए वे छूट पड़ते हैं। बाबा की वजह से चैतू सिर्फ होश में नहीं आता है, बल्कि बाबा भी चैतू के घर आने के उपरांत होश में आ जाते हैं। उन्हें तभी चैतू के धृष्टपूर्ण आचरण के पीछे छिपे सच का पता चलता है—“ बाबा ने उसका सर अपनी जाँघ पर टिका लिया। इधर-उधर देखा। चैतू का छप्पर टूटा पड़ा था। खरी का ओसार भी छान्ह का ही बना था-वह भी सड़ गया था।”⁸ जिससे यह स्पष्ट होता है कि चैतू अपनी गरीबी और बेवसी से तंग होकर ही उस समाज के समक्ष धृष्टपूर्ण आचरण करता है, जो आर्थिक-सामाजिक विषमता से संत्रस्त है। दूसरे अर्थों में कहा जाए तो, ऐसा प्रतीत होता है कि कहानीकार बाबा की नज़र से ग्रामीण आमजन की गरीबी, अभावग्रस्तता, सामाजिक- आर्थिक विषमता तथा इनसे उपजी तीव्र असंतोष-विद्रोह भावना को देखते-दिखाते हैं, जो उनकी यथार्थ-दृष्टि में निहित मानवीय एप्रोच को दर्शाता है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण जीवन के स्याह-सपेद्द दोनों पक्षों को बाबा की नज़र से दिखाने का प्रयास करता है। यही कारण है कि ग्रामीण जीवन में लोगों का अपने खेत-खलिहान, बाग-बगीचे तथा पशु-प्राणी से होने वाला मानवीय व्यवहार उनके (बाबा के) चरित्र के जरिए दर्शाया जाता है। यही नहीं, गाँव के सांस्कृतिक जीवन में शामिल पर्व-त्यौहार तथा उससे जुड़ी सामूहिक खुशी और मस्ती भी देखते ही बनती है (फागुन की मस्ती में सराबोर लोगों का जिक्र)। बाबा की नज़र से ही गाँव के परिवेश के सौन्दर्य को कहानी में उतारा जाता है—“गुलरा

के पलासों पर तो फागुन उतर आया था, अजब का फूल होता है— लाला टेस; और टहनियाँ काली या चितकबरी बे पत्तियों की। शाम की किरणें रोज़ उन पर थम जाती हैं और आम की बगिया की साँवरी छाह जैसे उसकी ललछहट में एक खैरी-मटमैली रेखा से बँट जाती है। बाबा एकटक नीचे देख रहे हैं...।”⁹ जिसका अभिप्राय कहानीकार द्वारा इस कहानी के जरिये तत्कालीन हिंदी कहानी लेखन के समक्ष इस तथ्य को रखना होता है कि ग्रामीण जीवन के स्याह-सफेद पक्ष को दरकिनार कर आगे बढ़ा नहीं जा सकता है। मार्कण्डेय के कहानीकार की इसी ललक को कहानीकार अमरकांत एक नए लेखक का ग्रामीण जीवन के प्रति प्रथम अनुराग कहते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान देने वाली हाती है कि कहानीकार ग्रामीण परिवेश से अपने अंतरंग लगाव को वहाँ के स्थानीय रंगत के चित्रण के रूप में सहारे व्यक्त तो करता है पर उसमें ठिठक कर रह नहीं जाता है, अपितु उसे वह ग्रामीण जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को गाढ़ा करने के क्रम में, उसे जीवंत बनाने की प्रक्रिया स्वरूप ग्रहण करता है। इसीलिए आलोच्य कहानी में बाबा के चरित्र की दृढ़ता के साथ-साथ गाँव के जीवन की संश्लिष्टता भी दृष्टिगोचर होती है।

इस कहानी में बाबा के चारित्रिक दृढ़ता के साथ उसका कोमल पक्ष तब दर्शनीय हो उठता है, जब वे चैतुआ की टूटी छान्ह की मरम्मत हेतु अपने मजदूरों को गुलरा के बाग से सरपत काटने का आदेश देते हैं। कुछ विद्वान कहानी के इस रूप को आदर्शवादी बताते हैं, बाबा के चरित्र को कमजोर बताते हुए अविश्वसनीय तक कहते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि ग्रामीण जीवन से अंतरंग जुड़ाव रखने वाला हर शख्स वहाँ के मानवीय संबंधों को वहाँ की सांस्कृतिक पहचान के रूप में देखता और स्वीकारता है। इसमें उन्हें कोई अविश्वसनीयता नजर नहीं आती है। उदाहरणस्वरूप गाँव के जीवन में रचे-बसे कहानीकार विवेकीराय के मंतव्य को देखा जा सकता है। जिनका यह मानना है कि—“गुलरा के बाबा में जो आदर्शवादी उभार है वह सांस्कृतिक अधिक है।”¹⁰ जिससे कहानी को देखने का नजरिया ही बदल जाता है।

अतः यहाँ कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, यह कहानी स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी लेखन में ग्रामीण जीवन की संवेदना की ओर फिर से लोगों का ध्यानाकर्षण कराती है। दूसरी, यह कहानी ग्रामीण जीवन में व्याप्त प्रेम-घृणा, दंभ-स्पर्धा, आसक्ति-विरक्ति, गरीबी-लाचारी, मस्ती-आनंद और प्रकृति सौन्दर्य की, उसकी स्थानीय रंगत के साथ संश्लिष्ट अभिव्यक्ति करती है। तीसरी, यह कहानी कहानीकार के उस यथार्थवादी दृष्टिकोण को जाहिर करती है, जो वस्तुस्थिति

का सतही चित्रण करने के बजाय उसकी तह में जाकर उसके संश्लिष्ट कारणों का रेखांकन करती है। सारतः कहा जाए तो यह कहानी एक युवा कहानी-लेखक के ग्रामीण जीवन के प्रति होने वाले उत्साह-अनुराग को अभिव्यक्त करती है, जहाँ गुलरा के बाबा द्वारा चैतू की टूटी हड्डी या जोड़ का बिठाना युवा कहानीकार की उस मानवीय संवेदना का भी व्यंजक होता है जो समाज की टूटी जोड़ (विसंगतियों) को दुरुस्त करने की सदिच्छा रखता है।

6.2 'जूते'

आलोच्य कहानी मार्कण्डेय के कहानी-संग्रह 'महुए के पेड़' में संगृहीत है। सबसे पहले, इस कहानी के शीर्षक की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होता है। जिससे इस कहानी का कथ्य व्यंजित होता है। जूते, शरीर के अधो भाग (पैर) के साथ ताल्लुक रखता है। कहा भी जाता है कि यह चाहे कितना भी कीमती हो, इसे सिर (ऊपर) पर नहीं रखा जाता है। अर्थात् यह सदा नीचे रहता है, जो इसकी नियति कहलाती है।

उल्लेखनीय है कि सदियों से हमारे वैषम्यपूर्ण समाज और उसकी संरचना में गरीब-दलित-पीड़ित-उपेक्षित वर्ग की स्थिति कमोवेश यही रही है। उसे सदा हेय समझा जाता रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि कहानीकार मार्कण्डेय आज के दलित विमर्श की बुलंद आवाज़ से बहुत पहले अपनी 'जूते' कहानी में एक दलित-उपेक्षित पात्र को कहानी के केन्द्र में रखते हुए ग्रामीण वैषम्य और विसंगति पूर्ण समाज की वास्तविक छवि रखने का प्रयास करते हैं। हाँ, वैसे यह सच है कि वे दलित पात्र को जाति के अंतर्गत देखने के बजाय एक वर्ग के भीतर देखते हैं, जो उन्हें प्रेमचंद की दलित संवेदना का कहानीकार बनाता है।

इस कहानी का मुख्य चरित्र मनोहर एक ऐसे वर्ग से संबंध रखता है जो ग्रामीण समाज का शोषित-उपेक्षित वर्ग कहलाता है। जहाँ उसे अपने छुटपन से ही अपने परिवार में व्याप्त गरीबी, अभावग्रस्तता तथा शोषण को न सिर्फ देखना पड़ता है, अपितु झेलना भी होता है। प्रस्तुत कहानी का प्रारंभ इसी बालक मनोहर तथा उसकी अनभिज्ञता से होता है— "यह तो जूते नहीं हो सकते, और चाहे कुछ भी हो!"¹¹ जिससे यह जाहिर होता है कि जूते के रूप में वह चीज उसके जीवन से अछूती रही है। देखा जाय तो यह एक बालक का मनोविज्ञान भी है। मार्कण्डेय की आलोच्य कहानी 'जूते' में बालक के इस मनोविज्ञान में वृहत्तर कथ्य भी गुम्फित है। इस छोटी सी कहानी में मार्कण्डेय के कहानीकार की कलात्मकता इस रूप में आलोकित होती है कि वे इसके जरिए

ग्रामीण जीवन के बहुपरती यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा करते हैं।

प्रस्तुत कहानी का मनोहर ग्रामीण सामाजिक संरचना में अद्योगति को प्राप्त उस वर्ग से आता है जिसके जीवन में आजादी का कोई मतलब नहीं है, क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति यथावत् रहती है, अभावों से ग्रस्त। जहाँ मनोहर जैसे लड़को की तीव्र इच्छा एक जूते पाने में विराम लेती है—“मैं बड़ा होकर जरूर एक जूता बनवाऊँगा। चाहे उसके लिए कितना ही काम क्यों न करना पड़े।”¹² यहाँ गौर किया जाए तो एक बाल मन की संवेदना ही नहीं व्यक्त होती है, अपितु उस जीवन में व्याप्त गरीबी की दयनीय अवस्था भी साथ-साथ सूचित होती है। गाँव के मनोहर जैसे बहुतों के परिवार की यही अवस्था है। जिससे उबरने हेतु वे गाँव के जीवन से पलायन कर कलकत्ता आदि शहरों में विस्थापन को बाध्य होते हैं। मनोहर की माँ के निम्न कथन से उक्त ज्वलंत सच जाहिर होता है—“मेरा मनोहर भी चटकल के साँचे चला लेगा और कलकत्ता से लौट कर आएगा तो उसके पास बढ़िया कुर्ता, धोती, साफा और जूता होगा।”¹³ जिसे ध्यान दिया जाए तो इससे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के पलायन रूपी सच के लिए जिम्मेवार प्रमुख कारण का संज्ञान भी होता है।

इसी तरह इस छोटी सी कहानी में जमींदारी-प्रथा खत्म होने के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में सामंती सोच और संस्कार के जस के तस बने रहने का सच भी गुम्फित है। इस कहानी में मनोहर तथा उसकी माँ के प्रति मालकिन और ठाकुर का व्यवहार परंपरागत सामंती प्रवृत्ति के अनुरूप ही रहता है, जो ग्रामीण जीवन में व्याप्त जातिगत-भेदभाव और घृणा की मानसिकता को दर्शाता है। कहने की जरूरत नहीं है कि स्वतंत्रता के पहले लिखी प्रेमचंद की कहानी ‘ठाकुर का कुआँ’ में जोखू-गंगी जैसे लोगों के मन में ठाकुर के डंडे का जो भय रहता है, वह भय आजादी के बाद की लिखी कहानी ‘जूते’ के मनोहर के मन भी व्याप्त रहता है। इस कहानी में मनोहर के मन में ठाकुर के चमरौधे तथा डंडे से पिटने का भय उक्त सच की तस्दीक करता है कि स्थिति में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं आया है —“उसने पत्तियों को पैरों तले बाँधने के लिए घर ही से रस्सी के कई टुकड़े भी छिपा कर जेब में रख लिय थे; क्योंकि बड़ी मालकिन के वे शब्द, जो उन्होंने मनोहर को एक दिन पलास की पत्तियों के जूते पहने देखकर कहा था, “शैकीन होता जा रहा है? बाप ने कभी जूतों का मुँह देखा था? अभी से तेरा पाँव जलने लगा।”¹⁴ जिसे ध्यान दिया जाए तो दो प्रमुख बातों का संकेत मिलता है। पहली, ग्रामीण सवर्ण-मानसिकता यह चाहती है कि

गरीब-दलित वर्ग उसकी 'धिसौनी' (गुलामी) जिंदगी भर चुपचाप सिर झुकाए करता रहे और उसके समान कोई सामाजिक-आर्थिक समानता अर्जित न कर पाए। दूसरी, मनोहर रूपी बालक ग्रामीण जीवन में पलने वाली सवर्ण मानसिकता के घृणा और तिरस्कार को बहुत छोटी अवस्था से ही समझने लगता है जिसे उसके मन में बैठे डर और प्रताड़ना के भाव के रूप में देखा जाता है। दरअसल यह कहानी अपने सीमित कथ्य में यह भी दर्शाती है कि जिस अवस्था में एक बालक का नाता शिक्षा-दीक्षा से होना होता है, उस अवस्था से ही वह डरा-सहमा मजदूरी की घुट्टी पीता हुआ अपने जीवन को काट रहा होता है। जिससे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में शिक्षा और बुनियादी सुविधाओं के विकास की वास्तविकता उजागर होती है।

एक अन्य स्तर पर देखा जाए तो यह कहानी मनोहर रूपी चरित्र के जरिए ग्रामीण-शहरी जीवन मूल्य-बोध के अंतर को भी दर्शाती है। आलोच्य कहानी में मनोहर के प्रति मालकिन के व्यवहार में जो अहंमन्यता, तिरस्कार और घृणा है, वह ग्रामीण जीवन के मूल्य बोध में समाए जातिगत भेद-भाव, ऊँच-नीच, श्रेष्ठ-हेय की सामंती सोच के परिणामस्वरूप है, जिसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव मनोहर के मन में बैठे डर और प्रताड़ना के भाव में होता है। जबकि दूसरी ओर, मनोहर के प्रति बहू के व्यवहार में जो सहज स्नेह और ममत्व दिखाई देता है, वह शहरी जीवन मूल्य-बोध में सामंती बोध के नदारद रहने के परिणाम स्वरूप है और जिसका प्रभाव मनोहर के मन में होने वाले आह्लाद के रूप में होता है, जो उसे विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने; उससे जूझने के लिए तत्पर करता है। मालकिन की बहू को स्टेशन छोड़ आने के बाद लौटते हुए मनोहर के मन की जो दशा होती है उसमें उस आह्लाद-उत्साह को पढ़ा जा सकता है—“पर लौटते समय यह पलास की पत्तियों, आग की तरह जलती धूप और जेठ की दुपहरिया, जैसे कुछ नहीं थी, क्योंकि रास्ते पर धूल थी, कंकड़ थे और मनोहर की बगल में एक कागज का डिब्बा दबा था, जिसमें उसके लिए लाल-लाल जूते थे।”¹⁵ जिससे यह व्यंजित होता है कि बाल मन सहज स्नेह-ममत्व को चाहता है। उसके अंदर बैठे डर, प्रताड़ना आदि का शमन इसी भाव से होता है। एक बाल मन को जैसा उसका परिवेश -समाज मिलता है उसका व्यक्तित्व उसी अनुरूप तैयार होता है। इसी स्तर पर मार्कण्डेय का कहानीकार मनोहर रूपी एक बाल चरित्र के मनोविज्ञान को समाज के यथार्थ के साथ सम्पृक्त कर लेता है।

इस प्रकार विचार किये जाने पर इस कहानी से संबंधित कई बातें कही जा सकती हैं।

पहली, आलोच्य कहानी मार्कण्डेय की दलित संवदेना को प्रतीकित करती है। दूसरी, प्रस्तुत कहानी में एक दलित बालक मनोहर का चरित्र तथा उसका मनोविज्ञान केन्द्रीय कथ्य है, पर यह ग्रामीण समाज के अन्य वृहत्तर कथ्य को भी अपने अंतर्गत समाहित किए हुए रहता है। तीसरी, इस कहानी में भी मार्कण्डेय का कहानीकार यथार्थ को संश्लिष्टता में पकड़ने तथा उसे प्रत्यांकित करने में सचेष्ट नजर आता है। इस कारण ही स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं-सामाजिक-आर्थिक वैषम्य, सामंती सोच-संस्कार, शोषित-दलित वर्ग की अभावग्रस्तता, तिरस्कार-अपमान, जातिगत भेदभाव का दंश और पलायन, ग्रामीण-शहरी जीवन मूल्य-बोध का अंतर आदि को भी संश्लिष्ट रूप में पकड़ने की कलात्मकता आलोच्य कहानी में संभव हो पाती है। सारतः कहा जाए तो यह कहानी अपने सीमित कथ्य-कैनवास में ग्रामीण यथार्थ के विविध फलकों को संस्पर्शित करते हुए अपना रूप गढ़ती है।

6.3 'कल्याणमन'

आलोच्य कहानी मार्कण्डेय के कहानी-संग्रह 'हंसा जाई अकेला' (1957) में संगृहीत है। कल्याणमन, जो इस कहानी का शीर्षक है, उसे कहानी के प्रारंभ में ही कहानीकार स्पष्ट करते हुए कहता है कि यह सोलह बीघे का एक तालाब है। जिस पर कहानी की प्रमुख पात्रा मंगी सिंघाड़े की खेती करती है, इस कारण भी यह एक भूमि के रूप में पहचाना जाता है। इस कल्याणमन को गाँव का ठाकुर हड़पना चाहता है। पूरी कहानी इसी के इर्द-गिर्द घूमती है।

कहानीकार मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन को लेकर होने वाले बदलाव को ऊपरी तौर पर न देखते हुए उसकी तह में प्रवेश करते हैं। इस कारण भी उनकी कहानियों में जमीनी हकीकत का प्रत्यांकन संभव होता है। आलोच्य कहानी 'कल्याणमन' में भी जमींदारी-प्रथा का अंत, जमीन पर जोतने वालों का अधिकार तथा जमींदारों के अत्याचार-शोषण का खात्मा आदि सुंदर नारों-घोषणाओं रूपी खुशफ़ैमियों के पार जाने की कहानीकार की दिलचस्पी स्पष्ट देखी जाती है। इस कहानी की बात की जाए, तो सबसे पहले इसके जीवंत चरित्र मंगी का जिक्र स्वाभाविक लगता है। इस कहानी में मंगी की वर्गीय पहचान ग्रामीण शोषित वर्ग की है, जिसके पास कवेल उसका अपना श्रम होता है। उसके जीवन में बुनियादी सुविधाओं का अभाव पसरा रहता है। उसके लिए उसका कल्याणमन- ही उसका वैभव है। दरअसल जैसे एक किसान की आँखें अपनी लहलहाती फसलों पर टिकी रहती है, उसी भांति मंगी की नज़र अपने कल्याणमन तथा उस पर होने वाले

सिंघाड़े के छत्तों (फसल) पर लगी रहती है। यह उसकी जीविका का एक आधार है। उसका वर्तमान और भविष्य इसी से जुड़ा होता है। यही नहीं, मंगी के दूसरों के घरों में किया जाने वाला श्रम भी उसकी जीविका का एक आधार तथा उसके व्यक्तित्व का हिस्सा होता है—“घर में एक भड़साँय, दो घरों में पानी की भराई और वही कल्याणमन के सिंघाड़ों की खेती है, उसके पास।”¹⁶

कहने की जरूरत नहीं है कि श्रम ही उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को खड़ा करता है। इसी के बूते वह अपने ऊपर होने वाले तमाम शोषण के खिलाफ खड़ी होने का साहस दिखाती है—“मंगी को क्या डर! कहती, “कोई सेत का खाती है जो लात-गारी सहूँ। रात-दिन छाती पर बज्जर जैसा गगरा-बाल्टी ढोती हूँ। बन्न कर दूँ तो सरने लगे रानी लोग।”¹⁷ अर्थात् उसे इसका संज्ञान होता है कि इस विषमतापूर्ण समाज में उसकी या श्रम से जुड़े रहने वाले वर्ग की कितनी अहमियत है। वह यह जानती है कि उसके श्रम पर ही सुविधाभोगी वर्ग जीता है, उस पर निर्भरशील रहता है। अनपढ़ मंगी अपने अभावग्रस्त जीवन में इस फलसफे को भली-भांति समझती है कि श्रम ही उसका एकमात्र सम्बल है, इस कारण ही वह इस श्रम को अपने जीवन-यापन में बेहतर रूप में शामिल करती है—“मंगी सबेरे, रहट्टे का खरहरा लेकर निकलती सारे बगीचे की पत्तियाँ बटोर डालती, उन्हें इक्ठ्ठा कर बड़े-बड़े गाँज बना देती और साल भर उसी से भाँड़ के ईंधन का काम चलाती।”¹⁸ अर्थात् अनथक श्रम से बटोरी गयी पत्तियाँ उसके दैनंदिन जीवन में ईंधन का काम करती हैं। जिसकी व्यंजना यह होती है कि सर्वहारा शोषित वर्ग को लिए श्रम ही उसके जीवन का इंधन है।

इस कहानी में मंगी के बहाने इस सच को दर्शाया जाता है कि स्वशासन में भी, जमींदारी-अत्याचारी बंदूक सदा शोषित वर्ग पर तनी रहती है—“जानता नहीं कि ये लोग जमीन के लिए आदमी की गरदन भी काट सकते हैं...।”¹⁹ स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में जमींदार और भी खतरनाक-चालाक हो जाते हैं। स्वशासन जमींदारों द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले ‘अन्हेर’ का पोषण करती है। स्वशासन भूमि सुधार-संस्कार से जुड़ी नीतियों का लाभ जरूरतमंदों को पहुँचे, इस बात में गहरी दिलचस्पी नहीं लेती है। जमींदारों के साम-दाम-दण्ड-भेद नीतियों और चालकियों के समक्ष भूमिहीनों के भावी सपने बिखर जाते हैं। आलोच्य कहानी की मंगी इन दुर्नीतियों को खूब समझती है, इसलिए वह अपने बेटे पनारू को समझाती है, ताकि वह अपने भावी जीवन में अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना सके—“बड़ा कानून सीख के बैठा तो है, भला बची है एक बिस्सा भूँय किसी मजूर-धतूर के पास? सभी तो खेत जोत रहे थे। कोई मार खाकर इस्टीपा लिय गया, तो किसी को बहका

कर सादे कागज पर अँगूठे की टीप ले ली, इन लोगों के। किसी को सौ-दो-सौ देकर टरकाया। कहाँ रह गया है, कुछ? वह तो कहो मुझे, जो बैठी हूँ बज्जर की तरह छाती पर।”²⁰ जिसे ध्यान दिया जाय तो मार्कण्डेय की उस यथार्थ-दृष्टि से परिचित हुआ जा सकता है, जो यह संकेत करती है कि शोषण, अन्याय, अत्याचार और ‘अन्हेर’ के समक्ष मजबूती से खड़ा रहकर ही विषमता और शोषण विहीन-समाज को गढ़ा जा सकता है। किंतु, मंगी के समझाने पर भी उसका बेटा पनारू नहीं समझता है, वह गाँव के ठाकुर (जमींदार) के बहकावे में आ जाता है। ठाकुर शोषण के समक्ष दृढ़ता से खड़ी रहने वाली मंगी के ही खिलाफ उसके बेटे पनारू को खड़ा कर देता है। इसी चालाकी और साज़िश का प्रभाव यह होता है कि पनारू कल्यानमन को लेकर अपनी माँ पर ही यौन-लांछन लगाता है। जिससे मंगी को भीतरघात होता है, उसकी जिजीविषा ही टूट जाती है।

वह कल्यानमन को जमींदार को दे देने की बात कहती है, तो एक पल के लिए ऐसा प्रतीत होता है कि ठाकुर (जमींदार) का कुचक्र अपना रंग जमा लेता है—“जब मैं अपने सराबी आदमी की नहीं हुई और उसे ठारी में गला कर मार डाला तो इस भोंदे लड़के को कल्यानमन नहीं दे जाऊँगी मंगाओं अपना कागद पत्तर, ले लो मेरे अँगूठे की टीप।”²¹ पर वास्तव में ऐसा नहीं होता है। ध्यानपूर्वक मंगी के कथन को देखा जाए तो उससे इस बात को समझा जा सकता है कि कल्यानमन या कोई भी भूमि, उस जोतवाले को मिले जो अपना स्वतंत्र बजूद रखता हो, जो छाती कड़ी कर एक नये उत्साह के साथ जमींदारों के शोषण के खिलाफ खड़ा रहने का माद्दा रखता है। ठीक उसकी भाँति, न कि वह ऐसे भोंदे पनारू को मिले, जो न तो भूमि पर वज्र की तरह बैठने की कुब्रत रखता है और ना ही अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व। मार्कण्डेय का कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के ठाकुर जैसे जमींदारों को ही साँप कहता है, जो भूमिहीनों की जोत और जमीन पर फन काढ़े रहता है। यहाँ मंगी के निम्न कथन से यही व्यंजना होती है—“कौन जाने मेहमान अब भी फन काढ़े बैठे हों, कल्यानमन जो लेना है उन्हें।”²²

एक अन्य स्तर पर, यह कहानी मार्कण्डेय की स्त्री-संवदेना को मुखर करने वाली प्रतीत होती है। इसमें ग्रामीण स्त्री का एक सशक्त चरित्र मंगी के रूप में उज्जीवित होता है। जिसे हिंदी कहानी के चारित्रिक विकास की प्रक्रिया में देखे तो मंगी का चरित्र विशिष्ट बन जाता है। स्वतंत्रता पूर्व लिखी प्रेमचंद की कहानी ‘कफन’ (1936) की बुधिया (पात्र) तथा स्वातंत्र्योत्तर रची गयी आलोच्य कहानी ‘कल्यानमन’ (1957) की मंगी को सापेक्षिक रूप में देखा जाए तो यह बात

समझने वाली होती है कि 'कफन' की बुधिया जहाँ, स्वयं श्रम करके दो परजीवी पुरुष (घीसू और माधव) को पालती है, अपने ही परिवार की उपेक्षा सहती हुयी घुटती हुयी जीती है और अंततः अपने प्राणों की आहुति दे देती है। वहीं, मंगी अपने श्रम पर पलने वाले नशेड़ी बंगा (पति) को अपने जीवन से निकाल फेंकने हेतु इतनी कठोर हो जाती है कि वह अपने बच्चे, जिसकी आड़ में बंगा जैसा परजीवी पुरुष पलता है, उसके प्रति भी ममत्वहीन हो जाने का ख्याल तक कर लेती है— "बच्चे की भूख, अपनी परेशानी और बंगा की नशा खोरी उसे लगा, जैसे कोई भूत ठहाका लगाकर बत्तीसों दाँत वाये खड़ा हो।... क्यों न दबा दू इसकी गरदन और इस नसेड़ी को लात मार कर कल दूसरे घर बैठ जाऊँ। देखूँ यह दाढ़ीजार किस बूते सराब पीता है।"²³ यहाँ मंगी जैसी सशक्त ग्रामीण स्त्री की छवि में बुधिया जैसी ग्रामीण स्त्री का विकास नजर आता है, जो प्रेमचंद ओर मार्कण्डेय के ग्रामीण यथार्थ को बेहतर ढंग से परिभाषित करता है। संक्षेप में कहा जाए तो, मार्कण्डेय की 'कल्याणमन' की मंगी पितृसत्तात्मक (पुरुष के अत्याचार) अन्याय और सामंती शोषण के खिलाफ खड़ी होने वाली एक कालजयी चरित्र का रूप लेती है, जो आलोच्य कहानी को एक विशिष्ट आयाम देता है।

इस प्रकार इस कहानी से संबंधित विस्तृत विवेचन को निष्कर्ष स्वरूप देखें तो कई बातें निकलकर आती हैं। पहली, स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में जमींदारी-प्रथा तो टूटती है पर जमींदारी-अत्याचार और शोषण निर्मूल नहीं होता है। दूसरी, स्वशासन के 'जमीन पर जोतनेवालों का अधिकार' जैसे नारे, सामंतों की चालाकियों और षड़यंत्रों की भेट चढ़ जाते हैं। तीसरी, जमींदार की गिद्ध-दृष्टि जमीन के मोह को नहीं छोड़ पाती है, इस कारण उनकी जमीन की हड़पनीति बदस्तूर कायम रहती है। चौथी, भूमिहीन शोषित वर्ग में संगठनबद्धता का अभाव, उनकी अपनी व्यक्तिगत कमजोरियाँ तथा स्वशासन का बरदहस्त स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में जमींदारों-सामंतों को नए सिरे से उभरने एवं मजबूत होने का अवसर प्रदान करता है। पाँचवी, स्त्री का सशक्त रूप (श्रम और साहस से रंगा हुआ) न सिर्फ पितृसत्तात्मक संस्कार को ध्वस्त करता है, अपितु सामंती अन्याय, अत्याचार और शोषण को भी चुनौती देने में सक्षम होता है। सारतः कहा जाए तो 'कल्याणमन' कहानी मंगी के चरित्र के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की भूमि से जुड़ी समस्याओं की जमीनी सच्चाई को उज्जीवित करती है।

6.4 'दौने की पत्तियाँ'

प्रस्तुत कहानी भी मार्कण्डेय के 'हंसा जाई अकेला' कहानी-संग्रह में संगृहीत है। इस कहानी में प्रेमचंद के बाद का ग्रामीण यथार्थ है, जहाँ स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गाँवों में किए जानेवाले विकास और राजनीति से बनती नई परिस्थितियों की जमीनी हकीकत देखने को मिलती है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण प्रकृति से अंतरंग रिश्ता रखता है, इस कारण ही वह अपने आसपास की स्वच्छंद प्रकृति के चतुर्दिक घुमड़ते-घिसटते जीवन यथार्थ को वस्तुगत ढंग से देख पाने में समर्थ होता है। उनकी ज्यादातर कहानियों में, जैसा कि आलोच्य कहानी में भी, प्रकृति-परिवेश का सौन्दर्यपरक चित्रण मिलता है। किंतु, विशेष बात यह होती है कि वे इसमें उलझकर रह नहीं जाते हैं, बल्कि प्रकृति के मध्य उलझें मनुष्य के जीवन को करीब से देखने की ओर प्रवृत्त होते हैं। आलोच्य कहानी 'दौने की पत्तियाँ' का प्रारंभ उक्त बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, जहाँ इसके प्रमुख पात्र के मन की उलझन का संकेत प्रकृति चित्रण के क्रम में हो जाता है—“ सामने फैले विस्तृत भूखंड का हल्का नीलावरण भोला की दृष्टि में एकाग्र होकर, चुपचाप बैठ गया था- बहुत ही गुम-सुम, जैसे प्रकृति का जीवन ही भूल से कहीं खो गया हो। सामने वाली नीम की पत्तियाँ भी किसी अनुशासन में स्थिर खड़ी थीं। भोला ने ऊपर से नीचे तक उस नीम के पेड़ को निहारा।”²⁴ जिससे इस बात का पता चल जाता है कि प्रकृति के चारों ओर अपने को मस्त पाने वाला भोला आज प्रकृति के मध्य अटक-सा गया है। जिसका कारण कहानीकार पूरी कहानी में रिसते हुए दिखाता है।

भोला कोयरी ग्रामीण शोषित वर्ग से आता है जिसके पास गाँव के नहर से सटी जमीन का एक टुकड़ा है, जिस पर वह सब्जिया उगाता है तथा जिसे वह दौने के गाछ समेत विभिन्न पेड़-पौधों से घेरकर एक रमणीय स्थल का रूप देता है। उसकी जमीन का यह टुकड़ा गाँव वालों के लिए भी खास है। भोला को दौना का गाछ बहुत प्रिय है, इसे वह अपना वैभव समझता है। वह अपने इस वैभव (दौने की पत्तियाँ) को गाँव के आने-जाने वालों में बाँटता है। दरअसल यह ग्रामीण शोषित वर्ग ही होता है जिसे बाँटने में आनंद आता है, जबकि दूसरी ओर सामंत शोषक वर्ग है जिसे दूसरों के वैभव छीनने में, उसका लूट-खसोट करने में आनंद मिलता है। इस कहानी में अपना कुछ बाँटने में आनंद पाने वाला भोला को अचानक भावी जीवन की निराशा घेर लेती है, क्योंकि उसे यह पूर्वाभास हो जाता है कि कुछ ही दिनों में उसका सारा वैभव उसकी आँखों के

आगे लूट लिया जाएगा । उसे लगता है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति और विकास से उभरती नई परिस्थितियों में वह अकेला पड़ जाएगा । इन्हीं विषम परिस्थितियों में, उसके मन में किसानी और मजदूरी को लेकर एक अंतर्द्वंद्व भी उभरता है । अपनी पत्नी गुलाबी के यह कहने पर कि खेती में मरजाद है चाकरी में नहीं, वह बड़े आहत मन से यह जवाब देता है—“गुलाबी, अब तो वही रहेंगे, जहाँ चाहे सूखी रोटी ही मिले पर किसी की गालियाँ न सहनी पड़े । भुल्लू को बचाए रहो ।”²⁵ जिसे ध्यान देने पर तो कई बातें निकलकर आती हैं । पहली, भोला हिंदी कहानी के ग्रामीण चरित्र का विकास लगता है, उसे देखते हुए स्वतंत्रता पूर्व प्रेमचंद की कहानी ‘पूस की रात’ का हल्कू स्मरण में आता है जिसका मन भी खेती से उचाट हो जाता है और वह खेती छोड़ मजदूर बनने की ओर प्रवृत्त होता है । यहाँ भी भोला कोयरी गाँव से पलायन कर शहरी मजदूर के रूप में अपना भावी जीवन देखता है । दूसरी, दोनों ग्रामीण चरित्रों— हल्कू और भोला कोयरी की किसानी संवेदना आहत होती है । हल्कू के संदर्भ में जमींदारी प्रथा का अत्याचार-आतंक मुख्य है, जबकि भोला कोयरी के संदर्भ में इसके अतिरिक्त भी और बहुत कुछ है । इस बहुत कुछ में, पहली चीज वे परिस्थितियाँ हैं, जहाँ जमींदारी-प्रथा टूटने के बाद भी भोला जैसे छोटे किसान को अपना जीवन और अपनी किसानी को बचाए रखने के लिए उधार लेना पड़ता है, देनदारों की गालियाँ-धौंस सहनी पड़ती है । अर्थात् जमींदारी-प्रथा टूटने के बाद भी ग्रामीण छोटे किसानों की किसानी से जुड़ी समस्या समाप्त नहीं होती है । यही नहीं, भोला कोयरी के संदर्भ में उसकी किसानी संवेदना के आहत होने में स्वातंत्र्योत्तर पिटी हुयी सत्ता, भ्रष्ट व्यवस्था तथा चालाक नवसामंत वर्ग का सम्मिलित आतंक और अत्याचार होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि मार्कण्डेय की आलोच्य कहानी ‘दौने की पत्तियाँ’ में प्रेमचंद के बाद का ग्रामीण सच मिलता है ।

मार्कण्डेय आलोच्य कहानी में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ के रूप में भोला जैसे किसान की समस्याओं के अंत न होने का सच दिखाते हैं, क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में सामंत और भी चालाक, सामर्थ्यवान होते जाते हैं । प्रस्तुत कहानी में कहानीकार उक्त सच को तिवारी जी जैसे नवसामंत के जरिये दिखलाते हैं—“सिंचाई मिनिस्टर इसी खित्ते के तो रहने वाले हैं । पिछली बार चुनाव में तिवारी जी ने धन-जन से बड़ी मदद की थी, उनकी ।... लोग कहते हैं, तिवारी जी ने कमाल कर दिया था । सिंचाई मिनिस्टर तो इतने खुश की तिवारी जी की अकल के गुलाम हो गये, तब से ।”²⁶ जो यह दर्शाता है कि गाँव के तिवारी जी जैसे नवसामंत न सिर्फ लोकतांत्रिक

प्रक्रिया में अपनी दखलांदाजी करते हैं, अपितु जनता के हितों का विकास करने वाले प्रतिनिधि को अपने हितों को साधने हेतु पूरी तरह अपनी गिरफ्त में ले लेते हैं। अर्थात् गाँव का नवसामंत सत्ता को अपने हित साधने में सक्षम होता है।

वैसे देखा जाए तो स्वतंत्रता बाद शासन की नीतियों में पंचवर्षीय योजनाएँ समेत ग्रामीण जीवन का उन्नयन रूपी पहलू समाविष्ट रहता है। इसी के प्रतिफलन स्वरूप गाँव में नहर-निर्माण जैसे विकास कार्य होते हैं, जैसा कि आलोच्य कहानी में भी दिखाया गया है। जिससे गाँव के छोटे किसान भोला समेत कई लोगों के जीवन में नया उत्साह आता है। भोला-गुलाबी जैसे परिवार अपने भविष्य के मसूबे बाँधते हैं। किंतु, ऐसे विकास-कार्य का क्रियान्वयन निराले तरीके से होता है। इस कहानी में भी नहर निर्माण-कार्य योजना समाप्त होने की बेला में आनन-फानन में होता है—“ इधर प्रथम पंचवर्षीय योजना का समय हो रहा है। दस लाख रुपये का काम बाकी रह गया है। काम नहीं हुआ तो रुपये डूब जाएँगे। योजना तो जनता के हित के लिए बनाई गई है ना। इसलिए किसी भी तरह काम हो जाना चाहिए और मौका भी क्या सुनहरा मिला है कि चैती की जवान फसल पेंगे मारने लगी है।”²⁷ जिससे यह स्पष्ट होता है कि विकास कार्य करने के बजाय उसका दिखावा करना ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए सरकार तथा सरकारी अमलों को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है कि इससे लहलहाती फसल नष्ट होती है या नहीं। उन्हें किसी भी तरह काम का दिखावा जो करना होता है, वह भी राष्ट्रीय हित के नाम पर अपना स्वार्थ साधते हुए, पूरी सहलियत के साथ। इसी कारण नहर-निर्माण की राह में जब तिवारी जी (नवसामंत) की जमीन आती है तब कार्य कुछ समय के लिए स्थगित हो जाता है, क्योंकि तब तिवारी जी को अपना खेल-खेलना होता है। जिसमें वे माहिर होते हैं। वे अपनी पहुँच और पैसे का इस्तेमाल कर सत्ता तथा उसके तंत्र को अपनी ओर मिला लेते हैं, और अपनी जमीन को नहर का ग्रास होने से बचा लेते हैं—“इन्जीनियर बड़ा हँसता था, क्योंकि इस नन्हें-से काम के लिए इतना बड़ा पँवारा खड़ा करने की क्या जरूरत थी? यही हजार रुपये और मुर्रा भैंस, जो अब दी है, तभी दे देते तो बिना लखनऊ गये ही काम हो जाता। उनका तो यही काम है...।”²⁸ जो स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण परिदृश्य में सत्ता, सामंत (नवसामंत) और शासन-तंत्र को गंदे और खतरनाथ गँठजोड़ को दर्शाता है। जिसके परिणाम स्वरूप भोला कोयरी जैसा ग्रामीण निम्न वर्ग, स्वातंत्र्योत्तर विकास कार्य के लाभ की ज़द में आने के बजाय उल्टे क्षतिग्रस्त होता है। भोला कोयरी की एकमात्र छोटी-सी जमीन नहर-निर्माण कार्य

की बलि चढ़ जाती है। भोला विरोध करने की और प्रवृत्त होता है पर किसका- सरकार का, इंजीनियर (तंत्र) का, तिवारी जी (नवसामंत) का, यह उसे समझ में नहीं आता है। वह स्वातंत्र्योत्तर उस गँठजोड़ को समझ नहीं पाता है जिसमें तंत्र, सरकार, सामंत और राजनीति का एक पूँजीवादी ढाँचा शामिल होता है, जो न सिर्फ भोला की जमीन का ग्रास करता है, बल्कि उसका सारा वैभव उसके विकास के सपने को भी छीन लेता है। सरकारी कागजों पर तो गाँव में नहर-निर्माण हो जाता है पर इसके लिए भोला कोयरी जैसे श्रमजीवी मेहनतकश को अंततः एक मुजरिम बन जाना होता है। डॉ. खगेन्द्र ठाकुर इसे ही स्वतंत्र ग्रामीण भारत का नया यथार्थ कहते हैं—“ स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गाँवों में किए जा रहे विकास, और उसकी राजनीति का उधार करते हुए मार्कण्डेय 'दौने की पत्तियाँ' नाम की कहानी लिखी। खेती की तरक्की और अधिक अन्न उपजाने के नारे के साथ गाँव में नहर बन रही है। यह विकास इस तरह किया जाता है कि गरीब मेहनतकश पूँजीवादी सामंती राजनीति के गठजोड़ के द्वारा उजाड़े जाते हैं। गाँव के सामंत तिवारी प्रशासन के प्रतिनिधि इंजीनियर और पुलिस अधिकारी एक साथ हो जाते हैं। नहर की मूल योजना में जा रही तिवारी की जमीन को बचाने के लिए और भोला का एक मात्र खेत को लेकर नहर उधर से गुजर जाती है। विरोध करने पर भोला गिरफ्तार अलग से कर लिया जाता है। यह यथार्थ प्रेमचंद कालीन नहीं है, स्वतंत्र भारत का नया यथार्थ है।”²⁹

इस प्रकार इस कहानी से जुड़े उक्त विवेचन को निष्कर्ष स्वरूप देखा जाए तो निम्न बातें निकलकर आती हैं। पहली, आलोच्य कहानी यह दर्शाती है कि ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की समस्या स्वतंत्रता बाद भी खत्म नहीं होती है, बल्कि और भी जटिल होती है। दूसरी, ग्रामीण विकास का एक स्याह पक्ष यह भी होता है कि विकास कार्यक्रमों का ईमानदारी से क्रियान्वयन नहीं होता है। तीसरी, ग्रामीण विकास और उन्नयन की आड़ में सत्ता, सामंत और शासन तंत्र की भ्रष्टता भोला कोयरी जैसे ग्रामीण मेहनतकश वर्ग को जीवन के त्रासद मोड़ पर ला खड़ा-करती है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की यह कहानी प्रेमचंद के बाद का ग्रामीण यथार्थ प्रस्तुत करती है, जहाँ भोला कोयरी के चरित्र में हिन्दी कहानी का चारित्रिक और कथ्यात्मक विकास नजर आता है।

6.5 'हंसा जाई अकेला'

'हंसा जाई अकेला' कहानी सर्वप्रथम सन् 1956 के ऐतिहासिक कहानी विशेषांक में छपती है और खूब चर्चित होती है। हालांकि इस नाम से ही मार्कण्डेय का एक स्वतंत्र कहानी-

संग्रह सन् 1957 में आता है जिसमें कुल जमा सात कहानियाँ होती हैं। कहानीकार मार्कण्डेय इस संग्रह की लंबी भूमिका में जो कहते हैं, उसे 'हंसा जाई अकेला' का परिप्रेक्ष्य उद्घाटित होता है। वे कहते हैं—“इनमें न पान-फूल की कोमल संवदेनाएँ और लुभावनी भाषा है, 'न महुए का पेड़' की झुंझलाहट और आक्रोश से भरी तीखी सामाजिक दृष्टि। बेहद सहज शैली में कही गयी इन कहानियों में मैंने गाँव के जीवन का नया धरातल छूने का प्रयत्न किया है।”³⁰ जिसका मतलब मार्कण्डेय द्वारा अब तक अछूते रहे ग्रामीण पहलुओं को रेखांकित करने से होता है। 'हंसा जाई अकेला' कहानी को पहली नजर देखा जाए तो उनका मंतव्य स्पष्ट हो जाता है। आलोच्य कहानी में आजादी की पृष्ठभूमि में ग्रामीण परिवेश के अंतर्गत व्यक्ति के अकेले पड़ जाने की नियति का प्रत्यांकन सचमुच उनके द्वारा ग्रामीण जीवन के अनछुए पहलुओं का स्पर्श करना प्रतीत होता है। किंतु, यहाँ भी वे व्यक्ति के अकेलेपन को ग्रामीण जीवन और परिवेश की समग्रता में उजागर करने का प्रयास करते हैं, जो उनकी संश्लिष्ट यथार्थ-दृष्टि को प्रतीकित करता है।

उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत कहानी का ग्रामीण जीवन की दंगल-दालान की सांस्कृतिक विशिष्टताओं के साथ न सिर्फ प्रारंभ होता है, अपितु इसी सूत्र से उसका विकास भी होता है। इस कहानी की शुरुआत ही मजगँवा के दंगल से गाँव की मण्डली के वापस लौटने की घटना से होती है। इस मण्डली में कहानी का प्रमुख चरित्र भी शामिल रहता है, गाँव की 'मिट्टी का माधो' हंसा। गाँव में हंसा की अपनी खेती-बारी, जगह-जमीन सब है, पर परिवार के नाम पर कोई नहीं। ना कोई आगे और ना कोई पीछे। बस ले-देकर एक 'बाबा' हैं, जिन्हें वह खूब सम्मान देता है और अपना सगा भी मानता है। हंसा के व्यक्तित्व में एक शारीरिक कमी है कि उसे रतौंधी का रोग होता है। इस वजह से ही वह रात-विरात कहीं बाहर नहीं निकलता है, किंतु मजगँवा के दंगल के साथ बाबा का सम्मान जुड़ा होने के कारण वह रात का भी सफर तय करता है। दंगल से लौट कर हंसा गाँव के दालान में पहुँचता है, जो उसके दैनंदिन जीवन का हिस्सा है। उसका ही नहीं, अमूमन सारे गाँव वालों के जीवन की दिनचर्या का वह एक अंग है। यह दालान ही, वह बतस्थल है, जहाँ गाँव के जीवन की हर नब्ज़ टटोली जाती है। यहाँ से होकर ही देश की राजनीति समग्र गाँव में अपना एक प्रभाव कायम करती है। यहाँ आकर ही हंसा अपना अकेलापन कुछ पल के लिए ही सही भूला-सा रहता है। गाँव के दालान में ही हंसा को पता चलता है कि गाँव भर में गाँधीजी का संदेश सुनाना है, गाँव-वालों को देश की आजादी के लिए जगाना है।

हंसा एक सामान्य ग्रामीण जन की भाँति देश, राजनीति तथा आजादी को 'गन्ही महात्मा' से जोड़कर देखता है। अर्थात् उसके लिए राजनीति का अर्थ सेवाधर्म, निष्ठापूर्ण कर्म, ईमानदारी तथा निःस्वार्थ भावना आदि है। इस वजह से ही वह राजनीतिक प्रचार कार्य को पूरी निष्ठा, ईमानदारी और निःस्वार्थ भावना से ग्रहण करता है और देखते ही देखते वह गाँव के माहौल में सामान्य से असाधारण बन जाता है। अर्थात् वह महत् कार्य से जुड़कर महत्त्वपूर्ण बन जाता है। गौरतलब है कि हंसा आजादी के लिए किए जाने वाले राजनीतिक प्रचार कार्य में गाँव के समस्त लोगों-सवर्ण-अवर्ण, उच्च-निम्न वर्ग आदि को शामिल करना चाहता है, क्योंकि वह गाँधी जी के विचार-मूल्य, कि सब मनुष्य समान है, से परिचालित-संवलित होता है। जिसकी खातिर उसे गाँव के सवर्ण वर्ग की आलोचना भी सहनी पड़ती है—“मिल गया ससुर को एक काम। गन्ही बाबा का पायक काहे नहीं हो जाता। कौनों कंगरेसी जात-कुजात मेहरारू मिल जाती। गन्हीं को कोई विचार थोड़े है, चमार-सियार का छुआ छिरका तो खाते हैं।”³¹ जिसे देखने पर कहानीकार के उस संकेत को भी पढ़ा जा सकता है, जो यह कहता है कि आजादी की दहलीज पर पड़े भारतीय गाँव में जाति-गत भेद-भाव और छुआछूत की भावना तीव्र व्याप्त रहती है। सवर्ण मानसिकता का बहुधा अवसरों पर 'चमार-सियार' जैसे शब्दों का सायास-अनायास प्रयोग करना अर्थात् निम्न जातियों को नीचता-पशुता से सम्पृक्त कर देखना, उनके भीतर सदियों से कुंडली मारी घृणा रूपी ग्रंथि को ही प्रकाशित करता है। आलोच्य कहानी में हंसा गाँव की सवर्ण मानसिकता से बेपराह होकर अपने कार्य में आगे बढ़ता है। उसकी यही मानसिकता गाँव की रामलीला के समक्ष बड़े सामाजिक प्रश्न को उठाती है, “ ‘भाइयों, राम राजा था। देखो, छोटी जात का कोई राम नहीं बन पाता है। राक्षस सब बनते हैं। बिराहिम, कालू, भुलई, फेदर सभी की पालटी है हमारी। यह जनता की लड़ाई है, बोल दो धावा।’”³² कहने का तात्पर्य यह है कि हंसा आजादी की छतरी के नीचे सभी को समान, एक धरातल पर देखना चाहता है। उसके इस महत् कार्य में उसे सुशीला का साथ प्राप्त होता है। सुशीला उस स्त्री वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, जो आजादी की लड़ाई में न सिर्फ घर से बाहर निकलती है, बल्कि पुरुषों के साथ हम कदम होकर अपनी महती भूमिका अदा करती है।

एक स्तर पर देखा जाए तो 'हंसा जाई अकेला' स्त्री-पुरुष के आदिम तथा अन्योन्याश्रित संबंध की कहानी लगती है, जो स्त्री-पुरुष के चिरंतन प्रेम की कथा कहती है। जैसे पुरुष स्त्री के बिना अधूरा होता है, वैसे स्त्री भी पुरुष के बगैर अधूरी होती है। हंसा के निठल्ले अकेले मन की

तरह सुशीला का वैधव्य से पीड़ित मन भी प्रेम की छाँह खोजता है। तभी कहानीकार दोनों को अकेलेपन के अंधेरे रूपी धरातल पर एक समान खड़ा पाता है—“अंधेरे में जैसे आँख, तैसे बे आँख। दोनों को सहारा चाहिए।”³³ हंसा और सुशीला का एक-दूसरे का साथ न सिर्फ उनके व्यक्तिगत जीवन में नई उमंग भावना को जगाता है, बल्कि उनके राजनीतिक-सामाजिक कार्य की गति को भी तीव्र करता है। किंतु, सामाजिक नैतिकता-मर्यादा वादी विचार-मूल्य हंसा-सुशीला के संबंध को स्वीकार नहीं करता है। सुशीला को स्त्री होने की सजा मिलती है—“कल रात बाबू साहब के यहाँ पंचाइत हुई। तय हुआ कि सभा सोसाइटी की चौकी, गाँव में नहीं धरी जाएगी। औरत-सौरत का भासन यहाँ नहीं होने जाएगा। बहू-बेटियों पर खराब असर पड़ता है।”³⁴ यही नहीं, सुशीला का स्त्री होना न सिर्फ ग्रामीण सामाजिक परिवेश में एक प्रश्न बनता है अपितु राजनीतिक परिसर में भी। पितृसत्तात्मक महत्त्वाकांक्षी पुरुष उसके बढ़ते कद और यश की चुनौती को स्वीकार नहीं पाते हैं—“सुशीला जी को यहाँ से बुला लिया जाए। जनता पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है।... चुनाव के दो दिन पहले उन्हें नोटिस मिली कि वह बापू के आदर्शों को तोड़ रही है, इसलिए उन्हें काम से अलग किया जाता है।”³⁵ किंतु सुशीला जी अपने खिलाफ होने वाली दुरभिसंधियों से ना टूटती हैं, और ना ही अपनी हिम्मत खोती हैं, बल्कि वह अपने काम में (आजादी के लिए गाँव वालों को जागृत करने के उद्देश्य में) और भी ज्यादा सक्रिय हो जाती हैं। देखा जाए तो इस कहानी में सुशीला के चरित्र के जरिये पोपली नैतिकता वादी पितृसत्तात्मक समाज तथा चाटुकारितापूर्ण राजनीति के समक्ष स्त्री-स्वर और उसके प्रश्न को बुलंद करने का सचेत प्रयास दिखता है। जिससे कहानीकार की स्त्री-संवदेना रेखांकित होती है।

उल्लेखनीय है कि हंसा और सुशीला का एक महत् उद्देश्य के लिए सम्मिलित प्रयास उन लोगों को ज्यादा खटकता है, जो समाज-सेवा की आड़ में स्व-सेवा करते हैं तथा जिनकी राजनीति अपनी रोटियाँ सेकने के निहितार्थ से परिचालित होती हैं—“गाँव में चुनाव की धूम मची थी। बाबू साहब बभनौटी के साथ कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। उनके पेड़ों पर इश्तिहार टाँग दिए जाते तो उनके आदमी उखाड़ देते। किसान बुलवाये जाते, उन्हें धमकाया जाता। खेत निकाल लेने की जानवरों को हँकवा देने की बात कहीं जाती और हंसा-सुशीला की कहानी का प्रचार किया जाता, भ्रष्ट हैं सब। इनका कोई दीन-धरम नहीं है।”³⁶ जिसे गौर किए जाने पर कई बातों का संकेत मिलता है। पहली, लोकतंत्र की आधारशिला कहे जाने वाले चुनाव जन-बल, धन-बल और छल

का पर्याय बनने की ओर प्रवृत्त होता है। दूसरी, चुनाव में जनता के सच्चे प्रतिनिधि चुनने की प्रक्रिया में, जनता को जाति के अंतर्गत बाँटकर उसका ध्रुवीकरण करने की कुत्सित राजनीति अपने पैर पसारने की ओर प्रवृत्त होती है। तीसरी, ग्रामीण जनता के प्रतिनिधि के रूप में, गाँव का समर्थ-सम्पन्न वर्ग को तरजीह दिया जाना भावी लोकतंत्र को सामंती-पूँजीवादी हितों को अक्षुण्ण रखने की ओर अग्रसर करता है। चौथी, राजनीति में हंसा-सुशीला जैसे सेवापरायण तथा ईमानदार लोगों को हाशिए पर किए जाने का गंदा खेल, एक राजनीतिक फैशन के रूप में पनपता है। सुशीला का अपनी ही पार्टी के द्वारा निष्काषण, उक्त राजनीतिक फैशन के अनुरूप ही होता है—“वह हंस पड़ी थीं, ईश्वर ने पति से अलग किया और अब बापू के नकली चेले उन्हें जनता से अलग करना चाहते हैं।”³⁷ इस अर्थ में यह कहानी अपने भीतर से स्वतंत्रता उपरांत की राजनीति और लोकतंत्र की भावी कुत्सित तस्वीर दिखाती है, जो एक नए विमर्श को जन्म देती है। जिसे सुशीला के साथ-साथ हंसा के अकेलेपन के संदर्भ में भी देखा जाता है।

वैसे, सुशीला की मृत्यु हंसा को फिर से अकेला अवश्य करती है, किंतु इसे गहराने वाली वे परिस्थितियों होती हैं, जो आजादी के बाद उसे दिखायी देती हैं। हंसा आजादी या उससे जुड़ी राजनीति को एक वृहत्तर अर्थ में देखता है, ग्रामीण-शोषित-दलित और मेहनतकश वर्ग की समस्याओं में होनेवाले गुणात्मक परिवर्तन के रूप में। इसी कारण वह ग्रामीण जन को आजादी का अर्थ, इस रूप में समझाता है—“कांग्रेस तुम्हारे राज के लिए लड़ती है। बेदखली बंद होगी। छुआछूत बंद होगा। जनता का राज रहेगा। एक बार बोलो, बोलो गन्ही महात्मा की जय!... जय...!”³⁸ किंतु, जब वह देखता है कि सच्ची निष्ठा और निःस्वार्थ सेवा-भाव से काम करने वाले जनता के प्रतिनिधि को दरकिनार कर मरने छोड़ दिया जाता है, ग्रामीण जीवन में सम्पन्न वर्ग ही लाभान्वित होता है, जातिगत भेद भाव और घृणा यथावत् ही रहती है, श्रम और मेहनतकश वर्ग की परेशानियाँ खत्म नहीं होती हैं, यहाँ तक कि उसे राजनीतिक पीड़ित मान कर उसकी निस्वार्थ सेवा और निष्ठा का तिरस्कार किया जाता है। तब वह फिर से आजादी को नए रूप में पाने की खातिर लोगों के बीच बिगुल फूँकता है। अर्थात् ‘हंसा जाई अकेला’ का अकेलापन स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में ग्रामीण आजमन के अकेले होते जाने की कथा बन जाती है।

इस प्रकार कहानी से जुड़े विवेचन को निष्कर्ष स्वरूप देखा जाए तो कई बातें कही जा सकती हैं। पहली, आलोच्य कहानी में मार्कण्डेय के कहानीकार द्वारा ग्रामीण जीवन के अनछुए

प्रसंग-व्यक्ति के अकेलेपन को-उसके परिवेश की संश्लिष्टता में उठाया जाता है, जो इस कहानी को स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि में ग्रामीण आमजन के अकेले पड़ते जाने के रूपक में रूपांतरित कर देती है। दूसरी, आलोच्य कहानी हंसा के चरित्र के माध्यम से ग्रामीण वैषम्यपूर्ण समाज के समक्ष दलित संवेदना और प्रश्न को बुलंद करने का प्रयास करती है। तीसरी, आलोच्य कहानी में सुशीला का स्वर और तेवर स्त्री-संवेदना और उसके प्रश्न को मुखर करता है। चौथी, यह कहानी स्वतंत्रता उपरांत राजनीति और लोकतंत्र के भावी कुत्सित चेहरे को जाहिर करती है। पाँचवी, यह स्त्री-पुरुष के आदिम और अन्योन्याश्रित संबंध को दर्शाती है, जो उसके चिरंतन प्रेम की कथा कहती है। सारतः कहा जाए तो 'हंसा जाई अकेला' कहानी का कथ्यात्मक कैनवास इतना बड़ा और संश्लिष्ट है कि उसमें व्यक्ति के अकेलेपन की कथा के साथ ग्रामीण जीवन के विविध स्वर और प्रश्न गुम्फित मिलते हैं, जो इसके यथार्थ को एकरेखीय होने से बचाते हैं।

6.6 'आदर्श कुक्कुट-गृह'

आलोच्य कहानी मार्कण्डेय के कहानी-संग्रह भूदान (1958) में संगृहीत है, जिसमें कुल आठ कहानियाँ हैं। इसकी प्रदीर्घ भूमिका में मार्कण्डेय का कहानीकार बहुत कुछ कहता है। यहाँ ग्रामीण जीवन से संबंधित कथानकों की ताज़गी की बात जहाँ एक तरफ होती है, वहीं दूसरी तरफ नवीन जीवन संदर्भों से कथा को अलग करके देखने की बात एक सिरे से नकार दी जाती है। 'आदर्श कुक्कुट-गृह' कहानी को प्रथमतः देखा जाए तो स्वातंत्र्योत्तर विकास और परिवर्तन रूपी नये संदर्भों के आलोक में ग्रामीण यथार्थ-जीवन को देखने की मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि समझ में आती है।

वैसे यह सर्वविदित है कि स्वतंत्रता उपरांत स्वशासन ग्रामीण उन्नयन की दिशा में कई कदम उठाती है, जिसमें मुख्य रूप से पंचाइती राज-व्यवस्था, जमींदारी-प्रथा उन्मूलन, भूदान आंदोलन एवम् पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत विभिन्न कार्यक्रम-नहर-नलकूप, विजली, सड़क, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य केन्द्र, शिक्षण-संस्थान आदि का विकास होते हैं। जिसे मार्कण्डेय की आलोच्य कहानी आदर्श कुक्कुट-गृह की निम्न बातचीत के प्रसंग में भी देखा जाता है—“हमको भी ऐसा लगता है रमजान; सरकार एक से एक अच्छी योजनाएँ हमारी भलाई के लिए बनाती जा रही है— नहर, नलकूप, रेल, तार, लेकिन यह राष्ट्रीय विकास खंड तो भाई खूब है। एक बार मेम्बर बन जाओ, फिर चाहे विजनिस करो, सबकी सुविधा है।”³⁹ जिसे गौर किए जाने पर यह साफ प्रतीत

होता है कि यह रमजान-बसावन की बातचीत का प्रसंग, न सिर्फ स्वातंत्र्योत्तर समय की नब्ज टटोलता है अपितु इससे कहानी का कथ्य भी खुलता है। ग्रामीण जीवन में छोटे पैमाने पर व्यवसायिक संस्थानों के विकास के रूप में सामुदायिक आर्थिक विकास कार्यक्रम की एक तस्वीर आदर्श कुक्कुट-गृह योजना के रूप में प्रस्तुत कहानी में चित्रित होती है। सरकारी तंत्र तथा उसके अधिकारीगण के भाषण इस योजना की जो भावी छवि पेश करते हैं वह रमजान जैसे ग्रामीण आमजन में आश्चर्य मिश्रित उत्साह का संचार करता है।

इसी प्रसंग में उसे अपना अतीत याद आता है, जब ना उसे उसकी मुर्गियों की कीमत मिलती थी और ना उस मुर्गियों के अण्डे की। हाँ, उल्टे उसकी मुर्गियाँ सामंत जन के मुफ्त भोज की सामग्री बन जाती थी। पर, आज उसे लगता है कि 'जमाना फेर खाय' गया है, जिससे उसकी आँखें 'नयी दुनियाँ' के चमत्कार में अंधी होने लगती हैं। वह आशावान हो उठता है और इस बात से आश्वस्त कि आदर्श कुक्कुट-गृह से न सिर्फ उसे आर्थिक लाभ मिलेगा, बल्कि उसकी मुर्गे-मुर्गियों की खास देखभाल होंगी। इस कारण भी रमजान जैसे ग्रामीण आमजन अपने पूरे उत्साह में अपनी मुर्गे-मुर्गियाँ इस योजना को सौपते हैं—“मुसलमान आबादी गरीब है, और उसके पास यही एक धन है। सब लोग दिल खोल कर मुर्गे-मुर्गियों दे रहे हैं और रुपया लगा रहे है। गाँव में चारो ओर उत्साह फैला हुआ है।”⁴⁰ आदर्श कुक्कुट-गृह योजना रमजान जैसे ग्रामीण आमजन की इच्छाओं को सिर्फ हवा नहीं देती है, बल्कि उसे नए सपने देखने को प्रेरित भी करती है। इसी के प्रभावस्वरूप रमजान अपनी बीबी को जब अपने सुनहले भविष्य की दास्तान सुना रहा होता है तभी सरकारी अधिकारियों के निर्देश से आदर्श कुक्कुट-गृह उद्घाटन कार्य को आनन-फानन में निपटाने की पैंतरेबाजी शुरु होती है—“ठाकुर के बैलों की सार के सामने उसारा साफ कराया जा रहा था और उसके आगे काली धरिकार जल्दी-जल्दी बाँस की खपच्चियों की टट्टर बना रहा था। गाँव का लोहार पकड़ कर आ गया था और लकड़ी के बड़े-बड़े खंभे काट कर गढ़ रहा था। राजगीर को उसके काम पर से पकड़ लाया गया था और वह उस टट्टरदार घेरे में कहीं-कहीं मुर्गों के देरबे जोड़ रहा था।”⁴¹ यही नहीं, आदर्श कुक्कुट-गृह के लिए सिर्फ जगह को चुनने-सजाने की जल्दबाजी नहीं होती है, बल्कि मुर्गे-मुर्गियों को चीखती-चिल्लाती अवस्था में पकड़ लाया जाता है और दरबों में ठूस दिया जाता है। ताकि, यह कार्यक्रम शीघ्र ही कागजी दस्तावेज का हिस्सा बन जाए। स्वागत और फूल-माला पहनाने का कार्य समाप्त हो जाने पर ग्रामीण जनता को

सब्जबाग दिखाने का दौर शुरू होता है और जनता मूक-दर्शक की तरह उत्साह भरी नज़र लिए ताकती रहती है-“ रमजान और जुम्नन पहले से आकर दरी पर डट गये थे। मियायिन भी कोली में खड़ी अपने मैले चश्में के भीतर से जलसा देखने की कोशिश कर रही थी... दूर से रमजान ने देखा, साहब उसी के मुर्गे को देख रहे हैं।... रमजान का कलेजा फूलता जा रहा था और बसावन सिंह का बताया हुआ हिसाब उसके दिमाग में नाच रहा था... सचमुच गाँव शहर हो जाएगा, शहर...।”⁴² किंतु कुछ देर बाद ही, इस सुखद ताम-झाम का पटाक्षेप होता है और असली तस्वीर उजागर होती है। सरकारी अधिकारियों के चपरासीगण मेम साहब के नाम पर मुर्गे-मुर्गियाँ और अंडे ले जाते हैं जिससे कुछ पल पहले ही स्थापित आदर्श कुक्कुट-गृह खाली हो जाता है। और पलक झपकते रमजान जैसों की दुनियाँ लुट जाती है। वे बुरी तरह ठगे जाते हैं और जो थोड़ी-बहुत मुर्गे-मुर्गियाँ उसके पास जीविका का आधार होती हैं, वह भी छिन जाती हैं।

कहानीकार आलोच्य कहानी में ग्रामीण आर्थिक उन्नयन के रूप में आदर्श कुक्कुट-गृह जैसे विकास कार्यक्रम को आम जन के जीवन में घटित होने वाले एक प्रहसन के रूप में देखता है, जो न सिर्फ उनकी भावनाओं से खेलता है अपितु उनकी आकांक्षाओं को लील लेता है। कहानीकार का यह व्यंग्यै-“फिर भी आदर्श कुक्कुट-गृह तो बाकायदा स्थापित हो ही चुका था।”⁴³ इस तथ्य का उद्घाटन करता है कि वास्तविकता में न सही, सरकारी कागजों में यह विकास-योजना बाकायदा स्थापित हो जाती है। दरअसल ग्रामीण जीवन में, स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तन और विकास से नई बनती परिस्थितियों के मध्य ग्रामीण आमजन का जीवन किस ओर करवट लेता है, इसकी सचाई ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’ कहानी कहती है। इस कहानी में यथार्थ की नाटकीय प्रस्तुति इस तथ्य की ओर साफ संकेत करती है कि सरकार की विकास नीतियों के निर्धारण में सारे अधिकार ग्रामीण सामंत (नवासामंत) वर्ग तथा भ्रष्ट तंत्र के अधिकारियों के पास रहते हैं, वहाँ रमजान जैसों की प्रत्यक्ष भागीदारी नहीं होती है। यही वजह है कि गाँव के सम्पन्न समर्थ ठाकुर के यहाँ आदर्श कुक्कुट-गृह की योजना का प्रबंध होता है। आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के निम्न मंतव्य में उक्त सच को पढ़ा जा सकता है-“आदर्श कुक्कुट-गृह’ में विकास योजनाओं पर व्यंग्य है।... सत्ता धनी वर्ग के हाथ में है; गरीब जनता के पास कोई अधिकार नहीं है। इसलिए विकास योजनाएँ गरीब जनता के लिए विनाश-योजनाएँ हो जाती हैं।”⁴⁴

इस प्रकार उक्त विवेचन को देखा जाए तो कई बातें उजागर होती हैं। पहली, आलोच्य

कहानी स्वतंत्र ग्रामीण भारत के नये यथार्थ के रूप में आदर्श कुक्कुट-गृह योजना जैसे आर्थिक विकास कार्यक्रम की सचाई रमजान जैसे ग्रामीण आमजन के जीवन के माध्यम से कहती है। दूसरी, इस कहानी में विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन का आनन-फानन में होना तथा इसके प्रति सरकार की उदासीनता इसकी असफलता की ओर संकेत करती है। तीसरी, आलोच्य कहानी यह दर्शाती है कि आदर्श कुक्कुट-गृह योजना जैसे विकास कार्यक्रम रमजान जैसे के जीवन में नई समस्या बन कर आती है, क्योंकि इसका परिचालन करने वालों के समक्ष आमजन के हितों की कोई फिक्र नहीं होती है। सारतः कहा जाए तो 'आदर्श कुक्कुट-गृह' कहानी स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उस यथार्थ को उकेरती है, जहाँ सरकारी विकास योजनाएँ सिर्फ कागजी आंकड़ों में ही शोभा पाती हैं, जिसकी आड़ में भ्रष्ट तंत्र सरकारी धन का दुरुपयोग करता है उसका लूट खसोट करता है तथा रमजान जैसा ग्रामीण आमजन ठगा-सा रह जाता है।

6.7 'भूदान'

भूदान नाम से मार्कण्डेय का एक स्वतंत्र कहानी-संग्रह सन् 1958 में प्रकाशित होता है, जिसमें कुल आठ कहानियाँ संगृहीत होती हैं। इसमें 'भूदान' शीर्षक कहानी का विशेष महत्त्व है, क्योंकि स्वतंत्रता बाद जिस भूदान आंदोलन की सर्वत्र चर्चा होती है, उसका कहानी का विषय बनना सबको अपनी ओर खींचता है। स्वतंत्रता बाद के परिदृश्य में भूदान आंदोलन की चर्चा में राजनीतिविद् से लेकर समाज चिंतक तक शिरकत करते हैं। कोई इसे गाँधीवादी मूल्य से जुड़ा आर्थिक-सामाजिक क्रांति का एक मार्ग बताता है, तो कोई भूमि वितरण की सामान्य प्रक्रिया के पार सम्पूर्ण क्रांति लाने वाले मार्ग में बढ़ा हुआ कदम कहता है। जैसा कि जयप्रकाश नारायण जैसे सामाजिक-राजनीतिक चिंतक यह कहते हैं—“भूदान महज भूमि संग्रह और वितरण का एक सामान्य कार्यक्रम नहीं है, अपितु यह सम्पूर्ण क्रांति-सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक की ओर बढ़ा हुआ पहला कदम है।”⁴⁵ जिससे इस आंदोलन की सदिच्छा में बहुदेशीय निहितार्थों के छिपे होने का आभास मिलता है। इसमें सत्ता का प्रत्येक गाँव में विकेन्द्रीकरण, भूमि एवम् सम्पत्ति पर प्रत्येक का अधिकार एवं प्रत्येक कार्य का समान फल जैसे उद्देश्य अंतर्भूत होते हैं। इस कारण भी यह आंदोलन अपने प्रारंभ में ही ग्रामीण जीवन के चतुर्दिक एक उत्साह का माहौल निर्मित कर देता है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की आलोच्य कहानी 'भूदान' का प्रारंभ भी ग्रामीण आमजन

(रामजतन) के उत्साह के साथ होता है। रामजतन को लगता है कि दुनिया बदलने वाली है— “दुनिया पलटा न खा गयी होती तो जिस धरती के लिए महाभारत हो गया, उस धरती को लोग हँस-हँस कर दान कर देते और वह भी उस लंगोटी वाले संत को, जिसका अपना न घर, न दुवार। लोग कहते हैं, गाँधीजी का धरम बेटेवा है... तभी तो, तभी... रामजतन पुलकित हो उठता और उस तराई की हरियर, कचर सिवान में बहता चला जाता।”⁴⁶ कहने का तात्पर्य यह है कि स्वातंत्र्योत्तर भूदान आंदोलन में गाँधीवादी मूल्यों के संवाहक संत विनोबा का यह प्रभाव होता है कि रामजतन जैसे ग्रामीण भूमिहीन को जमीन मिलने की आशा चारों ओर से घेर लेती है। इसी उत्साह के माहौल में, जमीन पाने की भावी आशा के बीच प्रस्तुत कहानी से एक छोटी कथा भी निकलती है, जो स्वतंत्रता पूर्व इसी गाँव के किसान चेलिक और उसकी माँ बनसत्ती की कथा है। यह एक किसान की अपनी जमीन बचाने की कथा है, जिसकी खातिर वह उस हद तक जाता है जिसकी अपेक्षा गाँव वालों को नहीं रहती है। निलहे साहब (अंग्रेज) गाँव के अन्य किसानों की तरह चेलिक की जमीन को जबरन अन्न के बजाय नील की खेती हेतु इस्तेमाल करना चाहते हैं। किंतु चेलिक इसके लिए तैयार नहीं होता है और ना ही विपरीत परिस्थितियों के मध्य इससे समझौता करता है। जिसके परिणाम स्वरूप उस पर शारीरिक अत्याचार होता है; उसे तोड़ने की हर संभव कोशिश होती है, किंतु वह नहीं टूटता है। वह एक दिन यह सुनकर कि निलहे साहब उसकी खेत जोतवा रहे हैं, उसे न जाने क्या सूझता है कि वह अपनी रिघूरती हुयी माँ को उस जमीन पर मार डालता है, और यह दरखास देता है कि उसकी माँ की हत्या निलहे साहब ने की है। जिसका नतीजा इस रूप में होता है कि निलहे साहब को सजा हो जाती है। अर्थात् चेलिक अपनी जमीन बचा लेता है। उसकी माँ बनसत्ती से देवि हो जाती है तथा चेलिक और बनसत्ती की कथा एक लोककथा का रूप ले लेती है। आलोच्य कहानी की मुख्य कथा-रामजतन और उससे जुड़ी भूदान की कथा के साथ उक्त लोककथा के जुड़े सूत्र को समझने हेतु पूरी कहानी से गुजरना जरूरी होता है।

जैसा कि बनसत्ती के चौरा से इस बात का संकेत हो जाता है कि रामजतन एक ऐसे गाँव में रहता है, जहाँ अशिक्षा, अभाव, सामाजिक कुसंस्कार और धार्मिक अंधविश्वास का माहौल उसे विरासत में प्राप्त होता है। वह भी इसी का एक हिस्सा होता है। वह अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु पत्थर को देवि के रूप में पूजने, उसके समक्ष मनौतियाँ करने तथा किसी कार्य को लेकर शुभ-अशुभ की

कल्पना करने वाला एक धार्मिक अंधविश्वासी चरित्र है। आलोच्य कहानी में कहानीकार उसके मन में एक साथ चल रही नाना भावनाओं के घुमड़न तथा उसकी उहापोह की अवस्था को भूदान कार्यक्रम के रूप में प्राप्त होने वाली जमीन के साथ जोड़कर भली-भाँति दिखलाता है। जिसमें कभी वह, भावी संशय से ग्रस्त हो आत्मकेन्द्रित नजर आता है तो कभी वह अपने भावी सुनहले जीवन की कल्पना से रोमांचित हो उठता है—“पर क्षण ही भर बाद उसका मन बड़ी किसानी की ओर लौट गया, बड़े-बड़े दो बैल होंगे, घंटिया बाजार से ला कर पहनाऊँगा। और एक गाय भी रहे तो क्या हरज है। हारे गाढ़े घी बेच दिया करूँगा। फिर पल ही भर बाद उसे जैसे यह सब कल्पना की वस्तु लगती और अपने सपने पर वह झुँझलाने लगता और अपने से ही कहता-जतन भाई मन न बढ़ाओं बहुत, जब हो जाए तो जानो लेकिन धरती और धरम भाग ही से मिलता है।”⁴⁷ स्पष्ट है कि यहाँ रामजतन के मन के अंतर्द्वन्द्व के साथ उसकी भाग्यवादी प्रकृति भी जाहिर होती है, जो प्रकारांतर से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण भूमिहीनों के चरित्र को प्रकशित करता है।

गौरतलब है कि मार्कण्डेय का कहानीकार भूदान से जुड़े ग्रामीण आमजनों के उत्साह, कल्पना-संशय के साथ उसके मन में रेगने वाले अविश्वास पूर्ण डर के भाव को भी दर्शाता है—“तुम नहीं जानते बाबा यह पीछे से नाक पकड़ने की चाल है। भूँय पहले तो थोड़ी दे देंगे और फिर सबकी मिला कर जब बड़ी जायदाद बन जाएगी तो कुमेटी बनाकर उसके सभापति बन जाएँगे, फिर जिसे मरजी होगी देंगे। जो जितना जूता टारेगा, उसके हिस्से उतनी ही ज्यादा पड़ेंगी, क्यों रामजतन?”⁴⁸ जिससे कई बातें प्रमुख रूप से उभरती हैं। पहली, कहानीकार वह यथार्थ-दृष्टि, जो चीजों को समग्रता में देखती है, यहाँ भूदान कार्यक्रम को लेकर ग्रामीण भूमिहीनों के मिजाज को समग्रता में उकेरना इसी बात का परिचायक है। दूसरी, कहानीकार द्वारा स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आम जनजीवन में घर करती उस असंतोष-भावना को दर्शाना, जो भूदान से पहले के विकास कार्यक्रमों के दौरान ग्रामीण जरूरतमंदों को उसका लाभ न मिलने की निराशा से उत्पन्न होता है। तीसरी, ऐसे विकास कार्यक्रमों में गाँव के सम्पन्न समर्थ वर्ग की पूछ-पछोर, उसके हितों का ध्यान तथा उसे दिए जानेवाले तमाम अधिकार जरूरतमंदों को विकास के लाभ से अंततः वंचित ही करता है।

इस कहानी में भी गाँव का ठाकुर (सम्पन्न-समर्थ वर्ग) एक तरफ इस कार्यक्रम का हिस्सा बनकर लोगों की तारीफें बटोरता है, सत्ता का कृपा-पात्र बनता है तो दूसरी तरफ अपने पैसे, पहुँच

और प्रभाव का सहारा लेकर रामजतन की उपजाऊ जमीन हथियाने की जुगत भिड़ता है। रामजतन अपनी सामर्थ्य की चिंता कर ठाकुर की बात मान लेने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं देखता है। वह अपनी उपजाऊ जमीन (ठाकुर की सिकमी वाली जमीन) छोड़ देता है। इसके बदले में उसे भूदान वाली जमीन का जो कागज प्राप्त होता है। वह उससे नाच उठता है। इसी खुशी के मध्य उसे कई ख्याल आते हैं जिसमें एक पल के लिए बनसती बूढ़ी का काल्पनिक चेहरा तथा भूदानी संत (विनोबा) का बिंब एक साथ उसकी आँखों के समक्ष नाँच उठता है—“ बूढ़ी का एक काल्पनिक चेहरा और भूदानी संत की लंबी-लंबी, नंगी टाँगे, उनकी झर्रियाँ, उनकी दया, उनकी सेवा-जतन हाँफने लगा, पर सती की करहिया और पियरी...।”⁴⁹ जिसका यह संकेत होता है कि जैसे, किसान चेलिक को उसकी माँ बनसती और उसका त्याग उसे जमीन दिलवाता है, ठीक वैसे ही भूदानी संत (बिनोबा) और उसका प्रभाव रामजतन (भूमिहीनों) जैसों को भूदान कार्यक्रम के मार्फत जमीन का कागज नसीब करवाता है।

हांलाकि, इस भूदान कार्यक्रम की हकीकत कुछ और ही होती है। जिसे एक वर्ष उपरांत रामजतन की जीवन परिस्थिति से मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है। एक वर्ष उपरांत ही, रामजतन की यह दशा होती है कि वह हलवाही करने तक की कुब्त नहीं रखता है, क्योंकि महीनों मजदूर की भाँति नहर में फाँवड़ा चलाते-चलाते उसका शरीर सूख कर काँटा हो जाता है। जसवंती छाती पीटती हुई अपने भाग्य को कोसती है, क्योंकि उसे भी पता चल जाता है कि – “भूदान कमेटी के मंतिरी जी ने तो कब का रामजतन को समझा -बुझा दिया है कि ठाकुर के जिस दान से उसे भूँय मिली थी, वह केवल पटवारी के कागज पर थी। असल में तो वह कब की गोमती नदी के पेट में चली गयी है।”⁵⁰ अर्थात् भूदान कार्यक्रम के नाम पर बड़ी धूर्तता से ठाकुर रामजतन की उपजाऊ एक बीघा जमीन हथिया लेता है। कहानीकार कहानी के अंत में रामजतन और भूदान की मुख्य कथा का कहानी के नेपथ्य में मौजूद चेलिक-बनसती की कथा से अंतर मिलान बड़ी कुशलता के साथ करता है, जो इस कहानी के यथार्थ को कलात्मक और प्रभावी बनता है। यहाँ वह दर्शाता है कि रामजतन को एक पल के लिए जसवंती का अस्वस्थ पीला मुर्दार चेहरा बनसती का चेहरा लगता है तथा वह खुद को चेलिक समझता हुआ अपनी खोयी जमीन को पाने की सोचता है। किंतु, दूसरे पल ही उसके समक्ष एक दूसरा बिंब उभरता है, जो कुछ इस प्रकार होता है—“जैसे एक हाथ से कोई उसे कंधे पर उठाए दूसरे हाथ में लाठी संभाले उसके खेत की ओर

भागता जा रहा था।⁵¹ जिसका यह संकेत होता है कि रामजतन खुद बनसत्ती की जगह लाश बन जाता है और उस लाश को अपने कंधों पर लादे हुए उसकी खेत (जमीन) को लेने वाला कोई और नहीं, बल्कि भूदानी संत ही होता है। जिसका तात्पर्य यह कहना होता है कि भूदान कार्यक्रम के नाम पर रामजतन जैसों के साथ धोखा होता है और ठाकुर जैसे ग्रामीण समर्थ-सम्पन्न वर्ग के हित सधते हैं।

इस प्रकार इस कहानी से जुड़े उक्त विवेचन को समग्रता में देखा जाए तो कई बातें निकलती हैं। पहली, भूदान जैसा स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण विकास कार्यक्रम जिसकी चर्चा ग्रामीण आमजन के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन करने की होती है, वह सफल नहीं हो पाती है। दूसरी, भूदान भूमिहीनों में भूमि को सचमुच प्राप्त करने की विश्वास भावना को डिगा देती है। तीसरी, भूदान कार्यक्रम में भी ग्रामीण सम्पन्न वर्ग को विकास-कार्यक्रम का हिस्सा बनाकर उसे अधिकार प्रदान कर उसके हितों को किसी न किसी तरह साधने या अक्षुण्ण रखने का कार्य होता है। चौथी, रामजतन का चरित्र तथा उसके जीवन की त्रासदी स्वतंत्रता उपरांत भी ग्रामीण जीवन के भूमि संबंधों के प्रश्न के उलझे रहने के सच को कहती है। सारतः कहा जाए तो 'भूदान' कहानी स्वातंत्र्योत्तर भूदान कार्यक्रम तथा उसकी बहुदेशीय सदिच्छा की विडम्बना को दर्शाती है।

6.8 'घुन'

आलोच्य कहानी मार्कण्डेय के कहानी-संग्रह 'सहज और शुभ' (1964) में संगृहीत है। यह कहानी उस समय (सातवें दशक) की है, जिसे भारतीय इतिहास एक संक्रांति काल कहता है, क्योंकि इस काल में तीन बड़ी राजनीतिक घटनाएँ-चीन का आक्रमण, नेहरू युग का अंत, भारत-पाकिस्तान युद्ध-घटती हैं। जिससे समूचा देश एक अजीब मोड़ पर खड़ा नज़र आता है, जहाँ सब कुछ अविश्वसनीय और अजनबी-सा लगने लगता है। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि तत्कालीन समय की नब्ज़ को भली-भाँति पहचानती है। जिसका संकेत उनके सहज और शुभ कहानी-संग्रह (1964) की भूमिका में कुछ इस प्रकार मिलता है—“अनजाने हम कुछ ऐसी ही स्थितियों में आ घिरे हैं। परिवेश का पूरा अन्तर्भाष्य सहसा अपरिचित और अविश्वसनीय होता जा रहा है।⁵² अर्थात् समाज और देश के समक्ष ऐसी भीषण परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जहाँ आर्थिक-संकट, गरीबी, शोषण, राजनीतिक अस्थिरता, अजनबीयत और संवदेनहीनता अपने चरम पे होती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो समाज एक नैतिक ह्रास के मोड़ पर पहुँच जाता है। जहाँ व्यक्ति की

विवेकचेतना ही कुंठित नहीं होती है, बल्कि उसका व्यक्तित्व ही आत्मकेन्द्रित होता हुआ सिकुड़ जाता है।

मार्कण्डेय की 'घुन' कहानी सातवें दशक के समय की उक्त संक्रांति दशा का ग्रामीण जीवन के प्रसंगों के जरिए उद्घाटन करती है। आलोच्य कहानी का प्रारंभ जिस दृश्य को प्रस्तुत करता है, उससे यही जाहिर होता है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में सामंती सोच-संस्कार जस का तस बना रहता है, इस कारण ही उससे जन्मी दकियानूसी मान्यताएँ निर्मूल नहीं होती हैं—“यह का अनरथ करती हो, भगेलू की माँ? अगर कोई अड़ोस-पड़ोस का देख लेगा तो आग लग जाएगी सारे गाँव में! एक तो वैसे ही गाँव में रहना मुहाल है, दूसरे लोग यहीं कहेंगे कि चमार-सियार की जात भले घर के लड़कों को अपनी रोटी खिलाकर भंडासराध कर रहा है।”⁵³ यहाँ साफ देखा जा सकता है कि दलित नाथू का गाँव के महाजन (सवर्ण) की बेटी का अपने घर की लिट्टी खाते देख घबरा जाना तथा इस कारण अपनी पत्नी को डाँटना, इस सत्य का ही परिचायक है कि उसका गाँव आज भी (स्वतंत्रता के वर्षों बाद भी) ऊँच-नीच, छुआछूत, सवर्ण-अवर्ण, श्रेष्ठ-हेय आदि दकियानूसी सोच से मुक्त नहीं हो पाया है।

उल्लेखनीय है कि दलित नाथू इस कहानी का एक प्रमुख चरित्र है। वह अधेड़ उम्र का एक साधारण किसान है, जो अपने जीवन में अभाव, गरीबी, तंगी ही नहीं देखता है, बल्कि अपनी केवल संतान को भी खोते हुए देखने को विवश होता है। जिसकी टीस उसे जब-तब व्यथित करती है। आलोच्य कहानी के कथ्य का विकास नाथू की उस परेशानी के साथ होता है, जो उसे खेत से लौटने के बाद होती है—“नाथू ने मड़ई के किनारे से खटिया खींच कर दरवाजे के सामने कर ली। फिर उसके मन में आया कि एक बार जोखू साव से पूछ आये कि अरहर क्या भाव है... कहीं ठाकुर सवेरे औने-पौने तौला न लें! सूद की देनी और वह भी ठाकुर की! जो मन में आएगा वही भाव कांट लेंगे। जबरा मारै-रोवै न देय!... जो भी हो, जोखू साव इस माने में ठाकुर से ज्यादा ईमानदार है। बाजार-भाव पर ही चीज खरीदता है—चाहे उसे घाटा हो, चाहे नफा।”⁵⁴ जिसे ध्यान दिए जाने पर कई बातों का संकेत प्राप्त होता है। पहली, नाथू की जो परेशानी है, वह सदियों पुरानी है। दूसरी, उसके भीतर अपने अनाज का न्यायोचित दाम न मिलने का डर, ग्रामीण जीवन में सामंती अत्याचार, शोषण और दबंगई के कायम रहने को दर्शाता है। तीसरी, आजादी के वर्षों बाद भी ग्रामीण दलित किसान कर्ज में ही जीता है। चौथी, नाथू जैसा साधारण किसान अपने

परिश्रम से मुनाफा करने वाले दो वैयक्तिक शोषण संस्थानों- ठाकुर और महाजन में किसी एक को चुनने को बाध्य होता है। इसी कारण वह महाजन को कम शोषक मनता है। जबकि वास्तविकता यह है कि दोनों-ठाकुर और महाजन में, एक होड़ मची होती है। किसानों से ज्यादा से ज्यादा मुनाफा करने में, उसका शोषण करने में। जिसे नाथू की पत्नी भगेलू की माँ के सौदा लेने के प्रसंग में देखा जा सकता है—“बड़ा लहसून-मिर्चा ले रही हो मालकिन! कुछ छौंक-बघार का जोग है का? फिर तिरछी देखकर चिल्लाने लगा। कहने लगा “अरहर रखी है ठाकुर के लिए, और तिरछी के लिए महाजन है! इसमें एक भी साबूत दाना है जो तुम्हें सौदा दूँ?... ”लो यह ले जाओ एक पोटी लहसूनी फिर तिरछी अरहर के बोरे में डालते हुए दो सूखे मिर्चे फेक मुँह फेर कर बैठ गया।”⁵⁵ जो यह दर्शाता है कि महाजन की उक्त तिलमिलाहट तथा भगेलू की माँ के साथ उसका अभद्र आचरण उसके अपने होने वाले मुनाफे में सेध लगने के परिणामस्वरूप ही है। यहाँ मार्कण्डेय के कहानीकार के उस संकेत को भी समझा जा सकता है जो यह कहना चाहता है कि स्वातंत्र्योत्तर शासन व्यवस्था तथा उसकी नीतियाँ न ग्रामीण जीवन से सामंती-महाजनी शोषण संस्थानों के अस्तित्व को निर्मूल कर पाती हैं, और ना ही समाज में बढ़ते भ्रष्टाचार, बेइमानी, कालाबाजारी, जमाखोरी, शोषण, गरीबी और उनसे उपजे मानवीय संकट को रोक पाती है।

आलोच्य कहानी ऐसे ही माहौल को ग्रामीण जीवन-प्रसंगों के सहारे मूर्त करने का कार्य करती है। इस कहानी में यह देखा जाता है कि जमाखोर जोखू (महाजन) की धनलिप्सा न उसे चोर-बेइमान बनाती है, अपितु अमानवीय भी कर देती है। उसके लिए उसका स्वार्थ लोलुप और धनलिप्सु मन ही उसका भगवान है। इस कारण ही वह सपने में भी देश में फैली भूखमरी तथा उसे मचे चतुर्दिक हाहाकर को देखता है। उसका चरित्र इस सच को दर्शाता है कि धनलिप्सा मनुष्य को संवदेनहीन तथा आत्मकेंद्रित बना देती है। वह अन्न की जमाखोरी की अंधचेतना में अपने परिवार को भूखा रखता है, ताकि अन्न खर्च न हो जाए। जोखू की पत्नी का भगेलू की माँ के समक्ष रोना उसके उक्त चरित्र को ही प्रकाशित करता है। जोखू सिर्फ और सिर्फ पैसों (धन) को महत्त्व देता है। वह अपनी इसी मनोवृत्ति से परिचालित होकर अनाजों की जमाखोरी करता है तथा देश और समाज के समक्ष अन्न-संकट की स्थिति उत्पन्न करने में अपनी अग्रणी भूमिका अदा करता है। पर उसके समक्ष एक समस्या खड़ी हो जाती है, उसकी जमाखोरी के अनाज के गाड़ों में घुन लग जाता है, जिसका भाठा जाना अत्यंत जरूरी होता है। वह इस काम को चोरी-छिपे करना-करवाना

चाहता है। इस कारण ही वह किसान नाथू को प्रलोभन देता है—“ तुम भइया चुपचाप दो-तीन दिन लग कर मेरे आँगन के सब गाड़े भाट दो! किसी को कानो-कान खबर न हो, नहीं तो देखते हो न देश में अकाल पड़ा है, लोग जान के पीछे पड़ जाएँगे और कहीं सड़ा अनाज खा कर मरने लगे तो मुझे बड़ा अधरम लगेगा।”⁵⁶ जिससे जोखू के व्यक्तित्व की धूर्तता जाहिर होती है। पैसों को अपना भगवान मानने वाले जोखू को एक तरफ अपने लोक-धर्म बिगड़ने की चिंता सताती है, तो दूसरी तरफ वह नाथू के धर्म-भीरु मन को अपने साथ शामिल करने हेतु ताड़ता है।

यही नहीं, वह इस कार्य के लिए उस नाथू को अपने 'घर का मनई' कहता है जिसके बीमार बच्चे के इलाज हेतु दो रुपये तक देने से वह इन्कार कर चुका होता है। और तो और वह अपनी बात बनते न देख नाथू को पूरी मजूरी देने का प्रलोभन देता है। जिसमें नाथू फँस जाता है। नाथू सिर्फ अपना स्वार्थ देखता है, अपने वर्ग के लोगों के हित की उपेक्षा करते हुए वह समाज के शोषक वर्ग का साथ देने हेतु तैयार हो जाता है—“नाथू फिर गमछे का सिराहना बना कर उसी झिलंगा में धँस गया। रह-रह कर उसे अपनी इस नयी मजूरी का ध्यान हो आता था... अब चलो, धीरे-धीरे पन्द्रह रोज में गाड़े पाटो और सेत की मजूरी घर लाओ। अन्न में घुन लगा तो क्या हुआ? उसमें हमारा-तुम्हारा क्या बिगड़ा?”⁵⁷ जो नाथू के चरित्र के आत्मकेंद्रित तथा अवसरवादी होने को दर्शाता है। यही नहीं, वह तो जोखू की उस बेइमानी का भी समर्थन करता है, जिसके कारण जोखू धनवान बनता है। साथ ही उस अवसर (बेइमानी) को अपने हित में न कर पाने को अपनी बेवकूफी करार देता है। यहाँ नाथू के चरित्र को देखकर यही लगता है कि वह समाज, जो वैषम्य से पीड़ित है, जहाँ चारो और मूल्यहीनता-बेइमानी, भ्रष्टाचार, स्वार्थवादिता, धनलिप्सा, अवसरवाद-पसरी हो, वह व्यक्ति के विवेक को कुंठित करते हुए उसे एक नैतिक ह्रास के मोड़ पर अवश्य ले आती है। इतना कि, नाथू को जोखू की मृत्यु तक विचलित नहीं करती है। नाथू की संतान की मृत्यु जोखू को संवेदित न करना ओर जोखू की मृत्यु नाथू को विचलित ना करना उस समाज की तस्वीर पेश करता है, जो मानवीयता के संकट से व्याप्त होता है। आलोच्य कहानी के इस वाक्य—तुम्हारे सिर में 'घुन' लग गया है- की व्यंजना में सिर्फ नाथू जैसे किसान की मानसिक जड़ता व्यंजित नहीं होती है जिससे समाज में शोषण के बने रहने की संभावना बढ़ती है, बल्कि यह मनुष्य की मानवीयता में घुन लगने को भी संकेतित करता है।

इस प्रकार आलोच्य कहानी से जुड़े उक्त विवेचन को देखा जाए तो निम्न बातें उजागर

होती हैं। पहली, आलोच्य कहानी सातवें दशक की संक्रांतिपूर्ण दशा को ग्रामीण जीवन-प्रसंगों के सहारे उत्थापित करती है। दूसरी, प्रस्तुत कहानी में मार्कण्डेय की वह यथार्थ चेतना देखी जाती है, जो शोषक-शोषित संबंधों को विचारों के स्तर पर चित्रित करने के बजाय उसे जमीनी हकीकत के अनुरूप दर्शाती है। तीसरी, यह कहानी स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में वैयक्तिक परक शोषण संस्थानों (ठाकुर-महाजन) के यथावत् रहने तथा उससे जुड़ी थोथी मान्यताओं (ऊँच-नीच, छुआ-छूत, श्रेष्ठ-हेय, अवर्ण-सवर्ण) आदि के समाज में पसरे रहने का सच कहती है। चौथी, यह कहानी जोखू के चरित्र के रूप में मनुष्य की धनलिप्सा को दिखाती है, जो अंततः उसे संवेदनहीन बना देती है। पाँचवीं, आलोच्य कहानी के किसान (शोषित वर्ग) के चरित्र के रूप में नाथू की मानसिक जड़ता, उसकी विवेक-अंधता, उसका आत्मकेन्द्रित रवैया, उसका अवसरवाद अंततः शोषण को ही बढ़ावा देता है। छठवीं, यह कहानी अपनी व्यंजना में मूल्यहीनता के दौर में मनुष्य के विवेक, उसकी मानवीयता पर आए संकट को दर्शाती है। सारतः कहा जाए तो 'घुन' एक व्यंजनापूर्ण मार्मिक कहानी है, जो ग्रामीण समाज के शोषक-शोषित वर्ग के संबंध को व्यंग्यात्मक ढब के साथ रेखांकित करती है।

6.9 'एक काला दायरा'

आलोच्य कहानी सहज और शुभ (1964) कहानी-संग्रह में संग्रहीत है, जिसका समय सातवें दशक का संक्रांति काल ही है। यह स्वातंत्र्योत्तर वह समय है, जब आजाद भारत में, स्वशासन के रूप लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली अपना कार्य कर रही होती है। जिसमें न्यायपालिका एक मजबूत स्तंभ के रूप में चिन्हित होता है। जिसके अंतर्गत पुलिस तंत्र तथा अदालत (न्यायालय) की महती भूमिका रहती है। देखा जाए तो, प्रजातंत्र में स्वतंत्र न्यायपालिका प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों को महत्त्व देती हुयी उसके जीवन को एक सुरक्षा प्रदान करती है, क्योंकि इसी में इसकी सार्थकता निहित रहती है। किंतु, जब यह न्यायपालिका कुछ लोगों के अनुरूप कार्य करने लगती है, उससे परिचालित होने लगती है, तब यह लोकतंत्र के लिए एक संकट का रूप ले लेती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मार्कण्डेय की 'एक काला दायरा' शीर्षक कहानी ग्रामीण आम-आदमी के साथ उभरी नयी शासन प्रणाली के प्रमुख स्तंभ न्यायालय तथा पुलिस तंत्र के रिश्तों की पेचीदगियों को आलोकित करने का कार्य करती है।

प्रस्तुत कहानी की शुरुआत अदालत में अकेले पड़े और खड़े, पाँचू के मानसिक ऊहापोह

से होती है, जहाँ वह अपने भीतर के डर को कहीं न पाकर बेचैन हो उठता है, क्योंकि उसका यही डर कुछ समय पहले तक उसकी जिंदगी का अभिन्न हिस्सा बना होता है। वह न्याय से जुड़े दो घरों (अदालत और जेल की कोठरी) की तुलना करता हुआ अपने को अदालत में सहज महसूस करता है, क्योंकि यहाँ जेल की कोठरी की भाँति शारीरिक यंत्रणा की कोई घटना उसके साथ नहीं होती है। उसे जेल की कोठरी के उग्र बर्ताव की जगह अदालत का व्यवहार शांत और यंत्रवत लगता है। पाँचू को जेल में ही अपने जीवन का नया अनुभव प्राप्त होता है। उसे पहली बार एक अपराधी की भाषा में 'जन्म कुंडली' का अर्थ समझ में आता है। जो यह ज़ाहिर करता है कि एक व्यक्ति के नाम पर कानूनी चार्जशीट का दायर होना एक तरह से उसकी अपराध भरी जिंदगी की शुरुआत है। जहाँ, परिवार की जगह समाज और सरकार के नुमांइदे उसका भावी जीवन निर्धारित करते हैं। पाँचू भी अपनी इस जन्म कुंडली (चार्जशीट) को जानता है, क्योंकि उसमें वही सब होता है, जो कुछ पुलिस की शारीरिक यंत्रणा के द्वारा उससे कबूलवाया जाता है।

आलोच्य कहानी में पाँचू की वर्गीय पहचान ग्रामीण आमजन (निम्नवर्ग) की है, जो अपने गाँव, अपने घर-परिवार के भरण-पोषण हेतु पर्याप्त सुविधा न देखकर शहर (कानपुर) की ओर रुख (गाँव से पलायन) करता है। अर्थात् गाँव के भूमिहीन पाँचू की स्थिति शहर (कानपुर) के एक मजदूर के रूप में बदल जाती है—“घर में सिर्फ माँ है और कोई नहीं। खेत-बारी न होने से ही वह मजूरी करता है, नहीं तो परदेश में चाकरी करने कौन जाता।”⁵⁸ जिससे इस सत्य को समझा जा सकता है कि आलोच्य कहानी का पाँचू ग्रामीण जीवन के उस दौर का आमजन है, जिस दौर तक, कृषि-व्यवस्था में न कोई संभावना विकसित होती है और ना ही भूमिहीनों के लिए गाँव में कोई वैकल्पिक प्रबंधन उपलब्ध होता है। यही वजह होता है कि पाँचू जैसों को अपने सुनहले सपने के लिए शहर की ओर रुख करना पड़ता है। किंतु, उसके सपने धरे के धरे रह जाते हैं।

उल्लेखनीय है कि आलोच्य कहानी में मुख्य घटना के रूप में पाँचू (ग्रामीण भूमिहीन पर अब शहरी मजूर) की अपनी नई-नवेली दुल्हन के साथ अपने घर लौटने की यात्रा होती है। इसी यात्रा में उसके भावी जीवन के सपने बिखर जाते हैं, क्योंकि उसके साथ वह होता है जिसका पूर्वाभास तक उसको नहीं रहता है। वह देश-समाज में पसरी अविश्वसनीयता और अजनबीयत के माहौल में विश्वास करने की सजा पाता है। वह मनसुख अहीर को अपनी बिरादरी का लोग समझ कर उस पर विश्वास करता है जिसकी वजह से उसकी जिंदगी एक त्रासदी बन जाती है। वह

मनसुख अहीर जैसे समर्थ लोगों की साज़िश के आगे जड़ हो जाता है। वह स्वशासन में, प्रजातंत्र के रहते हुए अपने प्रजातांत्रिक मूल्य-अधिकारों का हनन होते हुए देखता है। वह न तो अपनी पत्नी के शील की रक्षा कर पाता है और ना ही उसके जीवन की। आलोच्य कहानी में पाँचू अपनी पत्नी के साथ घर लौटने का यात्रा में पानी पीने हेतु जिस कुएँ पर रुकता है वह मनसुख अहीर के रूप में उसकी बिरादरी का ही होता है। जहाँ उसे अपनत्व भरा माहौल देखने को मिलता है, इस कारण ही वह रात को वहाँ रुकने के लिए तैयार हो जाता है। मनसुख अहीर के घरवालों की तरफ से उसे आश्वासन भी मिलता है—“भइया, तुम भी गाँव-पुर के आदमी हो। तुम्हारी बहु हमारी बिटिया के सामान है। बेचारी को माँ-बाप की गोद छुड़ा कर पैदल घसीट रहे हो। देखो तो भला, पाँव में छाले पड़ गये हैं। लड़किन के बाबू भी वहीं नाच देख रहे हैं, तुम भी जा कर देख ना लो कोई बहुत दूर तो है नहीं...।”⁵⁹

किंतु, जब सुबह होती है तो उसे उसकी पत्नी चंपा के किसी ग़ैर पुरुष के साथ फरार हो जाने की बात बतायी जाती है, जिस पर उसे विश्वास नहीं होता है। वह घटना स्थल पर पुलिस बुलाने तथा अपनी पत्नी को साथ ले जाने की जिद पर अड़ जाता है, क्योंकि वह भी प्रजातंत्रिक देश के एक आमजन की तरह अपने लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा हेतु पुलिस पर आस्था रखता है। किंतु, पुराने सुराजी मनसुख अहीर के बेटे नये सुराजी तथा उसकी गिरोह के लोग पाँचू को गुमराह कर एक वीरान जगह पर ले जाते हैं, जहाँ उसे भरपूर मारा-पीटा जाता है, धमकाया जाता है—“समझ गया साला कि जान से मार दूँ, यहीं...!” ...“बीबी रखने के लिए जाँध में दम चाहिए। वह भी साली रात बड़े नखरे कर रही थी लेकिन एक ही झापड़ में कपड़े उठा कर चुपचाप सो गयी” और उसने दोनों पैरों के घुटने से पाँचू की रीढ़ पर ऐसा कस कर हचका दिया कि हड्डी चरमरा कर रह गयी।”⁶⁰ जिससे तत्कालीन समय-समाज की उस नैतिक गिरावट का संज्ञान होता है, जहाँ कुछ लोग किसी की (पाँचू) पत्नी के साथ बलात्कार कर उसकी हत्या कर देते हैं, तथा उस व्यक्ति (पाँचू) को खुलेआम चुनौती देते हैं कि यहाँ से चुपचाप निकल कर अपनी राह पकड़ ले। उसे यह कर भी धमकाया जाता है कि यदि वह थाने में जाता है तो उसे वही बंद करवा दिया जा सकता है, और अगर वहाँ से भी बच निकला तो कुछ और इंतजाम कर दिया जा सकता है—“देख चुपचाप घर जा कर हल्दी गुड़ पी और नौकरी पर जा। थाने पर रपट लिखाने गया तो वही बंद करवा दिया जाएगा और वहाँ से बचा तो...।”⁶¹ अर्थात् प्रजातंत्र में, मनसुख अहीर तथा उसके-गिरोह के लोग

लोकतंत्र की राजनीति तथा पुलिस तंत्र पर अपनी ऐसी पकड़ रखते हैं जिसके चलते वे पूरे न्याय-तंत्र को अपनी सुविधानुसार धुमा-फिरा सकने में सक्षम होते हैं। इसी का यह तकाज़ा होता है कि प्रभावशाली मनसुख चौधरी, माधो तथा अन्य लोगों को अपने साथ मिलाकर पुलिस तंत्र का दुरुपयोग करता हुआ तथा झूठी गवाही देकर पाँचू को ही उसकी पत्नी चंपा का हत्यारा ठहरा देता है।

गौर किया जाय तो आलोच्य कहानी स्वातंत्र्योत्तर लोकतांत्रिक सरकार की उस अक्षमता को भी दर्शाती है, जहाँ पाँचू जैसे लोगों के लिए न सुरक्षा (पुलिस) होती है और ना न्याय। बल्कि वह ऐसी सरकार होती है जिसकी शासन-व्यवस्था में चौधरी मनसुख राम जैसे लोगों का वर्चस्व होता है, जो जनता की सेवा की आड़ में वह सब-कुछ करते हैं जिन्हें गैर सामाजिक, अनैतिक तथा अमानवीय कहा जाता है। वह एक ऐसा समय होता है, जहाँ विश्वास की सख्त कमी होती है। पराये तो पराये अपने भी विश्वास नहीं करते हैं। प्रस्तुत कहानी में भी एक माँ अपने बेटे पर विश्वास नहीं रख पाती है—“तुमने यह क्या किया मेरे लाल।”⁶² अर्थात् पाँचू के अपने भी उस पर विश्वास नहीं रखते हैं। यही बात उसे ज्यादा सालती है। वह इस विश्वास की कमी को उस समय का दस्तूर तभी समझता है, जब मजिस्ट्रेट, धनीराम, मनसुख और माधो की तरह उसकी माँ भी उसे हत्यारा समझती है। दरअसल कहानीकार इस कहानी के जरिये समय-समाज में पसरी अविश्वसनीयता को ही दर्शाना चाहता है, इस कारण ही वह इस अविश्वसनीयता को कहानी के केन्द्र में रखता है। इसी कारण आलोच्य कहानी में अदालत में अकेला खड़ा पाँचू को बाहर की दुनिया अपरिचित लगती है—“यह बिरादरी के लोग कैसे हो सकते हैं। ये तो शैतान की औलाद हैं एकदम अजनबी, जिन्हें न तो वह जानता है, न उसे यह लोग। लगता है ऊपर से नीचे तक अँधेरे का एक घेरा है, जो मुझे जैसे कितने ही लोगों को अपने भीतर कसता जा रहा है।”⁶³ अर्थात् पाँचू अपने को एक काले दायरे के गिरफ्त में पाता है, जहाँ सब-कुछ उसका होकर भी अपना नहीं होता है।

इस प्रकार देखा जाय तो इस कहानी से जुड़ी कई बातें उजागर होती हैं। पहली, यह कहानी स्वतंत्रता बाद के उस दौर (सातवें दशक) की संक्रांतिकालीन दशा की तस्वीर पेश करती है, जहाँ विश्वास की सख्त कमी देखी जाती है, जहाँ विश्वास करने की सजा मिलती है। दूसरी, प्रस्तुत कहानी स्वतंत्र ग्रामीण भारत के नये यथार्थ को उकेरती है, जहाँ पाँचू ग्रामीण भूमिहीन और शहर के मजूर के रूप में, अपने अस्तित्व को खोज रहा होता है। तीसरी, यह कहानी ग्रामीण भारत

के नये यथार्थ के रूप में यह भी दर्शाती है कि ग्रामीण भूमिहीन पाँचू के गाँव से पलायन करने के बाद भी उसकी परेशानी खत्म नहीं होती है, बल्कि यह एक नए संकट के रूप में उससे मुखातिब होती है—प्रजातांत्रिक मूल्यों-अधिकारों के हनन के रूप में। चौथी, आलोच्य कहानी यह भी दर्शाती है कि स्वतंत्र भारत का प्रजातांत्रिक सरकार और उसका लोकतांत्रिक ढाँचा ग्रामीण आमजन पाँचू जैसों को न सुरक्षा प्रदान करता है और ना न्याय। पाँचवी, यह कहानी यह भी दिखलाती है कि स्वतंत्र भारत की राजनीति, लोकतंत्र और न्याय-तंत्र पर सामर्थ्य वानों का वर्चस्व रहता है। सारतः कहा जाय तो आलोच्य कहानी ग्रामीण जीवन-प्रसंगों के जरिये सातवें दशक की संक्रांति दशा तथा उस समय-समाज में ग्रामीण आमजन पाँचू के प्रजातांत्रिक मूल्यों अधिकारों के हनन का सच बयान करती है।

6.10 'बीच के लोग'

'बीच के लोग' मार्कण्डेय की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है, इस नाम से ही उनका अंतिम कहानी-संग्रह सन् 1975 में आता है। आलोच्य कहानी मार्कण्डेय की स्वतंत्र ग्रामीण भारत में भूमि-संबंधों की वास्तविकता को समझने, उसे उकेरने की गहरी ललक को आलोकित करती है। ग्रामीण जीवन का भूमि संबंध मार्कण्डेय की कहानी की अपनी जमीन है, तभी वे इससे जुड़ी नई स्थितियों, जीवन-प्रसंगों और नई समस्याओं को यथार्थ रूप में चित्रित करने हेतु बार-बार प्रवृत्त होते हैं। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण भारत में सरकारी योजनाओं, नियम-कानूनों तथा सदिच्छाओं के बावजूद ग्रामीण जीवन और समाज की वह संरचना तथा उसमें निहित तत्त्व ग्रामीण जीवन के गुणात्मक उन्नयन में किस प्रकार बाधक बने रहते हैं, इसी की गहरी पड़ताल करने वाली कहानी है, 'बीच के लोग'।

आलोच्य कहानी यह दर्शाती है कि स्वतंत्र ग्रामीण भारत के सामाजिक वर्गों में तीव्र असंतोष एवं संघर्ष की स्थितियाँ व्याप्त रहती हैं। पंचायती-राज, जमींदारी-प्रथा का अंत, पंचवर्षीय विकास-योजनाएँ तथा भूमिसुधार-संस्कार आदि के क्रियान्वयन में हुयी चूक तथा प्रजातांत्रिक शासन में सामंती-पूँजवादी शक्तियों की पैठ ग्रामीण जीवन में गुणात्मक परिवर्तन नहीं होने देती हैं। यही नहीं, ग्रामीण जीवन की पहचान उसकी सामुदायिकता की भावना में सब-कुछ ठीक-ठाक नहीं होता है। प्राचीन संस्कार और परंपरा की दुहाई देकर स्थिति को 'जस का तस' बनाये रखने वाले विचार सामाजिक परिवर्तन और प्रगति के रास्ते को रोकने का कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में, समाज दो

अलग-अलग वर्गों, पक्षों, विचारों और शक्तियों में ध्रुवीकृत होने की ओर प्रवृत्त होता है। जहाँ, बीच के विचार या रास्ते की कोई जगह नहीं बनती है। मार्कण्डेय की आलोच्य कहानी स्वतंत्र ग्रामीण भारत के उक्त सत्य का ही साक्षात्कार कराने का प्रयास करती है। आलोचक खगेन्द्र ठाकुर के निम्न शब्दों में भी प्रस्तुत कहानी से जुड़े उक्त सच को पढ़ा जा सकता है—“ ‘बीच के लोग’ मार्कण्डेय की एक और महत्वपूर्ण कहानी है। असल में यह कथा गाँव में चल रहे वर्ग-संघर्ष का यथार्थ बताती है। जब समाज में वर्ग-संघर्ष चलता है, और उसका उद्देश्य समाज का शक्ति-संतुलन बदल देना होता है, तब किसी के लिए दोनों पक्षों के बीच रह पाना या तटस्थ रहना संभव नहीं होता है।”⁶⁴

जैसा कि, उनकी तमाम कहानियों की भाँति इस कहानी की शुरुवात में ही, ग्रामीण जीवन में व्याप्त समस्या का संकेत हो जाता है। इस कहानी की शुरुआत बुझावन, एक दलित किसान की मानसिक उधेड़बुन से होती है। उसके पास ‘बिस्वा टॉड’ के सिवा और कुछ नहीं है, जिसे वह वर्षों से जोत रहा होता है पर उस जमीन का कानूनी मालिकाना गाँव के ठाकुर हरदयाल के नाम है। वैसे, वह इस बात-जमीन पर जोतवाले का अधिकार-से अवगत रहता है, तथापि उसके भीतर का संशय उसे अशांत किए हुए रहता है। उसके इस संशय की एक वजह यह होती है कि गाँव का ठाकुर तथा महाजन षड्यंत्र कर उसे उसके ‘बिस्वा टॉड’ से बेदखल करने की फिराक में सदा कार्यरत रहते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि गाँव के चारों ओर एक असंतोष की भावना सुगबुगाने लगती है। वैसे, बुझावन के गाँव में ऊपरी तौर पर सब कुछ ठीक-ठाक होने तथा चारों ओर एक शांत माहौल के व्याप्त रहने की स्थिति बहुत पहले से ही बनी रहती है, क्योंकि बुझावन (दलित) और उसके हमउम्र फउदी दादा (सवर्ण) के व्यक्तिगत आत्मीय रिश्ते गाँव में छोटी-बड़ी जातियों के झगड़े नहीं होने देते हैं। फउदी दादा का सम्मान गाँव के सभी लोगों की तरह बुझावन भी करता है। किंतु, वह आज फउदी दादा को लेकर सशंकित नज़र आता है। उसे लगता है कि उसके साथ-साथ उस जैसे तमाम लोगों के साथ होने वाले हर अन्याय में फउदी दादा की एक आंतरिक सहमति होती है—“बुझावन पेशाब कर लेने पर बैठा सोचता रहा— कहीं यह फउदी दादा मेरे जरिए सारे गरीब कमकरोँ को चूस तो नहीं रहा है। चारों ओर यही हल्ला है कि परानपुर में ऊँच-नीच सब मिल कर किसी बात का फैसला कर लेते हैं। आपस में कोई मतभेद नहीं और इसी कारण इस जवार में दादा-सा सरदार दूसरा नहीं।”⁶⁵ जो यह दर्शाता है कि फउदी दादा की गाँव में एक न्याय पसंद व्यक्ति की छवि रहने के बावजूद भी, उनका व्यक्तित्व अपने जातिगत

और वर्गीय संस्कारों से ग्रस्त रहता है।

वे सामंती समाज और उसके संस्कारों की दुहाई देने से कभी नहीं चूकते हैं, इस कारण ही वे जमींदारी और महाजनी प्रथा की गाहे-बगाहे हिमायत करते फिरते हैं। बुझावन के जमीन-विवाद के प्रसंग में भी उनका सामंती चेहरा दृश्यमान होते हुए देखा जाता है—“ठाकुर की ही तो वह जमीन है, बुझावन। यह बात ठीक नहीं? फउदी दादा जैसे न्यायालय की कुर्सी से बोले। ‘भाई जो बात लग आयी है, उसे न छोड़ों। अगर किसी को लेते हो तो मूल-सूत समेत दो। न देना हो तो कोई तुम्हें जबरदस्ती करजा-कुआम तो देता नहीं। समाज चलेगा नहीं...’ फउदी दादा बोल रहे थे और बुझावन रात की उस सिहरती सरदी में जैसे पसीने-पसीने होता जा रहा था।”⁶⁶ जो यह दर्शाता है कि उनका परंपरित सामंती व्यक्तित्व किसी नई बात या रिवायत को स्वीकार करने की स्थिति में बिल्कुल नहीं रहता है। यही वजह है कि उनके घर उनका बंधुआ मजदूर अपनी पूर्व-पीढ़ी का ऋण चुकाने हेतु वर्षों से मरता-खपता रहता है। बुझावन भी इस अमानवीय रिवायत को समाज के एक कटु सच के रूप में सदियों से चली आ रही परंपरा के रूप में देखता है—“सारी उमर उसने यही सुना है, यही समझ में भी आता है। लोग तो बाप-दादा तक का करजा भरते चले आ रहे हैं। यही फउदी दादा का बचपन का मजूर और क्या है। साल-साल हिसाब करके बियाज में से पइसा कटने पर भी कुछ मूल में जुरता जाता है। अगली कितनी पीढ़ियाँ तक यह करजा चलेगा, कौन जानता है, लेकिन लोग मर रहे हैं।”⁶⁷ अर्थात् स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में भी, गाँवों में सामंती ढाँचा ध्वस्त नहीं होता है और ना ही सामंती संस्कारों, रिवायतों की श्रृंखलाएँ टूटती हैं। बुझावन भी अंततः इसे तोड़ने का साहस नहीं दिखाता है। बुझावन सब कुछ देखने-सुनने के बावजूद बेमन ही सही फउदी दादा की तरह यथास्थिति को स्वीकार लेता है। फउदी दादा भी उसे बड़े आत्मीय तरीके से यही समझाते हैं कि गाँव में शांति तथा आपसी एकता बनाये रखने के लिए ‘जस को तस’ की स्थिति को कायम रखना ही उचित कदम साबित होगा है—“उन्होंने हरसू और हुडदंगी के चले जाने के कारण अधिक आत्मीयता से कहा, अब तक क्या यह गाँव ऐसे ही रहता जाने कितनी मार-काट हो चुकी होती। यह सब तो हमारे सहयोग का फल है जानो कि गाड़ी खिंच रही है, नहीं तो यहाँ कोई किसी का नहीं है।”⁶⁸

कहने का तात्पर्य यह है कि फउदी दादा जैसे सामंती संस्कारों के धनी लोग, गाँव की ऊपरी तथाकथित शांति बनाए रखने के नाम पर न किसी नए विचार को पसंद करते हैं और ना

ही उस राजनीतिक तेवर को, जो शोषित, दलित, भूमिहीनों को, जमीन के जोतदारों को जमीन दिलाने की आवाज़ उठाता है। इसी कारण वे बुझावन के जमीन-विवाद के प्रसंग में होने वाले अन्याय के खिलाफ कुछ भी नहीं कहते हैं। उन्हें लगता है कि इससे एक नई रीति की शुरुआत हो सकती है, जो सदियों की परंपरा और व्यवस्था की चूलें हिला देंगी। बुझावन को अपने संकट की घड़ी में अपने हित में फउदी दादा का न बोलना अखरता है। उसे यह दगा लगता है। इसीलिए बुझावन उन्हें अतीत की घटनाओं से अवगत कराते हुए अपनी जमीन के झगड़े में पहल करने को कहते हैं। किंतु दादा का वर्गीय मोह और संस्कार बुझावन के जीवन में व्याप्त उसके खेत के महत्त्व को न देखकर गाँव के ठाकुर और साहुकारों के आपसी हितों को देखता है –“ ‘बात ई है बुझावन कि सहुआ वहाँ पंपिन-सिट लगा कर कोल्हू -चक्की का व्योपार करना चाहता है। हरिदयाल को लम्बी रकम दे रहा है। हरिदयाल को तो जानते हो, महा लतेड़ मनई है। लालच तो है रुपये की मूल बात कुछ-की कुछ लिए, रात दिन एक किए हुए है। कहता है बुझावन कब्जा कर लेगा मेरी भूँ पर, फिर धीरे-धीरे सभी की जमीन छीनी जाएगी। तुम्हारे घर में वह मिटिंग क्या हुई लोगों ने मेरा मुँह ही बंद कर दिया है।”⁶⁹ जिससे यह जाहिर होता है कि दादा का चरित्र सामंती संस्कारों से गढ़ा हुआ है। वे जमीन के मालिक को तो देखते हैं, किंतु उस जमीन को अपने श्रम-सीकर से वर्षों तक सींचने वाले ना उस जोतदार को देखते हैं और ना ही उसके जमीन से जुड़े संबंधों को।

दरअसल, फउदी दादा समेत गाँव की सामंती ताकत भूमिहीनों को जमीन मिलने वाली नीति का विरोध इसलिए करती हैं कि इससे उनकी सामंती चेतना से अनुप्राणित जस की तस व्यवस्था डिगती हुयी मालूम होती है। आखिरकार, बुझावन भी फउदी दादा की सदियों की परंपरा, धर्म-नीति, न्याय-नीति आदि के भुलावों में आकर स्थिति को यथावत् बने रहने में गाँव की भलाई देखता है। किंतु आलोच्य कहानी में मनरा और उसके साथियों को यह लगता है कि फउदी दादा और बुझावन जैसे की समझौता परस्ती सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन की मूल बाधा है। इसी कारण मनरा तथा उसके साथी जहाँ बुझावन पर हुए अन्याय (ठाकुर हरदयाल और महाजन जैसे लोगों द्वारा बुझावन के खेत-हड़पने की खातिर उसकी खड़ी फसल को उखाड़ फेंकना) का जहाँ प्रतिकार करते हैं, वहाँ फउदी दादा और बुझावन जैसे लोग अपने को निरुपाय पाते हैं। प्रस्तुत कहानी के अंत में मनरा का फउदी दादा को यह दो टूक जवाब—“अच्छा हो कि दुनिया को जस-

की-तस बनाए रखने वाले लोग हमारा साथ नहीं दे सकते तो बीच से हट जाए, नहीं तो सबसे पहले उन्हीं को हटाना होगा, क्योंकि जिस बदलाव के लिए हम रण रोपे हुए हैं, वे उसी को रोके रहना चाहते हैं—⁷⁰ गाँव के भीतर से उठने वाली उस आवाज़ को बुलंद करता है, जो ग्रामीण सामाजिक संरचना में व्याप्त अन्याय, शोषण और विषमता के खिलाफ किसी भी समझौतापरस्त मानसिकता को बर्दाश्त नहीं करती है।

इस प्रकार इस कहानी से जुड़े विवेचन को देखा जाए तो निम्न बातें उजागर होती हैं। पहली, आलोच्य कहानी स्वतंत्र ग्रामीण भारत के भूमि-संबंधों से जुड़ी नयी वास्तविकता को उसके संश्लिष्ट संदर्भों-छुआछूत, ऊँच-नीच भेद, बंधुआ मजदूर आदि प्रश्नों के साथ प्रस्तुत करती है। दूसरी, प्रस्तुत कहानी स्वतंत्र भारत में भूमिहीनों को जमीन प्राप्त होने की नीतियों के विरुद्ध उस व्यवस्था की परतें उघाड़ती है, जो सामंती संस्करणों से पोषित रहती हैं। तीसरी, यह कहानी यह भली-भाँति दर्शाती है कि ग्रामीण जीवन में उठने वाले नए राजनीतिक तैवर उन तत्त्वों के लिए खतरनाक प्रतीत होते हैं, जो समाज में सामाजिक-आर्थिक विषमता बनाए रखने में अपना हित देखते हैं। चौथी, यह कहानी यह भी दर्शाती है कि स्वतंत्र भारत में भी वह व्यवस्था बुझावन जैसों को उसके खेत से बेदखल करने में लगी रहती है, जो सामंती संस्कारों से गढ़ी हुयी होती है। पाँचवीं, यह कहानी यह भी दर्शाती है कि स्वतंत्र ग्रामीण भारत में जातिगत और वर्गीय खाइयों चौड़ी ही होती हैं, जहाँ तीव्र असंतोष पनप रहा होता है, जो सामाजिक वर्ग-संघर्ष और परिवर्तन की माँग करती है। जहाँ, इस संघर्ष में 'जस को तस' बनाये रखने वाली मानसिकता की कोई जगह नहीं होती है। सारतः कहा जाए तो 'बीच के लोग' कहानी स्वतंत्र ग्रामीण भारत के भूमि-संबंधों से जुड़ी नई वास्तविकता से हमारा साक्षात्कार कराती है।

इस प्रकार ऊपर विवेचित दस कहानियों के विशेष अध्ययन से जुड़े पहलुओं को निष्कर्ष स्वरूप देखा जाए तो इन कहानियों में 'गुलरा के बाबा' से लेकर 'बीच के लोग' तक के विवेचन में इस कथ्य को साक्षात् किया जाता है कि उनकी तमाम कहानियों में उज्जीवित यथार्थ में एक आंतरिक अन्विति है। जहाँ, हिंदी कहानी धारा के ग्रामीण चरित्र और कथ्य का सतत विकास होता है। उनकी 'गुलरा के बाबा' में जो बिम्ब उभरता है, वह स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में व्याप्त प्रेम-घृणा, आसक्ति-विरक्ति, गरीबी-लाचारी, मस्ती-आनंद, प्रकृति-सौन्दर्य की स्थानीय रंगत और मानवीयता का ताना-बाना प्रमुख रूप से होता है। उनकी 'जूते' कहानी एक दलित बालक मनोहर

के चरित्र तथा उसके मनोविज्ञान के केन्द्रीय कथ्य में ग्रामीण समाज का बृहत्तर पक्ष समाए रहती है, जिसमें सामाजिक-आर्थिक वैषम्य, गरीबी-अभावग्रस्तता, सामंती सोच-संस्कार, जातिदंश की पीड़ा, गाँव से पलायन तथा शहरी जीवन-मूल्य संक्रमण आदि का पहलू स्वतंत्र ग्रामीण भारत को आलोकित करता है। उनकी 'कल्याणमन' कहानी स्वतंत्र भारत की भूमि से जुड़ी समस्याओं के रूप में उस सच को दर्शाती है, जहाँ जमींदारी-प्रथा के अंत के बावजूद जमींदारों की भूमि हड़प-नीति जारी रहती है। उनकी 'दौने की पत्तियाँ' कहानी में स्वातंत्र्योत्तर विकास-कार्यक्रम के ईमानदारी से क्रियान्वयन न होने तथा सत्ता, सामंत और तंत्र की सम्मिलित भ्रष्टता के कारण भोला कोयरी जैसे ग्रामीण मेहनतकश वर्ग के जीवन के त्रासद बनने का सच बयान होता है। उनकी 'हंसा जाई अकेला' चर्चित कहानी में व्यक्ति के अकेलेपन की कथा के बहाने ग्रामीण वैषम्य पूर्ण समाज के भीतर से उठने वाले स्त्री और दलित स्वर के साथ स्वातंत्र्योत्तर राजनीति से जुड़ा विमर्श भी उद्घाटित होता है। उनकी 'आदर्श कुक्कुट-गृह' कहानी रमजान जैसे ग्रामीण आमजन के जीवन-प्रसंग के जरिए स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक विकास कार्यक्रम की सच्चाई पेश करती है। उनकी 'भूदान' कहानी स्वातंत्र्योत्तर शासन की राजनीतिक सदिच्छा और सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के शोर-शराबे के भीतर के सच को रेखांकित करती है, जहाँ रामजतन जैसों को भूदान के नाम पर केवल धोखा मिलता है। उनकी 'घुन' कहानी सातवें दशक की सक्रांति-दशा के समय-समाज की नैतिक गिरावट को ग्रामीण जीवन प्रसंगों के सहारे उत्थापन करती है। उनकी 'एक काला दायरा' शीर्षक कहानी ग्रामीण भूमिहीन के शहरी मजूर बनने के बाद की जीवन-स्थितियों में उसके लोकतांत्रिक मूल्यों-अधिकारों के हनन होने का सच दिखलाती है। उनकी 'बीच के लोग' जातिगत भेद-भाव और आर्थिक विषमता से पूर्ण समाज में सामाजिक परिवर्तन हेतु वर्ग संघर्ष के रास्ते ग्रामीण समझौता परस्ती की मानसिकता ('जस को तस' बनाये रखने की सोच) को बीच से हट जाने की चेतावनी देने वाली कहानी होती है।

इस प्रकार मार्कण्डेय की इन कहानियों का स्वर बहुवचनात्मक है। जिनमें ग्रामीण जीवन के विभिन्न पक्ष, समस्या, प्रश्न और पहलू दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी इन कहानियों में उनकी यथार्थ-दृष्टि का प्रमुख रूप, यथार्थ को उसके बदलते तेवर के साथ पकड़ने की चेष्टा का भली-भाँति उद्घाटन होता है। साथ ही यहाँ, यथार्थ को एकरेखीय रूप के बजाय उसे उसकी संश्लिष्टता में उज्जीवित करने की ललक देखी जाती है। यहाँ उनका यथार्थ के प्रति वह रुख

नज़र आता है, जहाँ वे जीवन-संदर्भों, समस्याओं और प्रश्नों का सतही उद्घाटन से बचते हुए उसे पूरे आलोचनात्मक तेवर के साथ प्रस्तुत करना जरूरी समझते हैं।

मार्कण्डेय की इन कहानियों में प्रेमचंद के बाद का ग्रामीण यथार्थ उद्घाटित होता है, जहाँ स्वतंत्रतापूर्ण ग्रामीण जीवन की सचाइयों के साथ स्वातंत्र्योत्तर बदलाव और विकास से उत्पन्न नई स्थितियों को उसकी जमीनी हकीकत के साथ प्रस्तुत कर देने की सदिच्छा मिलती है। इन कहानियों में स्वतंत्रता पूर्व प्रेमचंद द्वारा ग्रामीण भूमि संबंधों से प्रत्यक्ष-परोक्ष जुड़े जिस वर्ग के चरित्रों, कथ्यों, संबंधों और जीवन-स्थितियों को उकेरा जाता है, उसे मार्कण्डेय द्वारा स्वातंत्र्योत्तर समय के आलोक में एक आलोचनात्मक तेवर के साथ बढ़ाने का स्तुत्य प्रयास होता है।

संदर्भ-सूची

1. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र. सं. : 2010, पृ. 116
2. उपरिवत् , पृ. 162
3. उपरिवत् , पृ. 152-153
4. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर (संपादक) नयी कहानी: सदंर्भ और प्रकृति राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई-दिल्ली, प्र. सं.:1973, पृ. 219-220
5. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2010, पृ. 19
6. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.:2002 पृ.4
7. उपरिवत् पृ. 8
8. उपरिवत् पृ. 9
9. उपरिवत् पृ. 5
10. राय डॉ. विवेकी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य और ग्राम जीवन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं.: 1974 पृ. 241
11. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण: 2002, पृ. 89
12. उपरिवत् पृ. 89
13. उपरिवत् पृ. 89
14. उपरिवत् पृ. 95
15. उपरिवत् पृ. 99
16. उपरिवत् पृ. 188
17. उपरिवत् पृ. 188
18. उपरिवत् पृ. 188
19. उपरिवत् पृ. 192
20. उपरिवत् पृ. 192
21. उपरिवत् पृ. 193
22. उपरिवत् पृ. 193
23. उपरिवत् पृ. 190
24. उपरिवत् पृ. 199
25. उपरिवत् पृ. 200
26. उपरिवत् पृ. 202

27. उपरिवत् पृ. 202
28. उपरिवत् पृ. 202
29. त्रिपाठी, प्रकाश (सम्पादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद , प्र. सं.: 2010, पृ. 100
30. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 186
31. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 219
32. उपरिवत् पृ. 217
33. उपरिवत् पृ. 216
34. उपरिवत् पृ. 217
35. उपरिवत् पृ. 219
36. उपरिवत् पृ. 218
37. उपरिवत् पृ. 219
38. उपरिवत् पृ. 218
39. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 263
40. उपरिवत् पृ. 264
41. उपरिवत् पृ. 265
42. उपरिवत् पृ. 266-267
43. उपरिवत् पृ. 267
44. शर्मा, डॉ. राम विलास, कथा विवेचना और गद्य शिल्प, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.: 1982, पृ. 87
45. उद्धृत, कुमार, डॉ. राजेन्द्र, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में ग्राम्य जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र.सं.: 1988, पृ. 20 ("Bhoodan is not a programme of merely collecting and distributing land, it is rather the first step towards a total revolution-social, political and economic" -साभार J.P. Narain: A picture of Servodaya of social orders, P.1)
46. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 271
47. उपरिवत्, पृ. 275
48. उपरिवत्, पृ. 276

49. उपरिवत्, पृ. 278
50. उपरिवत्, पृ. 278
51. उपरिवत्, पृ. 278
52. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 401
53. उपरिवत्, पृ. 403
54. उपरिवत्, पृ. 404
55. उपरिवत्, पृ. 404
56. उपरिवत्, पृ. 406
57. उपरिवत्, पृ. 407
58. उपरिवत्, पृ. 450
59. उपरिवत्, पृ. 450
60. उपरिवत्, पृ. 452
61. उपरिवत्, पृ. 452
62. उपरिवत्, पृ. 453
63. उपरिवत्, पृ. 459
64. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र.सं.:2010, पृ. 103
- 65.मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 478
66. उपरिवत्, पृ. 482
67. उपरिवत्, पृ. 482
68. उपरिवत्, पृ. 483
69. उपरिवत्, पृ. 483
70. उपरिवत्, पृ. 495

सप्तम अध्याय
मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प पक्ष

मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प पक्ष

कलाकार अपनी अनुभूति, संवेदना और विचार को जिस रचना के माध्यम से पाठक तक संप्रेषित करता है, वह रचना एक कलात्मक इकाई होती है और इस कलात्मक इकाई (रचना) के दो बुनियादी पक्ष- वस्तु और शिल्प हैं। केवल कहानी साहित्य ही नहीं, बल्कि संपूर्ण साहित्य-चिंतन का विकास वस्तु और शिल्प के बुनियादी प्रश्नों से टकराकर ही संभव हुआ है। इस नाते भी, एक कहानीकार (साहित्यकार) को बेहतर ढंग से समझने हेतु, उसकी कहानियों के सम्यक अनुशीलन के लिए कहानी के वस्तु पक्ष के साथ-साथ उसके शिल्प-पक्ष की भी पहचान अत्यंत आवश्यक होती है।

7.1 शिल्प संबंधी मार्कण्डेय के विचार

रचना (कहानी) के लिए शिल्प भी अपना महत्त्व रखता है। यहाँ हिन्दी के कहानीकार जैनेन्द्र के उस मत को लक्ष्य किया जा सकता है जिसे वे अपने निबंध- 'मैं और मेरी कला' में लिखते हैं—“शिल्प अनावश्यक नहीं है। कारीगरी को किसी तरह छोटी चीज नहीं समझा जा सकता। लेकिन उससे किनारा बनता, नदी का पानी नहीं बनता।”¹ अर्थात् वे शिल्प के महत्त्व को 'रचना के लिए स्वीकार करते हैं, पर उतना नहीं कि जिससे रचनाकार (कहानीकार) पर रूपवाद हावी हो जाए। वस्तुतः शिल्प (टेकनीक) का महत्त्व यथार्थ जीवन (वस्तु या कथ्य) के अंकन तथा जीवन के प्रति होने वाले दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में होता है। एक रचना(कहानी) के लिए वस्तु (कथ्य) और शिल्प (रूप) की एकात्मकता अत्यंत आवश्यक है। रचना में वस्तु की प्राथमिकता होने के बावजूद भी न तो शिल्प को अनावश्यक समझा जा सकता है और ना ही उसे रचना के वस्तु (कथ्य) से अविच्छिन्न। रचना का वस्तु (कथ्य) पक्ष अपने अनुरूप शिल्प की मांग करता है, इसी कारण रचनाकार (कहानीकार) अपने वस्तु (कथ्य) की कलात्मक अभिव्यक्ति हेतु समस्त रचनात्मक कौशल को अपनाने हेतु आग्रहशील रहता है।

मार्कण्डेय की पहचान एक यथार्थवादी कहानीकार की है। उनके कहानीकार का मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति रुझान भी उन्हें रचना (कहानी) के वस्तु और शिल्प संबंधी प्रश्न में उस ओर प्रवृत्त करता है, जहाँ वे शिल्प को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उसे वस्तु (यथार्थ) को कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उनका 'भूदान'

कहानी-संग्रह की भूमिका में व्यक्त निम्न मंतव्य पढ़ा जा सकता है—“वास्तव में कहानी के सामने अभिव्यक्ति अथवा शिल्प की बारीक पैठ के प्रश्न के साथ ही मुख्य प्रश्न है जीवन की नयी उभरती वास्तविकताओं के उसके पूरे परिवेश के साथ ग्रहण करने का।”² जिससे उनके कहानीकार का यथार्थवादी रुख जाहिर होता है। साथ ही यहाँ, इस बात को भी समझा जा सकता है कि उनका कहानीकार रचना के लिए शिल्प को महत्त्वपूर्ण समझने के बावजूद शिल्प की बारीकियों में गोते लगाने के बजाय अर्थात् उसके प्रति अतिरिक्त सजगता की जगह परिवर्तित जीवन-संदर्भों के यथार्थ को पकड़ना ज्यादा जरूरी समझता है। यही कारण है कि वे शिल्प के अतिरिक्त दवाब स्वरूप रूपवाद को कहानी (रचना) में यथार्थ की उपेक्षा के रूप में देखते हैं। इस संदर्भ में उनका अपने कहानी-संग्रह ‘बीच के लोग’ की भूमिका में कहा गया कथन द्रष्टव्य है—“रूप-विधान और शिल्प के चमत्कार की कथरी ओढ़ने वाले संसार के अधिकांश कलाकारों एवम् साहित्यिकों की मनोवृत्ति का रहस्य यही है कि आधुनिक मानव की दुरूह एवं अनिश्चित मनोभूमि का धरातल छू पाने में असमर्थ होकर वे चिंतन के रुख को ही दूसरी ओर मोड़ देना चाहते हैं।”³ यहाँ भी मार्कण्डेय के कहानीकार का वस्तुवादी या यथार्थवादी रुख उजागर होता है। साथ ही उनके कहानीकार का साहित्य के प्रति उपयोगितावादी मूल्य-बोध भी समझ में आता है। जिसे डॉ. उषा चौहान के निम्न मंतव्य में भी पुष्ट होते हुए देखा जाता है—“मार्कण्डेय का दृष्टिकोण कलावादी और रूपवादी नहीं है। वे उपयोगितावादी रचनाकार हैं तथा ‘कला जीवन के लिए’ सिद्धांत के पक्षधर हैं। उनके अनुसार कला जन्म से ही जीवन में बँधी है अतः वे सम्पूर्णतः सोद्देश्य भी होती है। उद्देश्य को नकारना केवल कला या रचना को ही जड़ीभूत नहीं करता बल्कि समाजबोध की पिछली सम्पूर्ण यात्रा को भी निरर्थक बना देता है।”⁴

इस प्रकार मार्कण्डेय का कहानीकार कहानी (रचना) में वस्तु की प्राथमिकता स्वीकारते हुए भी शिल्प की अवहेलना नहीं करता है। हाँ, बेशक उनका कहानीकार शिल्प के अतिवादी छोर पर पहुँचकर आत्मतोष का भाव बोध करने से स्वयं को बचाता है। सारतः कहा जाए तो उनका कहानी के प्रति यथार्थवादी (वस्तुगत) दृष्टिकोण उनकी कहानियों के शिल्प को एक यथार्थवादी पहचान देता है। जिसे विस्तार में निम्न शीर्षकों कथा-संयोजना, भाषा-संयोजना और शैली संयोजना के अंतर्गत समझा जा सकता है।

7.1.1 कथा-संयोजना

जैसा कि यह सर्वमान्य तथ्य है कि किसी भी कहानी की कलात्मकता कहानीकार के कुशल

कथा-संयोजना पर ही निर्भर करती है। कहने की बात नहीं है कि कहानी के कथा-संयोजन के दो महत्त्वपूर्ण पहलू होते हैं— कथानक और चरित्र।

7.1.1.1 कथानक

उल्लेखनीय है कि किसी भी कहानी की कुशल कथा-संयोजना हेतु उसका कथानक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि कथानक में ही किसी कहानी के कथा-क्रम या घटना-व्यापार की तार्किक परिणति होती है।

मार्कण्डेय का कहानीकार कहानी के लिए कथानक को महत्त्वपूर्ण मानता है और कथानक को यथार्थ जीवन-संदर्भों से सिक्त होना जरूरी। इसी वजह से मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के हिंदी कहानी-लेखन में जब कथानक के ह्रास की चर्चा हो रही होती है, तब ग्रामीण जीवन-संदर्भों से अंतर्गुम्फित कहानियों के सशक्त कथानक का उल्लेख कर अपने यथार्थवादी (वस्तुवादी) शिल्प का संकेत करते हैं—“...कहना नहीं होगा कि कहानी को सशक्त साहित्य-विधा के रूप में एक बार फिर विचार-विमर्श का केन्द्र बना देने का श्रेय इन्हीं ग्राम कथानकों को है। नया वस्तु-संचयन, रूपगत गठन, प्रतीक-योजना, शब्द-संस्कार, नयी उभरती हुयी सच्चाइयों की समझ ही नहीं, वरन् उसके पूरे परिवेश के साथ, उसे कहानी में उतार ले आने का जो काम ग्राम-कथानकों ने किया, उसे पूर्वग्रह विहीन होने की दशा में, काल्पनिक मसाले पर कहानियाँ रचने वाले कथाकारों ने भी मुक्त होकर सराहा है।”⁵ यहाँ ध्यान दिया जाए तो प्रमुख रूप से दो बातें समझ में आती हैं। पहली, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में ग्राम-कथानकों का महत्त्व। दूसरी, कथानकों का बदलते जीवन और परिवेश की वास्तविकता से सम्पृक्ति पर मार्कण्डेय के कहानीकार का कल्पना से गढ़े कथानकों के बजाय यथार्थ जीवन को प्रतीकित करने वाले कथानकों का महत्त्वपूर्ण मानना—“कहना न होगा कि प्रेमचंद के बाद कल्पना जीवी-लेखकों-द्वारा कथानकों के नाम पर इसी तरह वैयक्तिक शिल्प-चक्र रचे गये थे, जो निस्संदेह लेखकों की कलात्मक रुचियों के साथ ही, उनके व्यक्तित्वों की चिंतन-प्रणाली के समर्थ प्रतिरूप थे, और हैं, पर जीवन-संस्पर्श की व्यापक कमी और सामाजिक परिस्थियों के विकास और वास्तविकता की ग्रहणशीलता का अभाव ही इन कहानियों की सबसे बड़ी दुर्बलता थी, जिसने समूचे कहानी-साहित्य को नकली परिवेश से भर दिया था।”⁶ इस प्रकार कथा-संयोजना के संदर्भ में कथानक से जुड़ी चर्चा को मार्कण्डेय के कहानीकार की दृष्टि से देखा जाए तो निम्न बातें कही जा सकती हैं। पहली, मार्कण्डेय का कहानीकार कहानी-शिल्प में कथा-

संयोजना तथा कथा-संयोजना के संदर्भ में कथानक के सशक्त होने की वकालत करता है। दूसरी, उनका कहानीकार कल्पना-प्रसूत कथानकों के बजाय यथार्थ (वास्तविक) जीवन को प्रतीकित करने वाले कथानकों को महत्त्व देता है। तीसरी, उनका कहानीकार कथानक में कथा क्रम, घटना या क्रियाव्यापार की अन्विति तथा उसकी विश्वसनीयता की बात करता है। अर्थात् कथानक के यथार्थपरक होने की बात करता है। चौथी, उनका कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य को हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण यथार्थ संदर्भों से संस्पर्शित कथानकों को हिंदी कहानी की यथार्थवादी कहानी-धारा के विकास के रूप में देखता है।

मार्कण्डेय की कहानियाँ प्रारंभ से ही ग्राम-ग्रामेतर जीवन-संदर्भों को प्रतीकित करती रही हैं तथापि उनकी पहचान ग्रामीण जीवन-बोध के एक कहानीकार की ही बनती है। उनकी कहानियाँ इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि उनकी कहानियाँ गढ़ी हुयी होने के बजाय सीधे ग्रामीण वास्तविक जीवन से उठायी गयी हैं। जहाँ कथा के ह्रास की जगह ग्रामीण यथार्थ जीवन संदर्भित है। साथ ही साथ उनकी कहानियों में कथा का विकास एक ऐसी तार्किक परिणति की ओर अग्रसर रहता है जिससे कथा से जुड़ी घटना, क्रिया या कार्य-व्यापार की संभवता खंडित नहीं होती है। अर्थात् कथा के केन्द्र में स्थापित संघर्ष या समस्या का प्रवाह इस रूप में होता है, जहाँ घटनाओं का पूर्वापर संबंध, कुतूहल और औचित्य आदि पहलू कुंठित नहीं होते हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसा कथानक ही कहानीकार मार्कण्डेय की नजर में प्रत्यक्ष जीवन से संस्पर्शित सशक्त कथानक की संज्ञा पाता है। यहाँ उनकी ग्रामीण जीवन की कुछेक कहानियों का उल्लेख करते हुए उनकी कहानियों में कथानक की अवस्थिति का संज्ञान लिया जा सकता है।

यहाँ सबसे पहले उनकी 'गुलरा के बाबा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। इस चरित्र-प्रधान कहानी के कथानक में प्रकृति से अंतरंग रिश्ता रखने वाले ग्रामीण जीवन में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों को वास्तवायित करने वाली एक स्पष्ट कथा होती है। जहाँ कथा के विकास में घटना व कार्य-व्यापार के आरंभ, मध्य और अंत का एक क्रमिक विकास तथा उसकी अन्विति सहज देखने को मिलती है। गुलरा के बाग में एक गरीब ग्रामीण जन (चैतू) की सरपत काटने की घटना के आरंभ में ही, मुख्य कथा का कारण तत्त्व सुनियोजित रूप से निबद्ध रहता है। स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक-आर्थिक विषमता से पूर्ण ग्रामीण समाज में ग्रामीण आमजन की गरीबी और लाचारी, गाँव की सांस्कृतिक पहचान में कुश्ती-दंगल की परंपरा और गाँव की

सामुदायिक भावना में छिपा मानवीयता-बोध का कथ्य सरपत काटने की घटना, बाबा और चैतू की कुशती की मुठभेड़, चैतू की टाँग टूट जाने की खबर, बाबा का चैतू की टूटी टाँग बिठाने का उपक्रम तथा बाबा की चारित्रिक दृढ़ता में छिपा उनका संवदेनशील कोमल मन का मानवीय रवैया रूपी क्रिया-व्यापारों में भली-भाँति उज्जीवित होता है। जहाँ घटनाओं का पूर्वापर संबंध, कुतूहल और रोचकता का सफल निर्वाह होता है। इस कहानी के संदर्भ में यदि कहानीकार अमरकांत की निम्न टिप्पणी का अवलोकन किया जाए तो 'गुलरा के बाबा' कहानी के ग्रामीण यथार्थ-संस्पर्शित सशक्त कथानक की बात समझी जा सकती हैं—“हिंदी कहानी उस समय तक पूरी तरह भावुकता और काल्पनिकता की गिरफ्त में थी।... यह उस समय होता है, जब पिछड़ी हुई वास्तविकता को, अनुकरण में काल्पनिक भावुक सदिच्छाओं के सहारे जबर्दस्ती कलात्मक, आधुनिक या क्रांतिकारी बनाने की चेष्टा की जाती है।... उस समय 'गुलरा का बाबा' पढ़कर मुझे ताज़गी का अनुभव हुआ था, जैसे गर्मी की घुटन में शीतल हवा का स्पर्श। यह वास्तविकता है कि जब हर प्रकार का फार्मूलाबद्ध लेखन नियंत्रण के बाहर जाकर रुढ़ और समस्याग्रस्त होकर आकाश में विलुप्त होने के निकट पहुँच जाता है, तो उसकी रक्षा के लिए धरती का ही सहारा लेना पड़ता है।”⁷ यहाँ आकाश की ओर अग्रसर और धरती का सहारा लिए क्रमशः पदों के माध्यम से काल्पनिकता के सहारे गढ़े कथानक और यथार्थ जीवन से उठाए गए कथन के अंतर को स्पष्ट करने के क्रम में 'गुलरा के बाबा' कहानी के महत्त्व को समझा जा सकता है। यही बात मार्कण्डेय की अन्य चरित्र प्रधान कहानियों—'घूरा', 'सात बच्चों की माँ', 'हंसा जाई अकेला', 'गनेसी' आदि के कथानक के संदर्भ में कही जा सकती है।

गौरतलब है कि मार्कण्डेय की कहानियों के ग्रामीण यथार्थ-जीवन से संस्पर्शित सशक्त कथानक की चर्चा के क्रम में उनकी घटना प्रधान कहानियों का भी साक्ष्य दिया जा सकता है। इस संदर्भ में उनकी 'आदर्श-कुक्कुट-गृह' तथा 'भूदान' आदि कहानियों को प्रमुख रूप से देखा जाता है। इन दोनों कहानियों के कथानक में व्यंग्य तत्त्व बड़ी सहजता के साथ अंतर्गुम्फित रहता है, जो स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के बदलते जीवन-संदर्भ की कथा को व्यंग्यात्मक ढब के साथ उकेरता है। 'आदर्श कुक्कुट-गृह' कहानी में गाँव के छोटे पैमाने के व्यवसायिक संस्थानों आदि के विकास-क्रम में, स्वातंत्र्योत्तर शासन-व्यवस्था द्वारा आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना की घटनात्मकता इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि मार्कण्डेय के कहानीकार के लिए कथानक का हास या कथा

का अभाव जैसी कोई समस्या नहीं है, क्योंकि उनकी यथार्थ-दृष्टि बदलते ग्रामीण जीवन संदर्भों पर टिकी होने के कारण वहीं से मौलिक कथानक को चुन लेती है। प्रस्तुत कहानी की कथा-संयोजना के क्रम में इसका कथानक इस रूप में उभर कर आता है कि कथा के आरंभ में ही आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना से जुड़ी चर्चा से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आर्थिक विकास-कार्यक्रम का कथ्य स्पष्ट हो जाता है—“नया साहब बड़ी थोड़ी उमिर का है, लेकिन क्या समझ दी है भगवान ने उसे।” बसावन ने कहा और रमजान उसकी टूटी चारपाई की पाटी पकड़ कर बैठ गया, “हमको भी मेम्बर बना ले गया है। अँगूठे की टीप भी ले ली है। मुदा पइसा-कौड़ी के नाम पर तो वही चार मुर्गी-मुर्गे हैं, मेरे पास।... ”इतना भी तुम्हारी समझ में नहीं समाता तो तुम रह चुके इस देश में। अरे भइया, पइसा ही सब कुछ नहीं है। देखो जुम्मन चार मुर्गी-मुर्गे देने का वादा करके आदर्श कुक्कुट-गृह का मेम्बर बन गया है।”⁸ यही नहीं, इस कहानी के कथानक के विकास में आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना से जुड़ी प्रक्रिया को इस रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, जहाँ कुतूहलता सर्वत्र रिसती रहती है। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जन-जीवन की गरीबी, बेरोजगारी तथा लघु-कुटीर उद्योगों की मरणासन्न अवस्था का सच तो उजागर होता ही है, साथ ही साथ सरकारी कर्मचारीगण की आर्थिक विकास-कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की भ्रष्टता का कथ्य भी प्रत्यक्ष होता है—“रमजान उठ खड़ा हुआ। उसने अपने टूटे चश्में को हाथ से हिलाया, नीचे ऊपर किया। तब तक धीरे-धीरे चपरासियों ने छोटे साहब को घेर लिया और एक-दो-तीन... मुर्गे इक्कों पर बँध गए, साइकिलों के कैरियरों में टँग गए, झोलों में कस लिए गये और मेहमानों के जाते-जाते आदर्श कुक्कुट-गृह खाली हो गया।... फिर भी आदर्श कुक्कुट-गृह बाकायदा स्थापित हो चुका था।”⁹ जिससे यह समझा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन की नई घटनात्मकता (स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक विकास-कार्यक्रम) को मार्कण्डेय का कहानीकार कथा-संयोजना के क्रम में इस रूप में पिरोता है कि वह ग्रामीण यथार्थ जीवन से संस्पर्शित एक सशक्त कथानक का रूप ले लेता है। यही बात मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन की नई घटनात्मकता ‘भूदान आंदोलन’ को केन्द्रित करने वाली कहानी ‘भूदान’ के संदर्भ में भी कही जा सकती है।

दरअसल, यह मार्कण्डेय के कहानीकार का वस्तुवादी दृष्टिकोण ही है कि वह अपने यथार्थ संस्पर्शित सशक्त कथानक को बखूबी प्रस्तुत करने हेतु प्रतीक, फैंटेसी तथा प्लेशबैक आदि कथा-शिल्प का भी अवगाहन करता है, जो उनकी कहानियों को न सिर्फ कलात्मक बल्कि

बहुवचनात्मक भी बनाता है। मार्कण्डेय स्वयं इस संबंध में इस बात का उल्लेख करते हैं—“ कुछ आश्चर्य नहीं कि आने वाले समय में परिवर्तनों पर दृष्टि रखने वाले लेखक को मौलिक प्रश्नों के साथ वास्तविकता के अंकन के लिए फैण्टेसी अथवा जासूसी कथा-शिल्प का सहारा लेना पड़े।”¹⁰ जिससे दो प्रमुख बातें जाहिर होती हैं। पहली, मार्कण्डेय का कहानीकार वस्तुवादी दृष्टिकोण रखने के बावजूद कहानी-शिल्प के प्रति एक लचीला रुख रखता है। दूसरी, मार्कण्डेय का कहानीकार कथा-शिल्प की नवीनता या उसके प्रयोग की जरूरत तभी महसूस करता है जब वह परिवर्तित समय की सचाइयों और प्रश्नों के यथार्थ-अंकन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यहाँ उक्त तथ्य की संपुष्टि हेतु मार्कण्डेय की कुछेक कहानियों के कथानकों की चर्चा की जा सकती है। इस संबंध में उनकी ‘जूते’, ‘साबुन’ सोहगइला’ आदि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है।

गौरतलब है कि उक्त तीनों कहानियों की कथा-संयोजना के संदर्भ में प्रतीक तत्त्व का सहारा लिया जाता है, जो इनके कथानकों को प्रतीकात्मक कथा-शिल्प का रूप देता है। किंतु यहाँ भी उक्त प्रतीकात्मक कथा-शिल्प का प्रयोग बदलते ग्रामीण जीवन-संदर्भों को वास्तवायित करने के अभिप्राय से ही होता है। उनकी ‘जूते’ कहानी के आरंभ का दृश्य पहले देखा जाए—“ यह तो जूते नहीं हो सकते, और चाहे कुछ भी हो। मनोहर सोचने लगा-लेकिन बहू जी बार-बार इसी कमरे में दूढ़ने को क्यों कहती हैं? उसे एक बार फिर अपनी आँखों पर संदेह हुआ और वह कमरे के बीच खड़ा होकर चारों ओर घूम गया-कहीं कुछ नहीं, बच्चों के कवेल दो लाल खिलौने! उसने उन्हें हाथ में उठा लिया, यह तो बड़े चिकने हैं, पैर में कैसे पहने जा सकते हैं? और उसके आगे मालिक का चमरौधा नाच गया,... मैं बड़ा होकर जरूर एक जूता बनवाऊँगा। चाहे उसके लिए कितना ही काम क्यों न करना पड़े।”¹¹ इसी तरह आलोच्य कहानी के अंत का दृश्य कुछ यह होता है—“ पर लौटते समय यह पलास की पत्तियाँ, आग की तरह जलती धूप और जेठ की दुपहरिया, जैसे कुछ नहीं थी, क्योंकि रास्ते पर धूल थी, कंकड़ थे और मनोहर की बगल में एक कागज का डिब्बा दबा था, जिसमें उसके लिए लाल-लाल जूते थे।”¹² यहाँ ध्यान दिया जाए तो यह समझा जा सकता है कि कहानी के आरंभ में जो ‘जूते’ कहानी का केन्द्रीय कथ्य बनता है उसके कई प्रतीकात्मक अर्थ होते हैं, जो स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को प्रतीकित करते हैं। पहली, जूते मनोहर जैसे लोगों के परिवार के लिए सामान्य सीमित इच्छा का प्रतीक है, जो उन्हें नसीब नहीं होती हैं और जिसे प्राप्त करने हेतु मनोहर जैसा बालक अनथक परिश्रम करने को तत्पर रहता

है। कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी के आरंभ में ही ग्रामीण आमजन की गरीबी और अभावग्रस्ता का कथ्य संकेतित हो जाता है। दूसरी, ग्रामीण बालक मनोहर के आँखों के समक्ष जूते के रूप में जो बिम्ब दृश्यमान है, वह मालिक (उच्च वर्ग) का कड़े नाल वाला तेल पिया चमरौंघा होता है, जो उस जैसे लोगों (मजदूरों) के साथ हाने वाले शोषण-पूर्ण व्यवहार को संकेतित करता है। अर्थात् कहानी के आरंभ में ही मनोहर जैसे ग्रामीण की सामाजिक दयनीय स्थिति का कथ्य प्रतीकित हो जाता है। इसी तरह प्रस्तुत कहानी के अंत के दृश्य को समझा जाए तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कहानी के समूचे कथा-प्रवाह में जूते केन्द्रीय कथ्य बना रहता है। पर जहाँ कहानी के आरंभ में जूते को लेकर मनोहर के मन में जो अनभिज्ञता, कुतूहलता, जिज्ञासा, प्रश्नाकुलता और डर के भाव होते हैं, वे कहानी के अंत के दृश्य में एक आह्लाद के भाव में तब्दील हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आलोच्य कहानी में मनोहर के भावजगत की उक्त यात्रा में ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की आर्थिक-सामाजिक स्थितियों का कथ्य तथा ग्रामीण-शहरी जीवन बोध के अंतर का कथ्य भी उजागर होता है, जो मार्कण्डेय की कहानियों के प्रतीकात्मक कथानक के यथार्थ जीवन से सशक्त रूप में संस्पर्शित होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

इसी तरह उनकी 'साबुन' कहानी का भी उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी की पूरी कथा-संयोजना में साबुन से जुड़ा कार्य व्यापार एवं घटनाएँ कथानक का रूप लेकर उभरती हैं, जिसके कई प्रतीकात्मक अर्थ होते हैं। जिसे आलोच्य कहानी की इस आरंभिक –“कितनी छोटी-सी बात थी! उसने एक बट्टी साबुन ही तो लाने को कहा था। महीने भर हो रहे हैं राजेश, को आये”¹³– और अंत की घटना-स्थितियों–“बटुक ने अपने भीगे हुए कुरते की जेब से साबुन की एक छोटी-सी बट्टी निकाल कर आगे कर दी–”¹⁴ से भली-भाँति समझा जा सकता है। यहाँ 'साबुन' के कथानक से ग्रामीण किसान परिवार की बुनियादी जरूरतों की अभावग्रस्तता, ग्रामीण-शहरी जीवन मूल्य-बोध का अंतर, ग्रामीण पूर्व और नयी पीढ़ी का वैचारिक अंतर्द्वन्द्व, ग्रामीण शिक्षित पीढ़ी की निरुद्देश्यता, शहरी जीवन की चकाचौंध में पनपती भ्रष्टता तथा ग्रामीण स्त्री (माँ) का परिवार की अपरिहार्य कड़ी बनने का कथ्य स्पष्टतः प्रतीकित होता है, जो इस कहानी के कथानक को सशक्त एवं यथार्थ संस्पर्शित बनाता है। यही बात मार्कण्डेय की 'सोहगइला' कहानी के कथानक पर भी लागू होती है। जहाँ सोहगइला से जुड़ी घटनाएँ, कार्य-व्यापार एवं स्थितियाँ, जो इसके कथानक को रूप देती हैं, उसका प्रतीकात्मक संकेत ग्रामीण जीवन के यथार्थ को वास्तवायित करता है। जहाँ 'सोहगइला' में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में बाल-विवाह की कुप्रथा के बने रहने

के सच के भीतर से यह कथ्य भी प्रतीकित होता है कि सदियों से ग्रामीण समाज की स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक संस्कारों को ढोने की रूढ़ि में अपने को न्योछावर करती रही हैं तथा स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी की नारी इस रूढ़ि को तोड़ने में आगे आती है। आलोच्य कहानी के आरंभ और अंत के दृश्य को देखा जाए उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। कहानी के आरंभ का दृश्य (रनिया की विदाई का दृश्य) –“उसके दोनों निरीह, खुले हुए नन्हें-नन्हें हाथों को पकड़ कर उनमें सोहगइला दबाते, माँ की बरसाती नदी-सी आँखें किनारों को लाँधकर बह चली थीं, “इन्हें छोड़ना नहीं। कुल-परिवार की लाज का धियान रखना।” और माँ ने लाल जमीन पर छोटे-छोटे, पीले धब्बे वाली मोटी अँचरी-मनौरीदार सुहा के आँचल में टँके घुँघरुओं वाले किनारे को थोड़ा नीचे खींच दिया। घुँघट से दुलहिन का मुँह ढँक गया।”¹⁵ इसी तरह कहानी का यह अंतिम दृश्य (स्त्री के रूप में रनिया का अपने भविष्य को पहचानने का दृश्य–“... वह यह भूल गयी थी कि सोहगइला कब से उसके हाथ में नहीं है और व्यंग्य की एक तीखी हँसी उसके चेहरे पर बिखर गयी,—“ मेरा बाप भी तो अपने बाप का अकेला ही बेटा था, और माँ भी मेरे घर बहू बन कर आयी थी। फिर माँ के कालिख में डूबे, रूखड़े हाथों की असंख्य काली रेखाओं के जाल में फँसी, उसकी आँखें, दूर बैठी बहू और सामने लुढ़के सोहगइला; दोनों को देखने में असमर्थ होती जा रही थीं, क्योंकि वह अब बच्ची नहीं रह गयी थी और सामने खड़े भविष्य को पहचान रही थी।”¹⁶

इसी तरह यहाँ मार्कण्डेय की कहानी ‘प्रलय और मनुष्य’ का जिक्र किया जा सकता है, जहाँ इसकी कथा-संयोजना में फैंटेसी कथा-शिल्प का अभिनव प्रयोग देखने को मिलता है। किंतु इस कहानी के फैंटेसी परक कथानक की सबसे बड़ी खूबी यह होती है कि यथार्थ जीवन कहीं तिरोहित नहीं होता है। ‘प्रलय और मनुष्य’ कहानी में प्रकृति और मनुष्य की संघर्ष कथा की फैंटेसी रची जाती है, जहाँ यह देखने को मिलता है कि विपरीत परिस्थितियाँ मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणी दोनों को घेरती हैं। किंतु, आदमी की अपराजेय क्षमता और शक्ति उसे संकट से उबरने की ओर प्रवृत्त करती है—“मेझुकी ने उसे संभाला और बिसूरती हुयी कहने लगी, कोई साथ नहीं देता, महारानी, देखो मेरे मेढ़क भी...” और वह फूट-फूट कर रोने लगी। “काश, मैंने सोइस का कहना माना होता, मेझुकी। आदमी अजेय है, उसे छोटा मानने वाला हमेशा मुँह की खाता है।”¹⁷ गौरतलब है कि आलोच्य कहानी में प्रलय की स्थिति में, सभी जीव-जंतुओं के साथ मनुष्य की संघर्ष चेष्टा रूपी क्रिया-व्यापारों से जिस कथानक का रूप उभरता है, वह स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन

के वास्तविक प्रश्न रूपी कथ्य को संबोधित करता है। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक भ्रष्टता से पोषित, शोषण पर आधृत सामाजिक-आर्थिक वैषम्य पूर्ण ग्रामीण समाज के आम-जन के समक्ष उत्पन्न हुयी विपरीत परिस्थितियों से उनकी संघर्ष भावना का कथ्य कथानक को यथार्थपरक बनाये रखता है। इसी तरह इस संदर्भ में मार्कण्डेय की 'बातचीत' और 'शव-साधना' जैसी कहानियों का नाम लिया जा सकता है, जहाँ कथा-संयोजना के क्रम में पूर्व दीप्ति (फ्लैश बैक) कथा-शिल्प का प्रयोग होता है। किंतु, वहाँ भी कथानक वर्तमान की वास्तविकता को प्रतीकित और केन्द्रित किए हुए रहता है। चाहे, 'बातचीत' कहानी में जग्गी के बाप की गयादीन ठाकुर से दोस्ती का या 'शवसाधना' कहानी में बाबा का अपने साहब की करतूतों का अतीत-प्रसंग हों, दोनों उस चरित्र को आलोकित करते हैं, जो वर्तमान की वास्तविकता को उजागर करते हैं।

इस प्रकार देखा जाए तो कथा संयोजना के क्रम में मार्कण्डेय की कहानियों के कथानक संबंधी पहलू से जुड़ी कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, मार्कण्डेय गढ़े हुए कथानक या कथानक के ह्रास के दौर में अनगढ़ जीवन स्थितियों तथा उसकी वास्तविकता से अपनी कहानियों के कथानक चुनने वाले साधक कहानीकार होते हैं। दूसरी, मार्कण्डेय अपनी कहानियों के कथानक को यथार्थ से संस्पर्शित और सशक्त रूप देते हैं। तीसरी, मार्कण्डेय का कहानीकार अपनी कहानियों के कथानक का विकास सहज तरीके से करता है। जहाँ आरंभ, मध्य और अंत की संगति बनी रहती है तथा रोचकता, कुतूहलता तथा संभवता का पहलू खंडित नहीं होता है। चौथी, उनका कहानीकार कथा-संयोजन के क्रम में प्रतीक, फैंटेसी तथा पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) आदि कथा-शिल्प का सहारा लेते हुए जिस कथानक को रूप देता है, वह भी वास्तविक जीवन संदर्भों के कथ्य को उज्जीवित-प्रतीकित करने के प्रयोजन से होता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों का कथानक यथार्थ जीवन से संस्पर्शित और सशक्त है, जो उनके कहानीकार को कथा-शिल्प के प्रति इस हेतु लचीला रुख रखने देता है ताकि यथार्थ जीवन कहीं तिरोहित न हो जाए तथा उसकी संभवता या विश्वसनीयता बनी रहे।

7.1.1.2 चरित्र

उल्लेखनीय है कि कथा-संयोजना के क्रम में कथानक के साथ जो दूसरा महत्वपूर्ण पहलू होता है, वह है चरित्र और चरित्र-विधान। कहने की आवश्यकता नहीं है कि कहानी का संबंध मनुष्य जीवन से ही है, इसलिए उसके केन्द्र में मनुष्य का चरित्र होता है। पात्र अथवा चरित्र-रहित कथा-कहानी की कल्पना संभव नहीं है। चरित्र के आधार पर ही कहानी विकसित होती है

इसलिए चरित्र अथवा पात्र को कहानी का मेरुदण्ड माना जाता है। ये कहानी के पात्र ही होते हैं जिससे कहानी के कार्य-व्यापार का प्रत्यक्षीकरण संभव होता है।

घटना या कार्य-व्यापार कथानक और पात्र में एक विशिष्ट संबंध होता है, जो किसी कहानी को आकार देता है। इस संदर्भ में तेज सिंह का निम्न मंतव्य उचित प्रकाश डालता है—“घटना- कथानक-पात्र में त्रियक संबंध होता है। कथानक-निर्माण, पात्रों के क्रियाकलाप से होता है तो घटनाएँ भी निरर्थक और स्वतः स्फूर्त नहीं होती, निश्चित तौर पर उनका उद्देश्य व्यक्ति चरित्रों के जीवन के सारतत्त्व को दिखाना होता है।”¹⁸ जिससे यह समझा जा सकता है कि कहानी में कथानक और चरित्र (पात्र) इस कदर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, कि उन्हें पृथक करना संभव नहीं होता है।

वैसे, किसी कहानी के कथा-संयोजन के क्रम में चरित्र या पात्र निर्माण या विधान की बात जहाँ आती है, तो इस प्रसंग में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि इसका संबंध कहानीकार के जीवन-बोध से होता है। एक कहानीकार जिस रूप में रचना (कहानी) या उसके उद्देश्य को निर्धारित करता है, यह कहानी के चरित्र तथा चरित्र विधान से उजागर हो जाता है। अर्थात् यदि किसी कहानी का लक्ष्य शुद्ध मनोरंजन, उपदेश-प्रवचन या ‘कला कला के लिए’ का मूल्य-बोध है, तो वहाँ नकली, काल्पनिक या गढ़े हुए पात्र पर्याप्त होते हैं। किंतु, जहाँ कहानी (रचना) का लक्ष्य बदलते जीवन-संदर्भों का यथार्थ निरूपण है, वहाँ जीवंत या वास्तविक लगने वाले विश्वसनीय चरित्र या पात्र ही आवश्यक होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी कहानी के अंदर का चरित्र तथा उसका गठन कहानीकार के कहानी के प्रति होने वाले उसके निजी दृष्टिकोण को भी जाहिर करता है। इस संदर्भ में कहानीकार आलोचक श्रीकांत वर्मा की निम्न टिप्पणी का अवलोकन किया जा सकता है—“कहानी का संबंध अनुभव से है और चरित्र कहानीकार के अनुभव का ही प्रतिबिंब है... कहानी की गति और कहानी की नियति कहानी का चरित्र है। चरित्र का गठन ही, वास्तव में कहानी का गठन है।”¹⁹ जिससे कथा-संयोजना के अंतर्गत चरित्र का महत्त्व उजागर होता है।

वैसे इस संदर्भ में, यह उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय कहानी-लेखन को जीवन के एक व्यापक लक्ष्य से सम्पृक्त कर देखते हैं—“कहानी जीवन की कला है, उसके बाह्य और अंतर को बहुत दूर तक झुठलाना भी संभव नहीं है। इसलिए, जब हम नए जीवन सत्यों की बात करते हैं

और इसे कहानी के संदर्भ में ढूँढ़ते हैं तो यथार्थ जीवन के प्रकाश में ही उसका मानदण्ड भी ढूँढ़ना होगा।²⁰ जिससे मार्कण्डेय के कहानीकार का कहानी को यथार्थ-जीवन के आलोक में देखने की बात स्पष्ट होती है। यहाँ इस बात को कहने की आवश्यकता नहीं है कि मार्कण्डेय का कहानीकार, जो कहानी को यथार्थ जीवन-संदर्भ में देखने की वकालत करता है, वह निश्चित रूप से अपनी कहानियों के चरित्र या पात्र को उसी संदर्भ से चुनने की ओर प्रवृत्त रहता है। यहाँ मार्कण्डेय के निम्न कथन को पढ़ा जाए, जो वे कहानीकार बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियों के चरित्र के संबंध में कहते हैं, तो उक्त सच भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है—“उग्र हमेशा बने-बनाये पात्रों की ही खोज में रहे हैं। वे जीवन की भूमी में दाना चुनने का तकलीफदेह काम करना नहीं चाहते, क्योंकि इससे दृष्टि को भी काम में लाने की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए मात्र संस्कारों के सहारे वे पात्रों की चुटिया पकड़ते फिरते हैं।”²¹ अर्थात् वे बने-बनाए, काल्पनिक चरित्रों के बजाए बदलते जीवन-संदर्भों के समानांतर जीवंत-गतिशील चरित्र की वकालत करते हैं, जो कहानी में अपनी विश्वसनीयता बनाये रखते हैं। जिसे प्रमाणस्वरूप उनकी ग्रामीण जीवन को वास्तवायित करने वाली कतिपय कहानियों के चरित्रों (स्त्री-पुरुष) -बाबा और चैतू अहीर ('गुलरा के बाबा'), घूरा ('घूरा'), सन्नो ('सात बच्चों की माँ') दुखना ('महुए का पेड़'), मंगी ('कल्याणमन'), हंसा ('हंसा जाई अकेला') रामजतन ('भूदान') नाथू और जोखू ('घुन'), पाँचू ('एक काला दायरा'), फऊदी दादा, बुझावन और मनरा ('बीच के लोग'), गनेसी ('गनेसी') को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मार्कण्डेय की कहानियों का मूल क्षेत्र ग्रामीण जीवन रहा है। उन्होंने ग्रामीण जीवन संदर्भों और परिस्थितियों के गतिशील पात्रों (चरित्रों) को अपनी कहानियों में जगह प्रदान की है। यही नहीं, उनकी कहानियों के जो भी पुरुष अथवा नारी पात्र होते हैं, वे सम्मिलित रूप में, स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन को संश्लिष्ट रूप में दर्शाते हैं, जो उनकी कहानियों की कथा-संयोजना में कथानक और चरित्र की संगति और अन्विति को भी उजागर करते हैं।

वैसे, चरित्र या पात्र के स्वरूप की दृष्टि से अक्सर जिन दो कोटियों-व्यक्ति प्रतिनिधि पात्र और वर्ग प्रतिनिधि पात्र- की चर्चा होती है। उस दृष्टि से देखा जाए तो, उनकी कहानियों के चरित्र अपनी वर्गीय पहचान और विशेषताओं के साथ सम्पूर्णता में उज्जीवित होते हैं। जैसा कि यथार्थवादी साहित्य माँग करता है—“सच्चा 'यथार्थवाद' मनुष्य के चरित्र तथा क्रियाकलापों को अंतरंग और बहिरंग दायरों में विभाजित नहीं करता... उसकी क्षमता मनुष्य के ऐसे चित्रण में स्पष्ट होती है जिसमें उसका अन्तर्बाह्य एक संश्लिष्ट सम्पूर्णता बनकर उद्घाटित हुआ हो। 'यथार्थवाद' की यह

केन्द्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय चिंता है कि मानव व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में प्रत्यक्ष करे। यहाँ हम पुनः जार्ज लूकाच को उद्धृत करना चाहेंगे जिनके अनुसार-‘टाइप’ या प्रतिनिधि पात्र में सामान्य तथा विशेष दोनों दूध-पानी की तरह घुले-मिले रहते हैं।²² इस तरह देखा जाए तो एक सच्चे यथार्थवादी कहानीकार के नाते उनकी कहानियों के व्यक्ति और प्रतिनिधि दोनों प्रकार के पात्र एक सम्पूर्ण चरित्र के रूप में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन संदर्भों की वास्तविकता को प्रतीकित करते हैं। तभी डॉ.सुरेश सिन्हा मार्कण्डेय की कहानियों के पात्रों के संबंध में यह मंतव्य करते हैं—“मार्कण्डेय की कहानियों के पात्र जातीय हैं। उन्होंने जिस वर्गों से अपने पात्रों को लिया है उसी वर्ग की सारी विशेषताएँ उनमें हैं। इसलिए वे अत्यंत यथार्थ एवं स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। पर उनकी जातीयता के बावजूद मार्कण्डेय ने अत्यंत कलात्मक कौशल से उनके व्यक्ति स्वरूप की रक्षा की है।²³ यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कुछेक कहानियों का जिक्र किया जा सकता है।

इस संबंध में सबसे पहले उनकी ‘गुलरा के बाबा’ कहानी की चर्चा की जा सकती है। इस कहानी में बाबा का चरित्र ग्रामीण उच्च वर्ग (सामंत) का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका अंदाजा उस प्रसंग में लग जाता है, जब बाबा की बात चैतू सुनने को मना कर देता है—“सलाम ठाकुर!” “खुश रहो चैतू; लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो?” “सरपत काट रहे हैं ठाकुर।” “अच्छा कल से मत काटना।” “ऐसे ही काटूंगा।” और चैतू लटक कर हँसिया चलाने लगा।... “ मैं तुम्हारी बातें समझ रहा हूँ। अपने दो-एक संगी साथियों और बूढ़-पुरनियों को भी बुलाये आना—यहीं; यदि तुम मेरा गट्टा टेढ़ा कर दोगे, तो मैं कभी जबान नहीं खोलूँगा और यदि नहीं, तो तुम कल से यहाँ दिखाई न पड़ना।”²⁴ यहाँ बाबा के चरित्र में एक सामंती बोध स्पष्ट लक्ष्य होता है, जहाँ वे अपने से कम हैसियत रखने वाले ग्रामीण जन की अपनी बात की नाफरमानी बर्दास्त नहीं कर पाते हैं। इस कारण ही वे चैतू को उसकी पूरी जमात के साथ परास्त करने हेतु उद्धत हो जाते हैं। किंतु, इन सबके बावजूद बाबा के चरित्र में उनकी वर्गीय पहचान से इतर कुछ विशेषताएँ होती हैं जिससे बाबा का चरित्र जीवंत और गतिशील होकर उभरता है। जिसकी विश्वसनीयता खंडित नहीं होती है। जिसे आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में लक्ष्य किया जाता है, जब गाँव में चैतू की टाँग टूटने की खबर फैलती है। जहाँ, बाबा की उच्चवर्गीय जमात के अन्य सामंत चैतू के प्रति हिंसात्मक रूख रखते हैं, वहीं बाबा उसके प्रति संवेदनशील नज़र आते हैं—“अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का। अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी हो गयी?” देवी सिंह

ने मुँह बनाते हुए कहा। बाबा बिगड़ गये, “तुम्हें जिन्दगी भर तमीज नहीं होगी,... थाली परसी रही; पर बाबा रुके नहीं।... और दौड़ कर मन्ना साव की दुकान पर पहुँचे—“अम्माहल्दी चोट मुसब्बर, सेतखरी”— पुड़िया बँध गयी। बाबा ले कर दौड़े... चैतू का घर आ गया। बाबा थक कर चूर हो गये थे।... बाबा ने हाथ लगाया—“थोड़ा तेल तो लाओ और यह दवाई जरा पीस लेना।”²⁵ जिससे यह जाहिर होता है कि आलोच्य कहानी की कथा-संयोजना में बाबा का चरित्र वर्ग प्रतिनिधि और व्यक्ति प्रतिनिधि चरित्र की विशेषताओं से अंतर्गुम्फित है, जो उसे एक जीवंत और गतिशील चरित्र का रूप देता है।

इसी तरह मार्कण्डेय की ‘कल्याणमन’ कहानी की भी चर्चा की जा सकती है। जिसकी प्रमुख पात्रा मंगी ग्रामीण जीवन के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिसके पास वैभव-सम्पदा के नाम पर उसका केवल श्रम होता है, जो ग्रामीण समाज में शोषित-दलित वर्ग कहलाता है। प्रस्तुत कहानी की कथा-संयोजना में मंगी का चरित्र उसकी वर्गीय पहचान और विशेषताओं को दर्शाता नजर आता है। शोषण पर आधारित, सामाजिक-आर्थिक वैषम्य से पूर्ण ग्रामीण समाज में मंगी अपनी स्थिति को पहचानती है। उसे इस बात का ज्ञान रहता है कि ग्रामीण जमींदार की गिद्ध-दृष्टि दूसरों की जमीन पर सदैव लगी रहती है—“पनारू का वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि मंगी के झापड़ों से उसकी कनपटियाँ झनझना उठीं। “यहीं सीखने बैठा रहता है यहाँ, जानता नहीं कि ये लोग जमीन के लिए, आदमी की गरदन भी काट सकते हैं।”²⁶ उसे इस बात का बोध रहता है कि सुविधा-सम्पन्न वर्ग मेहनतकश वर्ग पर ही जीता है। यदि वह श्रम करना छोड़ दे तो दिक्कत उस वर्ग को ज्यादा होगी जिसे दूसरों के श्रम पर जीने की आदत पड़ गयी है—“मंगी का क्या डर! कहती “ कोई सेंट का खाती हूँ जो लात-गारी सहूँ। रात-दिन छाती पर बज्जर जैसा गगरा-बाल्टी ढोती हूँ। बन कर दूँ तो सरने लगे रानी लोग।”²⁷ अर्थात् मंगी का चरित्र ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की तमाम विशेषताओं से युक्त होता है। किंतु, इसके बावजूद भी मंगी के चरित्र में व्यक्ति चरित्र की विशेषताएँ भी मिलती हैं। जिसे आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में देखा जाता है, जब मंगी उहापोहावस्था में होती है। जब वह बंगा की नशाखोरी और बेटे पनारू के दायित्व भार को झिटक कर अपने अंदर की औरत, केवल अपनी सुध लेने को सोचती है—“बच्चे की भूख, अपनी परेशानी और बंगा की नशाखारी, उसे लगा जैसे कोई भूत ठहाका लगाकर बत्तीसों दाँत बाये खड़ा हो। जैसे किसी ने उसके पेट में कस कर एंडी मार दी हो। उसने झटके से दरवाजा बन्द कर दिया

और भूखी सियारिन की तरह तिलमिला कर बच्चे की तरफ झपटी-क्यों न दबा दूँ इसका गरदन और इस नसेड़ी को लात मर कर दूसरे घर बैठ जाऊँ।”²⁸ अतः यहाँ मंगी के चरित्र में व्यक्ति और वर्ग प्रतिनिधि चरित्र की प्रवृत्तियाँ व्याप्त रहने की बात भलीभाँति उजागर होती हैं।

इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘घुन’ का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस कहानी का पात्र (चरित्र) नाथू स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे दलित सर्वहारा वर्ग कहा जाता है, जो गाँव के किसानी-कर्म में अपनी तमाम अभावग्रस्तता और बेवशी के साथ मरता-खपता जीवन की लड़ाई लड़ रहा होता है। जिसे अपनी हैसियत का संज्ञान भी बराबर रहता है। उस हैसियत की, जहाँ गाँव की सवर्ण-सामंती मानसिकता उसे अछूत और हेय समझती है—“ नाथू कंधे पर हल लिए सँझलौके घर लौटा तो देखा जोखू महाजन की छोटी बिटिया बजड़ी की मोटी लिट्टी पर नून रखे मजे में खा रही है और उसकी मेहरारू उसके लिए लोट में पानी भरे खड़ी है।— कैसा अनरथ कर रही है, भगवान! ... एक तो वैसे गाँव में रहना मुहाल है, दूसरे, लोग यही कहेंगे कि चमार-सियार की जात भले घर के लड़कों को अपनी रोटी खिला कर भंडासराध कर रहा है!”²⁹ जिससे स्पष्टतः नाथू के वर्ग प्रतिनिधि चरित्र की स्थिति जाहिर होती है। किंतु, इसके बावजूद भी उसका चरित्र व्यक्ति-विशेष को अपने अंतर्गत समाहित किए हुए रहता है। जिसे आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में लक्ष्य किया जाता है जब समूचा गाँव अन्न-संकट की आसन्न परिस्थिति से गुजर रहा होता है। जब गाँव का महाजन (जोखू) छिपाकर रखे अपने अनाज में लगे घुन को भाटने का प्रलोभन नाथू (कृषक वर्ग का प्रतिनिधि) को देता है। उस वक्त नाथू का चरित्र अपने वर्ग हितों से अलग स्वयं (व्यक्ति-विशेष) के बारे में सोचता हुआ नज़र आता है —“नाथू फिर गमछे का सिराहना बनाकर उसी झिलंगी में धँस गया। रह-रह कर उसे अपनी नयी मजूरी का ध्यान हो आता था- देखो ईश्वर की माया, कि खेत-खलियान उठाते ही भगवान ने महाजन के गाड़े में घुन लगा दिया। अब चलो, धीरे-धीरे पन्द्रह रोज में गाड़े पाटो और सेंट की मजूरी घर लाओ! अन्न में घुन लगा तो क्या हुआ? उसमें हमारा तुम्हारा क्या बिगड़ा?”³⁰ इसी तरह मार्कण्डेय की कई अन्य कहानियों—‘घूरा’, ‘जूते’, ‘दौने की पत्तियाँ’, ‘चाँद का टुकड़ा’, ‘भूदान’, ‘दाना-भूसा’, ‘बीच के लोग’, आदि के पात्रों में व्यक्ति और वर्ग प्रतिनिधि चरित्रों की प्रवृत्तियों का मेल दिखायी देता है—जो कहानी की कथा-संयोजना में चरित्र को जीवंत, गतिशील एवं विश्वसनीय रूप लिए हुए दर्शाता है।

मार्कण्डेय की कहानियों के चरित्र-चित्रण की विधि की बात की जाए तो, इस संबंध में अक्सर जिन दो विधियों-विश्लेषणात्मक और नाटकीय की चर्चा होती है, उन दोनों का सार्थक प्रयोग मार्कण्डेय अपने चरित्र को खोलने में करते हैं। वे कई जगह स्वयं ही अपने चरित्रों के गुण-दोषों का विश्लेषण करते हुए उसे चित्रित करने का प्रयास करते हैं- जिसे उनकी कुछेक कहानियों के उल्लेख से समझा जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'मुंशी जी' कहानी का जिक्र किया जाए- "चार दिन हो गए मुंशीजी बुखार से नहीं उठे। लड़िका-परानी के नाम पर एक बीबी ही तो रह गयी है बेचारे के पास और वह भी दस दिन से बीमार है।"³¹ इसी तरह उनकी कतिपय अन्य कहानियों का भी देखा जा सकता है। 'सात बच्चों की माँ' - "सत्रो..... सात बच्चों की माँ..... में तो उसे सात-आठ बरस से जानता हूँ। डोले में उठ कर आयी थी। गरीब की लड़की थी तो क्या हुआ दिल तो गरीब का नहीं रहा होगा।"³² 'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' - "जमुना बारिन है। अभी गाँव में आयी। उसकी पूर्व कथा भी है कि उसने सात लोगों से अब तक शादियाँ की और सातों को छोड़ दिया।"³³ 'महुए का पेड़' - "दुखना को गाँव में कोई नहीं छेड़ता।...दुखना के पास लिपी-पुती साफ सुथरी झोपड़ी, दो एक बरतन, मिट्टी की गगरी और झोपड़ी के सामने हहरता हुआ एक महुए का पेड़ है। यही उसकी कुल सम्पत्ति है।"³⁴ 'मन के मोड़' - "रामशरण के पिता तीन भाई थे। तीनों के एक-एक लड़का था। रामशरण सबसे बड़े भाई का उम्र में सबसे बड़ा लड़का था, जीतू सबसे छोटे भाई का इकलौता। जीतू जब माँ की पेट में आया, तभी उसके बाप की मृत्यु हो गयी और जब जीतू तीन महीने का हुआ, तो उसकी माँ भी चल बसी। रामशरण के बाप ने जीतू को बड़े स्नेह से पाला था और मरते समय जीतू का हाथ रामशरण के हाथों में देकर कहा था, 'यह मेरा धरोहर है बेटा!'"³⁵ 'हंसा जाई अकेला' - "उसे लोग हंसा कहते हैं, काला-चिट्ठा बहुत ही तगड़ा आदमी है। उसके भारी चेहरे पर मटर-सी आँखें और आलू-सी नाक उसके व्यक्तित्व के विस्तार को बहुत सीमित कर देती है... उसे रतौंधी का रोग है।"³⁶ जिससे यह भली-भाँति जाहिर होता है कि मार्कण्डेय के अंदर का किस्सागों अपनी कहानियों के चरित्रों को कथानक के विकास हेतु खोलने को बार-बार सचेष्ट होता है।

गौरतलब है कि मार्कण्डेय का कहानीकार अक्सर अपनी कहानियों की कथा-संयोजना में चरित्र का चित्रण नाटकीय विधि के अनुरूप कभी, बाह्य परिस्थितियों के मध्य पात्रों के संवादों ओर क्रिया-कलापों से, तो कभी पात्रों के मानसिक अंतर्द्वन्द्व से जुड़ी भूमिकाओं के जरिये, जो चरित्र को

मनोविज्ञान सम्मत भी बनाता है, करने का कलात्मक प्रयास करता है। जिसे उनकी कुछेक कहानियों के उल्लेख से भली-भाँति समझा जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'घूरा' कहानी की बात की जाए। यहाँ गाँव वालों की आपसी बातचीत, जो गाँव के दालान या मड़ई में अक्सर हुआ करती है, जो गाँव के जीवन की एक सांस्कृतिक पहचान है, उस बातचीत में घूरा के जीवन की अभावग्रस्तता, उसका रूप रंग, उसका अतीत और वर्तमान की अवस्था का अंतर, सब कुछ जैसे न सिर्फ चरित्र को प्रकाशित करता है, बल्कि कहानी के कथानक को भी पर्याप्त गति प्रदान करता है—“घूरा की विपत्त का कोई और नहीं। गाँव के बीच में घर ठहरा। ठाकुर बाम्हन होती तो दूसरी बात थी,... “सांवला, चिकना रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, और जामुन जैसे काले बाल, दाँत कुछ बाहर को निकले हुए, और जबान की पतली, मन की चुलबुल, बड़ी कद्दावर औरत थी भैया!” सामू चौधरी हुक्के का धुँआ छोड़ते हुए कहने लगे।... “घूरा’ उस जमाने की मेहरारू है भैया! जब जवाहिर, भगेलू के घर में धन का जोर नहीं था। सारा गाँव हारे-गाढ़े उनके यहाँ हाथ फैलाता था।... गजब हँसती थी- बड़ी-बड़ी आँखें फैल कर कान तक पहुँच जाती थी; और दाँत? कुछ न पूछो। पान की लाली में बारहों घंटों डूबे रहते।”³⁷

मार्कण्डेय की 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना' के पात्र बुचरू और बच्चन के संवाद को देखा जाए तो बुचरू के चरित्र में उस ग्रामीण भोले आमजन की तस्वीर देखी जा सकती है, जो राजनीति को जिस आशा भरी निगाह से देखता था वह आशा एक घोर अवसाद का रूप ले लेती है—“सहसा खयाल आया, ऐस कैसे काम चलेगा? तो बुचरू से हाल-चाल पूछने लगा।—“हाल-चाल के दिन लद” गये बच्चन, अब तो जीव जी रहा है।... मैंने कहा कुछ राजनीति की बताओ दादा!” “राजनेत तो गन्ही महतमा के साथ चली गयी बच्चन!... जिस कुरसी पर बैठ गये -बस वह उनकी हो गयी। अब तो कुरसी की नेति है।... “ हो तो रहा है बहुत कुछ दादा” मैंने उत्सुकता से कहा। “क्या हो रहा है। धरम के नाव पर, जाति के नाव पर बाटे उगहात है। ठाकुर के ठाकुर ब्राह्मन के ब्राह्मन, कहाँ गयी गरीबी? कहाँ गया छुआ-छूत...? अब विचार नहीं रहा, बस बोट रह गया है।”³⁸ जिससे बुचरू के चरित्र पर प्रकाश पड़ने के साथ कहानी का कथ्य भी गतिमान होता है। इसी तरह उनकी एक अन्य कहानी 'चाँद का टुकड़ा' के मजदूर और ठेकेदार पात्र के बीच का संवाद लक्ष्य किया जा सकता है, जहाँ ठेकेदार के चरित्र के जरिये शोषक वर्ग की अमानवीयता तो मजदूरों के द्वारा शोषित वर्ग की आपसी सहानुभूति तथा उनकी बेवशी का कथ्य आलोकित होता

है—“चौथे दिन जोर का पानी बरस गया। ज़मीन पानी में डूब गयी। कई दिन के लिए काम बंद हो गया। मजदूरों ने अपना झुत्सा-फरसा सम्हाला और चले गये। जो बचे थे, उन्होंने ठेकेदार से कहा, ‘साहेब, सनोहर भूखों मर रहा है, उसकी चार दिन की मजूरी...।’ “हफ्ता पूरा भी नहीं हुआ” ठेकेदार बिगड़ कर बोला। “साहेब, हम कमकर हैं, बिना खाये दिन भर फरसा चलाएँगे तो कैसे जान बचेगी!” “बेकार की बात है। वह बीमार होगा। भूख से कोई कैसे मर सकता है?”³⁹

इसी क्रम में मार्कण्डेय की उन कुछेक कहानियों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ पात्रों के क्रिया-कलापों के जरिए चरित्रों को खोलने तथा कथानक को गति देने का कार्य होता है। सबसे पहले उनकी ‘हंसा जाई अकेला’ कहानी की बात की जाए। आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में, जब हंसा के घर पकवान बनने की रात होती है, उस रात घर की भंडरिया से घी निकालने का हंसा और सुशीला का जो क्रियाकलाप है, वह दोनों के अकेलेपन तथा स्त्री-पुरुष के रूप में दोनों के अधूरे व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है—“...वह सोच ही रहा था कि घी की माँग होती है। हंसा उठता है पर चारपाई से ठोकर खाकर गिर पड़ता है। सुशीला जी दौड़ कर उसे उठाती है। हंसा मारे लाज के डूब जाता है।... कहार कहता है, हंसा दादा को रतौन्ही है, रतौन्ही।” “रतौन्ही ! तो बताओ, कहाँ है घी? मैं चलती हूँ, साथ।” ...दोनों आँगन पार करते बूँदों में भीगते हैं। पीछे से आवाज आती है, लालटेन दूँ?... घर की अँधेरी भंडरिया। दोनों भटकते हैं। हंसा कुछ बताता है। सुशीला जी कुछ सुनती है। आँख कुछ देखती है। हाथ कुछ टटोलते हैं। बहरहाल, पता नहीं कहाँ क्या है? अँधेरे में जैसे आँख, तैसे बेआँख। दोनों को सहारा चाहिए।⁴⁰ इसी भाँति उनकी ‘भूदान’ कहानी के उस प्रसंग का अवलोकन किया जा सकता है जब रामजतन खेत से तेजी से घर लौट रहा होता है। उस वक्त उसके क्रियाकलाप से ग्रामीण चरित्र में रचे-बसे शुभ-अशुभ के धार्मिक कुसंस्कार तथा भावी आशा को लेकर फिक्रमंद बने रहने की जो मनोदशा है, वह स्पष्ट प्रकाशित होती है—“बनसत्ती के लहुरे चौरा पर रामजतन के पाँव अनजाने ठमक गये, “जै बनसत्ती माई, तुम्हें कड़ाही चढ़ाएँगे माई, गरीब पर दया करो महारानी। जसवंती तुम्हें पियरी चढ़ाना न भूलेगी माई, इस साल भूल-चूक छिमा करो माई।” ... पर उसी समय एक लोमड़ी खुर-खुर कर सत्ती के चौरे से निकली और पल भर की उसके मुँह की ओर देखकर बायें से रास्ता काटती हुयी निकल गयी तो उसके मन में एक अशुभ की कल्पना जाग उठी। एक मोटी-सी गाली उसकी जबान पर आ गयी और वह आगे चल पड़ा।⁴¹ इसी तरह उनकी ‘शव-साधना’ कहानी का निम्न

क्रिया-कलाप दृष्टव्य है। जहाँ बाबा के चरित्र में व्याप्त ढोंग उनके ताम-झाम तथा चमत्कार रचने की खोखली प्रक्रिया में लक्ष्य किया जाता है—“ बाबा ने कंकड़ की नन्हीं चिलम को हाथ की अँगुलियों और होठों पर लपटे कर ऐसा खींचा कि कंकड़ दीये की लौ की तरह जल उठा।...फिर सँड़से को उठा कर धूनी की आग में डाल दिया। जब सँड़सा लाल हो गया, तो उन्होंने उसे उठाया और अपनी पिंडलियों के रोएँ जलाने लगे। फिर एकाएक चीख पड़े”, बम् भोले! बम् भोले!”... बाबा ने चिमटे को ऊपर ताना और कस कर झबरा की पीठ पर मारा। उधर कुत्ता पें...पें... करता भागा और इधर बाबा पद्मासन लगाकर अकड़ गये। घेंचू हाथ जोड़ कर, “महाराज-महाराज’ कहता हुआ काँपने लगा।”⁴²

इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की उन कुछेक कहानियों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ वे पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व से जुड़ी भूमिकाओं के जरिए मनोवैज्ञानिक तरीके से चरित्र को प्रकाशित करने का कलात्मक प्रयास करते हैं। सबसे पहले उनकी ‘साबुन’ कहानी की बात की जाए। इस कहानी की ‘माँ’ का चरित्र उस ग्रामीण स्त्री-छवि को दर्शाता है, जो पति-पुत्र के बीच; पुरानी और नयी पीढ़ी के मध्य एक सेतु जैसी है, जो इस कड़ी को जोड़े रखने के प्रयास के अंतर्द्वन्द्व से सदा गुजरती है—“माँ के सीने में, जैसे किसी ने कस कर घूँसा मार दिया हो।... उसका शरीर पसीने से तर हो चला था। उसने ऊपर देखा, बखरी के कोने-कोने में गहरी उदासी छायीं हुयी थी। कहीं एकाध गौरेया के जोड़े चूँ-चूँ कर देते थे और आसमान के एक कोने से बादल का गहरा काला पहाड़ मुँह बाये उठा आ रहा था। उसके मन में भय रेंग आया... ये घर उखाड़ देंगे मेरा।”⁴³ इसी तरह उनकी ‘हरामी के बच्चे’ कहानी का वह प्रसंग, जब सरजू के चरित्र का अंतर्द्वन्द्व अपने तथा अपने जैसे लोगों के ऊपर होने वाले अन्याय-शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने को लेकर होता है, उससे ग्रामीण शोषित चरित्रों का अपने समक्ष व्याप्त परिस्थितियों के प्रति असंतोष भाव उजागर होता है— “मैं सोचने लगा, कैसी हालत है हमारी। क्या हम, मर-मार नहीं सकते? क्या हम अन्याय का विरोध... और मुझे बनवारी के कोड़े और साहब के झापड़ याद आ गये।... उफ़ कितना भयानक था, सारा दृश्य।”⁴⁴

यही नहीं, मार्कण्डेय अपनी कहानियों में कहीं-कहीं चरित्रों को खोलने हेतु स्वप्न से जुड़ी भूमिकाओं का भी सहारा लेते हैं। यहाँ प्रमाणस्वरूप ‘जूते’ कहानी का जिक्र किया जा सकता है। यहाँ आलोच्य कहानी के मनोहर के सपने का प्रसंग अवलोकनीय है। जिसके जरिए एक ग्रामीण

अभावग्रस्त मजदूर बालक की जूते (इच्छित वस्तु) से जुड़ी चिंता, घबराहट और उद्विग्नता के मनोवैज्ञानिक भावों के साथ उस डर को भी लक्ष्य किया जा सकता है, जो शोषण पर आधृत वैषम्यमूलक समाज का चरित्र है—“मनोहर भी निश्चेष्ट, निष्क्रिय-सी बच्ची के पाँवों के पास जूते और चारपाई की पाटी से सटता गया। फिर पलास के पत्ते... धूल की जलन... माघ की ठारी... रामू का चरमराता हुआ जूता और मालिक की रेंड़ी के तेल में डूबा हुआ चमरौंधा... “नहीं-नहीं।” वह बड़बड़ाने लगा, “मैं ऐसे ही लाल-लाल जूते लूँगा लेकिन धूल में कंकड़ पर, ओस में, कीचड़ में नहीं पहनूँगा।... कोई चुरा ले जायेगा... चुरा...।”⁴⁵ इसी भाँति ‘दाना-भूसा’ कहानी का पात्र बंसन के स्वप्न का प्रसंग भी देखा जा सकता है। इस कहानी में, बंसन के चरित्र के जरिए ग्रामीण सर्वहारा शोषित वर्ग के भीतर पैठे सामाजिक-आर्थिक विषमता का गहरा क्षोभ प्रकाशित होता है—“बंसन सब कुछ समझ कर भी अपनी टूटी चारपाई में बैठे, पल भर को आँखें मूद कर पड़ गया।... वह उड़ता रहा, उड़ता रहा और धीरे-धीरे ऐसी जगह पहुँच गया, जहाँ रोटियों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा हुआ था, इतना बड़ा कि कई बाँस की सीढ़ियों लगा कर भी उसके ऊपरी हिस्से को छूना मुश्किल था और लोगों की एक बहुत बड़ी भीड़ उसे मनमाना लूट रही थी।”⁴⁶ इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय अपनी कहानियों में चरित्र-चित्रण की दोनों विधियों विश्लेषणात्मक और नाटकीय का कुशल प्रयोग करते हैं। कभी उनके भीतर का किस्सागों उत्साहित होकर चरित्रों का स्वयं ही विश्लेषण करने लगता है, तो कहीं, बाह्य परिस्थितियों के मध्य पात्रों के संवादों, क्रियाकलापों, अंतर्द्वन्द्वों और स्वप्नों से जुड़ी भूमिकाओं के जरिये कहानीकार चरित्रों को उज्जीवित करने का प्रयास करता है। कहना न होगा कि उनका उक्त प्रयास ही चरित्र-चित्रण को ज्यादा कलात्मक बनाता है।

इस तरह उनकी कहानियों की कथा-संयोजना के अंतर्गत चरित्र संबंधी जो बातें निकलकर आती हैं, वे कुछ इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय का यथार्थवादी कहानीकार वास्तविक जीवन के आलोक में कहानी को देखने के कारण कल्पना से चरित्र गढ़ने के बजाय अपने आस-पास बदल रहे जीवन-संदर्भों से पात्र को चुनता है। यही वजह है कि उनके पात्र जीवंत, गतिशील और विश्वसनीय लगते हैं। उनकी कहानियों के चरित्र (स्त्री-पुरुष दोनों) सम्मिलित रूप में विश्वसनीयता के साथ कथ्य को आलोकित करते हैं। उनकी कहानियों के पात्र वर्ग प्रतिनिधि चरित्र होने के साथ व्यक्ति प्रतिनिधि विशेषता को अपने में समाहित किए हुए एक यथार्थवादी साहित्य की माँग के अनुरूप

चरित्र को उसके मनुष्य की समग्रता में प्रस्तुत करते हैं।

सारतः कहा जाए तो, मार्कण्डेय की कथा-संयोजना में कथानक और चरित्र एक विशिष्ट संबंध और संगति में अंतर्गुम्फित रहते हैं। जिसे पृथक रूप में समझने के बजाय उसके उस एकान्वित रूप को समझना समीचीन प्रतीत होता है, जो कथ्य का यथार्थ चित्रण करना अपना लक्ष्य दर्शाता है। कहना न होगा कि यह यथार्थवादी कथा-शिल्प की ही एक पहचान है।

7.1.2 भाषा-संयोजना

साहित्य की किसी एक रचना को यदि प्रथम दृष्टि में देखा जाए तो उसके भाव-विचार, अनुभव-अनुभूति या कथा-कथ्य का कोई महत्त्व उसकी भाषा-संयोजना के बिना निर्धारित नहीं होता है, क्योंकि एक रचनाकार (कहानीकार) 'भाषा' का आश्रय लेकर ही एक रचना को रूप देता है, तथा पाठक से भी अपना अंतरंग संबंध कायम करता है। दरअसल किसी भी कहानी का भाषा-संयोजना पक्ष, उस कहानी को आकर्षक रूप तो जरूर देता है, पर उसकी कलात्मकता का दारोमदार सम्पूर्णतः इसी बात पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि वह तो उस कहानी में सिरजे गए कहानीकार के जीवन-बोध के साथ भाषा के सहमेल रूपी संयोजन पर आश्रित होता है। कहने की बात नहीं है कि उक्त कुशल संयोजन तभी होता है जब एक कहानीकार का यथार्थवादी दृष्टिकोण सामने आता है। जिसे कहानीकार मार्कण्डेय के निम्न मंतव्य से समझा जा सकता है—“बोली के शब्दों के बेमेल पैबंद लगा कर भाषा के जोर पर कोई किसान की कठोर जिंदगी का संवेद्य धरातल नहीं छू सकता। उसके आदर्शों को देख पाने के लिए लेखक में पैनी दृष्टि और अनुभव की गहराई के साथ उसकी सामाजिक परिस्थितियों को सही दृष्टि से देखने की क्षमता भी आवश्यक है।”⁴⁷ अर्थात्, मार्कण्डेय यहाँ यह कहना चाहते हैं कि भाषा की कृत्रिमता के से कोई कहानीकार जीवन का सशक्त यथार्थ निरूपित नहीं कर सकता, इसके लिए कहानीकार की वह अंतरंग पैठ जरूरी है, जो उसके अपने आस-पास के जीवन संदर्भों की प्रत्यक्ष सम्पृक्ति से आती है। ग्रामीण जीवन से मार्कण्डेय की सम्पृक्ति उनके कहानीकार के ग्रामीण कथानक की महत्ता प्रकाशन के क्रम में, ग्रामीण यथार्थ जीवन से जीवंत पात्रों को चुनने के क्रम में, तथा लोक-जीवन से उस जीवंत भाषा को ग्रहण करने के क्रम में साफ उजागर होती है। मार्कण्डेय का कहानीकार भाषा-संयोजन में अपने उसी दृष्टिकोण को (यथार्थवादी शिल्प) बनाये रखता है, जो कहानी के कथानक और चरित्र के संबंध में होता है।

वैसे, मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजन पर बात की जाए तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उन्होंने ग्रामीण जीवन के कथ्य और उसके चरित्र को स्वाभाविक और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने हेतु ग्रामीण जन-भावनाओं को व्यक्त करने वाली सहज सरल जन-जीवन के बीच-की समर्थ भाषा का प्रयोग किया है। इसी कारण उनकी भाषा-संयोजना में पात्रानुकूलता, ग्रामीण शब्द-ध्वनि प्रयोगों, ग्रामीण जीवन के मुहावरों, लोकोक्तियों और उपमानों के सहज व्यवहारों, आदि पहलुओं का बराबर ध्यान रखा गया है। यहाँ उनकी कहानियों के साक्ष्य को रखते हुए उक्त तथ्य की विवेचना की जा सकती है।

7.1.2.1 पात्रानुकूलता

देखा जाए तो किसी भी कहानी में भाषा का दोहरा रचाव बराबर लक्ष्य होता है। एक वह, जो रचनाकार (कहानीकार) बोलता और लिखता है दूसरा वह, जिसमें रचनाकार के पात्र बोलते हैं। हालांकि पात्र वाली भाषा भी कहानीकार की भाषा होती है। इसलिए, कहानीकार को अपनी भाषा के स्तर पर दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। उसे सावधानी पूर्वक कौशल का परिचय देना पड़ता है।

यहाँ मार्कण्डेय की एक-दो कहानी का उदाहरण देते हुए उक्त कौशल को स्पष्ट किया जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'गुलरा के बाबा' कहानी का जिक्र किया जाए, जिसकी भाषा-संयोजना मार्कण्डेय को स्वातंत्र्योत्तर विशेष कहानीकार की पंक्ति में ला देती है। यहाँ निम्न उद्धरण को देखा जाए—“कवन है रे वह सरपत काट रहा?” बाबा ने अमिलहवा के नीचे खड़े होकर अपनी लाठी कंधे से उतारते हुए कहा। आवाज़ सारी गुलरा में गूँज गयी। बड़ी गंभीर और बड़ी बुलंद आवाज़ थी वह; अनजान आदमी तो एक बार डर जाए और चिरई-चुरमन भी पेड़ों पर से उड़ पड़े।”⁴⁸ यहाँ 'कवन हे रे...' और 'बाबा ने अमिलहवा...' में, कहानीकार के भाषा के स्तर पर दोहरी भूमिका के कुशलता पूर्वक निभाने की बात को समझा जा सकता है। हालांकि दोनों पदबंधों की भाषा कहानीकार की है, किंतु एक में पात्र की स्वाभाविकता और दूसरे में कहानीकार की, देखते ही बनती है। और उस पर भी कहानीकार वाले पदबंध में 'अमिलहवा' और 'चिरई-चुरमुन' जैसे स्थानीय शब्दों की छौंक, कहानीकार की अपने आस-पास के जीवन-संदर्भों से गहरी सम्पृक्ति को सूचित करती है। एक अन्य उदाहरण 'कल्यानमन' कहानी का, जहाँ कहानीकार के भाषा के दोहरे रचाव-पात्र और लेखक-की कुशलता का प्रमाण मिलता है—“मंगी तब तक बोलती रहती, जब तक

ठाकुर उसके आगे से हट न जाते। ठाकुर के मरते ही मंगी ने बखरी छोड़ दी थी। कहती—“का धरा है अब उस मनहूस घर में। अब उस मनहूस घर में अब न वह बात रही, न बात करने वाला। लवंडे-लपाड़ियों का कोई भरोसा।”⁴⁹ यहाँ ‘मंगी तब तक...’ और ‘का धरा है...’ पदबंधों को देखने से बात स्पष्ट हो जाती है। एक अन्य उदाहरण, ‘गनेसी’ कहानी का भी यहाँ दिया जा सकता है—“बूढ़ों की समझ में कुछ आ ही नहीं रहा था—‘गनेसिया ससुरा पूरम्पार पगलाय के लौटा है!’—कहते हुए वे उठ गये। पर बच्चे उसे घेरे ही रहे और वह कहता रहा,...।”⁵⁰ इस प्रकार मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजना में भाषा के स्तर पर कहानीकार की अपनी दोहरी भूमिका को बड़ी कलात्मकता से निबाहने की कोशिश मिलती है।

रही बात पात्रानुकूल भाषा की, तो यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों में स्त्री-पुरुष दोनों ग्रामीण जीवन की जन भाषा का प्रयोग करते हैं, जहाँ पात्रों की भाषा तथा उसके रूप से पात्रों की एक जीवंत तस्वीर उभरती है। यहाँ कुछेक कहानियों का जिक्र प्रमाणस्वरूप किया जा सकता है। यहाँ सबसे पहले ‘गुलरा के बाबा’ कहानी के एक पात्र की भाषा देखी जा सकती है। आलोच्य कहानी का पात्र देवी सिंह, जो गुलरा के बाबा का छोटा भाई है, और वह भी एक लठैत। उसकी भाषा में, उसके चरित्र की सामंती ऐंठ तथा अश्लीलता बोध सभी कुछ एक साथ शब्दों में उतरकर उसकी वास्तविक छवि को प्रस्तुत कर देता है—“अरे चैतुआ साले की टाँग टूट गयी। खबर लगी, हम लोग उठ कर पता लगाने चले गये”... “अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का! अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी हो गयी?” देवी सिंह ने मुँह बनाते हुए कहा।⁵¹ इसी तरह ‘पान-फूल’ कहानी के नीली और रीति आदि बाल चरित्रों की तुतलाहट भरी भाषा में उसका अबोधपन, उसकी निश्छलता, उन्हें स्वाभाविक और विश्वसनीय रूप में चित्रित करती हैं—“कभी नीली मन लटका कर कहती, “देख लीती मैं बीमाल थी न, तो तूने खून दिया था और अब तू बीमाल क्यों नहीं होती, मैं खून दूँगी तुझे, मेली लानी।”... पर रीति हँस पड़ती और कहने लगती, “मैं फिर-फिर खून दूँगी और बीमार नहीं पड़ूँगी।”⁵²

इसी तरह यहाँ ‘साबुन’ कहानी का जिक्र किया जा सकता है। जहाँ पिता के रूप में बटुक का चरित्र बेवसी का भाव लिए एक व्यक्ति की दयनीयता को सूचित करता है—“कौन ऐसी बात कहता है, मुन्नू की माँ! तुम तो ऐसा मेरा सिर खाये जा रही हो, जैसे कोई लड़के की कमाई खाने के लिए ही जी रहा है’... “कौन नहीं चाहता कि बेटा कुछ कमा-धमा कर सुख भोगे।”⁵³ ‘हरामी

के बच्चे' कहानी की सत्ती के पिता के चरित्र की भाषा उस ग्रामीण अपढ़ पीढ़ी को दर्शाती है, जो सामंती संस्कारों के ढोते जाने में ही अपनी (जाति-वर्ग की) मुक्ति मानती है- "सरजुआ नहीं मार सकता, मालिक की सेवा हमारा धर्म है। रामू का बेटा... मालिक के...? ना, ना। उनके जूती के तरे हमारी मुक्ति है। चाहे जो करें, चाहे... .. मालिक की सेवा ही धर्म है। चाहे मालिक जो करें, चाहे सत्ती के मार डाले और का कहीं।"⁵⁴ इसी तरह 'हंसा जाई अकेला' कहानी के ग्रामीण अपढ़ बूढ़ों की भाषा में ठेठपन लिए सवर्ण संस्कार से सिंचित मानसिकता वाला ग्रामीण समाज बोलने लगता है-"मिल गया ससुर को एक काम। गन्ही बाबा का पायक काहे नहीं हो जाता। कौनों कँगरेसी जात-कुजात मेहरारू मिल जाती। गन्ही को कोई विचार थोड़े है, चमार-सियार का छुआ-छिरका तो खाते है।"⁵⁵ जबकि आलोच्य कहानी के बाबा (पात्र) की स्त्री की भाषा में उस ग्रामीण स्त्री की तस्वीर को पहचाना जा सकता है, जो स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य जीवन और उससे जुड़ी गृहस्थी में स्वयं को समर्पित किए हुए रहती है-"अब हँसी ठिठोली छोड़ कर, बियाह करो। जब तक देह कड़ी है, दुनिया-हजान है, नही तो रोटी के भी लाले पड़ जायेंगे। कहते क्यों नहीं अपने भइया से? गूँगे-बहरे, कुत्ते-बिल्ली सबका तो बियाह रचाते है, पर तुम्हारा धियान नहीं करते। खेत-बारी, जगह, जमीन सब तो है।"⁵⁶ इसी तरह 'भविष्य वाचन' कहानी में गामा पंडित की भाषा में उसका गाँव की जाति में श्रेष्ठ होने का बोध, उसका ज्ञान का अहंकार उसका अपने ब्राह्मणत्व को देवतुल्य समझने का दर्प आदि इस कदर झलक उठता है, जो उसके चरित्र को जीवंत बना देता है-"ब्राह्मण का इस तरह अनादर करने से कुल पर बज्रपात हो जायगा, प्रसाद! पुत्र कलंक बन जायेगा उसके लिए... कलंक जनमा है उसके घर, कलंक!'... 'वह मुझे क्या देगा, बाम्हन का संतोष ही धन है, मुदा सन्तानपाने पर भी मन में उसके उजास न छिटकी तो जानो नरक ही लिखा है, उसे जिनगी में।"⁵⁷

अतः इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों में पात्रानुकूल भाषा-संयोजन उनकी यथार्थवादी कहानीकार की पहचान को ही प्रमाण पुष्ट करता है। जहाँ भाषा के स्तर पर उनके दोहरे रचाव (पात्र और कहानीकार) का संतुलन तो दिखायी पड़ता ही है। साथ-ही-साथ उनके पात्रों (स्त्री-पुरुष दोनों) की वय, अवस्था, वर्गीय स्थिति, सोच, और मानसिक संस्कार आदि अपनी विविधता में उस पूरे समाज को स्वाभाविक रूप में दर्शाते हैं, जो यथार्थवादी कहानीकार मार्कण्डेय का अभिष्ट है।

7.1.2.2 ग्रामीण शब्द-ध्वनि प्रयोग

मार्कण्डेय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में उज्जीवित करने का गंभीर प्रयास करती हैं। इस नाते भी उनकी कहानियों की भाषा-संयोजना में मुख्य रूप से ग्रामीण शब्दों-ध्वनियों को पकड़ने की एक सचेत कोशिश होती है। वेद प्रकाश अमिताभ इस संदर्भ में लिखते हैं—“मार्कण्डेय... अनेक कहानियों में वस्तु और शिल्प के समुचित संग्रथन के प्रति वे सचेत दिखायी देते हैं उनकी कहानियों में शिल्पगत वैविध्य पर्याप्त है और भाषा चरित्रों तथा संदर्भों के सर्वथा अनुरूप है। अधिकतर कहानियाँ ग्राम-परिवेश पर आधारित हैं, अतः आंचलिक शब्दावली की उपस्थिति अस्वाभाविक नहीं है।”⁵⁸

दरअसल, मार्कण्डेय अपनी कहानियों के भाषिक-शिल्प को स्थानीय रंगत देने का जो प्रयास करते हैं, वह उनके द्वारा ग्रामीण जीवन को उसकी अनगढ़ता और जीवंतता में प्रस्तुत करने की दिलचस्पी है। उनके कहानीकार की उक्त दिलचस्पी का जिक्र कहानीकार-आलोचक धर्मवीर भारती भी करते हैं—“मार्कण्डेय की कहानियों में शिल्प के सभी तत्त्व स्थानीय रंगत से लेकर बोली तक जानी पहचानी हुई है और उसे बड़ी सफलतापूर्वक उन्होंने शब्दों में उतारा है।”⁵⁹ इस कारण भी उनकी कहानियों में ठेठ गँवई बोली के साथ तत्सम-तद्भव-विदेशज शब्द भी स्थानीय रंग से लबरेज नज़र आते हैं। यहाँ प्रमाण-स्वरूप उनकी कहानियों के उद्धरण के जरिए उक्त तथ्य की संपुष्टि की जा सकती है। पहले ठेठ गँवई बोली का जिक्र किया जाए—“कवन है रे वह सरपत काट रहा”⁶⁰ (‘गुलरा के बाबा’), “पानी पी लो भइया खूब मुचेमुच्च पेट भर के, नहीं तो पियास लग जाएगी तो परानै गवा समझो।”⁶¹ (‘नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’), “लड़की का जनम ही बिरथा है भाय! ई ससुरी जाने कहाँ जनम लेती है, जाने कहाँ पहुँच जाती हैं। हमार तो सोच कर करेज फट जाता है। बिटिया की विदा एक तरह की मउत ही जानो भयवा।”⁶² (‘सोहगइला’), “कहाँ ले कर जाए! अगवार-पिछवार तो परायी धरती है। बाग-बगइया में रखवार बइठे हैं। आम की पत्ती भी नोहर है, इस टाले में।”⁶³ (‘दाना-भूसा’), “—मथुरिया इसी ब्रह्मदोख में बिलाय गया। इतनी धन-दौलत, इतनी कमाई-धमाई पर बंश-बरखा के नाम पर बाँड़ा मटकू भी खून का कुल्ला करके, काल का कवर हो गया।”⁶⁴ (‘ब्रह्मदोष’)

इसी तरह तत्सम-तद्भव-देशज-विदेशज शब्दों के प्रयोग के उदाहरण जो स्थानीय रंगत के साथ हैं, उनकी कहानियों से कुछ इस प्रकार दिए जा सकते हैं। ‘सरपत’, ‘अमिलहवा’, ‘भींट’,

‘बखरी’, ‘चेलिक’, ‘लेह सुनवाँ’, ‘चिबोला’, ‘सिलिक’, ‘सिंगार पटार’, ‘उरिन’, ‘लोटा’, ‘छान्ह’, (‘गुलरा के बाबा’), ‘कनकना’, ‘डकराने’, ‘मरकहा’, ‘बिटिया’, ‘तपावन’, ‘गोराई’ ‘चरनी’, ‘पगुरी’, ‘भभर’, ‘बकुलपंखी’, ‘लोहियवा’, ‘नाध’, ‘कुहराम’, ‘ताव’, (‘सवरइया’), ‘लोटिया’, ‘खटोलिया’, ‘हाथ-गोड़’, ‘फुटहा’, ‘पइसा’, ‘चानस’, ‘रक्कत’, ‘सुकुवार’, ‘इमले’, ‘सिकेटरी’, ‘चन्ना’, ‘मनिस्टर’, ‘महिन्ना’, ‘जवहिरो लाल’, ‘गन्हियो महतमा’, ‘सिधानत’, ‘राजनेत’, ‘आन्हर’ (‘नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’), ‘बिगहा’, ‘भूँय’, ‘सिलमित’, ‘पलस्तर’, ‘लाज-हया’, ‘खित्ते’, ‘मुर्दा’, ‘गाली-गुफ्ता’, ‘होंठ’, ‘बरौनियाँ’, ‘सब्र’, ‘चारपाइयों’, ‘हिरासत’ (‘दौने की पत्तियाँ’), ‘उमिर’, ‘ससुरा’, ‘हुक्का’, ‘झरबेरिया’, ‘बिलल्ला’, ‘धियान’, ‘रतौन्ही’, ‘बियाह’, ‘महत्मा’, ‘ओरउती’, ‘जै हिन्न’, ‘बलमुआ’, ‘दुआरे’, ‘बरम्हा’, ‘फउज’, ‘तखत’, ‘बिगुल’ (‘हंसा जाई अकेला’), ‘पोखरा’, ‘ओड़ान’, ‘करम’, ‘मारे’, ‘टूवबेल’ ‘सिवान’, ‘बँसवट’, ‘सीध’, ‘गड़ारी’, ‘पुरवहो’, ‘नार’, ‘ऐबी’, ‘चौधिराना’, ‘गउखे’, ‘चमरौटी’, ‘माइनर’, ‘दरखास’, ‘खरमेटाव’, ‘परजा’, ‘सँउप’ (‘मधुपुर के सिवान का एक कोना’), ‘सेरभर’, ‘छुतिहा’, ‘लुटिया’, ‘बरन’, ‘भँइस’, ‘भँगेड़ी’, ‘अच्छर’, ‘ताउन’, ‘फेचकुर’, (‘हलयोग’) आदि ।

यहाँ देखा जा सकता है कि मार्कण्डेय अपनी कहानियाँ के पात्रों की भाषा में स्थनीय रंगत लिए ठेठ शब्दों, तत्सम-तद्भव शब्दों की व्यंजन विकृति (मसलन, महिन्ना (महीना), चिनगी (चिनगारी), रक्कत(रक्त), सिधानत(सिद्धांत) तथा विदेशज शब्दों का अपभ्रंश रूप (मसलन, टूवबेल, इमले, सिकेटरी, दरखास’ आदि) का प्रयोग करते हुए ग्रामीण जीवन की यथार्थ छवि उकेरने की कोशिश करते हैं। यही नहीं, वे तो ग्रामीण अपढ़ पात्रों की भाषा के शब्द-व्यवहारों में सार्थक शब्दों के साथ ध्वनि की समानता लिए हुए संपूरक अन्य शब्दों तो कहीं, निरर्थक शब्दों के प्रयोग को स्वाभाविकता को भी अपनी कहानियों की भाषा-संयोजना में बराबर रखते हैं। जिसे प्रमाण-स्वरूप उनकी कहानियों के निम्न प्रयोग के साथ समझा जा सकता है—‘मेले-ठेले’, ‘पूजा-आरजा’, ‘धरम-करम’, ‘सौदा-सुलफ’, ‘सुख-सम्पत्ति’, ‘अपना-पराया’, ‘पशु-परानी’, ‘अनाज-पानी’, ‘हट्टे-कट्टे’, ‘सरग-नरक’, ‘फटी-पुरानी’, ‘हाल-चाल’, ‘बोलना-डोलना’, ‘हमा-सुमा’, ‘दिया-बत्ती’, ‘घाटी-मरहठी’, ‘चमार-सियार’, ‘नौकरी-चाकरी’, ‘जगह-जमीन’, ‘खेती-बारी’, ‘लिपी-पुती’, ‘माया-मोह’, ‘घर-गिरस्ती’, ‘खेत-खलियान’, ‘व्याह-शादी’, ‘सुख-सोहाग’, ‘काला-चिट्ठा’, ‘मरद-मेहरारू’, ‘हँसी-ठिठोली’, ‘नाव-गाँव’, ‘बक-झक’, ‘बइद-डाक्टर’, ‘गुड़-गोबर’, ‘मरनी-

करनी', 'दान-दच्छिना', 'कमाई-धमाई', 'अरुआ-परुआ', 'खर्च-वर्च', 'छुट्टी-उट्टी', 'लेकिन-वेकिन', 'खेत-ओत', औरत-सौरत आदि।

इसी तरह मार्कण्डेय अपनी कहानियों में ध्वन्यात्मक शब्द-संकेत, जो मानवेतर प्राणियों, प्रकृति और पात्रों की मनोदशा की अनुभूतियों के रूप में ग्रामीण जीवन को जीवंत करने का कार्य करते हैं, उनको अपनी भाषा-संयोजना में महत्त्व देते हैं। यहाँ उनकी कहानियों के कुछ उद्धरणों के माध्यम से उक्त तथ्य की संपुष्टि की जा सकती है। मसलन, 'हुआँ-हुँआ' (सियारों की बोली), 'भों-भों' (कुत्तों का भोंकना), 'पेंअ-पेंअ-पेंअअ (चोट खाये कुत्ते की आवाज़), 'धड़म्-धड़ाम, धुम-धुम' (ढोलक की आवाज़), 'घुड़-घुड़-धड़ाम्-धड़ाम्'(जल में पेड़-गिरने की आवाज़), 'हा-आ-आम- -- हा आ आम' (पानी का बहाव), 'हरर्... हर... हर... हर...' (तेज बारिश की आवाज़), 'रुन-झुन... रुन...-झुनुक-झुनुक...झुन (नुपूर की आवाज़) आदि।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन को उसकी जीवंतता में प्रस्तुत करने के लिए ही अपने यथार्थवादी शिल्प के अनुरूप ग्रामीण बोली शब्दों-ध्वनियों को अपनी भाषा-संयोजना में महत्त्व देते हैं।

7.1.2.3 ग्रामीण मुहावरा-लोकोक्तियाँ-उपमान

पूर्वोक्त है कि कहानीकार के रूप में मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन-बोध की कहानियाँ उनकी प्रमुख पहचान हैं। ग्रामीण जीवन ही उनका मूल कथा-क्षेत्र है। उनकी अधिकतर कहानियों का कथानक ग्रामीण आम जन-जीवन के बीच से ही गुजरता है, जिस कारण उनके पात्र खेती-किसानी, मजदूरी-श्रम आदि से प्रत्यक्ष-परोक्ष अपना नाता रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मार्कण्डेय इन्हें जीवंत रूप में प्रस्तुत करने हेतु ग्रामीण आम-जन-जीवन में व्यक्त मुहावरों-लोकोक्तियों-उपमानों आदि का अपनी कहानियों की भाषा-संयोजना में सहारा लेते हैं। आलोचक नन्दल हितैषी इस संदर्भ को कुछ इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—“मार्कण्डेय लोक शब्दावली और मुहावरों से अपनी कथा-यात्रा की संरचना करते हैं, अक्सर वे कुछ नये मुहावरे भी गढ़ते नजर आते हैं जो कहानी की लोक सहजता के लिए जरूरी हैं। गाँव का खेतिहर मजदूर हो, मुहावरा न हो, लोकोक्ति न हो यह भला कैसे संभव हो सकता है।”⁶⁵

यहाँ मार्कण्डेय की कहानियों से लिए गए उद्धरणों के माध्यम से उनकी कहानियों की भाषा-संयोजना में ग्रामीण मुहावरों-लोकोक्तियों-उपमानों के सहज व्यवहार को प्रमाण-पुष्ट होते

हुए देखा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, ग्रामीण मुहावरे—‘माथे पर बल पड़ गये’, भुइयाँ पकड़ लेता’, ‘सिटपिटा गयी’, ‘खाले पड़ गयी’, ‘पाला मार गाया हो’, ‘हुक्का-पानी बंद’, ‘लाट-गवंडरी’, ‘हाथ-फैलाया’, ‘कलेजा फाड़ रहे हो’, ‘लोट-पोट हो रहे हो’, ‘कलेजा सिकुड़ता जा रहा था।’, ‘टस से मस नहीं हुआ’, ‘दिमाग सातवें आसमान पर चढ गया है’, ‘मउत के मुँह में गोड़ लटक रहा है’, ‘घोड़-मुँहे’ ‘बिलाय गया’, ‘माथा ठनका’ आदि। उदाहरणस्वरूप लोकोक्ति,— ‘बरियरा मारे, रोवे न देय’, ‘जबरा मारै रोवे न देय’, ‘मन न रंगायो, रंगायो जोगी कपड़ा’, नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’, ‘कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर’ ‘मनमाना सेओ मुर्गी के अण्डे की तरह’, ‘काला अच्छर भँइस बराबर’ आदि। उदाहरणस्वरूप ग्रामीण उपमान,— ‘कोल्हू की जाट’, ‘अबीरी आकाश’, ‘साँवरी छाह’, जामुन जैसे काले बाल’, ‘मुँह सुख कर अमहर हो गया है’, ‘मुर्दा ‘साँसों’, ‘जेठ की रुपहली चाँदनी’, ‘मोतियों की वर्षा’ सारा शरीर गन्ने के चुसे चेफें-सा’, ‘मटर-सी आँखें’, ‘आलू-सी नाक’, ‘गोल-गोल बिज्जू सरीखी आँखें’ आदि।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजना में ग्रामीण जीवन के प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों, उपमानों आदि को काफी जगह मिलती है, जो उनकी कहानियों के यथार्थ को जीवंत बनाता है।

इस प्रकार समग्र रूप में, मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजना को देखा जाय तो निम्न बातें कही जा सकती हैं। मार्कण्डेय की भाषा-संयोजना में उनका यथार्थवादी शिल्प उभर कर आता है। इसी शिल्प के अनुरूप वे भाषा के स्तर पर लेखक के दोहरे रचाव (कहानीकार-पात्र) के संतुलन को साधते हैं। जहाँ, पात्र अपनी स्वाभाविक छवि में बोलते-बतियाते नजर आते हैं। जहाँ, ग्रामीण बोली की सहजता, तत्सम्-तद्भव विदेशज शब्दों की स्थानीय रंगत का रूप, ग्रामीण ध्वनियों (प्रकृति, मानव-मानवतेर प्राणियों आदि) को पकड़ने की दिलचस्पी तथा ग्रामीण मुहावरे-लोकोक्तियों-उपमानों को महत्त्व देने की नीयत साफ झलकती है।

7.1.3 शैली-संयोजना

शैली-संयोजना भी कहानी के शिल्प के प्रमुख बिंदुओं में से एक है। इससे न सिर्फ कहानी की पहचान बनती है, अपितु कहानीकार की भी, क्योंकि यह शैली ही है जो किसी कहानीकार की अभिव्यक्ति को विशिष्ट बनाती है। अर्थात् शैली में व्यक्तित्व की छाप होती है। कहा भी जाता है—“शैली से अभिप्राय उस विशिष्ट एवं वैयक्तिक अभिव्यक्ति विधि से है, जिसके द्वारा हम किसी

लेखक को पहचानते हैं।”⁶⁶

वैसे भी, कोई रचनाकार अपने अनुभूतिपरक-कथ्य को जब रचना में उतारता है, तो उसे भाषा का ही आश्रय लेना पड़ता है, इसी भाषा-प्रवाह को कहानीकार अपने तरीके से गति देने का कार्य करता है, जो उसकी शैली कहलाती है। अर्थात् शैली का भाषा से एक अनिवार्य संबंध होता है। जिसे डॉ. एन. रवीन्द्रनाथ के निम्न कथन में समझा जा सकता है—“शैली भाषा से अलग वस्तु नहीं है। वह भाषा की चाल एवं गति ही है। शैली भाषा को भावानुकूल रूप प्रदान कर उसकी अभिव्यंजक शक्ति को महत्ता प्रदान करती है। कहा जा सकता है कि भाषा एक स्वाभाविक वस्तु है लेकिन शैली कलाकार का रचना-चातुर्य है। लेखक अपने भावों को अधिक मूर्तिमत्ता प्रदान करने के लिए भावानुकूल भाषा का प्रयोग करता है और शैली उसमें सौंदर्य लाती है।”⁶⁷ अर्थात् शैली-संयोजना में भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाने की कहानीकार की कलात्मकता छिपी होती है।

इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की कहानी की शैली-संयोजना को देखा जाए तो उनका यथार्थवादी रुख यथार्थवादी शिल्प के अनुरूप भाषा की स्वाभाविकता को ध्यान में रखते हुए उसके प्रवाह को अपनी कल्पनाशीलता से पूरी तरह संयोजित करता है। इसी को मार्कण्डेय कल्पना द्वारा यथार्थ को गाढ़ा कर प्रस्तुत करने का शिल्प कहते हैं—“आधुनिक युग में सभी जागरूक कथाकारों के लिए, कहानी कल्पना की बुनावट न होकर जीवन के यथार्थ का अंग बन गयी है। उसके कथानक जीवन की भौतिकताओं की तरह कठोर एवं सत्य होने लगे हैं, और उसका शिल्प भी समस्त मानवीय व्यवहार की परंपराओं का निर्वाह करने लगा है। ...पहले लेखक कल्पना से कहानी गढ़ता था पर अब कल्पना से उसमें रंग भरता है-यथार्थ को और भी चटख और प्रभावशाली बनाता है।”⁶⁸ जिससे यह समझा जा सकता है कि मार्कण्डेय के कहानीकार की कल्पनाशील शैली उनके यथार्थवादी एप्रोच के विरोध में खड़ी होने के बजाय उनके यथार्थवादी शिल्प को उत्कर्ष प्रदान करते हुए उनके कहानीकार की उस पहचान को गढ़ती है, जो यथार्थ की अभिव्यंजना में कल्पना का कलात्मक उपयोग करती है। उनकी कल्पनाशील शैली उनके ग्रामीण परिवेश की चित्रात्मक वर्णनपरकता में संयत रूप में आती है। यही नहीं, उनके कहानीकार के यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक रुख होने के कारण उनकी शैली में सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता भी समाहित मिलती है।

वैसे भी, एक यथार्थवादी कहानीकार की पैनी नजर अपने आस पास के बदलते जीवन

संदर्भों पर होती है। मार्कण्डेय का कहानीकार एक ऐसे द्रष्टा के रूप में स्वयं को पाता है, जो उसके प्रति न सिर्फ आलोचनात्मक रुख रखता है, बल्कि उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति भी चाहता है। इस नाते भी, उनकी ग्रामीण जीवन की कहानियाँ ऐतिहासिक या वर्णनात्मक शैली, जिसमें लेखक एक द्रष्टा या इतिहास लेखक की भाँति सम्पूर्ण कहानी को कहता है, में मुख्य रूप से लिखी गयी हैं। जहाँ ग्रामीण जीवन की सम्पूर्ण और संश्लिष्ट अभिव्यक्ति स्वरूप भाषा की गति को चित्रात्मकता, सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता आदि विशिष्टताओं से संयोजित करने का प्रयास मिलता है। जिसे प्रमाणस्वरूप उनकी कहानियों के उल्लेख से समझा जा सकता है।

7.1.3.1 चित्रात्मकता

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की कहानियों की वर्णनात्मक शैली में चित्रात्मकता का पहलू बराबर लक्ष्य किया जाता है। जहाँ, एक कहानीकार के भीतर छिपी कवि की कल्पनाशीलता ग्रामीण जीवन के कथ्य को कलात्मक तरीके से प्रस्तुत करने का परिचय देती है। ग्रामीण जीवन, परिवेश, प्रकृति आदि की यह चित्रात्मकता कहीं भी अलग रूप में नहीं, बल्कि कहानी के चरित्र तथा चरित्र से जुड़े कथानक की संगति में होती है। यहाँ मार्कण्डेय की कहानियों के कुछेक उद्धरणों के जरिए उक्त बात की पुष्टि की जा सकती है।

उदाहरणस्वरूप 'गुलरा के बाबा' कहानी का निम्न अंश—“गुलरा के पलासों पर तो फागुन उतर आया था, अजब का फूल होता है—लाला टेस, और टहनियाँ काली या चितकबरी-वे पत्तियों की। शाम की किरणें रोज उन पर थम जाती है और आम की बगिया की साँवरी छाँह जैसे उसकी ललछहट में एक खैरी मटमैली रेखा से बट जाती है। बाबा एकटक नीचे देख रहे हैं—गोमती की तलहटी में पछुवा का वेग, पानी की लहरें और उसमें पड़ती हुयी सुनहली रेखाएँ और पलास की छायाएँ।”⁶⁹ स्पष्ट है कि यहाँ गुलरा के ग्रामीण परिवेश के फागुन के महीने का जो प्राकृतिक सौन्दर्य का बिंब है, वह कहानी के चरित्र के भीतर के एकाकीपन से घुल-मिल गया प्रतीत होता है। जिसे कहानीकार के भीतर का कवि देखने से नहीं चूकता है। एक अन्य उदाहरण 'पान-फूल' कहानी के निम्न अंश का—‘क्वार का उतरता पखवारा था। अभी शाम नहीं हुई थीं, पर सूरज जल्दी-जल्दी अपनी किरणों के जाल को समेट रहा था। अगल-बगल सनई और ज्वार-बाजरे के बड़े-बड़े पौधे चुप-चाप डरे-से खड़े थे। सनई के फूलों की पंखुड़ियाँ और चकवड़ की पत्तियाँ, जैसे किसी दुख में डूब कर सिकुड़ गयी थीं। हवा बहुत थककर आम की पत्तियों पर सो गयी थी। रास्ता किसी

मधुर स्वप्न में डूबा हुआ था और इधर-उधर हुई कास का मन बुढ़ापे के कारण लटक गया था। नीली रह-रह कर कांस के फूलों को नोच लेती, फिर उसके डंठल को दाँतों से कांट-कर फेंक देती थी।⁷⁰ स्पष्ट है कि यहाँ क्वार महीने के आखिरी दिनों के ग्रामीण परिवेश के पेड़ों, फूलों, पत्तों और फलों समेत प्रकृति के अन्य उपादानों का चित्रात्मक रूप कहानीकार के भीतर के कवि के बाहर आने की बेताबी का परिचय देता है। उसकी उक्त बेताबी को सूरज के किरणों के जाल फेंकने, बाजरे के पेड़ के उरे-सहमे खड़े होने में, चकवड़ की पत्तियों के दुःख से सिकुड़ने में, हवा के आम की पत्तियों पर थक कर सोने, काँस का मन बुढ़ापे के कारण लटकने आदि की कल्पनाशीलता से साफ समझा जा सकता है।

इसी तरह एक अन्य उदाहरण 'महुए के पेड़' कहानी के निम्न अंश का - "रात को जब उजली, धुली चाँदनी की चादर धरती पर फैल जाती और उस विशाल महुए की नंगी-नंगी डालें और उनमें से निकली हुई नन्हीं-नन्हीं, बिना पत्ते की टहनियों के झोंपों से एक-एक फूल टपकता, तो दुखना को लगता, जैसे रेशम की पतली धारियों से स्वर्ग के दूत, उसके आगे मोतियों की वर्षा कर रहे हों। वह एकटक, बहुत ही प्यासी आँखों से देखती-देखती, देर तक अपनी मड़ई के आगे बैठी रहती।"⁷¹ जो यह दर्शाता है कि ग्रामीण प्रकृति के मध्य महुए के पेड़ की उपस्थिति और महुए के पेड़ से जुड़ी प्राकृतिक खूबसूरती का यह बिम्ब दुखना के व्यक्तित्व के छिपे कोमल पक्ष को आलोकित करता है। इसी तरह 'घूरा' कहानी के निम्न प्रसंग का उदाहरण दिया जा सकता है- "आज तीसरा दिन था पर बारिश नहीं थमी, गृहस्थ लोग बार-बार बाहर निकल कर बादलों की ओर देखते पर वे तनिक भी फटते नजर नहीं आ रहे थे उनकी हल्की घुमड़न, और बूँदों की सरसराहट के अतिरिक्त, कोई आवाज कहीं से नहीं आती थी। ऊपर काले कजरारे घनघोर मेघ और नीचे भीगी हल्की-भूरी कीचड़ जिसमें जगह-जगह कूड़ा-करकट, और गोबर के सूखे कंडों के द्वीप और उन द्वीपों के ऊपर रेंगते हुए केचुए, गोबड़ारे और मखमली वीरवधुटियाँ। रह-रह कर आसमान में बादलों की गहरी भूरी किंतु श्वेत लटें धुएँ सी दौड़ जाती और पानी की कड़ी बौछार होने लगती। पानी में बुल्ले उठने लगे थे और लोगों का कहना था कि "यह ताल-पोखर एक करने वाली बरसात के लच्छन है।"⁷² जिससे वर्षा के रूप में प्रकृति के भयावह रूप से ग्रामीण परिवेश की दुरवस्था का चित्र उक्त वर्णनात्मक शैली में जीवंत हो जाता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों की वर्णनपरकता में चित्रात्मक

शैली की विशिष्टता साफ झलकती है, जहाँ ग्रामीण प्रकृति-परिवेश के बिंबात्मक चित्रण में कहानीकार की कल्पनाशीलता कहानी के चरित्र और कथानक की कलात्मक संगति में रहते हुए यथार्थ को प्रभावी बनाने के अभिनव अंदाज के रूप में उभरती है।

7.1.3.2 सांकेतिकता

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन का कहानियों की शैली संयोजना में वर्णनात्मकता का जो स्वरूप उभरता है, वह सांकेतिकता के पहलू से निबद्ध रहता है। उनकी कहानियों की सांकेतिक शैली कहानी के कथ्य को सघन कर प्रस्तुत करती है। इस संदर्भ में खगेन्द्र ठाकुर के निम्न कथन को पढ़ा जा सकता है—“यह ध्यान देने की बात है कि मार्कण्डेय अपनी यथार्थवादी कहानियों के कथ्य को सांकेतिक ढंग से व्यक्त करते हैं। ...कथ्य मानवीय और कथन-भंगी, बोलचाल की भाषा में, सांकेतिक और प्रतीकात्मक। यह खूबी है मार्कण्डेय की अधिकतर कहानियों की।”⁷³ यहाँ, प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की कुछेक कहानियों का उल्लेख करते उक्त तथ्य की परीक्षा की जा सकती है।

सबसे पहले उनकी ‘नीम की टहनी’ कहानी का निम्न उद्धरण देखा जाए—“सूरज डूबते ही, सारा गाँव डाइनों के काले लहंगे में उलझ कर बेहोश हो जाता है। हवा का झोका अपनी खूँखार अँगुलियों से, खपरैल के घरों तथा फूस की झोपड़ियों को रह-रह कर छूता है और वे दुबक कर, एक भयानक खामोशी में डूब जाती है। सिवान में सियारों की हुआँड हुआँड सारे गाँव में कुत्तों की भोंड भोंड... लोग कानों में अँगुलिया डाल लेते।”⁷⁴ स्पष्ट है कि यहाँ ग्रामीण परिवेश का अंधेरा और उसकी भयावहता, यह संकेत करती है कि स्वातंत्र्योत्तर गाँव भूत-प्रेत ओर शुभ-अशुभ आदि के सामाजिक कुसंस्कार और अंधविश्वास से मुक्त नहीं है। इसी तरह ‘साबुन’ कहानी का भी जिक्र किया जा सकता है। जहाँ, बादल का उमड़ना, बिजली का चमकना और वर्षा आदि सब कुछ कहानी के कथ्य को संकेतित करता है। यहाँ कहानी के एक दृश्य को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है—“उसने ऊपर देखा, बखरी के कोने-कोने में गहरी उदासी छाई हुई थी। कहीं एकाध गौरेया के जोड़े चूँ-चूँ कर देते थे और आसमान के एक कोने से बादल का गहरा काला पहाड़ मुँह बाये उठा आ रहा था। उसके मन में सहसा भय रेंग आया-ऐसे बादल को उसने कभी नहीं देखे थे। ये घर उखाड़ देंगे मेरा।”⁷⁵ जिससे परिवार के समक्ष विपरित परिस्थितियाँ स्वरूप संकट के बादल छाने का स्पष्ट संकेत मिलता है। जहाँ कहानी की माँ को अपने घर के उखड़ जाने का

भय रहता है। इसी तरह 'सोहगइला' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। रनिया की विदाई के सफर में उसके हाथ से पितृसत्तात्मक संस्कारों का प्रतीक सोहगइला के छूटने का दृश्य सांकेतिक होता है –“क्षण भर बाद, उसने फिर आँखें खोली और चाहा कि चिल्ला कर कुछ कहे, खटोली को रोके, पर खटोली तो कब की बरगद की छाँह में रुक गयी थी और पानी से भरे, उसी पीतल के लोटे को दोनों हाथों से उठाकर मुँह में लगाये, वह यह भूल गयी थी कि सोहगइला कब से उसके हाथ में नहीं है और व्यंग्य की एक तीखी हँसी उसके चेहरे पर बिखर गयी थी।”⁷⁶ जो यह संकेत करता है कि रनिया अपनी माँ की तरह सोहगइला से जुड़ी पितृसत्तात्मक दकियानूसी सोच को ढोने में अंततः स्वयं को असमर्थ पाती है। उसकी व्यंग्यपूर्ण हँसी इस बात का प्रमाण है कि उसकी जैसी स्त्री अपने भविष्य को सोहगइला (पितृसत्तात्मक संस्कार और मान्यताएँ) से मुक्त होने में देखती है।

इसी तरह मार्कण्डेय की कहानी 'एक काला दायरा' के उस प्रसंग का, जब अदालत में न्याय का प्रतीक जज पाँचू जैसे निरपराध को स्वयं की पत्नी की हत्या के लिए सजा सुनाता है, जिक्र किया जा सकता है –“सहसा पाँचू का ध्यान जज के बूढ़े चेहरे पर केन्द्रित हो जाता है। बिजली की रोशनी के कारण पंखे के विशाल डैने की परछाही को जज के बूढ़े चेहरे पर चक्कर काटते हुए वह पहली बार देखता है। फिर क्षण भर बाद ही उसे लगता है, जैसे पंखे के डैनों की सायाएँ एक-दूसरे से मिल गयी हैं और अब एक भूरी साया के दायरे के पीछे जज का चेहरा धुँधलके में धीरे-धीरे डूब रहा है।”⁷⁷ स्पष्ट है कि यहाँ परछाई, साये और अंधेर का जिक्र और उस अंधेरे में जज के चेहरे (न्याय) का डूबना सभी कुछ, प्रतीकात्मक रूप में व्यक्ति के लोकतांत्रिक मूल्य अधिकारों की रक्षा स्वरूप सभी को और समान रूप से मिलने वाली न्याय व्यवस्था पर गहराते अंधकार का संकेत करता है। इसी तरह एक अन्य उदाहरण 'बादलों का टुकड़ा' कहानी के निम्न अंश से दिया जा सकता है –“कुनाई एक खाट पर नंग धिड़ंग, चित्त लेटा था। उसका फूला हुआ पेट और उसकी उभरी हुयी नीली नसें ही सबसे पहले उसे दिखायी पड़ी क्योंकि उसका सिर पेट के अनुपात में बहुत छोटा था। उसे देखकर कुनाई अपनी निरंतर रोने वाली एक पतली और रेंघती हुयी आवाज़ में रोने लगा।”⁷⁸ स्पष्ट है कि यहाँ एक कुपोषित बच्चे के बिंब से, उस परिवार की आर्थिक दुखस्था तो जाहिर होती ही है, साथ ही साथ इससे गाँव के स्वास्थ्य संबंधी स्थिति का भी परिचय प्राप्त होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों की वर्णनात्मकता में सांकेतिकता एक विशिष्ट शैली है, जो मार्कण्डेय के कहानीकार की यथार्थवादी छवि को प्रतीकित करती है। जिससे मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण जीवन-यथार्थ को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में उकेरने में सक्षम होता है।

7.1.3.3 व्यंग्यात्मकता

पूर्वोक्त है कि मार्कण्डेय की पहचान एक ऐसे यथार्थवादी कहानीकार की है, जो यथार्थ को आलोचनात्मक तेवर के साथ उसकी संश्लिष्टता में उज्जीवित करने हेतु सदैव सचेष्ट रहता है। उनकी कहानियों, विशेषकर ग्रामीण जीवनबोध की, में ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं को एक पौने व्यंग्य के साथ जीवंत करने का प्रयास मिलता है। इस कारण भी उनकी कहानियों की वर्णनात्मकता में व्यंग्यात्मक शैली देखने को मिलती है। जैसा कि आलोचक रामविलास शर्मा भी मानते हैं कि -“मार्कण्डेय की कहानियों की विशेषता उनकी करुणा और व्यंग्य है।”⁷⁹ दरअसल, मार्कण्डेय का यथार्थवादी कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तन और विकास के नारों और शोरों के बीच जब ग्रामीण आम जन-जीवन में गुणात्मक परिवर्तन और विकास को घटित होते हुए नहीं देखता है, तब उनके कहानीकार की करुणा और संवेदना यथास्थिति पर चोट करने हेतु तत्पर हो जाती है। इस कारण ही उनकी कहानियों की शैली में व्यंग्यात्मकता का पुट शामिल हो जाता है। यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कुछ कहानियों के उल्लेख से उक्त बात की परीक्षा की जा सकती है।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम उनकी कहानी ‘कल्याणमन’ का उल्लेख किया जा सकता है। इस कहानी में जमींदारी-प्रथा के अंत की घोषणा के बावजूद भी सामंतों की दूसरे की जमीन पर गिद्ध-दृष्टि का बना रहना, एक ज्वलंत सच के रूप में दर्शाया जाता है। आलोच्य कहानी में जमींदारी-प्रथा से जुड़े उक्त सच को मंगी के निम्न कथन में देखा जा सकता है, जहाँ कहानीकार का जमींदारी-प्रथा के अंत पर एक पैना व्यंग्य चस्पाँ रहता है-“कौन जाने मेहमान अब भी फन काढ़े बैठा हो, कल्याणमन जो लेना है, उन्हें।”⁸⁰ यहाँ कल्याणमन में छिपे मेहमान (साँप) के माध्यम से ग्रामीण जमींदारों को प्रतीकित किया गया है, जो साँप की भाँति दूसरों की जमीन पर अपना फन काढ़े बैठे रहते हैं। इसी तरह ‘प्रलय और मनुष्य’ कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के बदलते चरित्र को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास मिलता है जिसे प्रस्तुत कहानी की मेझुकी के स्वर में कुछ तरह सुना जा सकता है-“डरो नहीं, यह

खादी की टोपी है। इसकी दीवारों के बीच हम सुरक्षित हैं। ... यह इस लोक की सबसे बड़ी ढाल है। इसके पीछे कुछ भी छिप सकता है।”⁸¹ स्पष्ट है कि यह कथन कहानीकार की व्यंग्यात्मक शैली को दर्शाता है, जो लोकतंत्र और राजनीति में गांधीवाद की आड़ में अपसंस्कारों को सुरक्षा मिलने की नीतियों पर चोट करती है। इसी तरह ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’ कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में स्वातंत्र्योत्तर विकास कार्यक्रम की सच्चाई पर कहानीकार की व्यंग्यात्मक चोट साफ देखी जाती है। जब आनन-फानन में ग्रामीण आर्थिक विकास-कार्यक्रम के रूप में आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना से जुड़ा नाटक होता है, जो रमजान जैसों को ठगा-सा रहने को छोड़ देता है-“सभा समाप्त हुई।...इसी बीच पार्टी खत्म हुई और कलक्टर साहब मोटर में जा बैठे। उनका ड्राइवर धीरे से आया और छोटे बी. डी. ओ. को बुलाकर कहने लगा ‘मेम साहब को बड़ा शौक है, मुर्गे के गोस्त का। “हाँ, हाँ, पकड़ न लो।” साहब ने लापरवाही से कहा...रमजान उठा खड़ा हुआ...तब तक धीरे-धीरे चपरासियों ने छोटे साहब को घेर लिया और ...एक-दो...दो-तीन...मुर्गे इक्कों पर बँध गये, साइकिलों के कैरियरों में टँग गये, झोलों में कस लिए गये और मेहमानों के जाते-जाते आदर्श कुक्कुट-गृह खाली हो गया। ... फिर भी आदर्श कुक्कुट-गृह तो बाकायदा स्थापित हो ही चुका था।”⁸² यहाँ कहानीकार की उस व्यंग्यात्मक शैली को साफ पहचाना जा सकता है, जो यह दर्शाती है कि सरकारी अमलों की चिंता आर्थिक विकास-कार्यक्रमों को सरकारी आँकड़ों में दर्ज कराने भर की होती है।

इसी संदर्भ मार्कण्डेय की ‘आदमी का दुम’ कहानी का भी जिक्र किया जा सकता है। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में सेवा की आड़ में व्यक्तिगत हित साधने वाले मिसिर जी जैसे तथाकथित नेता, जो छद्म रचना जानते हैं, उन पर कहानीकार की चोट स्पष्ट होती है-“मिसिर जी हमारी ग्राम-सभा के सभापति हैं।...कई स्कूलों के वे मैनेजर और ब्लाक कमेटी के ऊँचे अधिकारी भी हैं। इधर, चार-पाँच कोस में वे विकास कार्यों के प्रतीक हैं। मैं दूसरे लोगों को विकास-कार्य के बारे में समझाता हूँ, लेकिन विकास मिसिर जी करते हैं। उनके पास एक नन्हीं सी मुसकान है, जिसकी पूँछ में हर विकास-कार्य के लिए ‘हाँ’ की तख्ती लटकी रहती है।”⁸³ इसी तरह यहाँ ‘हल लिए मजूर’ कहानी का भी उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में, कहानीकार की व्यंग्यात्मक शैली को कहानी के पात्र निहोर के निम्न कथन में देखा जाता है-“बेड़ा पार लगे या न लगे, इसमें गरीब जनता का कुछ बनने वाला नहीं है। इस बदलाव के नतीजे को देखकर तो मुझे लगने लगा

है कि ससुरी यह लोकशाही ही ऐसी है। कहो, कितना खून-पसीना एक करके बीस बरस का काँग्रेसी जुआ कंधों से उतारा गया लेकिन फिर जस-का-तस। पैसों वालों की, जमीनवालों की गोटी लाल। उनकी तानाशाही जहाँ की तहाँ।”⁸⁴ जिससे उस लोकतांत्रिक सत्ता-परिवर्तन पर चोट होती है, जहाँ परिवर्तन के रूप में दल केवल बदलते हैं, ग्रामीण आमजन के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि व्यंग्यात्मक शैली मार्कण्डेय की कहानियों की विशिष्टता है, जो मार्कण्डेय के यथार्थवादी कहानीकार की उस पहचान को गढ़ती है जो अपने आस-पास के समय और जीवन-संदर्भों का तटस्थ द्रष्टा न होकर उसके प्रति आलोचनात्मक रुख रखती है।

इस प्रकार समग्र रूप में, मार्कण्डेय की कहानियों की शैली-संयोजना को देखा जाए तो यह मार्कण्डेय के उस कहानीकार व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है, जो बदलते ग्रामीण जीवन-संदर्भों के यथार्थ की समग्र और संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हेतु अपनी कहानियों की वर्णनात्मकता को चित्रात्मकता, सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता आदि विशिष्टताओं से संस्पर्शित करता है।

अतः मार्कण्डेय की कहानियों के शिल्प-पक्ष पर निष्कर्षतः कहा जाए तो निम्न बातें उजागर होती हैं। मार्कण्डेय का कहानीकार शिल्प के प्रति यथार्थवादी रुख रखता है, जहाँ शिल्प की न अवहेलना होती है और ना ही उसके प्रति अतिरिक्त सजगता प्रदर्शित की जाती है। उनकी कहानियों का शिल्प कथा, भाषा और शैली संयोजना के बिंदुओं पर पहचाना जाता है, कहीं भी उनका यथार्थवादी कहानीकार चूकता नहीं है। उनकी कहानियों के कथानक और चरित्र दोनों यथार्थ जीवन-संदर्भों का सशक्त आधार लिए हुए होते हैं। उनकी भाषा पात्रानुकूलता और स्वाभाविकता आदि गुणों से समाविष्ट होती है। उनकी अधिकतर कहानियों में ग्रामीण जीवन की लोक शब्दावलियों, बोली, मुहावरों, लोकोक्तियों, उपमानों की छौंक उनके कहानीकार की विशिष्ट पहचान गढ़ती है। उनकी कहानियों की शैली उस वर्णनपरकता को लिए हुए होती है, जो चित्रात्मकता, सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता आदि पहलुओं से संस्पर्शित होती हैं। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प उनके यथार्थवादी कहानीकार के अनुरूप होता है।

संदर्भ-सूची

1. जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं.-1961, पृ.-355
2. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.-2002, भूमिका, भूदान (कहानी-संग्रह), पृ.-248
3. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.-2002, भूमिका, 'हंसा जाई अकेला' (कहानी-संग्रह), पृ.-186
4. उद्धृत, प्रसाद, डॉ. सुरेन्द्र, मार्कण्डेय का रचना-संसार, क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, प्र.सं.-2001, पृ.-139
5. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.-2002, भूमिका, 'भूदान' (कहानी-संग्रह), पृ.-248
6. उपरिवत्, पृ.-247
7. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय:परंपरा और विकास वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2010, पृ.10
8. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002 पृ. 263
9. उपरिवत्, पृ. 267
10. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, भूमिका 'सहज और शुभ' (कहानी-संग्रह), पृ. 401-402
11. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 89
12. उपरिवत्, पृ.-95
13. उपरिवत्, पृ.-115
14. उपरिवत्, पृ.-120
15. उपरिवत्, पृ.-194
16. उपरिवत्, पृ.-198
17. उपरिवत्, पृ.-242-243
18. सिंह, तेज, नागार्जुन का कथा-साहित्य, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1993, पृ. 145
19. उद्धृत, अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं. 1973 भूमिका पृ. 23
20. मार्कण्डेय, कहानी की बात, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. : 1984, पृ. 12
21. उपरिवत्, पृ. 98
22. मिश्र, शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं. : 2009, पृ.239

23. सिन्हा, सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, प्र.सं. : 1966, पृ. 117
24. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ.4
25. उपरिवत्, पृ. 8-9
26. उपरिवत्, पृ. 192
27. उपरिवत्, पृ.-188
28. उपरिवत्, पृ.-189-190
29. उपरिवत्, पृ.-403
30. उपरिवत्, पृ.-407
31. उपरिवत्, पृ.-64
32. उपरिवत्, पृ.-71
33. उपरिवत्, पृ. 85
34. उपरिवत्, पृ. 131
35. उपरिवत्, पृ.137
36. उपरिवत्, पृ. 211-212
37. उपरिवत्, पृ.34
38. उपरिवत्, पृ. 112
39. उपरिवत्, पृ. 227
40. उपरिवत्, पृ. 216
41. उपरिवत्, पृ. 271-272
42. उपरिवत्, पृ. 287-288
43. उपरिवत्, पृ. 115
44. उपरिवत्, पृ. 161
45. उपरिवत्, पृ. 92
46. उपरिवत्, पृ. 320-321
47. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, भूमिका, 'हंसा जाई अकेला' (कहानी-संग्रह), पृ. 184
48. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 3
49. उपरिवत्, पृ. 188
50. उपरिवत्, पृ. 505
51. उपरिवत्, पृ.8

52. उपरिवत्, पृ.30
53. उपरिवत्, पृ.114
54. उपरिवत्, पृ. 165-166
55. उपरिवत्, पृ. 214-215
56. उपरिवत्, पृ. 213
- 57.मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्र.सं. (पैपरबैक): 2012, पृ. 24-25
58. साभार, हिन्दुस्तानी (मार्कण्डेय पर एकाग्र, त्रैमासिक), भाग-71, अंक-3 (जुलाई-सितम्बर), 2010, पृ. 86
59. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2010, फ्लैप से उद्धृत
60. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 3
- 61.उपरिवत्, पृ. 106
62. उपरिवत्, पृ. 196
63. उपरिवत्, पृ. 319
64. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2012(पैपरवैक), पृ. 30
65. साभार, हिन्दुस्तानी (मार्कण्डेय पर एकाग्र, त्रैमासिक), भाग-71, अंक-3(जुलाई-सितम्बर) पृ. 80
66. उद्धृत, सिंह, तेज, नागार्जुन का कथा-साहित्य, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1993, पृ. 168
67. उद्धृत, प्रसाद डॉ. सुरेन्द्र, मार्कण्डेय का रचना संसार, क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, प्र.सं.: 2001, पृ. 150
- 68.मार्कण्डेय, मार्कण्डेय, की कहानियाँ, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, भूमिका 'हंसा जाई अकेला' (कहानी-संग्रह), पृ. 185
69. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 5
70. उपरिवत्, पृ. 27
71. उपरिवत्, पृ. 132
72. उपरिवत्, पृ. 33
73. साभार, कथा (मार्कण्डेय स्मृति अंक), अंक-15 मार्च 2011, पृ. 246

74. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 17
75. उपरिवत्, पृ.115
- 76.उपरिवत्, पृ. 198
77. उपरिवत्, पृ. 459
78. उपरिवत्, पृ. 471
79. शर्मा, रामविलास, कथा विवेचना और गद्यशिल्प, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.: 1982, पृ. 87
80. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 193
81. उपरिवत्, पृ. 233
82. उपरिवत्, पृ. 267
83. उपरिवत्, पृ. 413-414
84. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2012 (पेपरबैक), पृ. 76

उपसंहार

उपसंहार

मार्कण्डेय का स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में अवतीर्ण होना एक महत्वपूर्ण घटना है। वे हिंदी कहानी लेखन को जीवन से जोड़ते हुए उसे यथार्थवादी मार्ग पर लाने का स्तुत्य प्रयास करते हैं। स्वतंत्रता, लोकतंत्र, परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया में, औद्योगिकीकरण और नगरीकरण के माहौल में मार्कण्डेय का कहानीकार नगरोन्मुखता के मोह से छिटककर उस ओर मुखापेक्षी होता है, जहाँ देश की आबादी का विराट हिस्सा अपनी साँस ले रहा होता है। अर्थात् ग्रामीण जीवन। उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन को समझने के क्रम में भारतीय जीवन की धड़कनों को जीवंत करने का कार्य करती हैं।

उनकी कहानियों में यथार्थ प्राण तत्त्व के रूप में होता है। वे यथार्थ को प्रत्यक्ष जीवन को इस भाँति प्रतीकित करता हुआ मानते हैं, जहाँ वर्तमान जीवन अपने अतीत और भविष्य की ऐतिहासिक अविच्छिन्नता में उपस्थित रहता है। उनकी यथार्थ-दृष्टि यथार्थ संबंधी धारणा को व्याख्यायित करने वाले साहित्यिक संश्लेषण 'यथार्थवाद' के उस आलोचनात्मक रूप से साम्य रखती है, जो अपनी उपलब्धियों को आत्मसात् कर समाजवादी यथार्थवाद की ओर उन्मुख रहता है। उनकी यथार्थ-दृष्टि यथार्थवाद के उस गतिमान स्वरूप को महत्व देती है, जिसमें भावी जीवन के यथार्थ को ग्रहण करने तथा उसका प्रतिबिम्बन करने की अपेक्षाएँ विद्यमान रहती हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ 'यथार्थवाद' की उपलब्धियों को आत्मसात् किए हुए तेवर के रूप में प्रस्तुत है।

उनकी कहानियाँ ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली उस कहानी-धारा की विकसित कड़ी होती है, जिसकी नींव भारतीय औपनिवेशिक समय के हिंदी कहानी-लेखन में माधवराव सप्रे, बंगमहिला (राजबाला घोष), मास्टर भगवान दास आदि प्रमुख कहानीकार रखते हैं तथा जिसकी प्राण-प्रतिष्ठा हिंदी के लब्ध प्रतिष्ठित कहानीकार प्रेमचंद करते हैं। उनकी कहानियाँ प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी लेखन की भाववादी परंपरा से अलग एवं स्वातंत्र्योत्तर नगरीय जीवन के आकर्षण के अतिक्रमण से दूर, हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन-यथार्थ को उज्जीवित करने वाली उस यथार्थवादी कहानी-धारा को मजबूती से प्रतिष्ठित करती हैं जिसकी परवर्ती दिशा में मिथिलेश्वर, संजीव, जयनंदन, मैत्रेयी पुष्पा, ऋता शुक्ल आदि शामिल हैं।

उनकी कहानियाँ सांप्रतिक दौर के ग्रामीण जीवन और सच को समझने हेतु हमारा आह्वान

करती हैं। उनकी कहानियाँ भारतीय ग्रामीण जीवन की संकल्पना और उसकी खरी समझ रखने के साथ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन-यथार्थ की समग्र पहचान हेतु ग्रामीण जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक पक्षों के संश्लिष्ट चित्रण को महत्त्व देती हैं।

उनकी कहानियों में ग्रामीण समाज की उस तस्वीर को देखा जाता है, जहाँ ग्रामीण जीवन संबंधों का एक जाल होता है। जिसमें नाते-रिश्ते, मूल्य-आदर्श, सामाजिक रीति-नीति आदि परस्पर गुम्फित रहते हैं। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज के परिवर्तित संदर्भों के रूप में ग्रामीण जीवन का मूल्य-संक्रमण, वैयक्तिक-पारिवारिक संबंध, सामाजिक रीति-नीति और मान्यताएँ एक परिवर्तन की प्रक्रिया में नज़र आती हैं। उनकी कहानियों में चित्रित ग्रामीण समाज के मानवीय मूल्य जहाँ, मूल्यों के शाश्वत रूप में ग्रामीण समाज की चिर-परिचित परंपरित छवि को दर्शाते हैं, वहीं ग्रामीण सामाजिक परिस्थितियों की माँग के अनुसार पारंपरिक मूल्यों का क्षरण और उससे नए मूल्यों के गढ़ने का उपक्रम ग्रामीण समाज की आधुनिक भावी तस्वीर को प्रस्तुत करता है। उनकी कहानियों में समाज के भीतर परिवार की परिकल्पना में बदलाव स्वरूप ग्रामीण परिवार का संयुक्त ढाँचा टूटता दिखाई पड़ता है, जिसके प्रमुख कारणों में वैयक्तिक क्षुद्र सोच और मालिकाई की स्पर्धा-महत्वाकांक्षा आदि होते हैं। उनकी कहानियाँ यह दर्शाती हैं कि ग्रामीण समाज के दाम्पत्य संबंधों तथा परिवार के अन्य नाते-रिश्तों में भी विघटन होता है। दाम्पत्य संबंध में पुरुष की सामंती सोच, स्त्री-पुरुष की वैयक्तिक इच्छाओं का प्राबल्य, दाम्पत्य जीवन के उत्तरदायित्व का असंतुलन एवं स्त्री का पुरुष की भोगवादी सोच के प्रति प्रतिकारात्मक रवैया आदि विघटन के प्रमुख कारक सिद्ध होते हैं। जबकि परिवार के अन्य नाते-रिश्तों के संबंधों में विघटन का कारण परिवार के भीतर की गलतफ़ैमियाँ, परिवार के अंतर्बाह्य होने वाले कुचक्र पूर्ण युगीन परिस्थितियों का दबाव आदि होता है। उनकी कहानियों में ग्रामीण समाज और नारी जीवन के रूप में स्त्री के विवाह से जुड़ी विसंगतियाँ, पितृसत्तात्मक संस्कारों के दबाव के फलस्वरूप स्त्री की इच्छा-प्रेमेच्छा, स्वतंत्रता को कुंद करने की प्रक्रिया उसका यौन-शोषण आदि का पहलू ग्रामीण स्त्री की वास्तविक स्थिति को दर्शाता है। इतना ही नहीं, मार्कण्डेय की कहानियों में जातिगत भेद-भाव स्वरूप अश्वपृथयता की भावना तथा सवर्ण जातियों के वर्चस्व आदि की अभिव्यक्ति स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के एक ज्वलंत सच के रूप उजागर होती है।

गौरतलब है कि उनकी कहानियों में ग्रामीण समाज की विसंगतियों की वास्तविकता का

ऊपरी तौर पर अवलोकन न होकर उसकी तह में प्रवेश करते हुए उसके निहित कार्य-कारण संबंधों की पड़ताल है। उनकी आलोचनात्मक यथार्थ-दृष्टि उनके कहानीकार को स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज के बदलते संदर्भों को उसकी संश्लिष्टता में पूरी सक्षमता के साथ उकेरने हेतु प्रवृत्त करती है।

उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण राजनीतिक जीवन-पक्ष को भी बड़ी सूक्ष्मता में देखने का प्रयास है। जहाँ, ग्रामीण जीवन की स्वातंत्र्योत्तर राजनीति से प्रभावित-परिवर्तित सच्चाई को उसके व्यावहारिक रूप में चित्रित करने के क्रम में, स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के विशद चारित्रिक परिवर्तन को विविध कोणों से देखा परखा गया है। उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में नैतिकता, निष्ठा, देश-प्रेम और जनसेवा आदि मूल्यों के क्षरण को ग्रामीण जीवन-प्रसंगों के सहारे पैसे व्यंग्य के साथ उजागर किया गया है। जहाँ यह, दिखलाने का प्रयास हुआ है कि स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में पनपती दलगत संकुचितता और सत्ता लोलुपता गाँव के सामुदायिक माहौल में एक अस्थिरता को जन्म देती है। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक सदिच्छा स्वरूप पंचायती-राज का लाभ पैसा और पहुँच रखने वाले ग्रामीण विशिष्ट जन (पुराना सामंत वर्ग) ही उठा पाते हैं, जबकि ग्रामीण आमजन पहले की तरह उपेक्षित रहता है। उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण राजनीतिक जीवन से जुड़ी लोकतंत्र, चुनाव, पुलिस और न्याय-व्यवस्था की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत है। जहाँ, यह देखने को मिलता है कि लोकतंत्र का मुख्य आधार चुनाव जनबल, धनबल और दाव-पेंच का पर्याय बन जाता है और ग्रामीण विशिष्ट जन, या पुराना सामंत वर्ग ही चुनाव का प्रत्याशी होता हुआ जनता के प्रतिनिधि होने का छद्म रचता है। जहाँ, लोकतंत्र और उसकी न्याय-व्यवस्था ग्रामीण आमजन को न न्याय दे पाती है और ना ही उसके प्रजातंत्रिक मूल्य-अधिकारों की सुरक्षा कर पाती है, क्योंकि पुलिस और न्याय-व्यवस्था सामर्थ्य रखने वालों द्वारा परिचालित होती है।

गौरतलब है कि उनकी कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण राजनीतिक जीवन का व्यावहारिक सच उजागर करती हैं, जो कहानीकार के उस तेवर को दर्शाता है जो वास्तविकता की दबी परत को उघाड़ने का साहस रखता है।

उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आर्थिक जीवन को भी प्रमुखता से उजागर किया गया है। जैसा कि एक यथार्थवादी कहानीकार किसी भी समाज के आर्थिक पक्ष को ज्यादा गहराई से देखता है, वैसे ही उनका यह मानना है कि किसी भी समाज की जीवन-प्रक्रिया का मुख्य आधार

उसका आर्थिक ढाँचा होता है। उनकी कहानियाँ, दो मुख्य आर्थिक श्रेणियों में बँटे स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज (उच्च वर्ग-समृद्ध शोषक वर्ग और निम्न वर्ग- शोषित सर्वहारा वर्ग) को करीब से देखने का प्रयास करती हैं। जहाँ, ग्रामीण निम्न वर्ग के रूप में बहुसंख्यक जनता की जीवन स्थितियों का निरंतर विसंगतियों की ओर बढ़ने का जिक्र है। जहाँ, जमींदारी-प्रथा के अंत की घोषणाओं के बावजूद सामंतों के अत्याचार, आतंक और शोषण के बने रहने को जमींदार-सेठ-साहूकारों के मध्य ग्रामीण निम्न वर्ग के निरंतर पिसते रहने को स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के एक कटु सच के रूप में दर्शाया गया है। जहाँ, ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी कृषक, भूमिहीन, खेतिहर मजदूर आदि आमजन को गरीबी और बुनियादी सुविधाओं की अभावपूर्ण जीवन-स्थितियों के मध्य अभिशप्त रूप में जीते हुए देखा गया है। जहाँ, ग्रामीण जीवन का जातिदंश, समाजिक उपेक्षा, किसानों की मार आदि का पहलू ग्रामीण निम्नवर्ग रूपी आमजन को स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में गाँव के जीवन से बाहर की ओर धकेलता है। जहाँ, ग्रामीण नवोदित शिक्षित पीढ़ी के अनुकूल ग्रामीण जीवन में आधारभूत संरचना का अभाव, शहरी चकाचौंध का आकर्षण, पीढ़ियों का अंतर्द्वन्द्व आदि ग्रामीण शिक्षित पीढ़ी को गाँव के जीवन से पल्लयान कर शहर के अपसांस्कृतिक माहौल में मिसफिट होकर निरुद्देश्य भटकने को बाध्य करते हैं।

मार्कण्डेय की कहानियों में उनकी गतिमान यथार्थ-दृष्टि को इस रूप में भी देखा जा सकता है कि, वे ठहरे हुए बसियाये यथार्थ का फार्मूलाबद्ध रूपायन के बजाय परिवर्तित जीवन-संदर्भों की ओर मुखापेक्षी होते हैं। इस कारण भी उनकी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में जमींदारी-प्रथा उन्मूलन, पंचायती राज, पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत होने वाले आर्थिक विकास-कार्यक्रम, भूदान आदि आंदोलन से उपजी नई परिस्थितियों का सच पूरी प्रामाणिकता से उजागर होता है। जहाँ, यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि गाँव की गरीबी, बेरोजगारी और अकर्मण्यता दूर करने हेतु छोटे पैमाने के व्यवसायिक संस्थानों के विकास का आर्थिक प्रयास का लाभ गाँव के सम्पन्न-समर्थ वर्ग तथा भ्रष्ट सरकारी अधिकारी-कर्मचारीगण को मिलता है, जबकि ग्रामीण जरूरतमंद लोग उपेक्षित होते हैं। जहाँ, कृषि-कर्म को उन्नत करने का आर्थिक प्रयास उन सम्पन्न किसानों को लाभ पहुँचाता है, जो नवीन पूँजीपति बनने की ओर अग्रसर रहते हैं। यही नहीं, उनकी कहानियों में इस सच का भी उत्थापन है कि ग्रामीण आर्थिक विकास-कार्यक्रम की नीतियों में कृषि-व्यवस्था के उन्नत प्रबंधन हेतु जो कृषि-कर्म का यंत्रीकरण होता है, उससे भूमिहीनों, खेतिहर

मजदूरों के समक्ष जो नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उसके निराकरण संबंधी वैकल्पिक व्यवस्था का संपूर्ण अभाव है। जो ग्रामीण छोटे किसान, भूमिहीनों, खेतिहर मजदूरों आदि ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन को समवेत रूप में नए तरीके से संतुष्ट करता है। उनकी कहानियों में ग्रामीण भूमिहीनों से जुड़े भूदान रूपी बहुदेशीय आंदोलन-कार्यक्रम के जमीनी सच के रूप में उससे उत्पन्न हुयी ग्रामीण निम्नवर्गीय आमजन की आर्थिक विसंगतियों का ही जिक्र है।

मार्कण्डेय की यथार्थवादी दृष्टि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आर्थिक जीवन के उस सच को रखने में सक्षम दिखती है, जहाँ ग्रामीण समाज में आर्थिक विषमता का चित्र यथावत् कायम रहता है। जहाँ, ग्रामीण आर्थिक जीवन से जुड़े विभिन्न आंदोलन, कार्यक्रम और विकास नीतियाँ ग्रामीण निम्नवर्ग जैसे किसानों, भूमिहीनों, खेतिहर मजदूरों आदि को संतुष्ट ही करती हैं और उनके जीवन में भूमि से जुड़ी समस्याओं को दूर करने के बजाय उसे ज्यादा उलझा देती हैं।

मार्कण्डेय की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन का पूरी विश्वसनीयता के साथ चित्रण है। उनकी कहानियों में भारतीय ग्रामीण जीवन की वह तस्वीर साक्षात् है, जहाँ धर्म का पहलू महत्वपूर्ण है। जहाँ, धर्म के प्रति ग्रामीणजन का दोहरा एगोच देखा जाता है। कहीं यह, मानवीय उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति में, तो कहीं सदियों से चली आ रही रूढ़ियों की चिंतनहीन स्वीकृति परक अंधश्रद्धा के रूप में दिखायी देता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन में धर्म की जगह व्याप्त उसकी मिथ्या चेतना-धर्मभीरुता, ब्राह्मणवाद, तीर्थ-स्नान आदि बह्याचार, परंपरागत रूढ़ियों की चिंतनहीन स्वीकृति, भूत-प्रेत-डाइन का अंधविश्वास, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूँक, ओझा-बाबा का चमत्कार आदि पर अपने यथार्थवादी तेवर के अनुरूप चोट करती हैं तथा इसे ग्रामीण जीवन के परिवर्तन-विकास के लिए प्रतिगामी सिद्ध करती हैं। उनकी कहानियाँ ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन को प्रमुख मानते हुए भी उसका रोमांटिक चित्रण करने से बचती हैं। उनकी कहानियों में ग्रामीण सांस्कृतिक जीवन को प्रतीकित करने वाले बिंदुओं-प्रकृति-प्रेम, बैठक-दालान की संस्कृति, विविध-रीति-नीति, पर्व-त्यौहार-मेले और लोकगीत आदि का ग्रामीण जीवन के बुनियादी सवाल-समस्याओं की संश्लिष्टता में चित्रण है, जो उनकी यथार्थवादी छवि को जाहिर करता है।

मार्कण्डेय की कहानियों में उज्जीवित ग्रामीण जीवन का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक यथार्थ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जन-जीवन का प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है। दरअसल, हिंदी कहानी-लेखन में मार्कण्डेय की कहानियाँ ग्रामीण जीवन को चित्रित करने वाली

परंपरा में वास्तविकता के सोद्देश्यपूर्ण प्रत्यांकन के कारण विशिष्ट बन कर उभरती हैं। हालांकि उनके समानांतर भैरव प्रसाद गुप्त, विवेकीराय, शिवप्रसाद सिंह, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और रामदरश मिश्र आदि कहानीकार भी स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन की उपस्थिति को संभव बनाने हेतु सक्रिय रहते हैं। भैरव प्रसाद गुप्त, जहाँ अपनी साम्यवादी विचारधारा के अनुरूप ग्रामीण निम्नवर्गीय लोगों की बुनियादी समस्याओं को अपनी कहानियों में सचेत ढंग से रखते हैं। वहीं, विवेकीराय स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के अपने प्रामाणिक अनुभव को ललित निबंध का आभास देनी वाली अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। शिवप्रसाद सिंह जहाँ, ग्रामीण जीवन के उपेक्षित चरित्रों को अपनी कहानियों में संवेदनात्मक जगह देते हुए ग्रामीण जीवन के अनछुए पहलू को दर्शाते हैं। वहीं फणीश्वरनाथ 'रेणु' अपनी कहानियों में ग्रामीण जनपद को उसकी तमाम विशिष्टताओं के साथ ग्रामीण जीवन की भोली संवेदना और रागात्मकता की संगीतमय अभिव्यक्ति करते हुए ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली कहानी-धारा में एक नया आयाम जोड़ते हैं। इसी तरह रामदरश मिश्र भी अपनी स्मृतियों में बसे ग्रामीण जीवन-संसार को अपनी कहानियों में उकेरते हुए स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की नब्ज़ टटोलेते हैं।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय के उक्त समकालीन कहानीकार मार्कण्डेय के साथ स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली कहानी-धारा को सशक्त पहचान देते हुए प्रवाहमान बनाते हैं। ये समकालीन कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के बुनियादी पक्ष को उठाने के क्रम में, जहाँ मार्कण्डेय से साम्य रखते हैं, वहीं उन पक्षों के प्रति इनका भिन्न ट्रीटमेंट उनका मार्कण्डेय से वैषम्य जाहिर करता है। वैसे कहने की जरूरत नहीं है कि मार्कण्डेय की सम्पृक्ति ग्रामीण जीवन से विशेष रही है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में उनकी पहचान मुख्य रूप से ग्रामीण जीवन-बोध के कहानीकार की बनती है। इसके बावजूद भी वे ग्रामेतर जीवन की सचाइयों की अवहेलना नहीं करते हैं। उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ इस बात का प्रमाण हैं। उनकी ग्राम-ग्रामेतर जीवन की कहानियों की संगति उनकी यथार्थ-दृष्टि की सर्वांगीणता को प्रतीकित करती है जिसके पीछे मार्कण्डेय की भारतीय जीवन को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने की मंशा है। हालांकि उनका कहानीकार ग्रामेतर जीवन के मध्यवर्गीय जीवन-बोध के सच को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में नहीं उभार पाता है, तथापि उनकी कतिपय कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन के उन पहलुओं को रेखांकित करने का सचेत उपक्रम करती हैं। जिनसे मध्यवर्ग

की सीमाओं का संज्ञान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन बोध के सीमित सच का ही रेखांकन संभव हो पाता है।

ग्रामीण जीवन के कहानीकार के रूप में मार्कण्डेय की मुख्य पहचान के अनुरूप ही उनकी कतिपय कहानियों में ग्रामीण जीवन का बहुवचनात्मक स्वर मिलता है। उनकी कहानियों का विशेष अध्ययन इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि उनकी कहानियों में उज्जीवति यथार्थ में एक आंतरिक अन्विति है, जो अपनी संश्लिष्टता में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की प्रामाणिक तस्वीर हमारे सम्मुख रखती है। उनकी 'गुलरा के बाबा' में कहानी में एक युवा कहानीकार का ग्रामीण जीवन के प्रति प्रथम अनुराग अभिव्यक्त होता है। जिसके भीतर पैठने पर स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में व्याप्त प्रेम-घृणा, आसक्ति-विरक्ति, गरीबी-लाचारी, मस्ती-आनंद और प्रकृति की स्थानीय रंगत लिए हुए मानव जीवन का ताना-बाना उजागर होता है। उनकी 'जूते' कहानी एक दलित बालक के मनोविज्ञान के केन्द्रीय कथ्य में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज का बृहत्तर पक्ष समाहित किए हुए है। जो ग्रामीण जीवन की सामाजिक-आर्थिक-विषमता, गरीबी, पलयान, जातिदंश की पीड़ा, सामंती सोच और संस्कार, आदि के सच को चित्रित करती है। उनकी 'दौने की पत्तियाँ' कहानी यह दर्शाती है कि ग्रामीण गरीब मेहनतकश वर्ग के जीवन की बुनियादी समस्याएँ स्वतंत्रता बाद भी खत्म नहीं होती हैं, बल्कि और भी जटिल हो जाती हैं। स्वतंत्रता बाद उभरी सत्ता तथा उसका शासन तंत्र ग्रामीण सामंत वर्ग से साठ-गाँठ कर ग्रामीण आर्थिक विकास-कार्यक्रम की सदिच्छाओं को लील जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि गाँव का गरीब भोला कोयरी जैसे मेहनतकश वर्ग का जीवन एक त्रासद मोड़ पर आ खड़ा होता है, जहाँ न उसकी एक किसान की स्वाभाविक पहचान रह पाती है और ना ही उसका गाँव में कोई अस्तित्व। कहने का तात्पर्य यह है कि 'दौने की पत्तियाँ' कहानी का भोला कोयरी का चरित्र स्वतंत्रता बाद के ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की आगे की कहानी कहता है।

उनकी 'कल्याणमन' कहानी स्वतंत्रता बाद की परिस्थितियों में ग्रामीण जीवन के भूमि संबंधों के उलझे रहने की सचाई को कहती है। जहाँ जमींदारी प्रथा के अंत की घोषणा, ना जमींदारों के अत्याचार-शोषण का निर्मूल कर पाती हैं और ना उनकी जमीन हड़पने की साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति को रोक पाती है। आलोच्य कहानी की मंगी (एक स्त्री) ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की प्रतिनिधि स्वरूप अपने श्रम और साहस से सामंती अत्याचार और शोषण का सामना तो करती

है, पर अपने लोगों के संगठनाभाव के कारण टूटने की विवश हो जाती है।

उनकी 'हंसा जाई अकेला' कहानी ग्रामीण जीवन के अनछूए प्रसंग के रूप में व्यक्ति के अकेलपेन ही कथा के भीतर से ग्रामीण जीवन के विविध स्वर और प्रश्न को गंभीरता से उठाती है। इसी कारण 'हंसा जाई अकेला' कहानी की संश्लिष्टता में दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श और राजनीति-विमर्श का स्वर समवेत रूप में सुनाई पड़ता है। उनकी 'आदर्श कुक्कुट-गृह' कहानी ग्रामीण निम्नवर्गीय-पात्र रमजान के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक-विकास-कार्यक्रम के रूप में छोटे व्यवसायिक संस्थानों के विकास की वास्तविकता को उभारती है। जहाँ यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि सरकारी योजनाएँ सिर्फ कागजी आदेशों में ही शोभा पाती हैं और जिसकी आड़ में सत्ता तथा उसका भ्रष्ट तंत्र सरकारी धन का अपव्यय करता है। जिसका परिणाम यह है कि ग्रामीण निम्नवर्गीय गरीब रमजान जैसों के लिये यह आर्थिक विकास-कार्यक्रम एक विनाश-कार्यक्रम बन जाता है।

उनकी 'घुन' कहानी सातवें दशक की मूल्यहीन परिस्थितियों के मध्य व्यक्ति के विवेक संकट को ग्रामीण जीवन-प्रसंगों के माध्यम से उकेरने की चेष्टा करती है। जहाँ यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों में भी ग्रामीण जीवन की बुनियादी समस्याओं का यथावत् रहना, जमींदार-साहूकार आदि वैयक्तिक परक शोषण संस्थानों का बना रहना, छुआ-छूत जातिगत भेद-भाव की मानसिकता का व्याप्त रहना, शोषक वर्ग की धनलिप्सा और संवदेनहीनता का समाज के नैतिक अवमूल्यन को प्रश्रय देना आदि ज्वलंत सच हैं। उनकी 'बीच के लोग' कहानी स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के सामाजिक आर्थिक वैषम्य पूर्ण ग्रामीण समाज के भीतर पल रहे तीव्र वर्गीय असंतोष और संघर्ष को उकेरती है, जहाँ समाज की यथास्थिति को बनाए रखने वाले विचार और शक्तियों को हटाने की बात ग्रामीण समाज के भीतर से पहले-पहल उठती है। इस तरह मार्कण्डेय की उक्त तमाम कहानियों की आंतरिक संगति स्वातंत्र्योत्तर दौर के ग्रामीण भूमि-संबंध के उलझे रहने तथा इस भूमि संबंध से प्रत्यक्ष-परोक्ष जुड़े रहने वाले किसान भूमिहीन, खेतिहर मजदूर आदि श्रमशील वर्ग के जीवन की बुनियादी समस्याओं के जटिल होने का सच बयान करती हैं।

दरअसल, मार्कण्डेय की उक्त कहानियों में प्रेमचंद के बाद का गाँव और उसकी समस्याएँ जीवंत हो उठती हैं। जहाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज का सामाजिक, राजनीतिक,

आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक पक्ष अपनी संश्लिष्टता और सक्षमता में उजागर होता है। जहाँ यथार्थ को उसके बदलते तेवर के साथ पकड़ने की चेष्टा होती है। जहाँ यथार्थ को एकरेखीय और रोमांटिक होने से बचाने का सचेत प्रयास है।

मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प भी उनकी यथार्थवादी पहचान के तद्नुरूप होता है। जहाँ उनका कहानीकार ना शिल्प की अवहेलना करता है और ना ही उसके प्रति अतिरिक्त सजगता जाहिर करता है। उनकी कहानियों का शिल्प कथा, भाषा और शैली संयोजना के रूप में उनकी यथार्थवादी पहचान को स्थिर करता है। जहाँ ना उनकी कहानियों में कथानक का ह्रास होता है और ना ही उन्हें काल्पनिक चरित्र गढ़ने की कवायद करनी पड़ती है। बल्कि उनकी कहानियाँ ग्रामीण लोक शब्दावली, बोली, मुहावरों, लोकोक्तियों-उपमानों आदि की पात्रानुकूल भाषा की छौंक लिए ग्रामीण जीवंत पात्रों की सृष्टि करती हैं। उनकी कहानियों की वर्णनपरकता, चित्रात्मकता, सांकेतिकता, व्यंग्यात्मकता आदि पहलुओं से संस्पर्शित होकर ग्रामीण जीवन के कथ्य और चरित्र को उसकी परस्पर संगति में पूरी सक्षमता से चित्रित करती है। जो उनकी कहानियों के यथार्थवादी शिल्प का परिचायक है।

इस प्रकार 'मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ' विषयक प्रस्तुत शोध-प्रबंध में मार्कण्डेय की कहानियों का मूल्यांकन तथा सांप्रतिक ग्रामीण जीवन की दारुण और जटिल स्थितियों को समझने का एक प्रयास है। यहाँ मार्कण्डेय की कहानियों में निरूपित ग्रामीण जीवन को समग्रता में विवेचित-विश्लेषित करने के क्रम में उनके कहानीकार की मूल संवेदना (स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन और समाज के बदलते संदर्भों को पैनी निगाह से देखते हुए उसकी वास्तविक उपस्थिति को स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में संभव बनाना) तथा उनकी यथार्थ-दृष्टि (रचना या कला को जीवन से जोड़ते हुए यथार्थ को रचना-आलोचना का मानदण्ड स्थिर करना तथा उसे यथास्थिति के पार देखना आदि) उजागर होती हैं।

परिशिष्ट

संकेत-सूची

संकेत-सूची

1. डॉ.-	डॉक्टर
2 .प्रा.-	प्राध्यापक
3. प्रो.-	प्रोफेसर
4. पृ.-	पृष्ठ
5. पृ. सं.-	पृष्ठ संख्या
6. प्र. सं.-	प्रथम संस्करण
7. सं.-	संस्करण
8. प्रा. लि.-	प्राइवेट लिमिटेड

संदर्भ ग्रंथ सूची

अ.आधार ग्रंथ

कहानी-संग्रह :

1. मार्कण्डेय की कहानियाँ : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002
2. हलयोग : मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ : लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद, प्र.सं. (पैपर बैक): 2012

उपन्यास :

1. अग्निबीज : नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद-1, संस्करण:2000

आलोचना :

1. कहानी की बात : लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण:1984

आ. सहायक ग्रंथ

1. अज्ञेय, सम्पूर्ण कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट दिल्ली, संस्करण: 2008
2. (डॉ.) अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. :2009
3. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, (संपादक), नयी कहानी:संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली, प्र.सं. :1973
4. अस्थाना, डॉ. ज्ञान, हिंदी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा-2, प्र.सं.:1979
5. आंजनेय, डॉ. अनिल कुमार (संपादक), सृजन यज्ञ जारी है, अखिल भारतीय अन्तरजनपदीय परिषद्, उजियार, प्र.सं.: 2000
6. उपाध्याय, रमेश, कहानी की समजशास्त्रीय समीक्षा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.: 1999
7. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, ईशान प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.: 1978
8. काले, अनिल विश्वनाथ, रामदरश मिश्र के उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.: 2007
9. कुमार, डॉ. राजेन्द्र, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में ग्राम्य जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र.सं.: 1988
10. गुप्त, डॉ. ज्ञानचंद, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास और ग्रामचेतना, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.:1974
11. गुप्त, विश्वम्भरदयाल, ग्रामीण समाजशास्त्र: साहित्य के परिप्रेक्ष्य में, सीता प्रकाशन, मोतीबाजार, हाथरस-1, संस्करण: 1980
12. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.:2004
13. जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा साहित्य, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2004
14. जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1961

15. ठाकुर, खगेन्द्र और सिंह, नामवर (संपादक), प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, प्र.सं.: 2006
16. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय : परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र.सं.:2010
17. दुबे, श्यामचरण, भारतीय ग्राम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वि संस्करण: 1996
18. देसाई, ए. आर., भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, दिल्ली, प्र.सं.: 1978
19. पाटील, रेखा वसंत, समांतर कहानी में यथार्थवाद, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण:2005
- 20 पाण्डेय, डॉ. भवदेव (संपादक), हिंदी कहानी का पहला दशक, रेमाधव पब्लिकेशन्स, प्रा.लि., नयी दिल्ली, प्र.सं.: 2006
21. प्रकाश, आनंद, हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 1997
22. प्रसाद, डॉ. सुरेन्द्र, मार्कण्डेय का रचना संसार, क्वालिटी बुक्स (पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स), कानपुर (उ.प्र.), प्र.सं.: 2001
23. प्रियदर्शिनी, डॉ. सुषमा (संपादक), हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1983
24. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण: 2001
25. फास्ट, हावर्ड, साहित्य और यथार्थ (अनुवाद:सुषमा विजय), अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण:1993
26. बनवासी, कैलाश, बाजार में रामधन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्र.सं.: 2004
27. बालकृष्णन, सुधा, हिंदी लेखिकाओं की कहानियों में नारी के बदलते स्वरूप (शोध ग्रंथ), संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी, प्र.सं.: 1977
28. भस्मे, डॉ. दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलिक जनजीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.:2006
29. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं.: 1996

30. मधुरेश, नयी कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र.सं.: 1999
31. माली, प्रा. रामचंद्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थबोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.: 1997
32. मिश्र, डॉ. भगीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण (चतुर्दश), 2001
33. मिश्र, डॉ. रामदरश और मोहन, डॉ. नरेन्द्र, हिंदी कहानी: दो दशक की यात्रा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र.सं.: 1970
34. मिश्र, रामदरश, इकसठ कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1984
35. मिश्र, रामदरश, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र.सं.: 2001
36. मिश्र, डॉ. वर्षा, मिथिलेश्वर की कहानियों में ग्रामीण यथार्थ, क्वालिटी बुक्स, कानपुर, प्र.सं.: 2004
37. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, कहानीकार प्रेमचंद : रचना दृष्टि और रचना शिल्प, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002
38. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.: 2009
39. मिश्र, डॉ. सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र: अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2003
40. यादव, राजेन्द्र (संपादक), एक दुनिया : समानांतर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण: 1993
41. यादव, सुरेन्द्र प्रताप, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में ग्रामीण यथार्थ और समाजवादी चेतना, भावना प्रकाशन, परपड़गंज, दिल्ली-1, प्र.सं.: 1992
42. यायावर, भारत (संपादक), रेणु रचनावली-1, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, प्र.सं.:1995
43. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास: 1900-1950, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, प्र.सं.: 2008
44. राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास-2 : 1951-1975, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, प्र. सं.: 2011
45. राय, डॉ. विवेकी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य और ग्राम जीवन, लोकभारती प्रकाशन,

इलाहाबाद, प्र.सं.: 1974,

46. राय, विवेकी, कालातीत, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1982

47. राय, विवेकी, नयी कोयल, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.: 1984

48. राय, विवेकी, बेटे की बिक्री, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1984

49. राय, विवेकी, जीवन परिधि, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.: 1990

50. राय, विवेकी, श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1996

51. रेणु, फणीश्वरनाथ, आदिम रात्रि की महक, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र.सं.: 1967

52. लाल, डॉ. लक्ष्मीनारायण (संपादक), कथा भारती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण:2005

53. वर्मा, निर्मल और गोयनका, कमल किशोर (संपादक), प्रेमचंद:रचना संचयन, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, संस्करण: 1994

54. वर्मा, डॉ. रागिनी, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और उनका कथा साहित्य, विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र.सं.: 2002

55. वाजपेयी, आचार्य नंददुलारे, आधुनिक हिंदी साहित्य, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण: 2018 वि.

56. शर्मा, डॉ. यज्ञदत्त (संपादक), प्रबंध सागर, अक्षरम् प्रकाशन, सोनपत, प्र.सं.: 1989

57. शर्मा, डॉ. रामविलास, कथा विवेचना और गद्य शिल्प, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.: 1982

58. शर्मा, डॉ. सुरेश (संपादक), 'यथार्थ यथास्थिति नहीं', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण: 1965

59. (डॉ.) सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली, प्र.सं.: 1994

60. (डॉ.) सत्यकाम (संपादक), माटी की महक, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1994

51. (डॉ.) सत्यकाम, नयी कहानी: नए सवाल, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र.सं.: 2002

62. सारस्वत, डॉ. अपर्णा, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्यधारा की मूल्य चेतना, सामयिक बुक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र.सं.: 2010

63. सांगोले, डॉ. शिवाजी, हिंदी कथा साहित्य में ग्रामीण चेतना (भैरव प्रसाद गुप्त के परिप्रेक्ष्य में), समता प्रकाशन, कानपुर (देहात) प्र.सं. : 2006

64. सिंह, जवाहर, हिंदी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-2, प्र.सं.: 1986
65. सिंह, तेज, नागार्जुन का कथा साहित्य, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1993
66. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्र.सं.: दीपावली 2010 वि.
67. सिंह, डॉ. पुष्पपाल, समकालीन कहानी: युगबोध का संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र.सं.: 1986
68. सिंह, राजकुमारी, हिंदी तथा अंग्रेजी के आंचलिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 1993
69. सिंह, शिवप्रसाद, आर पार की माला, सरस्वती मंदिर, काशी, प्र.सं.: 1955
70. सिंह, शिवप्रसाद, चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण: 1997
71. सिन्हा, डॉ. किशोर, हिंदी की आंचलिक कहानी-परंपरा और प्रयोग, जिज्ञासा प्रकाशन, पटना, प्र.सं.: 2002
72. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवेदना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, प्र.सं.: 1966
73. सिन्हा, डॉ. सुरेश, हिंदी उपन्यास, लोकभारती प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 1981

पत्र-पत्रिका:

1. कथा (मार्कण्डेय स्मृति अंक), अंक-15, मार्च 2011
2. प्रतिमान, अंक-4, नवम्बर 1978
3. धर्मयुग, अंक-24, मई 1981
4. सरिता, अप्रैल 1, 1981
5. हंस, अगस्त अंक, 2006
6. हिन्दुस्तानी (मार्कण्डेय पर एकाग्र), त्रैमासिक, भाग-71, अंक-3 (जुलाई-सितम्बर), 2010

रिपोर्ट:-

पाकेट बुक ऑफ़ इकोनोमिक इन्फॉर्मेशन, भारत सरकार, वित्त मंत्रालय द्वारा प्रकाशित,
वर्ष: 1970

कोश

संस्कृत कोश :

सिद्धांत कौमुदी-तिङ्-तरवंड, चुरादि प्रकरण, भवादि प्रकरण

हिंदी कोश :

1. हिंदी शब्द सागर, खण्ड 1, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणासी 1965
2. हिंदी शब्द सागर, खण्ड 8, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणासी, 1965
3. वर्मा, धीरेन्द्र (संपादक), हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, ज्ञानमण्डल लि. वाराणासी, तृ.सं.: 1985
4. वर्मा, डॉ. रामचंद्र (संपादक) मानक हिंदी कोश, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र.सं. वर्ष 1965

अंग्रेजी कोश :

1. कड्डन, जे.ए. (Cuddon) ए. डिक्शनरी ऑफ लिटरेरी टर्म्स, इंडियन बुक कम्पनी, 36 सी कनाट प्लेस, नयी दिल्ली तथा आन्ध्रे दोरत्स लि., 105, ग्रेट रसेल स्ट्रीट, लंदन, डब्ल्यू. सी. आई., 1977

अनुक्रमणिका

लेखकानुक्रमणिका

1. अमरकांत	310, 313, 359
2. अज्ञेय	67, 68
3. इलियट जार्ज	14
4. कमलेश्वर	294
5. कुमार राजेन्द्र	172, 179
6. गंगाधर मधुकर	77, 78
7. गुप्त ज्ञानचंद	131, 162
8. गुप्त भैरव प्रसाद	72, 219–229
9. गुलेरी चंद्रधर शर्मा	61
10. गोर्की	19, 27
11. गोस्वामी किशोरीलाल	55
12. गौरीनाथ	79, 81
13. घोष गिरिजा कुमार	56
14. चौधरी सुरेन्द्र	284
15. चौहान वी. पी.	125, 133, 148, 150, 161, 184, 290
16. जयनंदन	81
17. जैन प्रेमलता	11, 27, 36
18. जैनेन्द्र	67, 68, 355
19. द्विवेदी हजारी प्रसाद	13
20. देसाई ए. आर.	96, 176
21. पाण्डेय भवदेव	56, 57, 59, 61

22. पुष्पा मैत्रेयी	81
23. प्रसाद जयशंकर	61, 63, 69
24. प्रेमचंद	15, 53, 60, 62, 63, 74, 92, 93, 278, 279, 315, 319, 350
25. फास्ट हावर्ड	3, 51
26. फिशर अर्नस्ट	5
27. बनवासी कैलाश	81
28. बंगमहिला (राजबाला घोष)	55, 59
29. भस्मे दिलीप	102, 109, 195
30. भारती धर्मवीर	379
31. मधुरेश	55, 259, 277
32. माली रामचंद्र	281, 294
33. मिथिलेश्वर	81
34. मिश्र मधुमंगल	60-61
35. मिश्र रामदरश	71, 73, 76, 235, 260-268
36. मिश्र शिवकुमार	5, 6, 9, 19, 28-30, 35, 52, 64
37. यशपाल	36, 67, 69
38. युंग	23
39. राय गोपाल	52, 54, 57, 60, 73, 162, 267
40. राय विवेकी	59, 72, 73, 204, 230-239, 313
41. रेणु फणीश्वरनाथ	59, 71, 74, 248-260
42. लाल लक्ष्मीनारायण	63
43. लूकाच	5, 6, 8, 21, 28, 367

44. वर्मा श्रीकांत	365
45. वाजपेयी गिरिजादत्त	60
46. वाजपेयी नंददुलारे	280
47. विजयकांत	81
48. शर्मा रामविलास	331, 388
49. शिप्ले	4, 5
50. शिवमूर्ति	79
51. शुक्ल ऋता	81
52. संजीव	81
53. सत्यकाम	3, 15, 16, 18, 19, 52, 53, 56, 78
54. सप्रे माधव राव	57
55. सहाय रघुवीर	7
56. सिंह तेज	365
57. सिंह त्रिभुवन	13, 16, 22, 23
58. सिंह मधुकर	77, 78
59. सिंह शिवप्रसाद	71, 74, 75, 239–248
60. सिन्हा सुरेश	24, 25, 35, 99, 109, 367
61. सुदर्शन	62
62. हाकिन्स	11